तत्व दीप निबन्ध

श्री वल्लभाचार्य विरचित

प्रथम भाग

जगद् गुरु श्रीमद् वल्लभाचार्य वंशावतंस

आचार्य वर्य्य गोस्वामि तिलकायित

श्री १०८ श्री इन्द्रदमन जी (श्री राकेश जी) महाराज
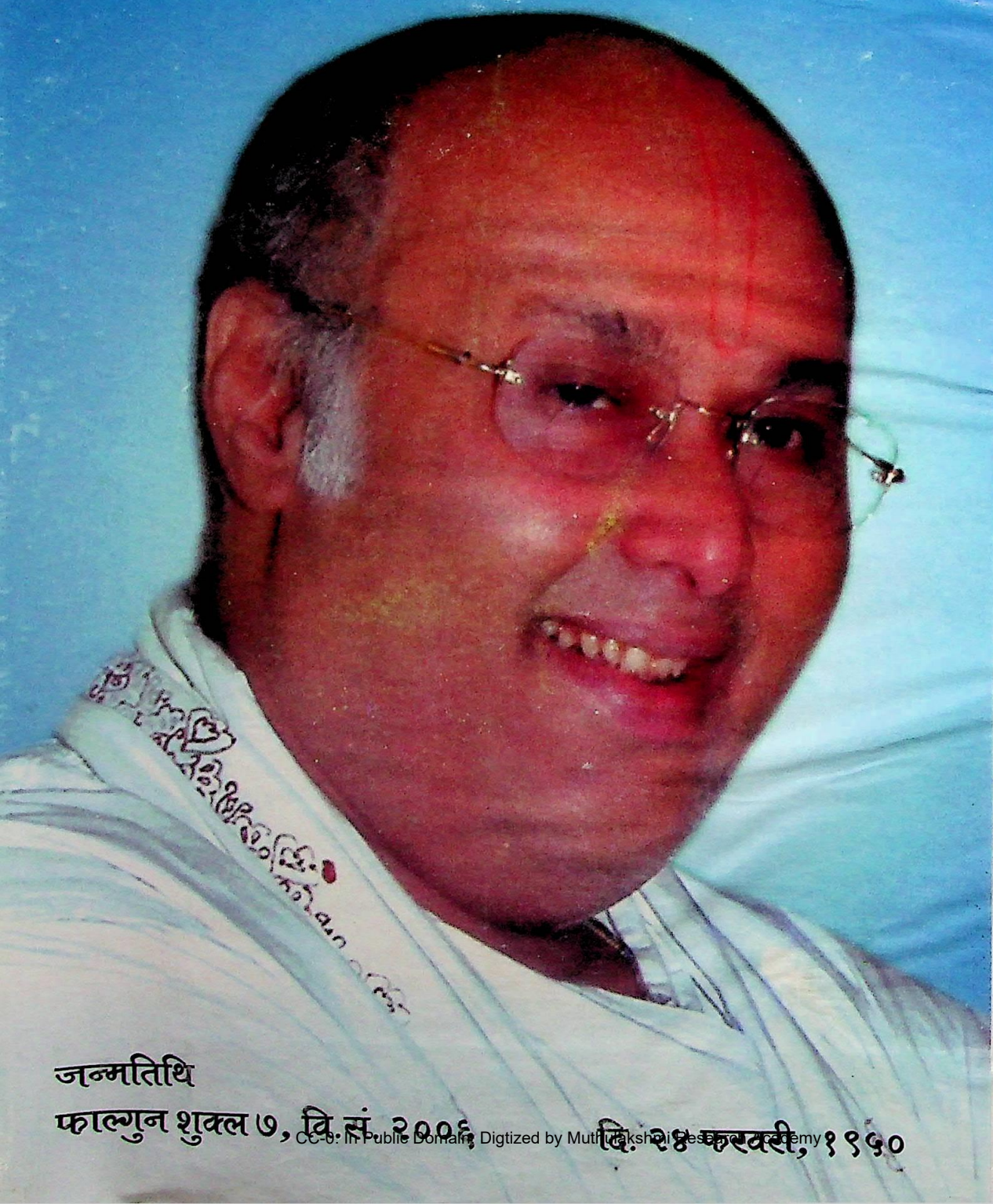
जन्मतिथि

फाल्गुन शुक्ल ७, वि. सं. २००६, दि. २४ फरवरी, १९५०

।।श्रीहरिः।।

निवेदन

भक्तिमार्ग के सूर्य तैलंगद्विज कुल चूडामणि अखिल भूमण्डलाचार्य तिलक श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु प्रकट हुए। श्रीमदाचार्य चरण ने श्रीमद् भागवत महापुराण के विद्यमान् रहते हुए भी आप श्री ने उसके गूढार्थ को प्रकट करने के लिये जिस प्रकार श्री सुबोधिनीजी की रचना की थी उसी प्रकार तत्वार्थ दीप निबन्ध में तीन ग्रन्थों का प्रतिपादन कर वैष्णवों का महान् उपकार किया है। आप श्री का स्वतंत्र ग्रन्थ तत्वार्थ दीप निबन्ध है। यह ग्रन्थ कारिका रूप में उपलब्ध है। ऐसा सुनने में आता है कि दिग्विजय में सरलता हो जाय इस हेतु सिद्धान्तों के संदोहरूप इन कारिकाओं का आप श्री के शिष्यगण मुखपाठ किया करते थे। ये कारिकाएं प्रायः सभी श्री आचार्य श्री की निर्मित की हुई हैं। कितनी ही नारद पंचरात्र, श्रीमद् भागवत, भारत एवं रामायणादि से उद्धृत भी है। सर्वमान्य ब्रह्मवाद के आधार पर भक्तिमार्ग का इसमें प्रतिपादन किया गया है। तत्वार्थ दीप निबन्ध क तीन विभाग है। शास्त्रार्थ, सर्वनिर्णय तथा भागवतार्थ प्रकरण। प्रथम शास्त्रार्थ प्रकरण में गीता शास्त्र का संदोह है। द्वितीय में सर्व तत्वों का निर्णय है। तृतीय भागवतार्थ प्रकरण में चार अर्थो का समावेश किया है। जैसा कि बताया है-

शास्त्रे स्कन्ध प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे।
एकार्थ सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते।।

श्रीमद् भागवत के शास्त्रार्थ, स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ एवं अध्यायार्थ का प्रतिपादन निबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में आचार्य श्री ने किया है। श्रीमद् भागवतार्थ की टीका लिख देने के अनन्तर निबन्ध का तृतीय भागवतार्थ प्रकरण आप श्री ने लिखा है। श्री आचार्य चरण ने श्रीमद् भागवत के सप्तधा अर्थ को एकार्थ में विनियोजित किया है। चार तरह के अर्थ भागवतार्थ प्रकरण से स्पष्ट हो जाते हैं। तीन प्रकार के अर्थ श्लोकार्थ, पदार्थ एवं अक्षरार्थ श्रीमद् भागवत की श्री महाप्रभुजी कृत श्री सुबोधिनीजी से स्पष्ट हो जाते हैं। आचार्य श्री ने भागवत को चतुर्थ प्रमाण माना है इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। आप श्री के पूर्व तीन ही प्रमाण माने जाते थे। वेद, (उपनिषदादिक) भागवद् गीता, श्री व्यास जी कृत ब्रह्मसूत्र । किन्तु उनमें स्त्रियों एवं शूद्रों को कोई अधिकार नहीं था। उस कारण वे अपना आत्म कल्याण नहीं कर पाते थे। अत्यन्त कृपालु श्रीमहाप्रभुजी ने कहा है-

वेदा श्रीकृष्ण वाक्यानि व्यास सूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।।

पुनश्च निवेदन है कि श्री आचार्य चरण की वाणी को उनका ही स्वरूप समझकर वैष्णवों को प्रतिदिन उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार करने से वैष्णवजन अवश्यकृतार्थ होंगे। तत्वार्थ दीप निबन्ध में शास्त्रार्थ एवं सर्व निर्णय प्रकरण का व्रज भाषा से भाषान्तर किया गया है। भागवतार्थ प्रकरण प.भ. निष्काम भगवत् सेवी आदरणीय परम पूज्य पिता श्रीनारायणजी शास्त्री पूर्व विद्या विभागाध्यक्ष नाथद्वारा के अनुवाद के भाषा में आंशिक संशोधन किया गया है। इस ग्रन्थ को अखण्ड भूमण्डलाचार्य विद्याविलासि गो.ति. श्री १०८ श्री इन्द्रदमन जी (श्री राकेशजी) महाराज की आज्ञा से विद्या विभाग ने प्रकाशित किया है। अशुद्धि संशोधन में पूरा ध्यान रखते हुए भी संभव है अशुद्धि रह गई होगी क्योंकि ''गच्छतः स्खलनं क्वापि''

निवेदक-

त्रिपाठी यदुनन्दन श्रीनारायणजी शास्त्री
साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम.ए.हिन्दी-संस्कृत
विद्या विभागाध्यक्ष, मन्दिर मण्डल नाथद्वारा (राज.)

तत्वदीप निबन्ध, शास्त्रार्थ, सर्वनिर्णय, भागवतार्थ प्रकरण

श्री वल्लभाचार्य विरचित

आचार्य वर्य्य गो. ति. श्री १०८ श्री इन्द्रदमनजी (श्री राकेशजी) महाराज श्री नाथद्वारा
की आज्ञा से प्रकाशित

भाषान्तरकर्ता एवं संशोधक

त्रिपाठी यदुनन्दन श्रीनारायणजी शास्त्री

साहित्यायुर्वेदाचार्य, एम.ए.संस्कृत, हिन्दी

प्रकाशक

अध्यक्ष

विद्याविभाग, मन्दिर मण्डल नाथद्वारा

प्रथम संस्करण

प्रति 1000

संवत् 2068

न्योछावर

पवित्रा एकादशी रु. 80/-

तत्वदीप निबन्ध का अनुक्रम

।।श्री गणेशाय नमः।। ।।श्री कृष्णाय नमः।। ।।श्री वल्लभाचार्य चरण कमलेभ्यो नमः।।

।।ॐ श्रीहरये नमः।।

तत्वदीप निबन्धः

उपोद्घातप्रकरण

नमो भगवतेतस्मै कृष्णायाद्भुतकर्मणे।।

।।श्री हरये नमः।। श्रीमदाचार्य चरण कमलेभ्यो नमः।। श्री विठ्ठलेश्वर प्रभु चरणकमलेभ्योनमः।।श्री मद्गुरुभ्यो नमः।। दैवोद्धारार्थमेवाविर्भूताय सततं नमः।। श्री वल्लभाय कृष्णाय परमानंद मूर्तये।। श्री वल्लभविठ्ठलश्री गिरधरगोविंद साथ।। रघुनाथ हि यदुनाथ जू घनश्याम अभिराम।। मनसा वचसा कर्मणा निसदिन करूं प्रणाम।। पर बह्म पुरुषोत्तम श्री कृष्ण चंद्र ने सभी के उद्धार करने के लिये निजस्वरूप प्रकट किया और आगे होने वाले जीवों के उद्धार करने के लिये महर्षि वेद व्यास कृष्ण द्वैपायन जी के मुख द्वारा श्री भागवत स्वरूप से आप प्रकट हुए।

इस कारण श्री भागवत स्वरूप सभी जीवों को अत्यन्त सुखदायक है परन्तु श्रीमद् भागवत का अर्थ ठीक ठीक कलिकाल होने से मलिन बुद्धि वाले जीव नहीं जान सकते हैं। इस बात का विचार कर ठीक-ठीक अर्थ जानने के लिये श्री कृष्ण के मुखाग्नि रूप श्रीवल्लभाचार्यजी ने तत्वार्थ दीप नाम के ग्रन्थ को बनाया और उसको भी स्पष्ट करने के लिये निबन्ध नाम से प्रसिद्ध व्याख्या न भी आपने ही बनाया। उस व्याख्यान को भी स्पष्ट करने के लिये आचार्य कुल भूषण श्री पुरुषोत्तम जी महाराज ने आवरण भंग नाम से प्रसिद्ध व्याख्यान बनाया। साधारण भाषा जानने वाले बालकों को सुगम रीति से समझाने के लिये अन्वय क्रम को छोड़कर निबन्ध आवरण भंग के तात्पर्य का संक्षेप से इस भाषा ग्रन्थ में वर्णन किया है।

श्रीवल्लभाचार्य जी ग्रन्थ के प्रारंभ में मंगलाचरण करते हैं और इस मंगलाचरण ही में संक्षेप से वेद गीता, व्यास सूत्र तथा श्री भागवत के सिद्धान्त का भी वर्णन करते हैं।

।।**"नमो भगवत"** इति।। भगवान् ने जीवों को सर्व पुरुषार्थ दिये हैं उस के प्रत्युपकार में जीवों की ओर से भगवान् के अर्थ नमस्कार ही हो सकता है। इसके अलावा भगवान् की प्रत्युपकार कुछ भी जीव नहीं कर सकता है। यह शास्त्र का सिद्धान्त है। शास्त्र में लिखा है जिनके गरुडजी आसन बैठने के लिये है, कौस्तुभमणि भूषण अलंकार जिनके है। लक्ष्मीजी जिनकी स्त्री है और जो स्वंयं वाणी के पति हैं, उनको आसन, आभूषण, धन, स्तुति आदि द्वारा जीव उनका क्या सत्कार करेगा। इस तरह के बहुत से वाक्य हैं। इसलिये जीवों के नमस्कार करने योग्य सबसे बड़े से बड़ा देव श्री पुरुषोत्तम ही है। पुरुषोत्तम वही है जो वेद में और लोक में प्रसिद्ध होकर अनेक वादी जनों ने अपने अपने मत में पुरुषोत्तम को कुछ और ही मान रखा है। परन्तु स्पष्ट

तथा यथार्थ विचार किया जाय तो श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम है। सबसे बड़े से भी बड़ा परब्रह्म जिसको कहते हैं वह ही जगत का उद्धार करने को अखण्ड पूर्णरूप से जितना है उतना ही समग्र प्रकट हुआ तब कृष्ण कहा गया। यहां पर कृष्ण शब्द पर ब्रह्म का वाचक है। **"परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते"** यह वेद वाक्य है तथा श्री कृष्ण ने गीताजी में आज्ञा की है- **"यस्मात् क्षरमतीतोहमक्षरादपिचोत्तमः। अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।"** इसका अर्थ है- हे अर्जुन क्षर ब्रह्म जो संपूर्ण भूत और अक्षर ब्रह्म जिसकी ज्ञानी उपासना करते हैं इन दोनों में से उत्तम हूँ और लोक वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ तथा भागवत में **(कृष्णंस्तु भगवान्स्वयम्। अजोपि जातो भगवान् यथाग्निः।।)** इस श्लोक में लिखते हैं जैसे राजा अपने पुत्रों में झगड़ा (लड़ाई) देखता है तब स्वयं अपने क्रूर दुष्ट स्वभाव वाले पुत्रों को दूर करके शान्त स्वभाव वाले भोले भाले पुत्रों को अपने पास (समीप) रखता है। ऐसे ही दैव जीव वे भगवान् के शान्त रूप हैं। आसुर जीव है वे भगवान् के अशान्त रूप हैं। जब अशान्त आसुर जीव शान्त स्वभाव वाले सीधे दैव जीवों को अत्यन्त दुःख देने लगे तभी पुरुषोत्तम अत्यन्त करूणायुक्तहोकर स्वयं पूर्ण अखंड रूप से ही उतने देश की माया दूर करके प्रकट होते हैं। जैसे काष्ठ (लकड़ी) को घिसने से बिना अग्नि लाये लकड़ी से ही अग्नि पैदा हो जाती है।

इसलिये केवल धर्म रक्षा के लिये ही पुरुषोत्तम का अवतार नहीं है क्योंकि धर्म रक्षा तो अंशावतार द्वारा भी कर सकते हैं। परन्तु जब सूर्य उदय होता है तब दीपक की आवश्यकता नहीं रहती है। क्योंकि दीपक के कार्य को सूर्य ही कर देता है। इसी प्रकार से जब कृष्ण पर ब्रह्म प्रकट हुए तब अंशावतार के भी कार्य आप द्वारा ही हो गये। इस कारण से कितने ही मनुष्यों को अंश के कार्य देखकर कृष्ण में अंशावतार का भ्रम हो जाता है। यह इन्द्रियों को भी हो जाता है तब भगवान् गोवर्धन धारणादि लीला करके उनके अज्ञान को दूर करते हैं और तो क्या वसुदेवजी भी एक समय नारदादिक ऋषियों से अपने कल्याण होने का उपाय पूछने लगे थे। उस समय नारद जी ने कहा- हे वसुदेवजी हम सब ऋषि लोग अपना कल्याण होने के लिये कृष्ण के दर्शन करने को आते हैं। वे पूर्ण ब्रह्म कृष्ण तुम्हारे पुत्र भाव को प्राप्त होकर सर्वदा समीप (पास) रहते हैं। तुम्हारा सदा कल्याण ही हो रहा है। इत्यादि।

गीता में श्रीकृष्ण ने ही स्वयं आज्ञा की है-

"अवजानंति मां मूढामानुषींतनुमाश्रितम्"

अज्ञानी मनुष्य मेरे सदानंद मूर्तिरूप परम भाव को नहीं जानते हैं इस कारण मेरे को वे अज्ञानी लोग और मनुष्यों के शरीरों की तरह मेरे शरीर को भी रूधिर मांसादिकों का बना जानते हैं इत्यादि। शतशः वाक्यों से श्रीकृष्ण का स्वरूप आनंद रूप ही है और आपके गुण, कर्म, स्वभाव भी आनन्द रूप ही है। जैसे दीपक का प्रकाश दीपक से पृथक् नहीं होता है। ऐसे गुणकर्म स्वभाव भी भगवान् से पृथक् नहीं है। कहीं कहीं अंशावतार में

कृष्ण शब्द का प्रयोग आता है वहां गौण समझना। मुख्य कृष्ण नाम उनका ही है। जो स्वयं कृपा करके जगत् को बिना साधन उद्धार करने के लिये आप्त काम अखंड पूर्ण परब्रह्म अग्नि की तरह माया को दूर कर अपना रूप दिखाते हैं। यद्यपि अंश कलावतार भी उद्धार करते हैं परन्तु धर्मादि साधन बताकर उनके द्वारा उद्धार करते हैं क्योंकि गीता में लिखा है–

''धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे'' इसमें युगावतार को धर्म स्थापन मात्र प्रयोजन लिखा है। पूर्ण ब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र तो अद्‌भुत कर्म वाले हैं। काम क्रोधादिक जो मोक्ष के साधन नहीं है उनको भी साधन बनाकर आपने अलौकिक सामर्थ्य कर गोप, गोपी, कंस, गो, मृग, पशु पक्षी आदि का उद्धार किया है। यदि श्रीकृष्ण पर ब्रह्म नहीं होते तो बिना साधन ज्ञान रहित जीवों का उद्धार नहीं कर सकते। यद्यपि कितने ही कर्म को ही ईश्वर मानते हैं कितने ही ईश्वर को नहीं मानते हैं वे लोग कहते हैं कि पदार्थों के स्वभाव से ही जगत् की उत्पत्ति तथा नाश होता जाता है। उनके मत से स्वभाव ही गुप्त रीत्ि से ईश्वर हुआ और तो क्या कारू लोग भी विश्वकर्मा को ही ईश्वर मानते हैं तथा सभी अपने अपने ईश्वर को नित्य शुद्ध बुद्ध स्वरूप ही मानते हैं। यह बात कुसुमांजलि विवेक में उदयनाचार्य ने भी लिखी है। परन्तु ये ईश्वर के एक एक देश के मानने वाले हैं जैसे बहुत अंधे मनुष्य हाथी के पास जाते हैं किसी के हाथ में हाथी की सूंड आती है वह उसी घाट को हाथी को जानता है। जिसके हाथ में पांव आता है वह हाथी को मोटे खंभा जैसे जानता है। जिसके हाथ में पूंछ आती है वह लंबा डंडा जैसा जानता है। इस तरह एक–एक अंग को हाथी मान बैठते हैं समग्र हाथी को नहीं जानते हैं। इसी प्रकार परमात्मा के एक–एक देश को यथा शक्तिऋषि आदि वर्णन करते हैं।

रूपनामविभेदेन जगत्क्रीडति यो यतः।।१।।

वेद में सृष्टि करना ब्रह्म का लक्षण लिखा है उसका वर्णन करते हैं **''नाम रूपेति''** रूप नाम के भेद करके जो क्रीड़ा करते हैं। रूप नाम के भेद करके जो जगत् बन जाता है। रूप नाम के भेद करके जिससे जगत् प्रकट होता है। अर्थात् जगत् जितने पदार्थ हैं उन सभी का रूप बनाकर और उनके नाम भी बनाकर रूप और नाम के भेद से श्रीकृष्ण क्रीड़ा कर रहे हैं। पदार्थ स्वरूप और शब्द स्वरूप दो प्रकार का जगत् है। वह भी आप स्वयं ही बने है अर्थात् कार्य भी आप ही हैं और मृत्तिका से जैसे घड़ा बनता है। ऐसे नाम अर्थ रूप करके आपसे जगत् बना है। जगत् के उपादान कारण भी आप ही हैं। अपने स्वरूप के अलावा और कोई पदार्थ की क्रीड़ा करने वाले आप स्वयं ही है। इसी से आप अपनी क्रीड़ा में परम स्वतंत्र है। आप श्री भगवान् के अलावा कोई पदार्थ नहीं है। जिसमें आप आसक्तहों। इस कारण आप निर्लेप हैं। इस प्रकार से ज्ञान से मोक्ष होता है। यही सभी शास्त्रों का निचोड़ है। श्री वल्लभाचार्य जी ग्रन्थ के आदि में ऐसी लीला करने वाले श्रीकृष्ण चन्द्र को नमस्कार करते हैं।

सात्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः।।

भवान्तसंभवा दैवास्तेषामर्थे निरूप्यते।।२।।

मुक्तिके अधिकारी जीव का स्वरूप कहा है। वे जीव अपने स्वभाव और आचरण से भी अधिक शास्त्रोक्त अलौकिक कार्य को करते है तथा भगवत्सेवा में परायण रहते हैं। किसी प्रकार की कामना नहीं रखते हैं। भगवान् की इच्छा से अन्तिम जन्म जिनका हुआ हो अर्थात् जिन जीवों को भगवान् आगे जन्म नहीं देना चाहें ऐसे जीव मुक्तिके अधिकारी हैं। श्री वल्लभाचार्य जी इस ग्रन्थ में ऐसे उपाय का वर्णन करते हैं जिसके करने से पुनः जीव का जन्म नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि अच्छी रीति से कहा हुआ भी सिद्धान्त अधिकारी के हृदय में स्थिर नहीं होता है। इसी से व्यास सूत्रों में तथा भागवतादिकों में अधिकारी के लक्षण का वर्णन करते हैं तथा गीता जी में **''इदं ते नातपस्काय''** इत्यादि श्लोक में अनधिकारी को ज्ञान देने का निषेध लिखा है। वैसे यहां भी सात्विक अधिकारियों के अभिमत लक्षण का वर्णन करते हैं। देवताओं का पूजन (यजन) करना सात्विक जीवों का स्वाभाविक कार्य है। उसकी अपेक्षा भी अधिक अच्छे कार्य को करती है। अर्थात् किये कार्यों को भगवान् के अर्पण करता रहे तथा जहां सत्पुरुष इकठ्ठे होकर भगवान् के पराक्रम को बताने वाली तथा हृदय तथा कानों को रस देने वाली भगवत्कथा वर्णन करते हो वहां जाकर भगवत्कथा को सर्वदा सुनते रहो। प्रशंसा करते रहो तथा द्रव्य देह से भगवत्सेवा करते रहो। जिनके हृदय में किसी प्रकार की कामना नहीं हो। कामना है वह अधिकारी का दोष माना है। अर्थात् जिस पुरुष में बुद्धि, आयुष्य, दोषों का अभाव ये तीनों वस्तु हो उसको अधिकारी समझना चाहिये। इतने गुण हो और भगवान् की भी जिस जीव के शीघ्र उद्धार करने की इच्छा हो केवल गुरु रूपी पार लगाने वाले बिना जीव की मनुष्य देह रूपी नाव संसार सागर के पार नहीं लगती हो ऐसे जीव की भगवान् में दृढ आसक्ति करके शीघ्र उद्धार करने के लिये श्री आचार्य चरणों ने यह ग्रन्थ प्रकट किया है।

भगवच्छास्त्रमाज्ञाय विचार्य च पुनः पुनः।।

यदुक्तं हरिणा पश्चात्संदेह विनिवृत्तये।।३।।

एकंशास्त्रं देवकीपुत्र गीत मेको देवो देवकीपुत्रएव।।

मन्त्रोऽप्येकस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।४।।

श्री वल्लभाचार्य जी आज्ञा करते हैं कि हमने श्री गीताजी नारद पंचरात्र इनका अर्थ भगवत्कृपा से अच्छी तरह से जाना फिर बारंबार विचार करके तात्पर्य का निश्चय भी किया। तदुपरांत मोहक शास्त्र देखने से उत्पन्न हुए जीवों के अनेक प्रकार के संदेह उनको दूर करने के अर्थ श्री जगन्नाथरायजी ने जो वचनामृत आज्ञा की उसके ऊपर दृढ विश्वास रखकर और देवी जीवों को भी यह सिद्धान्त बताने के लिये इस ग्रन्थ को प्रकट करते हैं। श्री जगन्नाथ रायजी ने जिस प्रकार **''एकं शास्त्रं देवकी पुत्र गीतम्''** इत्यादि श्लोक की आज्ञा की है

उसकी कथा इस रीति से प्रसिद्ध है। मायावादी और ब्रह्मवादी दोनों उत्कल देश (उड़ीसा) के राजा की सभा में विवाद करने लगे। विवाद करते सात दिन व्यतीत हो गये परन्तु किसी की भी जीत नहीं हुई। तब यह निश्चय किया श्री जगन्नाथरायजी के मन्दिर में प्रश्न लिखकर पत्र धर देना चाहिए। तब उसी दिन सायंकाल के समय चार प्रश्न एक पत्र में लिखकर सभी के समक्ष मन्दिर में पत्र धर दिया। प्रातः काल उस पत्र में एक श्लोक लिखा निकला। वह श्लोक **''एकं शास्त्रं देवकी पुत्र गीतम्''** इत्यादि मूल में लिखा है। उसका अर्थ देवकी पुत्र श्रीकृष्ण की आज्ञा की हुई गीता है। वही एक शास्त्र है। देवकी पुत्र श्री कृष्ण ही एक देव है। देवकी पुत्र के जितने नाम हैं वे ही सब मंत्र है। देवकी पुत्र की सेवा है वही कर्म है। इस श्लोक में चारों प्रश्नों के उत्तर लिखे आ गये। सभा सदन ने इन उत्तर को मान लिया परन्तु मायावादियों ने कहा यह श्लोक तो तुम्हारा बनाया हुआ है।

तब राजा ने उसी दिन मायावादियों के सामने उनने कहा उस प्रकार से पत्र मन्दिर में धरकर उनके सामने किंवाड (कपाट) बन्द कर दिये। प्रातःकाल मायावादी के सामने कपाट खोल दिये। पत्र मायावादी के सामने लाकर पढा उसमें यह श्लोक निकला –

''यःपुमान् पितरं द्वेष्टि तं विद्यादन्यरेतसम्।

यः पुमान् श्रीहरिंद्वेष्टि तं विद्यादन्त्यरेतसम्।।

अर्थ – जो पुरुष पिता के साथ द्वेष करता है उसको अन्य के वीर्य से पैदा हुआ जानना। जो पुरुष हरि से श्री हरि से द्वेष करता है उसको नीच वर्ण के वीर्य से उत्पन्न हुआ जानना। इस श्लोक को सुनते ही मायावादी तो लज्जित हो गये। राजा ने मायावादी के माता को बड़ा भय देकर पूछा तब उन्होंने कहा म्लेच्छ धोबी से मेरे गर्भ रह गया था। फिर राजा ने उसको देश में से निकाल दिया। यह इतिहास जगन्नाथ पुरी में अभी तक परंपरा से प्रसिद्ध चला आ रहा है।

इत्याकलय्य सततं शास्त्रार्थस्सर्वनिर्णयः।।

श्रीभागवतरूपं च त्रयं वच्मि यथामति।।५।।

वेदान्ते च स्मृतौ ब्रह्मलिङ्गं भागवते तथा।।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।।६।।

त्रितये त्रितयं वाच्यं क्रमेणैव मयात्रहि।।

समझने की सुगमता रहे इसके लिये तीन प्रकार रखे हैं। प्रथम शास्त्रार्थ प्रकरण है उसमें श्री गीताजी का अर्थ है। द्वितीय सर्व निर्णय प्रकरण है उसमें असंभावना विपरीत भावना दूर करने के लिये सब पदार्थों का निर्णय किया है। तृतीय श्रीमद् भागवत रूप प्रकरण है उसमें श्री भागवत का शास्त्रार्थ तथा स्कन्धार्थ तथा प्रकरणार्थ

एवं अध्यायार्थ का निरूपण है। ग्रन्थ के आदि में संकेत कहा है। श्रीमत्परम काष्ठापन्न परमेश्वर का वेदांत में ब्रह्म नाम प्रसिद्ध है स्मृति परमात्मा नाम है। श्री भागवत में भगवान् नाम है। श्री महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि हम भी इस शास्त्रार्थ प्रकरण में ब्रह्म कहेंगे। सर्व निर्णय प्रकरण में परमात्मा कहेंगे। श्री भागवत रूप प्रकरण में भगवान् नाम से वर्णन करेंगे।

वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।।७।।

समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम्।।

उत्तरं पूर्वसंदेहवारकं परिकीर्तितम्।।।८।।

अविरूद्धंतु यत्त्वयस्य प्रमाणं तच्च नान्यथा।।

इस भगवत्सिद्धान्त के दृढ करने वाले चार प्रमाण है। चार वेद संहिता ब्राह्मण सहित, श्रीगीताजी में श्रीकृष्ण के वचनामृत वेदव्यास जी के रचित ब्रह्मसूत्र, श्रीमद् भागवत में व्यास जी ने समाधि लगाकर अनुभव कर जो वाणी कही है। वह समाधिभाषा चतुर्थ प्रमाण है। इन चारों प्रमाणों के आधार पर जो सिद्ध होता है उसी को ठीक समझना चाहिए। प्रत्यक्ष अनुमान ऐतिह्य और शब्द इन चार प्रमाणों में शब्द प्रमाण है। वह सब से बड़ा है। शब्द प्रमाण में भी अलौकिक पदार्थ को बताने वाले जिस प्रकार शब्द है वही मुख्य प्रमाण है। ऐसा शब्द वेद ही है। इस कारण वेद ही मुख्य प्रमाण है। लोक से नहीं जाना जाय ऐसा जो धर्म उसको बताने वाला वेद ही है। वेदोक्त जो धर्म है तथा वेदोक्त जो ब्रह्म का स्वरूप है उसको और प्रमाण नहीं बता सकता है। वेद के वाक्य में किसी स्थान में अयोग्यता जैसा मालूम पड़ता है वह जानने वाले की बुद्धि के दोष से जान पड़ता है। जैसे वेद में लिखा है **"ग्रावाणः प्लवन्ते"** पाषाण (पत्थर) तेरते हैं। इत्यादि वाक्यों को भी असत्य नहीं मानना क्यों कि वेद है वह भूत, भविष्य, वर्तमान काल के जानने वाले ईश्वर का वाक्य है। इसलिये आगे (भविष्य) में होने वाले वृत्तान्त का भी वेद में वर्णन किया है। रामावतार के समय समुद्र में सेतु (पुल) बांधा था। तब पाषाण के तिरने का सभी को प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। इसी प्रकार वेद के और वाक्यों को भी यथार्थ ही मानना चाहिए। अपनी मलिन बुद्धि के अनुसार वेद के वाक्यों का विपरीत अर्थ नहीं करना। इस सिद्धान्त में अर्थवाद का भी प्रमाण मानते हैं। गीताजी में भी भगवान् के वाक्य हैं वे भी वेद रूप ही है। परन्तु अर्जुन के अधिकानुसार कहे गये हैं। इसलिये स्मृतिरूप है। **"स्मृतेश्च"** इस व्यास सूत्र में स्मृति को प्रमाण में लिखा है। विष्णु पुराण में **"वेदाःप्रतिष्ठिता सर्वे पुराणेषु न संशयः"** इस वाक्य में पुराणों में सब वेद स्थित है। यह बात लिखी है। इसलिये सब पुराणों में श्री भागवत प्रमाण है उसमें भी समाधिभाषा परम प्रमाण है। श्री भागवत है वह भी भगवद् वाक्य है। इस कारण वह भी वेद रूप ही है। परन्तु स्त्री शूद्रादिकों के उद्धार करने के लिये पुराण में गणना की गई है।

चार प्रकार के प्रमाण मानने का यह कारण है कि आगे का प्रमाण पहले प्रमाण के संदेह को दूर करने वाला है। जैसे कि वेद का संदेह गीताजी से दूर करना। वेद में लिखा है– **"अपाणिपादो जवनो गृहीताः"** ब्रह्म के पांव नहीं है तब भी चलता है और हाथ नहीं है तब भी वह ग्रहण कर लेता है। इस श्रुति से संदेह होता है कि ब्रह्म के हाथ–पांव सर्वथा नहीं है अथवा अलौकिक हाथ–पांव है। लोक में जैसे हाथ पांव होते हैं वैसे हाथ–पांव नहीं है। इस कारण वेद में बिना हाथ–पांव वाला कहा है। इस संदेह का निर्णय श्री गीता जी में लिखा है। **"सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतो क्षिशिरोमुखम्"** परमात्मा के श्रीहस्त तथा चरणाविन्द सर्व स्थान पर विद्यमान है और हस्त चरणों का अन्त भी सर्व स्थान पर वर्तमान है इस गीता के वाक्य से स्पष्ट जाना जाता है कि पर ब्रह्म परमात्मा के लौकिक हाथ–पांव नहीं है क्योंकि लौकिक हाथ–पांव हो तो सर्व स्थान पर नहीं रह सक्ते। इसी कारण परमात्मा के ऐसे ही जब गीताजी में संदेह हो उसका निर्णय व्यास सूत्रों से करना चाहिए। जैसे गीताजी में लिखा है अध्याय श्लोक **"नित्यःसर्वगतः स्थाणु रचलोयं सनातनः"**।। अर्थात् जीव है वह नित्य है व्यापक है तथा चेष्टा रहित है और अचल है सनातन है। श्रीगीता जी में अन्य स्थान पर लिखा हैं अध्याय श्लोक **"ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः"**।। अर्थात् जीव लोक में जो जीव है वह मेरा ही सनातन अंश है। यहां इन दोनों वाक्यों को देखने से संदेह उत्पन्न होता है। क्योंकि जीवको व्यापक मानते हैं तो अंश नहीं हो सकता है। उसका निर्णय अध्याय २ पाद ३ सूत्र १९ में **"उत्क्रान्ति गत्या गतीनाम्"** इस व्यास सूत्र से होता है। इस सूत्र का अर्थ जीव उत्क्रमण करता है। अर्थात् इस देह से इन्द्रियों के छिद्र में होकर निकलता है और यह जीव गमन करता है तथा आगमन करता है अर्थात् और लोक में जाता है तथा और लोक से यहां आता है। इस सूत्र से स्पष्ट जाना जाता है कि जीव अंश है व्यापक नहीं है। यदि जीव को व्यापक मानते हैं तब फिर आना जाना नहीं हो सकता है। जैसे आकाश व्यापक है तो आकाश का आना जाना नहीं माना जाता है। श्रीगीता जी में जिस तरह जीव व्यापक है ऐसा लिखा है उसका निर्णय आगे **"व्यापकत्व श्रुतिस्तस्य"** इस श्लोक में लिखेंगे। इसी प्रकार से व्यास सूत्र में लिखा है कि ब्रह्म है वह जगत् की उत्पत्ति स्थिति नाश को करने वाला है। इसमें संदेह होता है कि जगत् है वह माया सहित ब्रह्म का बनाया हुआ है अथवा शुद्ध ब्रह्म ही इस जगत का कारण है अर्थात् बनाने वाला है उसका निर्णय **"अन्वय व्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा"** भागवत के स्कंध दो श्लोक से होता है। अर्थ ब्रह्म का जगत में अन्वय है। जैसे मृत्तिका घड़े में अन्वय है अर्थात् जितने घड़े हैं उन सभी में मृत्तिका प्रविष्ट हो रही है। घड़े का कोई अंश नहीं है जिसमें मृत्तिका नहीं हो यह भी मृत्तिका का घट में अन्वय है इस प्रकार जगत में कोई ऐसा अंश नहीं है जिसमें ब्रह्म प्रविष्ट नहीं हो अर्थात् सत् चित् आनन्द रूप ब्रह्म जितने जगत् में छोटे–बड़े पदार्थ है उन सब में विद्यमान है। जैसे घड़े में घड़ा है यह जो अनुभव है इसी को अस्ति का अनुभव कहते हैं। घड़े का ज्ञान में आने का जो सामर्थ्य है वह चित् है इसी को भक्तिकहते हैं। घड़े में अच्छा है यह आनन्द है इसी को प्रियम् कहते हैं। इसी रीति से जगत् के सर्व पदार्थ में **"घटोस्ति घटो भाति पटः प्रियं"** इस

प्रकार से सच्चिदानंद रूप ब्रह्म का अनुभव होता है इस कारण ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है यह ही ब्रह्म का जगत् में समन्वय है। इसी प्रकार ब्रह्म को जगत के साथ व्यतिरेक भी है। जैसे घट के साथ मृत्तिका का व्यतिरेक है अर्थात् जितने जो कूंडा, बटेरा (मिट्टी के बर्तन) आदि पदार्थ हैं उनमें भी रहता है और इन सब पदार्थों से अधिक भी बहुत मृतिका है। यह ही घट के साथ मृतिका का व्यतिरेक है। केवल अन्वय वाला है। वह भी कारण नहीं होता है। जगत में भी जगत् में अन्वय है। केवल व्यतिरेक वाला हो यह भी कारण नहीं है। रव पुष्प का जगत् के साथ व्यतिरेक है किन्तु अन्वयव्यतिरेक ये दोनों जिसके घट में हों वह कारण हो जाता है इससे निश्चय हो जाता है शुद्ध ब्रह्म ही जगत का कारण ह **"जन्माद्यस्य यतः" "शास्त्रयोनित्वात्"** इस सूत्र में भी शुद्ध ब्रह्म जगत् के प्रति कारण है इस बात का वर्णन है। वेद, गीता, व्यास सूत्र भागवत की समाधि भाषा इन चार प्रमाणों से मिलते हुए ही मनुस्मृति आदि प्रमाण है।

एतद्विरूद्धं यत्सर्वं न तन्मानं कथंचन।।९।।

अथवा सर्वरूपत्वान्नामलीलाविभेदत।।

विरूद्धांशपरित्यागात्प्रमाणं सर्वमेव हि।।

द्वापरादौ तु धर्मस्य द्विपरत्वादद्द्वयं प्रमा।।१०।।

जिन शास्त्रों की इन चारों प्रमाण से मिलती बाते हो और बिना मिलती बाते भी हों उस शास्त्र की बातें पूर्णरीति से प्रमाण नहीं है। जहां तक इस जीव को ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो वहां तक इन चारों प्रमाण के अनुसार ही निर्णय करना। पूर्ण ब्रह्मज्ञान हो जाय उसके पश्चात् उसकी वाणी मात्र प्रमाण है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानी को सभी पदार्थ भगवान् के रूप में दिखते हैं। वैसे ही सब शब्द भगवान् के नाम दिखाई देते हैं। जहां तक पूर्ण ब्रह्म ज्ञान नहीं हो वहां तक व्यवहार सिद्धि के लिये चार प्रमाण मानना चाहिये। जहां एक ही भगवान् के स्वरूप को किसी वाक्य में शिवरूप से वर्णन है। किसी वाक्य में विष्णु रूप से वर्णन है। किसी स्थान पर निराकार रूप से अनेक विरोध शास्त्र में दिखाई पड़ते हैं। वहां पर भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य जानकर अथवा भगवान् अपनी अलौकिक सामर्थ्य द्वारा छोटे से अपने स्वरुप में सारे ब्रह्माण्ड के दर्शन यशोदा माता को कराये तथा कंस मामा में भगवान् ने अपनी सर्व रूपता प्रकट की है। वहां पर मल्लों को वज्र दिखाई पड़े हैं। स्त्रियों को कामदेव दिखाई दिये। वसुदेवजी को बालक दिखे। कंस को कालरूप में दिखे। ऐसे ही अन्य स्थान पर भी समझ लेना चाहिए। सत्युग में तो धर्म में संदेह नहीं होता था। द्वापर में मनुष्यों की बुद्धि मलिन होने से धर्म में संदेह हुआ तब श्रुतिस्मृति दो प्रमाणों के द्वारा धर्म का निर्णय हुआ। इस विषय में मत्स्य पुराण के प्रमाण आवरण मंत्र में दिखाये हैं।

विरुद्धवंचनानांच निर्णयानां तथैव च।।

यज्ञरूपो हरिः पूर्वकाण्डे ब्रह्मतनुः परे।।११।।

अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते।।
सूर्यादिरूपधृक् ब्रह्मकांडे ज्ञानाङ्गमीर्यते।।१२।।

जैसे स्मृति वाक्यों का विरोध स्मृतिकार व्यवस्था कर निवृत्त कर देते हैं। ऐसे ही जिन निर्णयों में परस्पर विरोध हो वहां भी वैष्णव स्मार्त्तादि भेद से व्यवस्था कर लेना। स्वीकार किये हुए चार प्रमाणों में दो विभाग है। एक विभाग में श्रीभागवत और श्रीगीताजी तथा वेद के विभाग हैं। पूर्वकांड और उत्तरकांड। वहां पूर्व काण्ड क्रिया में भगवान् ने प्रवेश किया है तब आप क्रिया रूप होकर वेद में यज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए इससे यज्ञरूपी भगवान् पूर्वकाण्ड का अर्थ है। ऐसे ही उत्तरकाण्ड जो उपनिषद् है उनमें भगवान् ने ज्ञान में प्रवेश किया है। तब आप ज्ञान रूप होकर वेदान्त में ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध हुए। इसलिये यज्ञ रूप भगवान् उत्तरकाण्ड का अर्थ है। भगवान् गीताजी तथा श्री भागवतजी में क्रिया और ज्ञान इन दोनों धर्म सहित जिनने अपना स्वरूप प्रकट किया है और उन का मूलरूप श्रीकृष्ण चन्द्र का वर्णन है। यहां पर शंका होती है कि उत्तरकाण्ड में ज्ञानरूप भगवान् का ही वर्णन है। तब सूर्य, वायु आदि देवताओं की उपासना क्यों लिखी है। इसलिये जिस स्थल में उपासनाओं का वर्णन है उस स्थल को उपासना काण्ड कहना चाहिए। यहां पर शंका का समाधान इस प्रकार से है कि उपासना कांड पृथक् नहीं है। अंश के द्वारा सूर्य, वायु आदि रूप भगवान् ने ही धारण किये हैं। उन रूपों की उपासना करने वालों को शास्त्रानुसार फल देकर अपना माहात्म्य जानने से आपके विषय में भक्तिहोती है। भक्तिसे ज्ञान होता है। इस प्रकार से ब्रह्म ज्ञान होने के लिये ही उपासना का वर्णन हैं। इस कारण उपासना का उत्तरकाण्ड में ही अन्तर्भाव है।

पुराणेष्वपि सर्वेषु तत्तद्रूपो हरिस्तथा।।
भजनं सर्वरूपेषु फलसिद्धयै तथापि तु।।१३।।

ऐसे ही पुराणों में जो दुर्गा, गणपति आदि देवताओं की उपासना लिखी है तथा ब्रह्म के समान जगत् की उत्पत्ति रक्षा संहार करने की सामर्थ्य लिखी है वह पूर्ण क्रिया ज्ञान शक्तियुक्तजो मूल रूप पर ब्रह्म श्रीकृष्ण श्री भागवत में वर्णन किया है उनके माहात्म्य का उपासकों को वांछित फल देकर बताते हैं और माहात्म्यज्ञान के द्वारा मूलरूप की भक्तिके बढ़ाने वाली है। इसलिये भगवान् ने ही दुर्गा गणपति इत्यादि अनेक साधन रूप धारण किया है। एकादश स्कंध में मनुष्यों के कल्याण करने वाले तीन मार्ग भगवान् ने उद्धवजी के लिये कहे हैं। कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग। वहां कर्ममार्ग तो ज्ञानमार्ग का सहायक है। कल्याण के करने वाले दो ही मार्ग हैं। ज्ञानमार्ग तथा भक्तिमार्ग। वहां ज्ञानमार्ग में तो सब पदार्थ ब्रह्मरूप है। इसलिये किसी रूप को ब्रह्म मानकर उपासना की जाय तो ब्रह्मभाव रूप फल प्राप्त हो जाता है। इसीकारण वेद में **''अन्नं ब्रह्मेत्युपासीत मनो ब्रह्मेत्युपासीत''** इत्यादि श्रुति में अन्न मन आदिकों की भी ब्रह्मरूप मानकर उपासना लिखी है। भक्तिमार्ग में तो जैसे अपनी क्रीड़ा के लिये भगवान् ने जगत् को बनाया है। वैसे ही जीवों को अपनी प्राप्ति करने के

लिये भक्तिमार्ग प्रकट किया है। इस मार्ग में और देवता विभूति रूप हैं। कामना वालों को और फल देते हैं और निष्काम होकर ज्यों विभूति रूप देवताओं की भक्तिकी जाय तो कालान्तर में पुरुषोत्तम में भक्ति होती है। यह बात ब्रह्म पुराण के अन्त में मायानुकीर्तनाध्याय में लिखी है और देवाओं की भक्ति करने से यज्ञ में भक्ति होती है। बहुत यज्ञादिक से अग्नि प्रसन्न होती है तब सूर्य में भक्ति होती है। सूर्य जब प्रसन्न होता है तब शिव में भक्ति होती है। केशव भगवान् जब प्रसन्न हों तब पूर्ण फल की प्राप्ति होती है।

आदिमूर्तिः कृष्णएव सेव्यः सायुज्यकाम्यया।।
निगुर्णा मुक्ति रस्माद्धि सगुणा सान्यसेवया।।१४।।

पूर्ण फलदान सामर्थ्य मूल रूप में ही है। गीता में **"अतोस्मिलोके वेदे च प्रथितः"** इस श्लोक में भागवत में **"कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्"** इस श्लोक में और वेद में गोपाल तापनी उपनिषद् में श्रीकृष्ण को ही मूलरूपता लिखी है। तथा ब्रह्मवैवर्त के ब्रह्म खंड के द्वितीयाध्याय में गोलोक की नित्यता बताई है। गोलोक में योगियों के ध्यान में जो ज्योतिरूप आया है उसका वर्णन है। योगियों को अपना स्वरूप ज्योति रूप ही दिखाई पड़ता है। उस ज्योति में प्रकृति से पर नित्य निर्गुण आपका मेघश्याम स्वरूप द्विभुज है कोटि कंदर्प जैसा लावण्य वाला है उसी स्वरूप से ब्रह्मा, विष्णु, सावित्री, शिवधर्म, सरस्वती, दुर्गा आदि की उत्पत्ति कही है इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। इस विषय का पंडितकर भिंदिपाल तथा प्रहस्तवाद में विस्तार से वर्णन है। मुख्य सायुज्य रूप फल को भगवान् ही देते हैं। इस लिये सायुज्य अर्थ आदिमूर्ति श्रीकृष्ण ही की सेवा करनी चाहिए। सायुज्य की स्वरूप श्रुति में लिखा है। यजुर्वेद ब्रह्मवल्ली में **"सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिते"** तिअर्थ कृष्ण सेवा करने वाला जो भक्तहै वह परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ सर्वकामों का भोग करता है। बाहर प्रकट हुए जैसे श्रीकृष्ण है उनकी सेवा से सायुज्य फल की प्राप्ति होती है और देवताओं की उपासनाओं से भी तो उन देवताओं के साथ सायुज्य मुक्ति होती है। परन्तु वह सायुज्य मुक्ति सगुण मुक्ति है। क्योंकि काल आदि को लेकर सब देवता सगुण है। श्रीकृष्ण चन्द्र तो निर्गुण है श्रीकृष्ण चन्द्र का ज्ञान भी निर्गुण है तथा श्रीकृष्णचन्द्र के भजन करने वाला भी निर्गुण हो जाता है यह बात एकादश स्कंध में लिखी है। **"मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्"** तथा दशम स्कंध में **"तं भजन्निर्गुणो भवेत्"**

ज्ञानेपि सात्विकी मुक्तिर्जीवन्मुक्तिरथापि वा।।
ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः।।१५।।

अक्षर ब्रह्म यद्यपि निर्गुण है तथापि ज्ञान से जैसे सात्विकी मुक्ति होती है, ऐसे अक्षर ब्रह्म के उपासना से भी सात्विकी मुक्ति होती है क्योंकि **"सत्वात्संजायते ज्ञानं"** इस वाक्य में सतोगुण से ज्ञान की उत्पत्ति लिखी है इस कारण ज्ञान सगुण है ज्ञान से सगुण मुक्ति ही होती है। उसमें प्रमाण श्रीभागवत में **"कैवल्यं सात्विकं ज्ञानम्।"** अर्थात् सात्विक ज्ञान ही मोक्ष है। वेदोक्त ज्ञान भी सगुण है **"त्रैगुण्यविषया वेदाः"** इसलिये

वेद के लिखे ज्ञान से भी सगुणमुक्ति होती है। इस कारण ज्ञानमार्ग में ज्ञान द्वारा जीव कदाचित् जीवन्मुक्त हो तब भी सगुण ही रहता है। जैसे सनकादिक जो ये निर्गुण होते तो जय विजय को शाप नहीं देते, ज्ञान द्वारा ब्रह्मभाव जिनको सिद्ध हुआ हो उसके पश्चात् जब कृष्ण की भक्ति हो तब निर्गुण होता है। जैसे शुकदेवजी निर्गुण जीवन्मुक्त है उसी से सभी जीवों के हितकारी हैं। गीता में **"ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूत हितेरताः"** इस श्लोक में सर्वभूत हितकारी ज्ञानी भक्त मेरे को प्राप्त होता है यह वर्णन है। इसलिये प्रथम ज्ञानमार्ग की रीति से ब्रह्मज्ञानी होकर बाद में ज्ञाननिष्ठा छोड़कर परब्रह्म श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियों को तथा नेत्र श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियों की सेवा करके सफल करते हैं वह ज्ञानी भक्त सब ज्ञानियों में श्रेष्ठ है इसलिये ज्ञानमार्ग में भी ज्ञानी को भक्ति द्वारा ही निर्गुण की प्राप्ति होती है, तथापि ज्ञानमार्ग पहले से सगुण है और भक्तिमार्ग तो प्रथम ही से निर्गुण है इसलिये भक्तिमार्ग की रीति से श्रीकृष्ण की ही सेवा करनी चाहिये।

बुद्धावतारे त्वधुना कलौ तद्वशगाः सुराः।।
नानामतानि विप्रेषु भूत्वा कुर्वन्ति मोहनम्।।१६।।
यथाकथंचित्कृष्णस्य भजनं वारयन्ति हि।।

यहां पर शंका होती है कि कृष्ण सेवा ही सर्वोत्तम है तो सभी मनुष्य कृष्ण सेवा क्यों नहीं करते हैं। उसका उत्तर बुद्धावतारे इस श्लोक में लिखा है। गीताजी में दैव जीव और आसुरजीव दो प्रकार के जीव लिखे हैं। जब आसुर जीव अर्थात् दैत्य लोग श्रेष्ठमार्ग में प्रवृत्त होने लगे तब उनको मोह कराने के लिये भगवान् ने बौद्धावतार धारण किया और धर्म के मूल जो वेद हैं उनकी निंदाकी और देवताओं को भी आज्ञा दी कि तुम भी पुराणों की निंदा करके दैत्यों को मोह कराओ।

तब देवताओं ने भी भगवान् की प्रेरणा के अधीन होकर ऋषियों के कुल में जन्म लेकर निंद्यवेश धारण कर वैशेषिकन्याय मायावाद चार्वाक निरीश्वर सांख्य आदि खोटे शास्त्र निर्मित किये। इन शास्त्रों में ऐसी बाते लिखी हैं जिनके सुनने पढने से जीव की बुद्धि बिगड़ जाती है और उनके ही मत में लग जाते हैं। यहां पर शंका होती है कि न्याय मायावाद आदि शास्त्र जीवों को धोका देने को ही बने हैं तो उन शास्त्रों में मोक्ष फल का क्यों वर्णन किया? शंका का समाधान इस प्रकार से किया है कि मोक्ष फल के देने वाले चारों वेद तथा अष्टादश पुराण विद्यमान है फिर उनको छोड़कर अपनी बुद्धि के अनुसार नये-नये मोक्षसाधन उन शास्त्रों को बताया है उससे मालूम होता है कि ये शास्त्र अवश्य जीव को मोह कराने वाले हैं।

प्रथम मोह शास्त्र बनाने की आज्ञा शिवजी के प्रति भगवान् ने की है यह बात वाराह पुराण में रूद्र गीता में लिखी है। यहां का श्लोक **"त्वं च रूद्र महाबाहो मोहशास्त्राणिकारय"** हे रूद्र तुम मोहक शास्त्र

बनाओ। पद्मपुराण में भी लिखा है – **"स्वागमैः कल्पितै स्त्वञ्च जनान्मद्विमुखान्कुरु"** भगवान् आज्ञा करते हैं हे रुद्र तुम अपने बनाये शास्त्रों के द्वारा मनुष्यों को मेरे से विमुख करो। तब शिवजी ने आज्ञा मानकर मोहक शास्त्र बनाये तथा अपनी शक्ति से ऋषियों की बुद्धि बिगाड़कर ऋषियों के द्वारा भी मोहक शास्त्र बनवाये उसका प्रमाण पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में लिखा है। वहां का श्लोक – **"मच्छक्त्या वेशितै र्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम्"** इत्यादि श्लोक पुरुषोत्तमजी कृत आवरण भंग में निबंध के पिछले सोलहवें श्लोक १६ वें की व्याख्या में लिखा है। इससे यह निश्चय हुआ कि ऋषिलोग भ्रम कराने वाले शास्त्र बना करके जैसे हो वैसे मनुष्यों को कृष्ण की सेवा से विमुख करते हैं।

अयमेव महामोहो हीदमेव प्रतारणम्।।१७।।
यत्कृष्णं न समजेत्प्राज्ञः शास्त्राभ्यासपरः कृती।।
तेषां कर्मवशानां हि भव एवं फलिष्यति ।।१८।।
ज्ञाननिष्ठा तदा ज्ञेया सर्वज्ञो हि यदा भवेत्।।
कर्मनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा चित्तं प्रसीदति ।।१९।।

यही बड़ी भारी भूल है तथा यही बड़ा ठगा जाना है। जो ज्ञानवान होकर शास्त्र का अध्ययन करके सेवा करने की सामर्थ्य प्राप्त करके भी श्रीकृष्ण की सेवा नहीं करता है। यद्यपि मोहक शास्त्र बनाने वाले ऋषिलोग मनुष्यों को हठात् अपने–अपने बनाये शास्त्र में प्रवृत्त नहीं करते हैं, तथापि मंदभागी जीव अपने मन से ही असत्य शास्त्र में प्रवृत्त हो जाते हैं। वे जीव अपने कर्मानुसार सदा सदा संसार चक्र में ही भ्रमण करते रहते हैं। यहां पर शंका होती है कि जिन शास्त्रों को भ्रमित करने वाले कहते हो उन शास्त्रों में कहीं तो ब्रह्म ज्ञान का वर्णन है कहीं परकर्म का वर्णन है कहीं भक्ति का वर्णन है। तब वे शास्त्र मोह कराने वाले हैं यह कैसे बन सकती है। उनका समाधान इस प्रकार से है उन शास्त्रों में जहां ज्ञान का वर्णन है वहां साधन बिना **"तत्वमसि"** गुरु शिष्य के प्रति उपदेश देते हैं कि हे शिष्य! तू ब्रह्म है इत्यादि वाक्य के उपदेश मात्र से साक्षात् ब्रह्मज्ञान हो जाता है। इस भांति कहकर ज्ञान रहित भोले मनुष्यों को धोका दिया है, ज्यों तू ब्रह्म है ऐसा कहने से ही शिष्य को ब्रह्म ज्ञान हो जाता हो तो उपदेश देते ही शिष्य का जगत् के समस्त पदार्थ का ज्ञान हो जाना चाहिये। यहां कहने का आशय यह है कि बैठा हुआ ही सब स्थान के भूत, भविष्य, वृत्तान्त कह दे क्योंकि सर्वज्ञ हो जाना ब्रह्मज्ञान की निशानी है। **"यस्मिन्विदिते सर्व मिदं विदितं भवति"** इस वेद की श्रुति में ब्रह्मज्ञान होने से सब पदार्थ का ज्ञान हो जाता है यह बात लिखी है, ऐसे ही जहां कर्म का वर्णन किया है वहां वेद में लिखा अग्नि होम यज्ञ आदि कर्मों को अनित्य बताये हैं और यज्ञ है वह भगवान् की पूजा है इस बात को भी नहीं जानते हैं, क्योंकि यज्ञ शब्द यज धातु से बना है। यज धातु का देव पूजार्थक है और भगवान् के अंग रूप वायु अग्नि आदि देवताओं की वेद में सच्ची प्रशंसा अर्थवाद में लिखी है। उसको असत्य मानकर

भगवान् को कर्म के फल देने वाले नहीं मानते हैं। अपने मन के अपूर्व को फल दाता कहते हैं। इसलिये उनकी बताई रीति से कर्म करने से लोभ की वृद्धि ही होती है। चित्त शुद्ध नहीं होता है और कर्म की निष्ठा होना तभी जानना जब चित्त शुद्ध होकर प्रसन्न हो।

भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति।।
निष्ठाभावे फलं तस्मान्नास्त्येवेति विनिश्चयः।।२०।।
निष्ठा च साधनैरेव न मनोरथवार्तया।।
स्वाधिकारानुसारेण मार्ग स्त्रेधा फलाय हि।।२१।।
अधुनाह्यधिकारस्तु सर्वएव गताः कलौ।।
कृष्णश्चेत्सेव्यते भक्त्या कलिस्तस्य फलाय हि।।२२।।
सर्वेषां वेदवाक्यानां भगवद्वचसामपि।।
श्रौतोर्थो ह्यमेव स्यादन्यः कल्प्योमतान्तरैः।।२३।।
कृष्णवाक्यानुसारेण शास्त्रार्थं ये वदन्ति हि।।
ते हि भागवताः प्रोक्ताः शुद्धास्ते ब्रह्मवादिनः।।२४।।
एतन्मतमविज्ञाय सात्विका अपि वै हरिम्।।
मतान्तरैर्न सेवन्ते तदर्थं ह्येष उद्यमः ।।२५।।

इसी प्रकार जहां उनमोहक शास्त्रों में भक्ति का वर्णन है वहां भगवान् की भक्तिका मुख्यफल नहीं बताते हैं केवल ज्ञान होने के लिये भक्तिकरनी और ज्ञान नहीं हो जहां तक तहां तक भक्तिकरना ज्ञान होने के पश्चात् भक्ति का कुछ काम नहीं है। शुद्ध परब्रह्म की भक्तिनहीं हो सकती है। भावना कल्पित अर्थात् अपनी बुद्धि कल्पित भगवान् के स्वरूप ही की भक्तिहोती है। इस प्रकार से मानते हैं। इसलिये उनके बताये भक्तिमार्ग में भगवान् की प्रसन्नता के लिये भगवान् की सेवा नहीं की जाती है। किंतु ज्ञान के लिये की जाती है। उस भक्ति से भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं। भक्ति उसी को कहना जिससे भगवान् प्रसन्न हो क्योंकि **"भक्त्यैव तुष्टि मभ्येति"** भगवान् भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं, भक्तिनिष्ठा तब ही हुई जानना जब कृष्ण प्रसन्न हो। मोहक शास्त्र की रीति-रीति से बर्ताव व्यवहार करे वह ज्ञान भक्तिकर्म इन तीनों में से कुछ भी पूर्ण सिद्ध नहीं होता है और पूर्ण सिद्ध हुए बिना फल नहीं होता है। जैसे रहने के लिये महल बनाने का प्रारंभ कर आधी दीवारे बनाकर छोड़ देने से कुछ फल नहीं होता है और जैसे नदी तैरने वाला सब नदी तैरकर हाथ भर की दूरी पर डूब जाय तो उसका परिश्रम वृथाही जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि वेदशास्त्र के अनुसार साधन करे वही ज्ञान

भक्ति कर्म पूर्ण सिद्ध होते हैं। प्रतिष्ठा के लिये वेदशास्त्रों के मन चाहे अर्थ करने से कुछ नहीं होता है तथा वेदादिकों की रीति छोड़कर मन माने थोड़े ज्ञान, कर्म, भक्ति करने से भी कुछ सिद्धि नहीं होती है। जैसे वेद में **"चमसेनापः प्रणयेद्गोदोहनेन पशु कामः"** इस श्रुति में पशु की कामना वाला मनुष्य गाय की दोहनी (दूध निकालने का बर्तन) में जल लाता है तो पशु की प्राप्ति होती है यह बात लिखी है। इस बात को सुनकर कोई मनुष्य वेदविधि को छोड़कर केवल गाय की दोहनी से जल लाकर पशु की प्राप्ति चाहे तो कभी नहीं होती है किन्तु वेद रीति के अनुसार यज्ञ में जिस स्थान पर जल लाने का लिखा है उस स्थान पर गाय की दोहनी से जल लावे तब ही पशु की प्राप्ति होती है। ऐसे ही अपने अधिकार के अनुसार वेदशास्त्र के लिखे प्रमाण सांगोपांग किये गये ज्ञान कर्म भक्ति मार्ग अपने-अपने फल के देने वाले हैं। अभी के सभी मनुष्य काल के विपरीत पने से पीढ़ी दर पीढ़ी सदाचारहीन हो रहे हैं तथा निषिद्धाचार में तत्पर हैं। इसका कारण ज्ञान कर्मादिक के अधिकारी नहीं है। क्योंकि **"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः"** आचारहीन मनुष्य को वेद भी पवित्र नहीं करते हैं। इसलिये भक्ति करके जो पुरुष कृष्ण की सेवा करते हैं उसको कलियुग फल दायक है। **"कलौ तद्धरिकीर्तनात्"** श्री भागवत में लिखा है कलियुग में कीर्तनादिक भक्ति से भगवद् प्राप्ति होती है। यद्यपि जैसे ज्ञान के तथा कर्म के अधिकारी अभी के जीव नहीं है वैसे भक्ति के भी अधिकारी अभी के जीव नहीं है तथापि अनधिकारी जीवों को भी कृपा करके मुक्ति करने के लिये परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं और अपने प्रमेय बल से अर्थात् अपनी अद्भुत सामर्थ्य से अनधिकारी जीव व्रत के पशु पक्षी गोप गोपी आदि को भी मुक्ति दी इस कारण अधिकारी हो अथवा अनधिकारी हो कृष्ण भक्ति सब जीवों को अवश्य करनी चाहिये। यह बात सिद्ध हुई।

सब वेद वाक्यों का तथा गीताजी के भगवद्वाक्यों को अभिधावृत्ति के द्वारा मुख्य अर्थ यह ही होता है और प्रकार का जो अर्थ है वह अपने-अपने मत के आग्रह से किया है। श्रीभागवत के एकादशस्कंध में भगवान् आज्ञा करते हैं - **"इत्यस्या हृदयं लोके नान्योमद्वेद कश्चन"** अर्थ या वेदवाणी का अभिप्राय मैं ही जानता हूँ और कोई नहीं जानता है इसी कारण गीता भागवत में लिखे हुए भगवान् के वाक्यों के अनुसार वेद का अर्थ जो पंडित करते हैं वही भागवत है। परम भगवदीय है। वे ही यथार्थ कर्म के स्वरूप को जानते हैं। जो विद्वान् गीता भागवतानुसार वेदोक्त कर्म करते हैं तथा वे ही पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी हैं, जो विद्वान् गीता भागवतानुसार वेदोक्त ब्रह्म स्वरूप को जानते हैं।

श्री वल्लभाचार्य जी आज्ञा करते हैं श्री भागवत तथा श्री गीता पहले से ही विद्यमान ही है फिर हमारे ग्रंथ करने की आवश्यकता नहीं थी परन्तु अनेक मतो के प्रचार होने से संदेह में पड़कर दैव जीव भी हरि की सेवा से बर्हिमुख हो रहे हैं, उन जीवों के संदेह दूर करके भगवान् की सेवा में प्रवृत्ति कराने के लिये गीता भागवत का यथार्थ अभिप्राय समझाने के लिए इस ग्रंथ का प्रारम्भ करते हैं।

सत्प्रकरण

प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाभवत्।।
तच्छक्त्याविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ।।२६।।

भावार्थ – अब कितने ही मतवादी जगत को मिथ्या कहकर भगवद् भक्ति का निवारण करते हैं अर्थात् जैसे स्वप्न के पदार्थों से सेवा नहीं कर सकते हैं ऐसे ही जगत् के पदार्थ भी स्वप्न के पदार्थो के समान असत्य हैं इनसे भी भगवत्सेवा नहीं हो सकती है। ये उनका अभिप्राय है कितने ही मतवादी जीव को व्यापक बता करके भगवत्सेवा से विमुख करते हैं। अर्थात् जीव सभी स्थान पर विद्यमान है और जीव है वही ब्रह्म है तो जीव किसकी सेवा करे इस रीति से मोह कराते हैं, इन दोनों मतों को दूर करने के लिये जड पदार्थ तथा जीव का यथार्थ स्वरूप वर्णन करते हैं। वहां सांख्य, पातंजल तथा वैद्यक शास्त्र जगत् को प्रकृति जन्य मानते हैं और गौतम, कणाद, जैमिनी ऋषि जगत् को परमाणु जन्य मानते हैं, तथा मायावादी जगत् को विवर्त्तरूप मानते हैं जैसे शुक्तिका रजत (चांदी) का विवर्त है अर्थात् जैसे सीप में चांदी का भ्रम हो जाता है तब सीप ही चांदी दिखती है। ऐसे ही अनादि वासना से जीव को शुद्ध ब्रह्म में जगत् का भ्रम हो रहा है इसलिये शुद्धब्रह्म ही जगत् रूप से भासमान होता है तथा कणाद, गौतम, जैमिनी इस जगत् के प्रति अदृष्ट को निमित्त मानते हैं। सांख्वादी इस जगत् के प्रति स्वभाव को निमित्त मानते हैं। मायावादी वासना को इस जगत् के प्रति निमित्त मानते हैं और बौद्ध मत वाले जैसे बादल पहले से नहीं होता है फिर अकस्मात् हो जाता है ऐसे ही जगत् असतः सत्तारूप है अर्थात् पहले नहीं था शून्य था फिर अकस्मात् जगत् हो गया ऐसा मानते हैं। परन्तु इस रीति का जगत् नहीं है जगत् भगवान् का कार्य है **''तदात्मानँस्वयमकुरूत''** इत्यादि श्रुतियों के अनुसार परब्रह्म का अविकृत परिणाम है अर्थात् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही अनेक प्रकार से लीला करने के लिये (प्रपंच) जगत् रूप होकर रहता है। आप ही इसके करने वाले हैं, वेद का यही सिद्धान्त है और श्रीमद् भागवत तथा वैष्णव शास्त्र श्री नारद पंचरात्र का भी यही सिद्धान्त है कि भगवान् में **(सर्वभवन सामर्थ्य है)** अर्थात् पुरुषोत्तम में ऐसी अद्भुत सामर्थ्य है जैसा रूप धारण करना चाहे वैसा ही हो जाता है। उस सामर्थ्य से आप जगत् रूप हुए हैं। उसी सामर्थ्य को माया कहते हैं, उसका वर्णन वेद में **''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच''** यह मुंडक श्रुति में है यहां कितने ही वादी संसार तथा जगत् को एक समझ कर जगत् को भी मिथ्या (असत्य) मानते हैं यह उनकी भूल है क्योंकि (प्रपंच) तथा (जगत्) ये दोनों जड़ जीव इनके नाम है और जगत् के उपादान कारण भगवान् हैं और जैसे मनुष्य अपनी सामर्थ्य से काम करते हैं वह मनुष्य की सामर्थ्य मनुष्य से भिन्न नहीं है। ऐसे ही भगवान् अपनी सर्व भवन सामर्थ्य से जगत् बनाते हैं वह सामर्थ्य भगवान् से भिन्न नहीं है। उसी सामर्थ्य को माया कहते हैं। विद्या और अविद्या ये दोनों उस माया की शक्ति है और संसार अहंता ममता का नाम है। संसार का उपादान कारण कोई नहीं है। अविद्या संसार

का कारण है। संसार अज्ञान रूप है, मिथ्या है, प्रपंच सत्य है, अविद्या का किया हुआ जो संसार है वह जीव के लिये ही किया जाता है। श्री भगवान् की अनंत सामर्थ्य है, गणना नहीं हो सकती है, परन्तु मुख्य १२ सामर्थ्य है उनका वर्णन दशम पूर्वार्द्ध में

"श्रिया पुष्टया गिरा कांत्या कीर्त्या तुष्टये लयोर्जया।।
विद्यया विद्यया शक्त्या माययाच निषेवितम्"।।

श्री पुष्टि गिरा कांति कीर्ति तुष्टि इला ऊर्जा विद्या अविद्या माया ह्लादिनी शक्ति इन द्वादश सामर्थ्यो को ही द्वादश शक्ति कहते हैं इनमें ही अविद्या शक्ति तथा माया शक्ति का वर्णन है।

संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित्।।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्यलयः सर्वसुखावहः।।२७।।
पंचपर्वात्वविद्या हि जीवगा मायया कृता।।

अहंता ममता रूप जो संसार है उस का वहां तक ज्ञान नहीं होता है। जहां तक रहता है। ज्ञान होने से जब जीव जीवन मुक्त हो जाता है तब अहंता ममता रुप संसार का लय हो जाता है। जगत् का लय नहीं होता है भगवान् की आत्म रतीच्छा अर्थात् सोते हुए मनुष्य के समान स्वरुप के अन्दर रमण करने की इच्छा होती है तब अपने बनाये हुए जगत् को अपने स्वरूप में लीन कर लेते हैं। तब जो जीव मुक्त नहीं हुए हैं उनके अहंता ममता रूप संसार का सर्वथा अभाव तो नहीं होता है परन्तु अभिभव हो जाता है। अर्थात् उनकी अहंता ममता निर्बल हो जाती है दब जाती है। इस कारण मुक्त अमुक्त सब जीवों को सुख देने के अर्थ भगवान् प्रलय करते हैं। अविद्या के पांच पर्व है। माया ने जीव के ही विषे अविधा को धर दी है।

आकाशवद्व्यापकं हि ब्रह्म मायांशवेष्टितम्।।२८।।
सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।२९।।
अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ह्यविभक्तं विभक्तिमत्।।
बहुस्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती।।३०।।
तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांश चेतनाः।।
सृष्टयादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया।।३१।।

जगत् का कारण जो ब्रह्म है उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं। ब्रह्म वह आकाश की तरह सभी स्थान पर व्यापक है आत्म रमण करने के पश्चात् जब जगत् रूप होकर क्रीड़ा करने की इच्छा होती है तब भगवान् माया रूप धारण करते हैं और माया रूप करके अपनी व्यापकता को छिपा लेते हैं उस छिपी हुई व्यापकता को ब्रह्म ज्ञानी

देख सकते हैं। सब स्थान पर आपके श्री हस्त तथा चरणारबिन्द और उनके अंत (समग्रता) विद्यमान है उससे सभी स्थान पर भगवान् गमन करते हैं तथा कार्य करते हैं और अपनी इच्छा से अपने स्वरूप की हद्द (सीमा) भी दिखाते हैं। यह बात भी सिद्ध हुई। सभी स्थान पर नेत्र, मस्तक, मुखारविंद भी विद्यमान है इससे सब पदार्थों का भगवान् को ज्ञान है तथा सब स्थान पर आपका उत्तम ही स्वरूप है और सर्वत्र आप भोग करते रहते हैं। यह बात सिद्ध हुई। सभी स्थान पर श्री कर्ण विद्यमान हैं, सभी स्थान पर सुनते रहते हैं। ये आपके अनंत धर्म अर्थात् अनेक गुण प्रलय में भी रहते हैं। परन्तु जगत् बनाने के पश्चात् ही भली रीति प्रकट होते हैं। अनंत मूर्ति अनंत रूप से प्रकट होने के लिय भगवान् ने अपने (व्यापक रूप) अपरिमित रूप में (परिच्छेद) परिणाम प्रकट किया है। अनेक रूप से प्रकट होते हैं तथापि उन रूपों में परस्पर भेद नहीं है। केवल इच्छा से जितना बड़ा स्वरूप दिखाना चाहिये उतना बड़ा ही रूप दिखाने के लिये भगवान् विभाग वाले हैं। भगवान् की बहुत प्रकार से प्रकट होने की इच्छा हुई तब भगवान् के स्वरूप से ऊंचे नीचे भाव से प्रकट होने की इच्छा करके ब्रह्मरूप बहुत छोटे चेतन रूप चैतन्य गुण वाले साकार जीव प्रकट हुए निकलते हैं इस कारण निराकार हो गये हैं।

विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि।।
आनंदांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणैः।।३२।।

जैसे अग्नि से अग्नि के कण निकलते हैं उसी प्रकार ब्रह्म के चित् अंश से जीव निकलते हैं, ऐसे ही ब्रह्म के सत् अंश से जड़ निकलते हैं, ब्रह्म के आनंदांश से अंतर्यामी निकलते हैं, वैसे ही अन्तर्यामी भी अनेक हैं, सब के ही हृदय में एक जीव और एक अन्तर्यामी रहता है, कदाचित् कहोगे **"ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"** इस गीता के वाक्य से तो एक ही अन्तर्यामी सब के हृदय में विराजता है। यह बात ज्ञात होती है उसका उत्तर इस गीता के वाक्य में जो एक वचन है वह ब्रह्म के अभिप्राय से है अर्थात् अनेक अन्तर्यामी होकर सबके हृदय में विराजमान ईश्वर एक ही है। यह बताने के लिये **'ईश्वरः'** एक वचन है। अनेक अन्तर्यामी होंगे तो अनेक ब्रह्म मानने पड़ेगे और वेद में तो एक ब्रह्म माना है उससे विरोध आयेगा। ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये क्योंकि जैसे अनेक जीवों के साथ ब्रह्म का अभेद है उसी प्रकार अनेक अन्तर्यामी के साथ ब्रह्म का अभेद ही है उससे अनेक ब्रह्म नहीं मानने पड़ेगे। एक ही ब्रह्म अनेक अन्तर्यामी रूप तथा अनेक जीव रूप तथा अनेक जड रूप होकर प्रकट हो रहा है। यह ही वैदिक सिद्धान्त है।

सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।।
अतएव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपतः।।३३।।
जड़ो जीवोन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मतः।।
विद्याऽविद्ये हरेः शक्तो माययैव विनिर्मिते।।३४।।

जैसे तेज दो प्रकार का है एक तो धर्मिरूप तेज जैसे दिया एक धर्मरूप तेज जैसे दिया का (प्रकाश) अर्थात् उजाला ऐसे ही सत् चित् आनंद दो प्रकार के हैं एक तो धर्मी रूप सत् चित् आनंद है और एक धर्मरूप सत् चित् आनंद है जड में धर्मी रूप चित् आनंद छिप रहा है और जीव में धर्मी रूप छिप रहा है, अंतर्यामी में तीनों धर्म प्रकट हैं, वास्तव में तीनों भगवद् रूप हैं। उनमें जड जीव अन्तर्यामी इन शब्दों को प्रयोग व्यवहार रूप है। जीवों को संसार होने का प्रकार दिखाते हैं। विद्येति विद्या और अविद्या ये दोनों भगवान् की शक्तिहै मायाद्वारा प्रकट हुई है इससे भगवान् ने माया के ही अधीन कर रखी है। भगवान् की इच्छा के ही अधीन अविद्या का प्रकट होना और छिपजाना है।

ऐसे ही विद्या का (आविर्भाव) प्रकट होना और (तिरोभाव) छिपजाना भी भगवान् की इच्छा के ही अधीन है। विद्या अविद्या ये दोनों जीव के धर्म नहीं है। देह की प्राप्ति तथा जन्म मरण अविद्या से होते हैं। विद्या से जीव को (मोक्ष) स्वरूप लाभ होता है अर्थात् ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ये छः गुण अविद्या से छिप रहे हैं वे ही विद्या से पीछे जीव में प्रकट हो जाते हैं और भगवान् से प्रकट होते समय में जैसा इसका स्वरूप था वैसा ही स्वरूप हो जाता है। इसी का नाम मुक्तिहै।

यह भी एक प्रकार की भगवान् की सृष्टि लीला है, जैसे खेल में राजा कोई छूटे हुए पुरुष को बांध देता है कोई बंधे पुरुष को छोड़ देता है, ये तीनों काम राजा की क्रीड़ा में ही समझे जाते हैं। भगवान् की इच्छा साधन के द्वारा मुक्तिदेने की है इसलिये मुक्तिके साधन वेद पुराण में लिखे हैं **''मामेव ये प्रपद्यंते माया मे तान्तरंति ते''** भगवान् कहते हैं मेरे शरण आने वाले जीव माया को तिर जाते हैं। भक्ति सिद्ध हो जाती है। तब तो जीव की विद्या और अविद्या दोनों निवृत्त अर्थात् दूर हो जाती है और जीव नित्यमुक्त हो जाता है क्योंकि - भक्ति से जीव माया को भी तिर जाता है। तब माया के अधीन जो अविद्या है इनके निवृत्त होने में क्या आश्चर्य है।

ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता।।
स्वरूपताज्ञानमेकं हि पर्व देहेन्द्रियासवः।।३५।।
अन्तःकरणमेषां हि चतुर्थाध्यास उच्यते।।
पंचपर्वा त्वविद्येयं यद्बद्धोयाति संसृतिम्।।३६।।

भावार्थ-विद्या अविद्या ये दोनों जीव के ही बंध मोक्ष करने वाली है। जड़ तथा अंतर्यामी के उपर इनका प्रभाव नहीं है। इसलिये जीव को अविद्या से ही दुःख होता है तथा (निरंकुशता) दुराचारीपन होता है। (विपरीत ज्ञान) उलटे ज्ञान का नाम अविद्या है वह अविद्या दो प्रकार की है एक तो समष्टि रूपा, दूसरी व्यष्टि रूपा बहुतों को एक समझना समष्टि कहलाता है। जैसे बहुत वृक्षों को वन जानना समष्टि है और वन को बहुत से वृक्ष है ऐसा जानना व्यष्टि है। ऐसे ही सृष्टि के पूर्व माया से उत्पन्न हुई जो समूह रूप अविद्या है वह समष्टि रूप अविद्या है। वह भगवान् की शक्तिहै अलग-अलग जो पांच पर्व है वह व्यष्टिरूप अविद्या है वह जीवों की अविद्या है। पांच पर्व का स्वरूप दिखाते हैं।

जीव को पहले महत्तत्व अहंकार रूप अंतकरण का संबंध हुआ तब अविद्या से जीव है वह अंतः करण को अपना स्वरूप मानने लगा इसी का नाम अंतः करण ध्यास है। यह अविद्या का प्रथम पर्व है, इससे जीव को मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोग करता हँ, मैं जानता हूँ इत्यादिक अभिमान होता है उसके पश्चात् अहं तत्व का द्वितीय रूप जो प्राण है उसके साथ जीव का संबंध हुआ तब अविद्या से प्राणों को अपना स्वरूप मानने लगा। इसका नाम प्राणाध्यास है ये अविद्या का दूसरा पर्व है इससे मैं भूखा हूँ, तृप्त हूँ इत्यादिक प्राण धर्म को अपने मानने लगे हैं उसके पश्चात् जीव का इन्द्रियों के साथ संबन्ध हुआ इन्द्रियों को अपना स्वरूप मानने लगा। इसका नाम इन्द्रियाध्यास है ये अविद्या का तीसरा पर्व है। इस से जीव है वह मैं सुलोचन हँ, मैं काणा हूँ, इत्यादि इन्द्रियों के धर्मों को भी अपना मानता है उसके बाद इस जीव का देह के साथ संबंध हुआ तब देह को अपना स्वरूप मानने लगा। इसका नाम देहाध्यास है। इससे जीव है वह मैं कृश हूँ, मैं मोटा हूँ। (स्थूल) इत्यादि देह के धर्मों को अपने मानता है। यह देहाध्यास अविद्या का चौथा पर्व है। ये चारों पूर्व जब पूरे हो जाते हैं तब अंतः करण प्राण इंद्रिय देह इनको अपना स्वरूप मानने लग जाता है। अपना भगवान् का अंश चेतन रूप जो जीव का स्वरूप है उसको भूल जाता है इसी का नाम स्वरूप विस्मृति है यह अविद्या का पांचवा पर्व है।

अविद्या के पांच पर्व जब जीव में आ जाते हैं तब यह जीव अन्तःकरण प्राण इन्द्रिय देह गुणों से बंधा हुआ जन्म मरण को पाता है। जैसे देह को जीव देह है वह मैं ही हूँ ऐसा मानते हैं वही जीव का जन्म है यह जीव अपने चेतन रूप को भूल कर देह को अपना स्वरूप मानता है किसी कारण से देहादिकों को भी भूल जाते हैं उसी को मरण कहते हैं।

विद्ययाऽविद्यानाशेतु जीवो मुक्तो भविष्यति।।
देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि।।३७।।
तथापि न प्रलीयंते जीवन्मुक्तगताः स्फुटम्।।

विद्या (ज्ञान) प्राप्त करने से अविद्या का नाश (उपमर्द) होना है अर्थात् ज्ञान से (अविद्या) नाम विपरीत ज्ञान जैसे हो रहा है वह दब जाता है। अविद्या का सर्वदा नाश नहीं होता है। यही ज्ञानियों का मोक्ष है। विद्या ज्ञान एक बात है जब विद्या से अविद्या छिप जाती है तब देहेन्द्रिय, प्राण, अंतकरण में अहंकार होता है वह छूट जाता है। अर्थात् ज्ञान होने के पश्चात् देहेन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण को अपना नहीं मानते है। परन्तु देहादिकों का नाश नहीं होता है क्योंकि - देहादिकों की तो भगवत्कार्य जगत् में गणना है, जैसे मनुष्य जगता है तब निद्रा समाप्त हो जाती है ऐसे ही सतोगुण रजोगुण तमोगुण रूप माया के सतोगुण से प्रकट हुई जिस प्रकार विद्या है वह माया के तमो गुण से प्रकट हुई अविद्या को दूर कर देती है तब छोटे रूप से अविद्या अन्तःकरण के भीतर रहती है जैसे जागने पर नींद बुद्धि में जाकर छिप जाती है। बहुत छोटे रूप से बुद्धि में रहती है। इसलिये फिर भी उसके समय में नींद आ जाती है। ऐसे ही जीवन्मुक्त ज्ञानी जीव को देहादिकों में अहंकार दूर हो गया

है परन्तु और मनुष्यों को जीवन्मुक्त के देहादिक दिखते हैं इससे सूक्ष्म रीति से छिपा हुआ अहंकार देहादिक में कदाचित् पुनः आ जाये तो फिर संसार में बंधकर जन्म मरण को प्राप्त हो जाता है। इसके लिये देहादिक का लय होने का साधन आगे श्लोक में बताते हैं।

आसन्यस्य हरेर्वापि सेवया देवभावतः।।३८।।
इन्द्रियाणां तथा स्वस्य ब्रह्मभावाल्लयो भवेत्।।
आनंदांशप्रकाशाद्धि ब्रह्मभावो भविष्यति।।३९।।

देहेन्द्रियादिक के लय होने के लिये आसन्य प्राण की उपासना करना वेद में लिखा है उसके अनुसार उपासना करने से इन्द्रियां हैं वे अपने देवता रूप हो जाती हैं। वाणी अग्निरूप हो जाती है, प्राण वायुरूप हो जाता है, नेत्र सूर्यरूप हो जाते हैं, कान दिशा रूप हो जाते हैं, मन चन्द्रमा रूप हो जाता है। जिह्वा वरूण रूप हो जाती है, नासिका अश्विनी कुमार रूप हो जाती है। हाथ इन्द्ररूप हो जाते हैं, पांव उपेन्द्र रूप होते हैं इस रीति से जब सब इन्द्रियां अपने अपने आधिदैविक देवता रूप हो जाते हैं तब मृत्यु से छूट जाता है। यह ही देहादिक का लय होना है।

जो कार्य रूप को छोड़कर कारण रूप हो जाना आसन्य की उपासना का प्रकार वाजसनेयि ब्राह्मणोप निषत्के तृतीय अध्याय के तृतीय ब्राह्मण में लिखा है कि आसन्य की उपासना की वेद में ऐसी महिमा लिखी है उसका कारण यह है कि आसन्य प्राण है वह सूत्र रूप हैं। सूत्र है वह महत्तत्व का क्रियाशक्ति वाला दूसरा रूप है, महत्तत्व है वह भगवान् के प्रकृतिरूपा माया में उत्पन्न हुआ है। उसमें प्रमाण तृतीय स्कंध के २६ वे अध्याय में

''देवात्क्षुभित्तधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान्।।
गर्भमाधत्त सासूत महत्तत्वं हिरण्मयम्''।।

इसलिये महत्तत्व भगवान् का पुत्र है उस से ही इंद्रिय देहादिकों की उत्पत्ति होती है। इस कारण महत्तत्वरूप आसन्य की उपासना से देहादिकों का लय हो जाता है और भक्तके देहादिको का लय तो हरि की सेवा से ही हो जाता है क्योंकि भगवत् शास्त्र गीता भागवतादिक का यही सिद्धान्त है। भगवत्सेवा से ही सब सिद्ध हो जाता है, उसमें प्रमाण भागवत एकादश का श्लोक **''यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्। सर्वं मद्भक्तियोगेन भद्भक्तो लभतेंजसा। स्वर्गापवर्ग मद्धाम कथंचिद्यदि वांछति''** उद्धवजी को भगवान् आज्ञा करते हैं, हे उद्धव! कर्म, तप, ज्ञान, वैराग्य आदि साधन करके जो फल सिद्ध होता है वह फल मेरे भक्त को भक्ति करके ही मिल जाता है। स्वर्ग, मोक्ष मेरा लोक और जो कुछ चाहे वह सर्व पदार्थ भक्तिकरके ही मेरे भक्त को मिल जाती है। इसलिये भगवद् भक्त के देह इंद्रिय आदिकों का लय भगवद्भक्ति करके ही हो जाती है। तात्पर्य है कि अग्नि भगवान का मुख है, भगवद भक्तकी वाणी भगवद् सेवा से अग्नि रूप हो जाती है। ऐसे ही भक्तिकरके प्राण वायु रूप हो जाती है। मन चन्द्रमा रूप हो जाता है। तब भगवान् के

मन रूप हो जाता है। इसी रीति से भक्ति करके सब इन्द्रियां आधिदैविक देवतारूप हो जाती हैं तब देह को छोड़कर भगवान् के अंगरूप हो जाते हैं। तब देहादि संधान का भी पंच महाभूतों में लय हो जाता है। आसन्य प्राणी की उपासना से यद्यपि देहादिसंधान का लय हो जाता है। परन्तु आत्मा का जीवभाव नहीं जाता है। वह पुनः कदाचित्जीव देहेन्द्रियादिक को धारण कर लेगा और पुनः उनमें अहंकार उत्पन्न हो जाये तो फिर बंध हो जाता है और हरि सेवा से देहादि संघात का भी लय हो जाता है और पुनः आत्मा का जीवभाव दूर हो ब्रह्मभाव होता है तब आत्मा का ब्रह्म में लय हो जाता है फिर उसको संसार जनित बंध कभी नहीं होता है।

सायुज्यं वान्यथा तस्मिन् उभयं हरिसेवया।।
एवं कदाचिद्भगवान् साक्षात्सर्वं करोत्यजः।।४०।।
कदाचित्पुरुषद्वारा कदाचित्पुनरन्यथा।।
कदाचित्सर्वमात्मैव भवतीह जनार्दनः।।४१।।

जब जीव में (तिरोहित) छिपा हुआ आनंद प्रकट हो जाता है तब ब्रह्म रूप हो जाता है और व्यापक हो जाता है जैसे अग्नि के संबंध से लोह का गोला भी अग्नि हो जाता है। वैसे व्यापक ब्रह्मरूप आत्मा के संबंध से देह में छिपा हुआ चैतन्य आनंद प्रकट जो जाता है। तब जड देह भी ब्रह्मरूप हो जाता है। उस अवस्था में देह जीव दोनों ब्रह्मरूप रहते हैं। इस रीति का ब्रह्मभाव दुर्लभ है।

जिस जीव को स्वरूपानंद देने के लिये ज्ञानीभक्त ज्ञानी रूप से ही सर्वदा स्थित रखना चाहते हैं उसी जीव को ऐसा ब्रह्मभाव मिलता है। इस रीति के ब्रह्मभाव देने की इच्छा नहीं हो और सायुज्य मुक्ति देने की इच्छा हो तो सायुज्य मुक्ति देते हैं अर्थात् अलक कौस्तुममणि वनमाला आदि रूप उस भक्त को बनाकर अपने स्वरूप में स्थित कर लेते हैं। ऐसे भी इच्छा नहीं हो तो किसी भक्त को अक्षर ब्रह्म का सायुज्य देते हैं। जिस जीव को इनमें से कुछ भी फल देने की भगवान् की इच्छा नहीं हो तो उस जीव के हृदय में मैं मुक्त हूँ ऐसा अभिमान हो जाता है। तब वह जीव भगवत्सेवा को छोड़ देता है। तब उसके मन में आनन्द भी प्रकट नहीं होता है और बड़े परिश्रम से चढ़ा हुआ भी फिर गिर पड़ता है तथा पुनः संसार में फंस जाता है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि सायुज्य ब्रह्म ये दोनों फल भगवान् की इच्छा के ही अधीन हैं और हरि सेवा से नहीं मिलता है। इसका प्रमाण गीता श्लोक है -

"मां च योऽत्यभिचारेण भक्ति योगेन सेवते।। स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते"

हे अर्जुन अनन्य भक्ति करके जो मेरी सेवा करते हैं वे जीव सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण का उलंघन करके ब्रह्मभाव को प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार सृष्टि उत्पन्न होने का एक प्रकार पूर्व में कहा है। इसलिये इसीभांति से सृष्टि होती है और रीति से नहीं होती है।

ऐसे नहीं जानना वेद में सृष्टि प्रकट करने के बहुत से प्रकार दिखाये हैं साक्षात् सृष्टि करने के बहुत से प्रकार

हैं तथा परंपरा सृष्टि करने के भी वेद में बहुत से प्रकार हैं। कभी भगवान् अक्षर पुरुष के द्वारा सृष्टि करते हैं वह सृष्टि पुराण प्रसिद्ध है। भागवत के तृतीय स्कंध में उस सृष्टि का प्रकार विस्तार से लिखा है। कभी आप कभी आप अपने स्वरूप से आकाश को प्रकट करते हैं आकाश से वायु प्रकट करते हैं। वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से अन्न, अन्न से रस, रस से पुरुष इस रीति से उत्पत्ति तैतिरीय में लिखते हैं किसी समय में और रीति से भी सृष्टि करते हैं। वासुदेव भगवान् जगत् के कारण हैं उनसे संकर्षण नाम का जीव प्रकट हुआ उससे प्रद्युम्न नाम का मन उत्पन्न हुआ उस से अनिरूद्ध रूप अहंकार प्रकट हुआ इसका विस्तार नारद पंचरात्र में वर्णन किया है। कभी आप अविद्या को दूर करके स्वयं भगवान् जगत रूप हो जाते हैं। जब ब्रह्म ने अपने स्वरुप को जाना कि मैं ब्रह्म हूँ तब ब्रह्म से सब सृष्टि प्रकट हो गयी। यह प्रकार पुरुषविध ब्राह्मण में लिखा है। यह पुष्टि सृष्टि है केवल लीला के लिये की है। जब परम दयालु श्रीकृष्ण परमात्मा पर ब्रह्म जीवों को अनेक बार जन्म मरण क्लेश नहीं सह सकते हैं तब जीवों को सृष्टि में प्रकट नहीं करते हैं। स्वयं भगवान् ही जड जीव अन्तर्यामी होकर क्रीडा करते हैं। इस सृष्टि में आनन्द का तथा चैतन्य का किसी पदार्थ में तिरोभाव नहीं रहता है। सब पदार्थों में सत्, चित्, आनन्द ये तीनों प्रकट रहते हैं।

महेन्द्रजालवत्सर्वं कदाचिन्माययासृजत्।।
तदाज्ञानादयः सर्वे वार्तामात्रं न वस्तुतः।।४२।।
वियदादि जगत्सृष्ट्वा तदाविश्यद्विरूपतः।।
जीवान्तर्यामिभेदेन क्रीडतिस्म हरिः क्वचित्।।४३।।
अचिंत्यानंतशक्ते स्तद्यदेतदुपपद्यते।।
अतएव श्रुतौ भेदाः सृष्टेरूक्ता ह्यनेकधा।।४४।।
यथाकथंचिन्माहात्म्यं तस्य सर्वत्र वर्ण्यते।।
भजनस्यैव सिध्यर्थं तत्वमस्यादिकं तथा।।४५।।

कभी भगवान् केवल माया से ही सृष्टि करवाते हैं, आप स्वयं उस सृष्टि में प्रवेश नहीं करते हैं। वह मायिक सृष्टि अनेक प्रकार की है। सोये हुए पुरुषों को जैसे नींद में हाथी, घोड़ा बड़े-बड़े नगर आदि अनेक पदार्थ दिखते हैं वे सब माया के ही बने हुए हैं तथा कांच आदि पदार्थ में प्रतिबिम्ब (परछाई) दिखता है। अर्थात् कांच के सामने किसी वस्तु को की जाती है तो कांच में वैसी की वैसी दूसरी वस्तु बन जाती है उस दूसरी चीज को माया निर्मित जानना। ऐसी ही भगवान् के स्वरूप जो घट पटादि सब जगत् के पदार्थ हैं उनमें भगवान् से पृथकता मिथ्यापन तथा निंदितपने ग्लानि आदि दिखाई देते हैं वे भी माया के बनाये हुए हैं।

जैसे – सफेद वस्त्र भी हरे चश्मा से हरा दिखाई पड़ता है ऐसे ही माया निर्मित अन्तरा सृष्टि अर्थात् विषयता रूपा सृष्टि नेत्र आदि इंद्रियों के साथ जगत् के पदार्थों के बीच में आकर खड़ी होती है तब माया सृष्टि से मिले हुए पदार्थों का कोई ग्रहण होता है वह शुद्ध भगवद् रूप पदार्थों का ग्रहण नहीं होता है। जैसे हरा चश्मा

बीच में हो तब नेत्र शुद्ध श्वेत (सफेद) वस्त्र को नहीं देख सकता है। किन्तु चश्मा का हरापन उसमें दिखता है। इसी भांति माया की अन्तरासृष्टि बीच में आ रही है। उससे उस अन्तरासृष्टि की मिथ्यापना तथा निंदितपना भगवद् रूप जगत् में भी भासमान होता है।

इस माया सृष्टि का वर्णन भागवत के एकादश स्कंध में **"मायान्तराऽऽपततिनाद्यपवर्गयोर्यत्"** इस श्लोक में तथा **"न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमंतरा सं बभूव"** इस यजुर्वेद के मंत्र में किया है। ऐसे ही अंधकार प्रतिध्वनि झांई की आवाज आकाश में बादल के काले पीले लाल रंग आदि में सांप तथा आभास प्रतिबिंब विषयता आदि पदार्थों की प्रतीति इत्यादि अनेक मायासृष्टि के भेद हैं इस सृष्टि में ज्ञानादि वार्ता मात्र के हैं। फल साधक नहीं है। जैसे स्वप्न में लड्डू कहने मात्र के होते हैं उनसे तृप्ति नहीं है। ऐसे ही मायिक सृष्टि भी मिथ्या है। इसी मिथ्या सृष्टि के वर्णन करने वाले वाक्यों का तात्पर्य नहीं समझ कर कितने ही वादी ब्रह्मरूप जगत् को मायिक तथा मिथ्या बताते हैं। कभी भगवान् साक्षात् अपने स्वरूप से आकाश उत्पन्न करते हैं। आकाश से वायु उत्पन्न करते हैं। प्रथम जो क्रम कहा है उसके अनुसार ही सृष्टि पैदा करते हैं। उस सृष्टि में और इस सृष्टि में इतना ही अन्तर है कि उसमें भगवान् ने जीव अन्तर्यामी रूप प्रथम धारण करके फिर अपने बनाये जगत् में प्रवेश किया। इसमें प्रथम विराजमान होकर पीछे जीव अन्तर्यामी रूप धारण करता है। १ ऐश्वर्य २ वीर्य ३ यश ४ श्री ५ ज्ञान ६ वैराग्य ये भगवान् के छः गुण हैं। इन छः गुणों से भगवान् छः प्रकार की सृष्टि को कर छः क्रीडा करते हैं। इसलिये मुख्य छः प्रकार की सृष्टि है किन्तु इनमें से एक-एक सृष्टि के अनेक भेद हैं। इस कारण अनेक भेद सृष्टि के वेद में वर्णन किये हैं। भगवान् एक है और अनेक प्रकार की सृष्टि कैसे करते होंगे यह संदेह नहीं रखना चाहिये क्योंकि भगवान् की अनन्त सामर्थ्य है। अपनी अल्प बुद्धि में नहीं आ सकती है। यह बात **"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते"** इस श्वेताश्वतरोपनिषद् की श्रुति में लिखा है। भगवान् की अचिन्त्य अनन्त सामर्थ्य बताने के लिये ही श्रुतियों में अनेक प्रकरण में हजारों सृष्टि के भेद वर्णन करते हैं।

भगवान् का माहात्म्य बताने के लिये सभी स्थान पर वेद में अनेक प्रकार की सृष्टि लिखी है। जैसे बंदी जन पराक्रम का वर्णन करके राजा की स्तुति करते हैं ऐसे वेद भी नाना प्रकार की सृष्टि का वर्णन करके भगवान् के माहात्म्य को बताते हैं। वस्तुतस्तु ठीक-ठीक विचार किया जाय तो भगवान् अपना माहात्म्य बताने के लिये सृष्टि नहीं करते हैं क्योंकि सृष्टि करना भगवान् का सहज स्वभाव है। जैसे राजाधिराज सहज स्वभाव से ही सुन्दर चल जानता है उसमें उसका कुछ माहात्म्य नहीं है परन्तु प्रजा के हृदय में तो राजा की सुन्दर गति (चाल) को देखकर स्वतः ही माहात्म्य बढता है। ऐसे ही बिना परिश्रम इच्छा मात्र से क्षण भर में करोड़ों ब्रह्माण्ड की सृष्टि कर देते हैं, परन्तु जीव तो करोड़ जन्म में भी सृष्टि नहीं कर सकता है। इसलिए मनुष्य की अपेक्षा सृष्टि करना भगवान् का माहात्म्य है। इसी वेद में अपनी सामर्थ्य के अनुसार जैसे तैसे सृष्टि का वर्णन करके जीवों को भगवान् का माहात्म्य बताया है।

तात्पर्य यह है कि वेद में भी भक्ति का ही वर्णन है और माहात्म्य बताने के लिये वेद में सृष्टि का वर्णन है और भगवान् को अपनी आत्मा समझ कर स्नेह करने के लिये वेद में **''तत्वमसि''** इत्यादि वाक्यों में हे! जीव तू ब्रह्म है ऐसा उपदेश किया है।

तात्पर्य यह है कि यह मनुष्य आत्मा के उपकार करने वाले जानकर स्त्री, पुत्र, देह आदि में प्रेम करता है। स्त्री पुत्रादिक में अपने स्वार्थ की प्रीति है, उससे सोपाधि सकाम प्रीति है और अपनी आत्मा में जो प्रीति है वह निस्वार्थ प्रीति है। यह निष्काम निरूपाधि प्रीति कही जाती है। भगवान् सब देह धारियों के आत्मा है यह बात **'तत्वमसि' ''अध्मात्मोद्धवामीषाम्''** हे उद्धव मैं सब देहधारियों की आत्मा हूं इसलिये भगवान् को ही अपनी आत्मा समझ कर भगवान् में निष्काम दृढ प्रीति करना। यही वेद का निचोड़ (सार) है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोधिकः।।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्ति र्नचान्यथा।।४६।।

जीव की मुक्ति भक्ति करने से ही होती है। भगवान् का माहात्म्य जानकर सबसे अधिक दृढ स्नेह करना भक्ति कहलाता है। उसी का नाम भाव है। **''रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभि धीयते''** माहात्म्य के द्वारा यह देवता है ऐसा जानकर जो प्रेम किया जाय उसको भाव कहते हैं। केवल इस प्रकार के भाव से ही गोपी, गाय, पक्षी, मृगादिकों को भगवान् की प्राप्ति हुई है। निरूपाधिस्नेह भगवान् को आत्मा समझे बिना नहीं होता है। इसलिये वेद में ब्रह्म को अर्थात् भगवान् को आत्मा मानकर के प्रेम कराने के लिये **'तत्वमसीत्यादि'** श्रुतियों में वह ब्रह्म तू है इस रीति का उपदेश किया है।

वहां कितने ही वादी कहते हैं कि ब्रह्म ज्ञान बिना मुक्ति नहीं होती है इस लिये ब्रह्म ज्ञान होने के लिये **'तत्वमसीत्यादि'** वाक्यों में जीव तू ब्रह्म है ऐसा उपदेश दिया है। उसका उत्तर है केवल उपदेश मात्र से ही ब्रह्म का ज्ञान हो जाता तो **''तत्वमसि''** अथवा **''जीवो ब्रह्मैव''** जीव है वह ब्रह्म ही है ऐसा एक ही वाक्य सब उपनिषदों में होना चाहिये इसी वाक्य के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान हो जायगा, फिर ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति का क्यों वर्णन किया? वादी की रीति से सृष्टि का वर्णन वृथा (बेकार) होता है और दूसरा उस प्रश्न का यह उत्तर है कि तू ब्रह्म है ऐसा शब्द मात्र के कहने से ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि वर्तमान के मनुष्यों में किसी को भी उपदेश के सुनते ही ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता है। इसलिये ब्रह्म का ज्ञान होना ब्रह्म के ही अधीन है। कठवल्ली में **''यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः''** इस श्रुति में जिसको ब्रह्म अपने स्वरूप का ज्ञान करना चाहता है उसी को ही ब्रह्म का ज्ञान होता है। यह बात लिखी है। जैसे लोक में राजा प्रसन्न हो तब दर्शन देता है ऐसे ही भगवान् (ब्रह्म) जिस जीव पर प्रसन्न हो उसी के आगे अपने स्वरुप को प्रकट करता है।

"तम क्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्"

इस श्रुति में भगवान् की प्रसन्नता से ही भगवान् को जीव देखता है। यह स्पष्ट लिखी है। उनसे भगवान् प्रसन्न हो ऐसा साधन (प्रेम सेवा) भक्ति ही है। इसलिये वेद में भी भक्ति का ही निरूपण है और ब्रह्म में अज्ञानादिदोष नहीं है यह बात बताने के लिये माहात्म्य वर्णन किया है। स्नेह होने के लिये आत्म तत्व का वर्णन है।

पंचात्मकः स भगवान् द्विषडात्मकोऽभूत्पंचद्वयीशतसहस्रपरामितश्च।।

एकः समोऽप्यखिलदोष समुज्झितोऽपि सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि बहूपमोऽभूत।।४७।।

इस प्रकार कितनी ही श्रुतियां भक्ति में तात्पर्य दिखाकर उपासना के योग्य स्वरूप का श्रुतियों में वर्ण करती है। उन श्रुतियों का भी भक्ति में तात्पर्य दिखाने के लिये भगवान् के विभूति रूप का वर्णन करती हैं। अग्नि होम, दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्य, सामयाग ये पांच भगवान् का स्वरूप है तथा यज्ञ के साधन, देश, काल, मंत्र और कर्ता ये पांच भगवान् के स्वरूप है तथा ऋगवेद के मंत्र, यजुर्वेद के मंत्र, साम वेद के मंत्र ब्राह्मणभाग उपनिषद भाग, ये पांच भी भगवान् के स्वरूप हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान ये पांच भगवान् के स्वरूप हैं तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द ये पांच भगवान् के ही रूप है। देह में भगवान् पांच स्वरूप में विराजते हैं। ध्यान करने के लिये प्रादेशमात्र बारह अंगुली का स्वरूप हृदय में विराजता है। इस स्वरूप का भागवत के द्वितीय स्कंध में वर्णन है। आश्रय के अर्थ अंगुष्ठमात्र स्वरूप से बिराजते हैं। इस स्वरूप का काठकोप निषद् में वर्णन है।

कर्मफलका नियम करने के लिये इस जीव का स्वामी होकर नेत्रों में विराजते हैं। इस स्वरूप का छांदोग्य उपनिषद् में वर्णन है और सुख देने के लिये समस्त शरीर में आनन्दमय भगवान् विराजते हैं।

मस्तक में भ्रकुटिनासिका की संधी में वैश्वानर भगवान् बिराजते हैं। इस स्वरूप का वर्णन छांदोग्य तथा जाबाल श्रुति में है। इस रीति से देह में पंचात्मक भगवान् बिराजते हैं, तथा द्वादश सूर्यात्मक भगवान् है तथा बारह महिना भगवान् का ही रूप है तथा बारह अग्नि भगवान् का स्वरूप है। दश दिशा प्रभु का स्वरूप है तथा शत सहस्र अरू पर अमित असंख्यात भगवान् के विभूतिस्वरूप है। इन रूपों में भगवान् पृथक्-पृथक् नहीं है। किन्तु एक ही भगवान् इन अनेक रूपों में विराजते हैं। जैसे एक ही योगी अनेक शरीरों में योग के प्रभाव से घुसा रहता है। ऐसे ही एक ही भगवान् अनेक रूप में पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। अलौकिक सामर्थ्य आप अपने स्वरूपों में अभेद रखते हैं और आपके छोटे अंगूठा जितने स्वरूप में न्यूनता नहीं समझनी तथा बारह अंगुल के स्वरूप में अधिकता नहीं समझनी। छोटे-बडे सब रूप में भगवान् समान ही है और जितने आपके रूप हैं सब दोष रहित हैं तथा सभी रूपों में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य ये छः गुण पूरे विराजमान हैं। आपके रूप में जो परस्पर विलक्षणता दिखाई पड़ती है वह आप क्रीडा के लिये सब से अलग हो जाते हैं, विलक्षण हो जाते हैं और अविलक्षण भी रहते हैं। अनेक रूप होकर सम्मिलित भी रहते हैं। वेद में भी

लिखा है **"समो नागेन समो मशकेन"** आप अद्भुत सामर्थ्य से हाथी के समान है और मच्छर के समान है, तीन लोक के समान भी है, इसलिये आप बहूपम है अर्थात् भगवान् में सब उपमा दे सकते हैं।

निर्दोषपूर्णगुणविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैश्च हीनः।।

आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च त्रिविधभेदविवर्जितात्मा।।४८।।

तस्य ज्ञानाद्धि कैवल्यमविद्याविनिवृत्तितः।।

वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे।।४९।।

पंचपर्वेति विद्येयं यया विद्वान्हरिं विशेत्।।

मूलरूप का वर्णन करते हैं। जैसा मूलरूप है वैसा ही ध्यान करना। लोक में जितने गुण हैं उतने सब दोषों से भरे हैं, जो ज्ञानी है वे संग रहित नहीं है, जैसे तपस्वी है वह क्रोधवाला है, जो धर्मात्मा है वह दया वाला नहीं है। दूसरी जिसे लोक में सब गुण दोष सहित है। मूलरूप पुरुषोत्तम में शांति, ज्ञान, दया, शरणागत रक्षा, भक्त वत्सलता आदि अनेक गुण दोष रहित हैं और जितने गुण हैं वे सब पूरे हैं। परन्तु लौकिक दृष्टि से उन गुणों में परस्पर विरोध दिखाई पड़ता है। किन्तु वे सब एक रूप हो रहे हैं। आप स्वतंत्र हैं अपने गुण के आधीन नहीं है, देह इन्द्रिय आदिकों के कार्य आप करते प्रतीत होते हैं परन्तु लौकिक देह इन्द्रियादिक तथा उनके धर्म आपस में नहीं हैं। आनन्द के बने हुए आपके श्री हस्त श्री चरणारविंद आदिसब अंग हैं। भेद तीन प्रकार के होते हैं। मनुष्य तथा पशु में परस्पर भेद है यह विजातीय भेद है।

मनुष्यों में जैसे परस्पर भेद है वह सजातीय भेद है। मनुष्यों के अंगों में जो परस्पर भेद है यह स्वगत भेद है। ये तीनों भेद भगवान् के स्वरूप में नहीं है। आपका आनन्दमय रूप जड जीव अन्तर्यामी में भरा हुआ है। इसी से भगवान् सर्वात्मक है, सब के कारण हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रह्म निष्कल है, निरंजन है, इतना जानने मात्र से पूरा ब्रह्मज्ञानी नहीं होता है। ब्रह्म के थोड़े स्वरूप को वह जानता है, इतना जानने से वेदोक्तफल नहीं होता है किन्तु ऊपर के दोनों श्लोकों में लिखे हुए वेदोक्तसब गुण सहित ब्रह्म को जब मनुष्य जान जाता है तब पूरा ब्रह्म ज्ञानी होता है।

तब ही जीव का (कैवल्य) अर्थात् मोक्ष होता है अर्थात् ब्रह्मभाव भगवान् परमस्वतंत्र है, इच्छा हो तो देहादिक संघात से उस जीव को पृथक् कर देते हैं। इच्छा हो तो देहादिक से अलग कर के जीव को मोक्ष अर्थात् ब्रह्मभाव करके लय कर देते हैं।

इसी रीति से सर्व गुणों के सहित ब्रह्म का साक्षात् अनुभव है वह अविद्या को दूर करके मोक्ष करते हैं। परन्तु जहां तक विद्या के पाँच पर्व सिद्ध नहीं होते हैं वहां तक ब्रह्म का साक्षात् अनुभव नहीं होता है। इसलिये पांच पर्व का वर्णन करते हैं।

विद्या का प्रथम पर्व वैराग्य है, इन्द्रियों के विषय सुख में तृष्णा नहीं रखना यही वैराग्य है। नित्य अनित्य पदार्थ का विचार करके सभी को छोड़ देना इसका नाम सांख्य है, ये विद्या का दूसरा पर्व है। अष्टांग योग विद्या का तीसरा पर्व है। विद्या का चतुर्थ पर्व तप है। विचारपूर्वक ज्ञान को अथवा चित्त को एक ओर लगाकर स्थिर रहने को तप कहते हैं। विद्या का पांचवां पर्व भक्ति है।

निरंतर भावना कर के भगवान् में परम प्रेम करना यह ही भक्तिहै। इस पांच पर्व विद्या को करके भगवान् को साक्षात् अनुभव होता है। तब भगवान् में प्रवेश होता है।

सत्वसृष्टिप्रवृत्तानां दैवानां मुक्तियोग्यता।।५०।।
तीर्थादावपि या मुक्तिः कदाचित्कस्यचिद्भवेत्।।
कृष्णप्रसादयुक्तस्य नान्यस्येति विनिश्चयः।।५१।।
सेवकं कृपया कृष्णः कदाचिन्मोचयेत्क्वचित्।।
तन्मूलत्वात्स्तुतिस्तस्य क्षेत्रस्य विनिरूप्यते।।५२।।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य दृढविश्वासतो हरिम्।।
भजेत श्रवणादिभ्यो यद्विद्यातो विमुच्यते।।५३।।

अविद्या के पांच पर्वों में जो भक्तिका वर्णन है वह भक्तिस्वतंत्र, निष्काम भक्तिनहीं है किन्तु सकाम प्रवाहिकी भक्तिहै, मोक्ष की कामना के लिये की जाती है। मोक्ष देकर निवृत्त हो जाती है। विद्या के पांच पर्वों में भक्ति का वर्णन किया है। उसका यह प्रयोजन है कि भक्ति सहित ज्ञान ही निर्गुण मोक्ष को देता है। केवल ज्ञान से तो सगुण मुक्ति ही होती है। इस भांति से साधन करने से भी दैवी संपत् में उत्पन्न हुआ सात्विक जीवों की ही मुक्ति होती है, जो आसुर जीव है उनकी मुक्ति नहीं होती है क्योंकि उनमें मुक्ति की योग्यता ही नहीं है। जैसे जिस जमीन (पृथ्वी) में बीज नहीं होता है उसमें जल डालने से भी कुछ नहीं होता है।

दूसरा दृष्टान्त यह है कि जैसे (तेल यन्त्र) घाणी है वह तिलों में से ही तेल निकाल सकती है, बालु रेत में से तेल नहीं निकाल सकती है। क्योंकि बालु रेत में से तेल निकालने की योग्यता नहीं है। ऐसे ही भगवान् सृष्टि की आदि में ही जिन जीवों में भक्ति का अंकुर स्थापित कर देते हैं वे ही देवी जीव हैं। उनकी ही भक्ति साधन करने से ही बढ जाती है। तब भगवत्प्राप्ति करा देती है।

ज्ञानमार्ग में भी भक्ति करके ही जीव की निर्गुण मुक्ति होती है। केवल ज्ञान से तो सगुण मुक्ति होती है। यह दिखाने के लिये ज्ञान मार्ग का ऊपर के श्लोक में वर्णन किया है। ऐसे ही काशी आदि तीर्थ में भी भक्ति के अंग हैं उनको मुक्ति देने वाले कहे हैं, परन्तु भगवान् की भक्ति बिना मुक्ति नहीं कर सकते हैं। तीर्थ में रहने वाले जीव मात्र की भक्ति बिना जो मुक्ति हो जाती है तो तीर्थ में भूत, प्रेत क्यों दिखते हैं तथा जो काशी जी

में मरने से सब की मुक्ति होती हो तो काशी माहात्म्य में लिखा है, काशी के पापी जीवों को मरने के पश्चात् भैरव दंड देते हैं, यह बात असत्य हो जायगी तथा काशी के जीवों के मरने के पश्चात् शिवजी तारक ब्रह्म मंत्र का उपदेश देते हैं यह लिखा है वह अलौकिक मंत्रोपदेश भी शिवजी सभी को नहीं देते हैं। कभी तीर्थादिकों से शुद्ध हुए किसी जीव को अलौकिक उपदेश हो जाता है। जिसके ऊपर श्री कृष्णभगवान् प्रसन्न होते हैं उसी जीव की काशी आदि तीर्थों में अलौकिक उपदेश के द्वारा मुक्ति करते हैं।

जैसे नाम का माहात्म्य बढाने के लिये महापापी अजामिल की नारायण नाम से मुक्तिकर दी। ऐसे ही तीर्थ का माहात्म्य बताने के लिये जिसके उपर भगवान् प्रसन्न हो उसकी तीर्थ मुक्ति करते हैं।

इसलिये भगवान् के प्रसन्न होने के लिये प्रेमभक्ति करने वाले साधन करना योग्य है। कदाचित् प्रेमभक्ति बिना किसी जीव की मुक्ति तीर्थ में हो जाय तो जानना की इस जीव ने भक्ति के साधन पूर्व जन्म में कर ली है। भगवान् की इच्छा से वासना के आधीन होकर के संसार में आसक्त था।

तीर्थ की प्रशंसा करवाने के लिये तीर्थ से अपने भक्त की भगवान् मुक्ति कर देते हैं। ऐसे ही काल की प्रशंसा करवाने के लिये उत्तरायण आदिकाल में कृपाकर के भक्त की मुक्ति करते हैं। जैसे दृढ़ भक्त भीष्मपितामह की मुक्ति करके उत्तरायण काल का माहात्म्य बढाया। जिन तीर्थों की पुराणों में महिमा की है उन तीर्थों को भगवान् के अंग जानना। वे तीर्थ भगवान् की भक्ति बिगाडने वाले दैत्यों के विघ्नों को दूर करते हैं इसीलिये लोक में तीर्थों का प्रचार होने के लिये तीर्थ मुक्ति देने वाले हैं। ऐसे शास्त्रों में कहा है। इसलिये तीर्थ में निवास करके शुद्ध काल में प्रेमभक्ति साधन का साधन योग्य है। कोई पुरुष भक्ति बिना केवल तीर्थादिकों में रहने से ही मेरी मुक्ति हो जायगी ऐसे समझ कर के भक्ति करना छोड़ देगा उसकी मुक्ति नहीं होगी। इसलिये जैसे भगवान् में स्नेह हो ऐसा यत्न करना चाहिये।

अब मर्यादा भक्ति का वर्णन करते हैं। भक्ति करे किन्तु मन में कदाचित् मेरी मुक्ति नहीं हो ऐसा संदेह नहीं रखना। वेद में लिखे हुए श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये तीन साधन के प्रकार इनको करने से भगवान् मेरी मुक्ति अवश्य करेंगे ऐसा दृढ़ विश्वास हो जाता है फिर गीता भागवतोक्त नवधा भक्ति निरन्तर करते रहना, ऐसे नवधा भक्ति करते-करते स्नेह भक्ति जब हो जाती है तब अविद्या से भी छूट जाता है। अर्थात् अविद्या से छूटने के लिये विद्या प्राप्ति के अर्थ विद्या के पांच पर्वो का अभ्यास करना यह बात पहली कही है फिर विद्या से भी छूट कर ब्रह्म में प्रवेश होने के लिये श्रवणादि नवधाभक्ति का अभ्यास निरन्तर करना यह बात इस श्लोक में लिखी है।

अब यह शंका होती है कि इस प्रकार मर्यादा भक्ति कर के भी मोक्ष हो जाता है फिर (स्वतंत्र भक्ति) अर्थात् प्रेम लक्षण पुष्टि भक्ति में क्या विशेषता है? इसका उत्तर आगे श्लोक में लिखते हैं।

ब्रह्मानंदे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा।।
संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः।।५४।।
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्तः करणैरात्मनापि हि।।
ब्रह्मभावात्तु भक्तानांगृहमेव विशिष्यते।।५५।।
मोहार्थशास्त्रकलिलं यदा बुद्धेर्विभिद्यते।।
तदा भागवते शास्त्रे विश्वासस्तेन सत्फलम्।।५६।।

भक्तिनाम पुष्टि भक्ति का भी है और मर्यादा भक्तिका भी है, यह ही पुष्टि भक्ति के साथ मर्यादा भक्ति का सजातीय पन है। इस प्रकार पुष्टि भक्ति की सजातीय होने मर्यादा भक्ति की साधन दशा भी मर्यादा मार्गीय फल दशा से उत्तम है। तब पुष्टिभक्ति की साधन दशा तथा फल दशा की अधिकता का क्या वर्णन करना। **''सोश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा''** इत्यादि श्रुति के अनुसार भगवान् भक्त के अधीन होकर पुष्टि मार्गीय भक्त को रसात्मक स्वरूप का पूर्ण अनुभव कराते हैं तथा श्री भागवत में साधन प्रकरण में श्रीकृष्ण चन्द्र यशोदाजी के श्री हस्त से ऊखल से भी कृपाकर बंध गये तब शुक देवजी ने राजा को आज्ञा की है **''नेमं विरंचो न शिवो न श्रीरप्यंगसंश्रया'' प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्रापविमुक्तिदात्।।** कर्म ज्ञान भक्ति मार्ग के शिरोमणि ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मी आदिकों को जो भगवान् की प्रसन्नता नहीं मिली वह यशोदा जी को प्राप्त हुई ऐसी ही व्रजभक्तों के कहने से बाल्यावस्था में पीढ़ा आदि उठाकर लाना, नृत्य करने लग जाना इत्यादि अनेक चरित्र भक्ताधीन होकर करते हैं। 'पुष्टिमार्गीय फल दशा में तो भगवान् भक्तके देहेन्द्रियादिकों में अपना आवेश करके बाहर प्रकट होकर देहेन्द्रियों के द्वारा तथा आत्मा के द्वारा भक्तों को इस रूप स्वरूप का पूर्व अनुभव करा कर के भी आप उन भक्तों से यह ही कहते हैं कि मैं तुम्हारी भक्ति का बदला सहस्र वर्ष (हजार) में भी नहीं दे सकता हूँ। जैसे गोपियों के प्रति भगवान् के वाक्य पंचाध्यायी में **''न पारयेहं निखद्यसंयुजां स्वसाध्य कृत्यं वि विधायुषापि वः''** इत्यादि लिखा है, परन्तु ऐसी स्वतंत्र पुष्टि भक्ति दुर्लभ है।

इसलिये यहां मुख्य फल का वर्णन मूल में नहीं किया है। इसका वर्णन विस्तार से उस ग्रंथ के विवरण में लिखा है। मर्यादा मार्ग में तो मर्यादा भक्ति साधन है और मोक्ष साध्य है, जो मुक्त होते हैं वे देहादिकों को छोड़कर अधिकारानुसार अक्षर ब्रह्म में अथवा पुरुषोत्तम में लीन होते हैं। अथवा ब्रह्म भाव को प्राप्त होते हैं, उनको केवल आत्मा से ही स्वरूप के आनंद का अनुभव होता है।

पुष्टि भक्तों को तो सर्व इन्द्रिय, अंतकरण तथा आत्मा इन सब से स्वरूपानंदानुभव होता है। इसलिये जीवन्मुक्त की अपेक्षा पुष्टिभक्तों को भगवान् सेवा परायण होकर भगवत्कृपा सहित गृहस्थाश्रम ही उत्तम है क्योंकि भगवान् उन भक्तों से सत्य स्वरूप द्वारा ही देहेन्द्रियान्तःकरण द्वारा स्वरूपानंद का अनुभव कराते हैं, जैसे पद्मनाभ दास जी आदि पुष्टि भक्तों को हुआ है, इसीलिये **''प्रतिकूले गृहं त्यजेत्''** इस वाक्य में सेवा का विरोधी घर हो तो उसका त्याग करना लिखा है।

पुष्टि सेवा के तीन फल लिखे हैं, अलौकिक सामर्थ्य अर्थात् भगवान् के आवेश द्वारा रसरुप पुरुषोत्तम के स्वरूपानंद के अनुभव करने की पूर्ण योग्यता हो जाना, दूसरा सायुज्य पुरुषोत्तम में लय अथवा आभूषणादि रूप हो जाना, तीसरा सेवोपयोगी देह अर्थात् देहेन्द्रिय रहित अक्षर ब्रह्मरूप देह की प्राप्ति वैकुंठादिकों में हो जाना, इन तीनों फलों को देना भगवान् के अधीन है और ये तीनों फल उन जीवों को मिले हैं जो जीव पुष्टि सृष्टि के होते हैं।

उन जीवों के लक्षण पुष्टि प्रवाह मर्यादा ग्रंथ में लिखा है। कालकर्म स्वभाव को रोकने वाले भगवान् के अनुग्रह का नाम पुष्टि कहा है। जब पुष्टि मार्गीय स्वतंत्र प्रेम लक्षणा भक्ति का साधन तथा फल सब मार्गों के साधन फल से अत्यन्त उत्तम है तो सभी मनुष्य इस भक्ति मार्ग में प्रवृत्त क्यों नहीं होते हैं उसका उत्तर यह है कि भागवत शास्त्र, वेद, भगवत् गीतादि बिना और जितने शास्त्र हैं वे सब मनुष्यों को मोह कराने के लिये बनाये है, उन शास्त्रों का कलियुग में बड़ा मान है, उनके देखने से बुद्धि मलिन हो जाती है। जब भगवान् की कृपा से बुद्धि का मल दूर हो तब भागवत शास्त्र में विश्वास हो अर्थात् भागवत शास्त्र में जो कहा है सब सत्य है ऐसी दृढ़ता हो, फिर उसके अनुसार सदा बर्ताव रखे तब उसको सच्चे फल की प्राप्ति होती है, इन्द्रियों में तथा अन्तःकरण में आनंद प्रकट होता है।

सत् प्रकरण संपूर्ण हुआ है, इसमें कितने ही वादी जगत् को मिथ्या मान करके जगत् के मध्य में भगवान् की भक्ति भी आ गई तो उसको भी मिथ्या कहते हैं, उनकी शंका का समाधान किया है।

चित्प्रकरण

जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गंधवद्व्यतिरेकवान्।।
व्यापकत्वश्रुतिस्तस्यभगवत्वेनयुज्यते।।५७।।

अब चित् प्रकरण का प्रारंभ करते हैं। इस प्रकरण में जीव व्यापक है, सब स्थान में विद्यमान है, ये कैसे भक्ति कर सकते हैं ऐसे कहने वाले वादी की शंका दूर करने के लिये जीव के धर्म कहे हैं। जीव आराग्रमात्र है, अर्थात् छिलका सहित चांवल के आगे की तीखी नोक के बराबर जीव का स्वरूप है। जैसे फूल छोटा होता है परन्तु उसकी सुगन्ध गुण सारे वन में फैल जाती है, ऐसे ही जीव तो अणु है अर्थात् अत्यन्त छोटा है परन्तु इसका (चैतन्य गुण) चेतनपना जितना बड़ा देह होता है उतने बड़े देह में सब स्थान पर फैल जाता है, यह बात **"व्यतिरेक गंधवत्"** इस व्यास सूत्र में लिखी है। यहां कितने ही जैनमत के एक देशी ऐसा कहते हैं कि सारे शरीर में सभी स्थान पर चैतन्य मालूम पड़ता है इसलिये जितना बड़ा देह (शरीर) होता है उतना ही बड़ा देह के भीतर जीव रहता है ऐसे मानना है।

उसका उत्तर यह है कि चैतन्य गुण समस्त शरीर में फैल जाता है परन्तु जीव तो अणु मात्र होता है। जो जीव मध्यम परिणाम वाला मानेंगे तो देह जितना ही बड़ा जीव मानना पड़ेगा, तो देह जैसे अनित्य है ऐसे जीव को भी अनित्य मानना पड़ेगा।

जो कदाचित् जीव को भी अनित्य मान लोगे अर्थात् देह के साथ ही जीव बन जाता है, देह के साथ ही जीव मिट जाता है, ऐसे कहोगे तो पैदा हुआ बालक भूख मिटाने के लिये स्तन पीने में प्रवृत्त होता है, वह तुम्हारे मत के अनुसार नहीं बन सकेगा, क्योंकि उसको क्या याद है कि ऐसे स्तन पान किया जाता है तथा स्तन पीने से मेरी भूख मिट जायगी और हमारे सिद्धान्त से तो जीव अनेकदेह धारण करता आया है तथा अनेक जन्म भूख मिटाने के लिये स्तन पीता आया है उसकी याद है। इस कारण उस अभ्यास से बालक इस जन्म में भी स्तन पीने में प्रवृत्त हो जाता है, और प्रेत भूत अपने पहले जन्म की भी सब बात कहता है उससे मालूम पड़ता है कि जीव का देह के साथ नाश नहीं होता है।

जीव नित्य है और देह जितना बड़ा ही जीव को मानोगे तो शरीर अनेक है, सब ही शरीर में कर्म के आधीन होकर जीव को जाना पड़ता है। तब हाथी की देह के समान हाथी का जीव चींटी में कैसे समा सकेगा और शरीर के साथ ही जीव छोटा बड़ा हो जाता है ऐसे कहोगे तो शरीर का जैसे नाश मानते हो वैसे ही जीव का भी नाश मानना पड़ेगा।

यदि कहोगे जीव में छोटापन बड़ापन आदि सब परिमाण है तो यह बात लोक विरूद्ध है। जगत में एक वस्तु का एक ही परिमाण होता है और जो जीव को शरीर जितना ही बड़ा मानोगे तो जीव को अवयव वाला मानना पड़ेगा। अवयव वाला पदार्थ अनित्य होता है ऐसे जीव भी अनित्य होगा। ऐसे अनेक दूषण (दोष) हैं इसलिये शरीर के बराबर जीव को नहीं मानना, जीव को अणु जितना ही मानना। अब न्याय शास्त्र में जीव को व्यापक मानते हैं उसका खंडन करते हैं। वादी कहते हैं अनेक पदार्थ जीव के भोगने के लिये अनेक देशों में उत्पन्न होते हैं, उनके उत्पन्न होने में जीव को (अदृष्ट) अर्थात् धर्म, अधर्म ही कारण है, और धर्म अधर्म जीवात्मा में रहता है इसलिये जहां जीव के भोगने के लिये पदार्थ उत्पन्न हो रहे हैं वहां वहां धर्माधर्म सहित जीव विद्यमान है। अर्थात् (अदृष्ट) धर्माधर्म सहित जीव का संयोग ही है, जीव के भोगने योग्य पदार्थ बनने में कारण है और सब जगह जीव का संयोग रहना जीव को व्यापक माने बिना नहीं बन सकता है। इसलिये जीव को व्यापक मानना। श्री आचार्य जी आज्ञा करते हैं जीवों को व्यापक मानोगे तो सब ही जीव सभी जगह विद्यमान है वहां जितने मूर्तिवाले पदार्थ हैं उन सब के साथ सब जीवों का संयोग है और सब ही के मन देह इंद्रियों के साथ सभी जीवों का संयोग है ऐसा मानना पड़ेगा। तब तो सब जीवों को अदृष्ट करके एक पदार्थ ही सुख दुःख होना चाहिये। सभी जीवों को सभी पदार्थों का होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है, जो जीव के जो नियत भोग हैं उन भोगों को ही वह जीव भोगता है।

जीव को व्यापक मानोगे तो यह बात नहीं बन सकेगी। वादी कहते हैं व्यापक पदार्थ के गुण जहां जहां असमवायीकारण रहे हैं वहां ही रहे हैं अर्थात् जीव व्यापक है। उससे क्या हुआ। मन तो अणु जितने हैं, जिस स्थान पर मन जीव सब लगता है उसी स्थान पर जीव पदार्थ को मन द्वारा भोग कर सकता है, सभी पदार्थ का भोग नहीं कर सकता है। **(श्री आचार्य जी)** ठीक जहां जहां मन का संयोग हो रहा है वहां के भोगों का तो अनुभव होना चाहिये, जैसे देवदत्त नाम के मनुष्य ने आम का भक्षण (खाना) किया तो उसको ऐसा ज्ञान होता है कि मैंने मुख से आम फल को खाया है। ऐसा ही सब जीवों को यह अनुभव होना चाहिये। हमने देत्तदव को शरीक करके आम्र फल का भक्षण किया क्यों कि जीव को व्यापक मानोगे तो देवदत के जीव का देतदत के मन के साथ संयोग है उसी प्रकार सभी जीव का देवदत के मन के साथ संयोग है। ऐसा मानना पड़ेगा, और जैसे एक मनुष्य के पैर में सुख है, मस्तक में मेरे पीड़ा है ये ज्ञान होता है, वैसे ही यज्ञदत्त के शरीर में मेरे सुख हो रहा है, विष्णु मित्र के शरीर में मेरे को दुःख हो रहा है ऐसा ज्ञान होना चाहिये। इसी रीति से सभी जीव सर्वज्ञ हो जाने चाहिये। **(विवादी)** जिस आत्मा का जो शरीर है उस शरीर से ही भोग कर सकता है, क्योंकि उस आत्मा का जो धर्मा धर्म रूप अदृष्ट है वह उस आत्मा का और शरीर में भोग नहीं करने देता है। **(आचार्य जी)** जब आत्मा और शरीर में भोग नहीं कर सकती है तथा और शरीरों के वृत्तान्त को भी नहीं जान सकती है तब आत्मा का सब जगह व्यापक मानना वृथा ही हुआ। किन्तु देह जितना बड़ा हो उतना ही बड़ा आत्मा मानना पड़ेगा तब तो मध्यम परिणाम वाला होने से जैसे देह अनित्य है वैसे आत्मा को भी अनित्य मानना पड़ेगा। जो आत्मा को व्यापक तथा नित्य मानते हो तो जैसे अपने शरीर से अनेक पदार्थ का भोग करती है वैसे और शरीरों से भी अनेक पदार्थ का भोग मानना पड़ेगा।

तब तुम्हारे मत में प्रत्यक्ष विरोध आया क्योंकि लोक में जीव जितने हैं वे सब अपने-अपने शरीर से ही विषय भोग करते नहीं दिखते हैं। किंच देवदत्त के शरीर से जो आम भक्षण का अनुभव हुआ है उस का यज्ञदत्त को भी मैं आम भक्षण किया ऐसा स्मरण रहना चाहिये।

(विवादी) जिस जगह अनुभव होता है उस स्थान पर स्मरण होता है इस लिये देवदत्त के चूसे हुए आम का देवदत्त को भी स्मरण होगा। यज्ञदत्त को नहीं हो सकता है।

(श्री आचार्यजी) जिस स्थान का अनुभव होता है उसी स्थान पर स्मरण हो ऐसा नियम नहीं है, देखा हुआ रूप आंख से अनुभव होता है, स्पर्श का अनुभव हाथ से होता है, परन्तु मैंने कदंब देखा था, मैंने पीताम्बर का स्पर्श किया था ऐसा स्मरण आंख को तथा हाथ को छोड़ कर हृदय में जाकर होता है। इसमें जो वस्तु मैंनें आंख से देखी, उनको स्मरण करता हूं, इस प्रकार अनुव्यवसाय साथ ही प्रमाण है। **(विवादी)** एक देह में अनुभव और स्थान पर हो और स्मरण और स्थान पर हो यह बात तो बन भी सकती है। परन्तु अनुभव और देह में हो और स्मरण और देह में हो ये बात बनती नहीं है क्योंकि जिस देह में अनुभव हो उसी देह

में स्मरण हो ऐसा नियम है। **(श्री आचार्य जी)** अनुभव स्मरण एक ही देह में होता है। यह भी नियम संभव नहीं हो सकता है। क्योंकि कितने ही मनुष्यों को जन्म की देह में जिन पदार्थों का अनुभव किया है उसका स्मरण इस देह में हो जाता है।

क्योंकि देह दूसरी है परन्तु आत्मा तो एक ही है। इसी प्रकार आत्मा को व्यापक मानोगे तो सब देहों के विषय भोगों का स्मरण देवदत्त को होना चाहिये। क्योंकि सब देहों में देवदत्त के आत्मा का संबंध है, और जो पहले कहा की जीवात्मा अपनी देह में ही विषय भोग कर सकते हैं और देहों में (अदृष्ट) अर्थात् धर्माधर्म जीवात्मा को विषय भोग नहीं करने देता है। यह भी बात तुम्हारे मत में संभव हो सकती है, क्योंकि आत्मा सर्वत्र विद्यमान है, सभी की आत्मा को सभी के मन के साथ संयोग है, तब तो आत्मा मन संयोग से हुआ जो प्रयत्न और प्रयत्न से हुआ जो कर्म उससे हुआ जो धर्माधर्म रूप अदृष्ट वह भी सब जीवों का समान हुआ, तब तो सभी को समान सुख दुःख होना चाहिये और जैसे देवदत्त यज्ञदत्त की देह से विषयभोग नहीं कर सकता है ऐसे यज्ञदत्त भी यज्ञदत्त की देह से विषयभोग नहीं कर सकेगा, क्योंकि अदृष्ट सबके समान होने से जो अदृष्ट देवदत्त के भोग करने में प्रतिबंधक है वही अदृष्ट यज्ञदत्त के भोग करने में प्रतिबंधक हो जायगा और जीवात्मा को व्यापक मानोगे तो ईश्वर के आधीन भी जीव नहीं रहेगा, क्योंकि जैसे भगवान् व्यापक नित्य चैतन्य है जैसे ही जीव भी व्यापक नित्य चेतन होने से वह ईश्वर के समान अपने को मानेगा, उससे वेदादिकों के अनुसार जीव को अणु रूप ही मानना। जीव में चैतन्य गुण है वह विसर्पी है अर्थात् फैलने की सामर्थ्य वाला है। जितनी बड़ी जीव को देह मिलती है उतने में फैल जाता है और विसर्पी चैतन्यगुण का निरूपण प्रस्थान रत्नाकार में स्पष्ट लिखा है।

(विवादी) जीवात्मा को अण्ड मानोगे तो आत्मा का ज्ञान सुख दुःखादिकों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकेगा, क्योंकि अणु के गुण अतीन्द्रिय होता है। **(श्री आचार्य जी)** जन्य जो ज्ञान सुखादिक हैं वे आत्मा के धर्म नहीं है वे सब मनके धर्म हैं उसमें श्रुति प्रमाण है। **"काम संकल्पः श्रद्धा अश्रद्धा ह्वी र्धी र्भीरिति सर्वं मन एवेति"** और प्रत्यक्ष होने में योग्यता की ही कारणता है **"विवादी"** आत्मा को अणु मानोगे तो अणु तो प्रत्यक्ष नहीं होता है जैसे मैं हूँ इस प्रकार का आत्मा को भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होना चाहिये तथा योगी को आत्मा प्रत्यक्ष दिखाई देती है वह भी नहीं दिखनी चाहिये।

(श्री आचार्यजी) मैं हूं यह जो प्रत्यक्ष ज्ञान है वह देह संवलित आत्मा का है केवल आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है। योगी लोग तो योगज धर्म से अण्ड का भी प्रत्यक्ष कर लेते हैं वैसे ही आत्मा का भी अलौकिक प्रत्यक्ष विषय कर लेते हैं, इसलिये वेद परम प्राप्त है। वेद में आत्मा को अणु परिमाण वाला लिखा है उतना ही मानना। **(विवादी)** आत्मा तो व्यापक ही होगा, वेद में तो अणु की उपमा मात्र दी है अर्थात् जैसे अणु बहुत परिश्रम से जाना जाता है। आत्मा से भी परिश्रम करके चित्त शुद्ध किया जाय तब जाना जाता है। **(श्री**

आचार्यजी) वेद में असत्य वर्णन नहीं होता है और यदि ऐसा ही वेद का अभिप्राय हो तो **''वालाग्र शतभागस्य''** इस श्वेताश्वतर की श्रुति में वालाग्र के शतभाग के शतभाग का एक हिस्सा जीव का परिमाण लिखा है उसका विस्तार से वर्णन क्यों करते, दुर्ज्ञेयता तो अणुमात्र के कथन से ही सिद्ध हो जाती है।

(विवादी) मैंने आपका ऐसा अलौकिक प्रभाव नहीं जाना था अब मेरे सब संदेह दूर हुए, आपका मत सत्य है। **(श्री आचार्यजी)** वैदिक शास्त्र में वेद के वचनानुसार व्यवस्था करनी, लौकिक युक्ति से वेदोक्त प्रमेय नहीं जाना जाता है, यह ही **''श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्''** इस व्यास सूत्र में वेद व्यास जी का सिद्धान्त है। वैदिक रीति से आराग्र मात्र जीव को मानोगे तो अवान्तर परिणाम वाला होने से अनित्य होगा, इत्यादि दूषण भी हमारे मत में नहीं है, क्योंकि इस मत में वेद वाक्यों से व्यवस्था है। वेद विरूद्ध युक्ति अप्रमाण है, जैसे वेद में भगवान् का स्वरूप कहीं अगुष्ठ मात्र कहीं प्रादेश मात्र, कहीं कहीं हंसाकार, कहीं हंसरुप होकर पुर में अर्थात् शरीर में प्रवेश वर्णन किया है वहां चींटी आदि शरीर में प्रादेश मात्र परमात्मा कैसे रहता होगा तथा परमात्मा नाना परिमाण वाला कैसे हो जाता है, इत्यादि तर्क नहीं होता है ऐसे ही भगवदंश जीवात्मा आराग्रमात्र होकर भी नित्य है इस विषय में भी तर्क नहीं चलाना और गीता जी में **''नित्यः सर्वगतः स्थाणुः''** इस श्लोक में जीव को व्यापक लिखा है, वह तो जब भगवान् का आवेश इस जीव में आता है तब भगवान् के व्यापकत्वादिक धर्म भी जीव में आ जाते हैं। वे धर्म भगवान् के ही हैं जीव के नहीं है, जैसे लोह का गोला भी जलने लग जाता है परन्तु जलाना लोहे के गोले का गुण नहीं है अग्नि का ही गुण है। इसी रीति से जीव जब ब्रह्मज्ञानी होता है, तब ब्रह्म के आवेश होने से ब्रह्म रूप हो जाता है तब व्यापकत्वादि धर्म भी प्रकट हो जाता है।

आनंदांशाभिव्यक्ता तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः।।
प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्।।५८।।
प्रकाशकं तच्चैतन्यं तेजोवत्तेन भासते।।
न प्राकृतेंद्रियै ग्राह्यं न प्रकाश्यं न केनचित्।।५९।।

जब जीव को आनंदांश प्रकट होता है तब जीव में करोड़ों ब्रह्माण्ड प्रतीत होने लगते हैं, परन्तु व्यापक होते हैं उस समय ये भी अण्ड जितना ही जीव परिमाण रहता है, वहां अणु जीव में करोड़ों ब्रह्माण्ड कैसे प्रतीत होते होंगे यह आश्चर्य नहीं करना। श्री भगवान् कृष्ण चन्द्र छोटा रूप धारण करके ये यशोदाजी की गोद में बिराजते थे उस समय में छोटे रूप में भी जगत दिखाया है। ऐसे ही जीव में भगवान् का आवेश आता है। तब भगवान् का आनंदांश प्रकट होता है तथा आनंदांशका धर्म जो विरूद्ध धर्माश्रय है वह भी प्रकट होता है। तब अणु मात्र जीव में भी करोड़ों ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं। विरूद्ध धर्माश्रतो लोक में कोई पदवी नहीं दिखती है, ब्रह्म को विरूद्ध धर्माश्रय कैसे मानें ऐसी शंका नहीं करना, लोक में तो कोई सर्वज्ञ सर्वकर्ता मानते है। ऐसे

ही **"तदेजति तन्नैजति"** इस यजुर्वेद की श्रुति के अनुसार ब्रह्म विरूद्ध धर्माश्रय भी मानना अलौकिक धर्म लौकिकेन्द्रियादि प्रमाणों से नहीं जाना जाता है और लौकिक युक्ति की भी वहां सामर्थ्य नहीं चलती है। आगे के श्लोक में जीव के प्रकाशक धर्म का निरूपण करेंगे। जीव अथवा जीव का चैतन्यगुण प्रकाशक है अर्थात् प्रकाश वाला है। उससे तेज जैसा दिखाई पड़ता है, उसी से वेद पुराणों में ज्योति रूप में वर्णन है।

भागवत में भी वृत्रासुर की देह से तथा शिशु पालकी देह से निकलता हुआ जीव ज्योतिरूप ही सब लोगों को दिखाई दिया, परन्तु जीव को दीपक के समान ज्योतिरूप ही नहीं मान लेना। प्रकाश वाला है, इससे ज्योति जैसा जान पड़ता है। जीव तो लौकिक इन्द्रियों से ग्रहण करने में नहीं आता है, जैसे अंधकार में रखी वस्तु दीपक, सूंर्य आदि द्वारा दिखने में आती है ऐसे जीव का स्वरूप दीपक सूर्य आदि द्वारा दिखने में आती है ऐसे जीव का स्वरूप दीपक सूर्य आदि द्वारा भी नहीं दिख सकती है। तब यह शंका हुई कि शिशुपाल, वृत्रासुर के जीव निकलते समय में सभी को कैसे दिख गये, उसका उत्तर आगे के श्लोक में लिखते हैं।

योगेन भगवदृष्टया दिव्यया वा प्रकाशते।।

आभासप्रतिबिंबत्वमेवं तस्य न चान्यथा।।६०।।

तीन रीति से जीव का स्वरूप दिखता है, एक तो योग करके (साधित) अर्थात् सधा हुआ मन को कर के जीव को देखता है अथवा जिन नेत्र से भगवान् के दर्शन करता है उन नेत्रों से जीव को देख सकता है। जैसे शिशुपाल का जीव उनकी दृष्टि से दिखा, जिनकी दृष्टि भगवान् को देख रही थी अथवा दिव्यदृष्टि से जीव पड़ता है, जैसे वृत्रासुर को जीव दिव्यदृष्टि वाले देवताओं को देखने में आया। मायावादी के मत में ब्रह्म का प्रतिबिंब रूप अथवा ब्रह्म का आभास रूप जीव को मानते हैं। उनका खण्डन करते हैं। **"आभास प्रतिबिंबत्वमिति"** जीव है वह ब्रह्म का आभारुप तथा ब्रह्म का प्रतिबिंब रूप नहीं हो सकता है और ब्रह्म बिंदूपनिषद् में **"एकधा दशधा चैव दृश्यते जल चंद्रवत्"** इस वाक्य में भी एक ब्रह्मनानारूप हो जाता है। जैसे एक चन्द्रमा जल के घड़ों में अनेक प्रकार वाला दिखता है। यही बात लिखी है। अर्थात् एक ब्रह्म के अनेक रूप होने में ही चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया है। इस वाक्य से जीव ब्रह्म का प्रतिबिंब है यह बात सिद्ध नहीं हो सकती है, जो ऐसा श्रुति का अभिप्राय हो तो मुख का ही दृष्टान्त श्रुति में लिखते।

यद्यपि यह वाक्य जीव प्रकरण में है तथापि अंश अंशी का अभेद भावना कराने के लिये ब्रह्म का निरूपण इस वाक्य में किया है। **"एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्"** एक परमेश्वर अंश रूप करके सब शरीर में अनेक रूप से स्थित है, जैसे चन्द्रमा अंशरूप किरणों से जल में स्थित होता है। किरणरूप अनेक अंश अंशी चन्द्रमा से अलग नहीं है ऐसे जीवरूप अंश अंशी ब्रह्म से पृथक् नहीं है। इसी प्रकार श्री भागवत में भी **"प्रतिमुखस्ययथा मुख श्रीः"** इस श्लोक में मुख की आभूषणादिको से शोभा की जाय तो उस मुख के प्रतिबिंब के बिना किये ही शोभा हो जाती है। ऐसे ही

परमेश्वर भक्ति करके संतुष्ट किया जाय तो उस के अंश रुप जीवात्मा स्वतः संतुष्ट हो जाता है। जैसे वृक्ष की जड़ में जल डालने से शाखा स्वतः तृप्त हो जाती है, अर्थात् जैसे प्रतिबिंबित मुख की शोभा में मुख की शोभा (प्रयोजक) कारण है। ऐसे ही परमात्मा का प्रसन्न होना जीवों के प्रसन्न होने के कारण है। यह ही बात **''प्रतिमुखस्य यथा मुख श्रीः''** इस श्लोक से सिद्ध होती है। परमात्मा का जीव प्रतिबिंब है यह बात सर्वथा नहीं सिद्ध होती है, प्रतिबिंब पदार्थ का यथार्थ स्वरूप लिखा है। जो पदार्थ दर्पण जलादि रूप जो आधार उससे जो स्वच्छता तथा मलिनता आदि धर्म उनके समान धर्म वाला हो और संमुख स्थित जो मुख चंद्रमा आदि पदार्थ उनके भी समान धर्मवाला हो और प्रतीत होता हो उसको प्रतिबिंब कहना, यह प्रतिबिंब पदार्थ घटादि रूप सत्य सृष्टि से तथा आभासादि रूप मिथ्या सृष्टि से विलक्षण है।

भगवान् के जो अनंत रूप है उन रूपों में प्रतिबिंब भी भगवान् का एक स्वतंत्र रूप है। जैसे भगवान् के और रूपों की संख्या तथा परिमाण नहीं है, वैसे प्रतिबिंब में भी संख्या परिमाण नहीं है। एकमुख के हजारों प्रतिबिंब हो सकते हैं इसलिये संख्या का नियम नहीं है। इसी प्रकार परिणाम का भी नियम नहीं है क्योंकि एक फुट के कांच में हाथी का प्रतिबिंब फुट मात्र का हो जाता है, चार हाथ के कांच में चार हाथ का हाथी का प्रतिबिंब हो जाता है तथा **''समो नागेन समो मशकेन''** इत्यादि श्रुतियों के भगवान् हाथी मच्छर तथा तीन लोक के सब पदार्थों के समान धर्मवाले हैं यह बात भी प्रतिबिंब में संगत होती है, क्योंकि प्रतिबिंब है वह हाथी के संमुख हाथी हो जाता है, मच्छर के संमुख मच्छर जैसा हो जाता है। इस रीति से सब पदार्थों के समान हो सकता है।

शंका – प्रतिबिंब को तो मायिक पदार्थ मानते हैं तब भगवान् का रूपान्तर कैसे हो सकता है।

उत्तर –**''यदस्ति यत्नास्ति च विप्रवर्य''** इत्यादि विष्णु पुराणादिक के वाक्यों से चतुर्दश भुवन और सत्पदार्थ तथा असत्पदार्थ सर्व भगवद् रूप ही है यह सिद्धान्त सिद्ध होता है क्योंकि भगवान् बिना और पदार्थ सर्वरूप नहीं हो सकता है, इसलिये मायिक प्रतिबिंबादिक भी आपके ही रूपान्तर है। मायिक रूप धारण करने में आपकी कुछ भी हानि नहीं है। लोक में भी चक्रवर्ती राजा के सब प्रकार के रूप तथा सब प्रकार के कार्य प्रशंसा के योग्य ही समझे जाते हैं। तब सकल जगत् के नियन्ता भगवान् के सत् असत् रूप धारण करने में दोष संभावना कैसे हो सकती है।

आनन्दांशतिरोधानात्तत्तद्वत्तेन भासते।।
मायाजवनिकाच्छन्नं नान्यथा प्रतिबिम्बते।।६१।।

जब आपके मन में मायिक अमायिक सभी पदार्थ भगवान् के रूप है तब मायिक प्रतिबिम्ब अथवा मायिक आभास रूप जीव को मान लेने में क्या हानि है।

(उत्तर) मायिक प्रतिबिम्बादिक रूप जो मिथ्या ही जीव को मानोगे तो मोक्ष के साधन बतलाने वाले सब

शास्त्र व्यर्थ ही हो जायेंगे। किंच वेद में **"योन्यथा सन्तमात्मानम्"** इस श्रुति में आत्मा के अन्यथा ज्ञान को अर्थात् मनः कल्पित विपरीत स्वरूप मानने वाले को महापापी कहा है।

उससे जीव का जैसा स्वरूप हो वैसा ही मानना उचित है। व्यास सूत्रादिकों में जो आभासादि रुपता जीव की लिखी है। उसका कारण यह है आनन्दांश का तिरोधान होता है। तब जीवत्व भासमान होता है।

जब यह मनुष्य देह को अपना स्वरूप मानता है तब मैं स्थूल हूँ, मैं कृश (दुबला) हूं, मैं गौर हूं इत्यादि आधिभौतिक ज्ञान इसको होता है। तब इस अवस्था में संदेश मात्र की स्फूर्ति रहती है, तब ब्रह्माभास इस जीव को कहा है। जैसे किसी मनुष्य में ब्राह्मण के सब धर्मगुण नहीं हो केवल जाति ब्राह्मण हो उसको जैसे ब्राह्मणाभास कहते हैं जब यह मनुष्य देह से अलग अपने स्वरूप को मानता है तब मैं चेतन हूं इस प्रकार का आध्यात्मिक ज्ञान इसको होता है। इस अवस्था में सत्ता तथा चैतन्य इन दोनों अंशों की स्फूर्ति होती है।

तब ब्रह्मप्रतिबिंब इस जीव को शास्त्र में कहते हैं। जैसे जगतिब्राह्मण में ब्राह्मण के कितने धर्म आ जावें तब उसको ब्राह्मण सदृश कहते हैं। बिंब के सदृश का नाम प्रतिबिंब है। जब भक्ति आदि साधन करके आनंदांश प्रकट होता है तब सच्चिदानंद रूप मैं हूं ऐसी प्रतीति होती है। इस अवस्था में आधिदैविक ज्ञान इसको होता है तब ब्रह्म रूप इस जीव को कहते हैं। इस रीति से आभास प्रतिबिम्ब ब्रह्म रूपत्वादिबोधक वाक्य जीव में चरितार्थ होता है।

लोक में जैसे मायिक आभास प्रतिबिम्ब होता है वैसा जीव नहीं है, वैसा जीव को मानोगे तो जीव को मिथ्या मानना पड़ेगा। मायावादी बिना और किसी का ऐसा मन्तव्य नहीं है, यह मिथ्यावाद युक्ति विरूद्ध है। **"मायाजव निकेति"** प्रतिबिम्ब सिद्ध होने के लिये कुछ व्यवधान अर्थात् आकाशादिकों से कुछ दूर अवश्य मानना चाहिये जैसे मुखदर्पण के मध्य आकाश का व्यवधान अवश्य रखना पड़ता है ऐसे सृष्टि के पहले आकाश प्रकट नहीं हुआ तब काया का व्यवधान था। जो कदाचित् माया का ही व्यवधान मानोगे तो प्रतिबिम्ब पड़ना ही असंभव होगा। क्योंकि माया तो ब्रह्म के स्वरूप को छिपाने वाली **"तिरस्करिणी"** टेरा (पर्दा) के समान है। जैसे मुख और काच के बीच में टेरा (पर्दा) आ जाय तो मुख का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है ऐसे ही माया का व्यवधान होने से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकेगा।

तत्र वृत्तेर्द्वासुपर्णा श्रुतेरपि विरूध्यते।।
गुहां प्रविष्टावित्युक्तर्भगवद्वचनादपि।।६२।।

दूसरा दूषण यह है कि जो पदार्थ जिस पदार्थ में रहता हो उस पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होता है। जैसे कांच की खुदी रेखा से उसी कांच में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। ब्रह्म तो व्यापक है, सभी पदार्थों में सदा ही रहता है, इस कारण उस का किसी पदार्थ में भी प्रतिबिम्ब नहीं पड सकता है। यदि कदाचित् कहोगे आकाश भी

व्यापक है इसका प्रतिबिम्ब जलादि में कैसे पड़ता है। उसका यह **उत्तर** है आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है किन्तु रूपवान् प्रभा मंडल का ही जलादिकों में प्रतिबिम्ब पड़ता है क्योंकि आकाश में रूप नहीं है। प्रतिबिम्ब में जो नील रूप दिखता है उसको भ्रमरूप ही जानना वस्तु स्वभाव से नीलरूप प्रतिबिम्बित है। ऐसी प्रतीति हो जाती है। तुम्हारे मन में ब्रह्म रूपादि रहित है, इस कारण ब्रह्म का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है। जो रूप रहित वस्तु का भी प्रतिबिम्ब होता हो तो वायु का भी प्रतिबिम्ब होना चाहिये। सारांश यह हुआ कि चक्षु देखने योग्य हो और अव्याप्यवृत्ति हो उस पदार्थ का ही प्रतिबिम्ब होता है। अर्थात् जो वस्तु चक्षु से नहीं देखने योग्य है और व्याप्य वृत्ति है अर्थात् व्याप्य पदार्थ में जो रहती है उसका उन व्याप्य पदार्थों में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। यद्यपि भगवान् का नेत्र देख सकता है परन्तु भगवान् को अपने को अपना स्वरूप दिखाने की इच्छा हो तब ही देख सकते है। नेत्र अपनी सामर्थ्य से भगवान् को नहीं देख सकते हैं, इस लिये भगवान् चक्षु योग्य नहीं है।

तुम तो ब्रह्म को निर्धर्मक मानते हो, निर्धर्मक पदार्थ का प्रतिबिंब नहीं हो सकता है, इसलिये ब्रह्म का प्रतिबिंब पड़ना सर्वथा असंभव ही है और दूषण कहे हैं **''द्वासुपर्णा सयुजा सरवायौ''** इस श्रुति में जीव परमात्मा दोनों एक वृक्ष पर बैठे हैं। जीव उस वृक्ष के फल का भोग करता है, परमात्मा नहीं करता है, यह बात लिखी है। जो जीव परमात्मा का प्रतिबिम्ब ही हो तो परमात्मा के फलभोग किये बिना जीवात्मा कैसे फलभोग कर सकता है क्योंकि प्रतिबिम्ब की क्रिया बिंब के आधीन रहती है।

लोक में भी देवदत्त के भोजन करे बिना देवदत्त के प्रतिबिम्ब में भोजन करने की चेष्टा प्रतीत नहीं होती है और बिंब प्रतिबिंब दोनों एक देश में भी नहीं रह सकते हैं, क्योंकि प्रतिबिम्ब कांच में रहता है वहां मुख नहीं रहता है। यदि जीव प्रतिबिम्ब रूप हो तो परमात्मा का एक वृक्ष पर जीव के साथ रहना श्रुति वर्णन नहीं करती। एक शरीर रूप वृक्ष में भी एक ही देश में जीव और अंतर्यामी रहता है। **''गुहां प्रविष्टा वात्मानौ हि तद्दर्शनात्''** इस व्यास सूत्र में एक ही हृदय रूप गुफा में जीव ब्रह्म की स्थिति लिखी है, और मुख्य स्मृति गीताजी में **''ममैवांशो जीवलोके''** इस श्लोक में जीवमेरा सनातन अंश है यह लिखा है तथा **''उत्क्रामन्तं स्थितं वापि''** इस श्लोक में निकलते हुए जीव को ज्ञानदृष्टि वाले देखते हैं यह लिखा है। जीव को लौकिक प्रतिबिंब रूप मानोगे तो अंशत्व तथा **''उत्क्रमण क्रिया''** निकलना नहीं बन सकेगा। इसलिये प्रतिबिम्ब पक्ष श्रुति स्मृति न्याय विरूद्ध है।

जीवहानिस्तदा मुक्तिर्जीवन्मुक्तिर्विरूध्यते।।
लिंगस्य विद्यमानत्वादविद्यायां ततोऽपि हि।।६३।।
अधिष्ठातुर्विनष्टत्वान्न देहः स्पंदितुं क्षमः।।
प्रारब्धमात्रशेषत्वे सुषुप्तस्येव न व्रजेत्।।६४।।

इस श्लोक में प्रतिबिम्बादि पक्षों को युक्तिपूर्वक खंडन करते हैं। जीव को प्रतिबिम्ब रूप मानोगे तब तो जीवात्मा का सर्वथा नाश हो जाना ही तुम्हारे मत से मुक्ति हुई (आत्महानि अपुरुषार्थ है) मोक्ष को पुरुषार्थता नहीं हुई। आसुर ब्रह्मविद्या में अर्थात् नास्तिक चार्वाकादिकों के मत में आत्मा को मिथ्या माना है वैसे ही तुम्हारा पक्ष हुआ। दूसरा दूषण यह है तुम्हारे पक्ष में जीवन्मुक्ति कुछ पदार्थ नहीं हुई क्योंकि अंतः करण में अथवा अविद्या में ईश्वर प्रतिबिम्ब का नाम जीव हुआ। जहां तक अविद्या वा अन्तःकरण विद्यमान रहेगा वहां तक संसार ही है। जब अविद्या व अन्तःकरण का सर्वथा नाश होगा तब परम मुक्तही हो जायगा। जीवन्मुक्त कोई भी जीवात्मा नहीं होगा। तब तो वामदेव आदिकों को वेद में शुकदेवआदिकों को पुराण में जीवन्मुक्त कहा है। वह सब मिथ्या ही होगा। हमारे भगवत्सिद्धान्तों में तो जीव को भगवान् का अंश माना है। इसलिये जहां तक जीव अविद्या के आधीन रहे वहां तक संसारी कहलाता है।

जब जीव अविद्या के आधीन नहीं रहे और जैसे दिन में निद्राकारण में लीन रहे इस प्रकार वह जीव अविद्याकारण में लीन रहा आवे। वह जीवन्मुक्त कहलाता है। यदि जीवन्मुक्त है वह मुक्तही है, जीवन्मुक्ति कोई पृथक् पदार्थ नहीं है ऐसे कहोगे तो मुक्तदशा में जैसे अधिष्ठाता जीव का नाश मानते हो वैसे जीवन्मुक्त के जीवात्मा का भी नाश मानना पड़ेगा। तब तो जीवन मुक्तका देह चलने में समर्थ नहीं होना चाहिये।

शास्त्र में शुकादिकों की देह का चलना प्रसिद्ध है। कदाचित् कहोगे अधिष्ठाता जीवात्मा नहीं रहे उससे क्या हुआ प्रारब्ध कर्मों के द्वारा जीवन्मुक्तकी देह चलती हैं, उसका यह **उत्तर** है कि प्रारब्ध कर्म देह को विद्यमान तो रख सकती है परन्तु देह का चला देना अथवा भोजनादि कार्य करवा देना यह प्रारब्ध की सामर्थ्य नहीं है।

जो प्रारब्ध की यह सामर्थ्य हो तो सुषुप्ति अवस्था में सोये हुए मनुष्यों को प्रारब्ध क्यों नहीं चला सके, इसलिये जीवन्मुक्त की देह में अधिष्ठाता आत्मा अवश्य रहे परन्तु देहादिकों में अध्यास नहीं रहे, उस कारण उसका अनुसंधान नहीं रहता है। इतना विस्तार करके जीव आभास रूप का प्रतिबिम्ब रूप नहीं है यह बात सिद्ध हुई।

तत्वमस्यादिवाक्यस्य शोधितस्यापि युक्तितः।।
न विद्याजनने शक्तिरन्यार्थं तच्च कीर्तितम्।।६५।।

कितने ही वादी तत्वमसि महावाक्य के अनुसार ब्रह्म जीव की एकता करने के बिम्ब प्रतिबिम्ब को एक मानकर इस दृष्टान्त से ब्रह्म को बिंब जीव को प्रतिबिम्ब रूप मानकर जीव ब्रह्म इन दोनों को एक मानते हैं उनके मत का निराकरण करते हैं। तत्वमसि इतना सा वाक्य महावाक्य नहीं है, क्योंकि यह वाक्य श्वेत केतू पाख्यान का है। वहां (उपक्रम में) आरम्भ में एक पदार्थ के ज्ञान होने से सब पदार्थ का ज्ञान होता है, ऐसी प्रतिज्ञा है। यह बात जब बन सके जब एक पदार्थ सब रूप हो रहा होता है।

जैसे – स्वर्ण कंठा, कुण्डल, मुद्रिका आदि अनेक रूप हो जाता है तो स्वर्ण के ज्ञान मात्र से सब जगत् को

ज्ञात कराने के लिये सदैव सोम्य इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म सबका कारण है। कार्य है वह कारण से अन्य नहीं है। ब्रह्म दुर्जेय है, कार्य करके ही बनाया जाता है, इत्यादि निरूपण क्रिया उसके आगे **"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"** इस वाक्य से मात्र जड पदार्थों के साथ ब्रह्म का तादात्म्य संबंध बताया अर्थात् जड पदार्थ ब्रह्मात्मक है यह बात सिद्ध की है। वहां यह शंका हुई तो जड पदार्थ ब्रह्मात्मक कैसे हो सकता है। जड पदार्थ तो विनाश वाले होने से असत्य मालुम पड़ते हैं।

उस शंका को दूर करने के लिये **"तत्सत्यम्"** ये पद कहे हैं। यह करके कार्य का सत्यस्य कहकर सर्वदा कार्य की सत्ता बताई और विनाशादि प्रतीत होते हैं, वे सब पदार्थ के ही स्वरूपान्तर है। इस प्रकार छः भाव विकारों का परिहार किया तथापि जगत् ब्रह्मात्मक नहीं हुआ क्योंकि जड जीव इन दोनों पदार्थों का जगत् है। इसलिये जड को ब्रह्मात्मकता सिद्ध करके जीव को भी ब्रह्मात्मकता सिद्ध करने के लिये **"तत्वमसि"** यह वाक्य कहा है **"तस्य भावस्तत्वं त्वमसि यथाइदं सर्वं जडवस्तु एतदात्मनो भावस्तथा त्वमपि तदात्मनो भावोसि। त्वं पदस्य मध्यम पुरुषेण लंभोन त्वध्याहारः"** इस वाक्य से जीव के साथ तादात्म्य संबंध ब्रह्म का बताया है। हे श्वेतकेतु! तू तत् ब्रह्म का भावरूप है अर्थात् ब्रह्मात्मक है, अर्थात् जड पदार्थ ब्रह्म का कार्य है इस कारण ब्रह्मात्मक है। ऐसे ही जीव ब्रह्म का अंश है इसलिये ब्रह्मात्मक है। जैसे कार्य कारण से पृथक् नहीं होता है ऐसे अंश अंशी से अलग नहीं होता है। अब यह शंका हुई कि जड जीव दोनों अलग अलग स्वभाव वाले पदार्थ हैं। ये दोनों एक-एक ब्रह्मात्मकता सिद्ध करने वाला मध्य में हेतु कहा है। **"स आत्मा"** व परमेश्वर सबका आत्मा अर्थात् सबका स्वरूप है, जैसे सोने के बने हुए दंड, कुण्डल, कंठा आदि पदार्थों में कुंडल अलग मालुम पड़ता है। दंड से कडा पृथक् मालु पड़ता है परन्तु सोने से दंड, कुण्डल, कडा आदि पदार्थ अलग नहीं हो सकते हैं क्योंकि उन पदार्थों में से सोना ले लिया जाय तो उन पदार्थ का स्वरूप भी नहीं रह सकता है क्योंकि सुवर्ण ही उन पदार्थों की आत्मा अर्थात् स्वरूप भूत है। इसी प्रकार जडजीव अलग-अलग दिखते हैं तथापि ब्रह्म सब का आत्मा है।

ब्रह्म से अलग जड जीव कभी नहीं हो सकते हैं। इस रीति से इस महावाक्य में जड जीवात्मक सब पदार्थों की ब्रह्मरूपता सिद्ध करके एक ब्रह्म के ज्ञान होने से सबके ज्ञान होने की प्रतिज्ञा सिद्ध की उससे केवल **"तत्वमसि"** इतना मात्र महावाक्य नहीं है, किन्तु सोलह पद का समुदाय महावाक्य है। (इतना बड़ा ही यह उपदेश है) **"तत्त्वं असि"** यह तीनपद मानने में भी सिद्धान्त की कुछ हानि नहीं है। इस पक्ष में भी अंश अंशी का अभेद ही पूर्वोक्त रीति से सिद्ध होता है। कितने ही मत वाले **"तत्वमसि"** यहां भागत्याग लक्षणा करते हैं वह भी पक्ष ठीक नहीं हैं।

जैसे सदंशजड के ब्रह्मात्म बोधक **"ऐतदात्म्यम्"** इस वाक्य में भाग त्याग लक्षणा नहीं है इस प्रकार चिदंश जीव के ब्रह्मात्म बोधक **"तत्वमसि"** इस वाक्य में भी भाग त्याग लक्षणा नहीं मानना। कितने ही माध्व

मतानुयायी कहते हैं कि श्वेत केतु अवतार था इसलिये वेद में उसके प्रति गुरु ने ब्रह्म है ऐसे **''तत्वमसि''** इस वाक्य में उपदेश किया है यह भी अर्थ ठीक नहीं। श्वेत केतु अवतार होता तो प्रथम स्तब्धता वेद पढने का अभिमान तथा अज्ञानादि दोषों को श्वेतकेतु में वर्णन नहीं करते।

शांकरभाष्य में अष्टपद को महावाक्य मानते हैं, उस पक्ष में भी पूर्वोक्त दूषण आता है। माध्वमत के एकदेशी **''अतत्वम्''** ऐसा पद निकाल कर हे श्वेतकेतु तू ब्रह्म नहीं है ऐसा अर्थ करते हैं वह कोई वैदिकों के संमत नहीं है। इतने विस्तार से यह बात सिद्ध हुई कि **''तत्वमसीत्यादि''** वाक्य की ब्रह्माभेद ज्ञान करने की सामर्थ्य नहीं है। किन्तु ब्रह्म की सर्वरूपता बताने के लिये वेद में तत्वमसीत्यादि वाक्य लिखे हैं।

ब्रह्मणः सर्वरूपत्वमवयुज्य निरूपितं।।
अलौकिकं तत्प्रमेयं न युक्त्या प्रतिपद्यते।।६६।।
तपसा वेदयुक्त्या च प्रसादात्परमात्मनः।।
विद्यां प्राप्नोत्युरुक्लेशः क्वचित्सत्ययुगे पुमान्।।६७।।

जड जीव दोनों पदार्थ परस्पर विलक्षण है यह बताने के लिये वेद में जड जीवों को अलग-अलग दिखाये परन्तु जडजीव भिन्न है तथापि ब्रह्म से भिन्न नहीं है यह बताने के लिये जीव की ब्रह्मात्मकता दिखाई है। संपूर्ण वाक्य तो ब्रह्म की सर्वरूपता सिद्ध करने के लिये वेद में निरूपण किया है। कितने ही आग्रही मायावादी वाक्य भेद को मानकर भागत्याग लक्षण को अंगीकार करके तथा शब्द का साक्षात् ज्ञान कराने वाला मान कर **''तत्वमसि''** इतने से वाक्य साक्षात् ब्रह्म का अनुभव कराने वाला मान कर उन वादियों से पूछना चाहिये, ऐसा मानने से तुमको क्या लाभ हुआ। क्योंकि तत्वमसि इस उपदेश से किसी को भी साक्षात् ब्रह्मज्ञान नहीं होता दिखता है। उपदेश होने के पश्चात् भी उस जीव में सर्वज्ञता आदि अधिक ब्रह्मधर्म कुछ मालुम नहीं पड़ता है। इसलिये इसको महावाक्य मानने का प्रयास व्यर्थ ही है। कदाचित् कहोगे जिस जीव को ऐसा उपदेश हो जायेगा वह जीव अपने को संसार से अलग मानेगा तो संसार दोष रूप है इससे निवृत्ति हो जाना यही लाभ होगा। उसका यह उत्तर है कि संसार से निवृत्ति तो सांख्य शास्त्र से भी हो सकती है, क्योंकि सांख्य में भी सब देहादि पदार्थ से आत्मा को अलग माना है, इस कारण प्रकरण भेद मान कर इस को महावाक्य मानंने का तुम्हारा श्रम वृथा ही है। कदाचित् कहोगे श्रुति अभेद का उपदेश क्यों कर रही है उसका उत्तर यह है - जैसे **''तत्वमसीति''** श्रुति अभेद उपदेश कर रही है, वैसे **''तपसा ब्रह्मविजिज्ञा सस्व''** **''धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्''** इत्यादि श्रुति तपश्चर्या तथा भगवत्कृपा आदि से ब्रह्म जाना जाता है यह भी तो कह रही है, इसलिये सब श्रुतियों की एक वाक्यता करने से यह बात सिद्ध होती है कि ब्रह्म का स्वरूप लौकिक युक्तियों से नहीं जाना जाता है क्योंकि ब्रह्म तो वेद से ही जाना जाता है और वेद के अर्थ का बोध लौकिक

युक्ति से अथवा केवल व्याकरणादिकों से नहीं हो सकता है किन्तु वेदार्थ जानने के उपाय और है उनका निरूपण आगे के श्लोक में करेंगे।

वेदार्थ ज्ञान के लिए पांच साधन हों तब ही ठीक हो। तप है वह प्रथम साधन है, द्वितीय साधन वेद में ब्रह्म ज्ञान कराने के लिये युक्तियें लिखी हैं उन युक्तियों का ज्ञान होना चाहिये, तीसरा साधन भगवत्कृपा होनी चाहिये, यह मुख्य कारण है। चतुर्थ साधन अच्छा देश होना चाहिये, पंचम साधन काल अच्छा होना चाहिये। जैसे – सत्ययुग इस प्रकार पांच अंग जब मिल जाते हैं तब वेद वाक्यों का अर्थ जाना जाता है। तदुपरान्त वेद में इन्द्र प्रजापति के संवाद में सौ वर्ष ब्रह्मचर्य रखना लिखा है, इत्यादि बहुत श्रम से वेदार्थ ज्ञान होता है। जो बिना साधन वेद के वाक्यों का अर्थ ज्ञान हो जाता हो तो **"कं ब्रह्मेत्युपासीत् खं ब्रह्मेत्युपासीत"** कं ब्रह्म है ऐसे उपासना करनी एवं ब्रह्म है ऐसे उपासना करनी इत्यादि श्रुतियों के उपदेश करके ही साधनहीन अभी के मनुष्यों को ज्ञान सिद्धि क्यों नहीं हो जाती है और सत्ययुगादिकों में जिनके सब साधन सिद्ध थे उनको उपदेश मात्र करने से ही कैसे ज्ञान हो जाता था।

सर्वज्ञत्वं च तस्येष्टं लिंगं तेजोप्यलौकिकं।।

तत्प्राप्तावपि नो मुक्तिर्जाग्रत्स्वप्नवदुद्भवः।।

अविद्याविद्ययोस्तस्माद्भजनं सर्वथा मतम्।।६८।।

कदाचित् कहोगे अभी के मनुष्यों को ज्ञान नहीं होता है यह बात कैसे मालुम पड़ी उसका उत्तर यह है– सर्वज्ञता हो जाना तथा अलौकिक तेज हो जाना ज्ञान होने का लक्षण है। अभी वेद पढने वालों में सर्वज्ञता तथा अलौकिक तेज कुछ भी नहीं होता है इसलिये अभी के मनुष्यों को वेदार्थ का बोध नहीं होता है यह निश्चय हुआ। **(आशंका)** वेदार्थ के ज्ञान होने में भगवत्कृपा कारण है और भगवत्कृपा भक्ति हो तब हो इस रीति से ब्रह्म के साथ अभेद का ज्ञान होने में भक्ति का उपयोग हुआ। **(उत्तर)** भगवत्कृपा से उपनिषदों को करके महावाक्यार्थ विद्या की प्राप्ति होने के पश्चात् भी अधिकार के अनुसार सायुज्य मुक्तिअथवा ब्रह्मभाव प्राप्त होने के लिये भक्ति अवश्य करनी चाहिये क्योंकि ज्ञान का तिरोभाव होकर अज्ञान प्रकट हो जाय तो ज्ञान के लिये किया हुआ परिश्रम व्यर्थ हो जाय। जैसे सतोगुण के उदय होते ही मनुष्य जग जाता है। तमोगुण के उदय होते ही सो जाता है, वैसे ही सतोगुण के उदय से ज्ञान हो जाता है। तमोगुण के उदय से अज्ञान हो जाता है। भक्ति से ज्ञान अज्ञान (विद्या अविद्या) के कारण माया की निवृत्ति हो जाती है **"माया मेतां तरन्ति ते"** ऐसे इस वाक्य में स्पष्ट लिखा है। इसलिये ज्ञानी को तथा अज्ञानी को स्वतंत्र भक्ति सिद्ध होने के लिये तथा सायुज्य ब्रह्मभाव के लिये अवश्य भगवद् भक्ति करनी चाहिये। इस प्रकार जीव प्रकरण को समाप्त करके पर ब्रह्म का निरूपण करते हैं।

ब्रह्मप्रकरण

सच्चिदानंदरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्।।
सर्वशक्तिस्वतंत्रं च सर्वज्ञं गुणवर्ज्जितम्।।६९।।
सजातीयविजातीय स्वगतद्वैतवर्जितम्।।
सत्यादिगुणसाहसैर्युक्तमोत्पत्तिकैः सदा।।७०।।

(ब्रह्मेति) ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है, व्यापक है, इससे अखण्ड ऐश्वर्य वाला है यह बात बताई है। श्रुतियों में परस्पर विरूद्ध अनेक धर्म लिखे हैं। ब्रह्म जैसे छोटे से छोटा है और बड़े से भी बड़ा है। इत्यादिक परन्तु धर्मों के लिये पृथक्-पृथक् ब्रह्म माने जायें तो अनेक ब्रह्म हो जाते हैं इसलिये उन सब गुणों को एक ब्रह्म में ही उपसंहार मानना पड़ता है। ब्रह्म अविनाशी है इस पद से वीर्य वाला है यह बात बताई है और सर्वशक्ति है। अर्थात् सब प्रकार की सामर्थ्य वाला है इस पद से यश वाला है। यह बात बताई है। स्वतंत्र है अर्थात् जिसकी ज्ञान क्रिया की अवधि नहीं होती है वह ही स्वतंत्र कहलाता है। इस पद से श्री वाले हैं यह बात सिद्ध हुई। सर्वज्ञ है, सभी पदार्थों को जानते हैं, इस पद से ज्ञान वाले हैं यह बात बताई है और प्राकृत गुणों से सहित है अर्थात् प्रकृति के गुणों में आपकी आसक्ति नहीं है इस पद से पूर्ण वैराग्य बताया गया है। इस प्रकार परब्रह्म में छः धर्म दिखाये हैं। जो ब्रह्म को निर्धर्मक निराकार मानोगे तो कोई भी मनुष्य ब्रह्म की उपासना नहीं कर सकेगा तथा उपासना प्रकरण के वेद भाग में **"एतस्यात्मनो वैश्वानरस्यमूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः"** इत्यादिक वाक्यों से जो वैश्वानर का मूर्द्धा सुतेजा है, चक्षु विश्वरूप है, इत्यादि धर्म दिखाकर के उपासना करना कहा है वह सब व्यर्थ जायेगा।

निराकार होने के कारण कोई ब्रह्म की उपासना नहीं कर सकेंगे तो जीव को ब्रह्म की प्राप्ति भी नहीं हो सकेगी तथा जीवों को परब्रह्म कुछ फल भी नहीं दे सकेगा। धर्म रहित निराकार ईश्वर को मानोगे तो **"सर्वस्येशानः"** इस श्रुति में ईश्वर सब का स्वामी है यह बात लिखी है वह भी नहीं बन सकेगी। इसलिये श्रुति के कहे अनुसार सब धर्म ब्रह्म में है और जिन धर्मों की श्रुतिये मना कर रही हैं उन धर्मों को लौकिक धर्म जानना। वेद परम आप्त हैं, अपने कहे हुए धर्मों को अपने ही वाक्यों से निषेध कभी नहीं करते हैं। क्योंकि कहकर मना करना मिथ्यावाद का कार्य है। ब्रह्म है वह व्यापक है अर्थात् देश काल वस्तु से जिसका नाप तोल नहीं हो सकता है उस पदार्थ को व्यापक कहते हैं। जहां तक नाप तोल करने वाला पदार्थ अलग हो वहां तक व्यापकता नहीं हो सकती है। ब्रह्म से भिन्न तो कोई पदार्थ नहीं है क्योंकि जगत् में जड जीव अन्तर्यामी ये तीन पदार्थ हैं। भगवान् ने इच्छा करके चैतन्य आनन्द छिपा लिया तब विजातीय जड पदार्थ प्रकट हुए। जब आनन्द छिपा लिया तब सजातीय जीव प्रकट हुए।

जब आपने सत् चित् आनन्द तीनों अंशों को प्रकट रखकर परिछिन्न रूप से अर्थात् परिमाण वाले रूप से नियत कार्य करने के लिये इच्छा की तब स्वगत अन्तर्यामी प्रकट हुए, इन तीनों ही पदार्थों में भगवान् अनुस्यूत हैं अर्थात् जड में सद्रूप करके विराजते हैं, चिद् रूप करके जीव में विराजते हैं, प्रकट आनन्द रूप करके अन्तर्यामी में विराजते हैं।

जडजीव अन्तर्यामी रूप आप ही हो रहे हैं, इसलिये इन तीनों पदार्थों का भेद आपस में नहीं है अर्थात् ये तीनों पदार्थ भगवान् से अलग हैं ऐसी बुद्धि नहीं रखना। जैसे भगवान् अवतारों को भगवान् से अलग नहीं मानते हैं। वैसे जड जीव अन्तर्यामी को भी भगवान् को भी भगवान् से पृथक् नहीं मानना चाहिये क्योंकि वेद में **''उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति''** इत्यादि श्रुतियों में भगवान् से पृथक् किसी पदार्थ को मानते हैं उनको भय होता है यह बात लिखी है।

सत्यदया आदि हजारों गुण आप में सदा ही रहते हैं, अर्थात् सृष्टिकाल में प्रलय काल में तथा अवतार दशा में ये गुण जैसे के तैसे रहते हैं, उनमें से कितने ही गुणों का भागवत में वर्णन किया है उनके नाम का वर्णन किया है। सत्य, पवित्रता, दया, क्षमा, दान, संतोष, सरलता, शम, दम, समता, तप, (तितिक्षा) अपराध सहलेना, उपराम, (श्रुत) शास्त्र का विचारना, स्वरूप ज्ञान, वैराग्य, ईश्वरता, शूरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता क्रिया कुशलता, कान्ति, धीरता, कोमलता, बुद्धि वैभव, विनय, सुस्वभाव, इन्द्रियमन शरीर की सुन्दरता, भोग की योग्यता, गंभीरता, स्थिरता, श्रद्धा, पूज्यता, निरहंकारता इत्यादि अनन्त गुण अवतार में भी आपके साथ ही प्रकट होते हैं।

आप अनंतगुण के आधार हैं, इसमें क्या आश्चर्य है किन्तु वेद में **''ससेतुर्विधरणः''** इत्यादि श्रुतियों में सर्व पदार्थ के आप आधार हैं यह बात लिखी है। सब का आधार होना ब्रह्मधर्म हैं यह बात **''धृतेश्चमहिम्ना''** इत्यादि सूत्रों में स्पष्ट लिखी है। **शंका** – जब आपका ऐसा स्वरूप है तो सब जीवों को ऐसे स्वरूप का क्यों नहीं अनुभव होता है उसका **उत्तर** – गीता जी में लिखा है – **''नाहं प्रकाशः सर्वस्ययोगमायासमावृतः''** सब जीवों को मेरे स्वरूप का अनुभव नहीं हो सकता है क्योंकि योगमाया से आच्छन्न (ढका हुआ) है। वहां यह शंका होती है कि माया से ढके हुए आप हैं तब माया के आधीन भगवान् होगे ऐसा संदेह होता है। उसको दूर करने के लिये श्री वल्लाभाचार्य जी आज्ञा करते हैं **''वश्यमायम्''** वश है माया जिनके, भगवान् माया के आधीन नहीं है माया भगवान् के आधीन है। जैसे पाश वाले पुरुष की पाश ओरों को बांधती है पाश वाले को नहीं बांध सकती है। जैसे सूर्य मेघों से कभी ढक जाता है किन्तु मेघों के आधीन सूर्य नहीं होता है। क्योंकि सूर्य कि किरण द्वारा मेघ बनते हैं इसलिये मेघ सूर्य से अलग नहीं हो सकते हैं।

इसी प्रकार माया भी भगवान् का एक रूप है, यह बात एकादश स्कन्ध में **''तन्माया फलरूपेण''** इस श्लोक द्वारा स्पष्ट है। अब यह शंका होती है कि वेद में **''विश्वतश्चक्षुः सहस्र शीर्षापुरुषः''** इत्यादि

वाक्यों से जो ब्रह्म के आकार का वर्णन है वह आकार भी माया का ही बनाया होगा। इस शंका को दूर करने के लिये कहते हैं **"आनन्दाकारम्"** मुंडकश्रुति में **"आनन्दरूपममृतं यद्विभाति"** नृसिंहोत्तरतापिनी में **"आनंदरूपः सर्वाधिष्ठानः"** इत्यादि-

सर्वाधारं वश्यमायमानंदाकारमुत्तमम्।।
प्रापंचिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम्।।७१।।
जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम्।।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन्प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम्।।७२।।

इत्यादिकों में भगवान् का आकार आनन्द रूप है, आनन्द के ही आपके सभी अंग है यह लिखा है। पंच भूतों का रचा आपका अंग नहीं है, उसी से **"विजरोविशोको विमृत्युः"** इस छांदोग्यउपनिषद की श्रुति में प्रभु स्वरूप में जरा मृत्यु चिन्ता आदि लौकिक देह के धर्म नहीं है यह बात स्पष्ट लिखी है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जिन श्रुतियों में अंगों का वर्णन है उन अंगों का आनन्द के रचे हुए ही जानना। जिन श्रुतियों में अंगों का निषेध है वहां पंच भूतों के बने अंगों की तरह क्रिया है ऐसे समझना क्योंकि **"क्षरः सर्वाणिभूतानि"** इस गीता वाक्य के अनुसार पृथ्वी जल, तेज, वायु, आकाश ये पंचभूत, क्षरब्रह्म पुरुषोत्तम है। उनका आकार पंचभूतों का रचा हुए सर्वथा नहीं हो सकता है। इसी कारण **"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्"** इस गीता वाक्य से भगवान् के श्री अंग को मनुष्य देह के सदृश रूधिर मांसादिकों का बना हुआ मानने वाले को मूर्ख बताये हैं।

अब यह **शंका** हुई कि जगत् को भगवान् का कार्य माना है तथा भगवान् से अलग नहीं माना है तब तो जगत् में जो जड पदार्थ वे भी भगवान् के ही रूप हैं। तब तो तुम्हारे मन में परब्रह्म भी जड रूप ही हुआ। उसका यह उत्तर है कि यद्यपि कारण के ही धर्म कार्य में होते हैं तथापि कार्य में वे धर्म और ही रीति से प्रतीत होते हैं। तात्पर्य यह है **"तदेजति तन्नैजति"** इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म के जो **"अनेजत्वादिधर्म"** चेष्टारहितता आदि धर्म वे ही क्रीडा की इच्छा करके आनन्द चैतन्य के छिपा लेने के पश्चात् कार्य में जडतारूप से प्रतीत होते हैं क्रीडाकर्ता जो प्रकट सच्चिदानन्द जो पूर्ण पुरुषोत्तम है वह जितने जगत् के पदार्थ हैं उन सभी से विलक्षण है।

संपूर्ण जगत् का ब्रह्म ही समवायी कारण है। समवायी कारण उसको कहते हैं जिसमें कार्य ओतप्रोत हो अर्थात् पुर रहा हो, जिससे कभी पृथक् नहीं हो सके। जैसे कपड़ा सूत से पुर रहा है (भरा हुआ है) तागे से (सूत से) कपड़ा अलग नहीं हो सकता है, ऐसे ही जगत् भी ब्रह्म से अलग नहीं हो सकता है। यह समवायी कारणपना गार्गी ब्राह्मण में वेद में स्पष्ट लिखा है। वहां गार्गी ने प्रश्न किया है सब जगत् किसी पदार्थ से (ओत प्रोत) पुर रहा है। वहां उत्तर दिया है सब जगत् में ब्रह्म ही ओत प्रोत हो रहा है। ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त

कारण है, उसमें **"तस्माद्वाएतस्मादात्मन आकाश संभूतः"** यह श्रुति प्रमाण है। ब्रह्म ही इस जगत् का कर्ता है, उसमें **"विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिः तदात्मानं स्वयमकुरुत"** इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथायदा।।

स्यादिदं भवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः।।७३।।

यः सर्वत्रैव संतिष्ठन्नंतरः संस्पृशेन्न तत्।।

शरीरं तन्न वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशते।।

सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्।।७४।।

शंका – भगवान् ने जो अपने स्वरूप से जगत् बनाया है जीवों के लिये बनाया है अथवा अपने लिये बनाया है। जो जीवों के लिये भगवान् ने जगत् बनाया है ऐसे कहोगे तो जैसे स्वामी के लिये अनेक पदार्थ सेवक सिद्ध करते हैं इस प्रकार भगवान् को जीवों के आधीन मानना पड़ेगा तो पराधीन होने से ईश्वरता की हानि होगी। जो कहोगे कि स्वार्थ ही जगत् बनाया है तो भगवान् को पूर्णकाम पना मिटता है। उसका उत्तर देते हैं **"देवस्यै स्व भावोय माप्तकामस्य का स्पृहा "** परन्तु **"मैच्छत्"** यद्यपि भगवान् को किसी प्रकार की इच्छा नहीं है तथापि भगवान् की क्रीडा करने का स्वभाव है। जैसे जल का शीतलता करने का स्वभाव है अग्नि का जलाने का स्वभाव है। जब आप अपने एक रूप में रमण करना चाहते हैं तब जगत् का (उपसंहार) अपने स्वरूप में तिरोधान करते हैं। जब भगवान् आप अकेले रमण नहीं करते हैं दूसरे पदार्थ की इच्छाकर के प्रपंच में रमण करते हैं तब जगत् का विस्तार करते हैं अर्थात् अनेक रूप नाम के भेद करके क्रीडा की इच्छा होती है तब भगवान् के स्वरूप में छिपा हुआ (प्रपंच) जगत् प्रकट हो जाता है।

शंका–कार्य को सत्य मानोगे तो भगवान् और जगत् दो पदार्थ हुए तो द्वैत हुआ, शुद्धा द्वैत नहीं सिद्ध हुआ, क्योंकि शुद्धाद्वैत ज्ञान उसका नाम है जिस ज्ञान से भगवान् से (भिन्न) अलग कोई पदार्थ प्रतीत नहीं है।

उत्तर – जगत् को सत्य मानते हैं परन्तु भगवान् से भिन्न नहीं मानते हैं।

दशम स्कंध श्री भागवत के ८२ वे अध्याय में **"यत्र येन यतो यस्येत्यादि"** श्लोक के अनुसार सब विभक्तियों का तथा प्रकार के भगवान् ही अर्थ है।

शंका – अन्तर्यामी जडजीव का स्पर्श नहीं करे तभी तो अन्तर्यामी का और जडजीव का परस्पर भेद हुआ, सिद्धान्त कहां रहा **(उत्तर)** सृष्टि दशा में लोक व्यवहार चलने के लिये इच्छा करके चैतन्य आनन्द के तिरोभाव होने से जड जीव अन्तर्यामी में परस्पर भेद प्रतीत होता है। परन्तु ईश्वर के साथ किसी पदार्थ का भेद नहीं है, इसलिये भगवान् से जड जीव अन्तर्यामी अलग नहीं है। जैसे वृक्ष की शाखा परस्पर एक से एक अलग दिखाई पड़ती है परन्तु वृक्ष से कोई शाखा अलग नहीं है, इसलिये शुद्धाद्वैत में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

शंका – श्रुतियों में अनेक प्रकार की लिखी है और उन प्रकारों में आपस में विरोध दिखता है जैसे **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** इस श्रुति में ब्रह्म सद्रूप है। यह बात लिखी है **"असदेवेद मग्र आसीत्"** इस श्रुति में ब्रह्म असद् रूप है यह बात लिखी है, इस प्रकार बहुत सी श्रुतियों में परस्पर विरोध है। इसलिये वेद को प्रमाण नहीं मानना।

उत्तर – कृष्ण द्वैपायन वेद व्यासजी ने परब्रह्मरूप वस्तु का स्वभाव जानकर श्रुतियों का विरोध दूरकर एक वाक्यता कीं है। तात्पर्य यह है कि वेद में दोष लगाना, वेद तो जैसा ब्रह्म का स्वरूप था वैसा ही निरूपण किया है। ब्रह्म में सब रूप धारण करने की सामर्थ्य जानकर वेद ने ब्रह्म के अनेक रूप वर्णन किये हैं तथा लोक में जिन धर्मों का परस्पर विरोध दिखता है। वैसे अनेक धर्मों का ब्रह्म का आश्रय जानकर लोक में एक पदार्थ में संभव नहीं हो सके ऐसे अनेक धर्मों को वेद ने ब्रह्म में निरूपण किया है।

जैसे लोक में एक ही पदार्थ हाथी के समान तथा मच्छर के समान नहीं हो सकते हैं, वेद ने एक ही ब्रह्म को हाथी के सदृश तथा मच्छर के समान बताया है और भी अनेक श्रुतियों में ब्रह्म की विरूद्ध धर्माश्रयता का निरूपण किया है, परन्तु विवाद करने वालों के वैसे शुद्ध हृदय नहीं रहे हैं। इस कारण भ्रम में पड़कर अनेक प्रकार के वाद बना लिये है वे उनके मन के बनाये हुए वाद ब्रह्म के स्वरूप का स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं। इसीलिये श्रीआचार्य चरण आज्ञा करते हैं **"सर्व वादा नवसरम्"** मन के बनाये सब वाद का जिसमें अवसर नहीं है ऐसे ब्रह्म का स्वरूप है। कदाचित् कहोगे वादी लोगों के हृदय मलिन हो अथवा शुद्ध हो परन्तु वाक्य तो जितने हैं वे सब सरस्वती स्वरूप हैं, उनकी तो एक वाक्यता होनी चाहिये। वहां समाधान करते है **"नाना वादानुरोधितत्"** एक एक वाद है वह ब्रह्म के एक एक धर्म का प्रतिपादन करने वाले जो एक एक वाक्य उनके शेष हैं वे सब धर्मों का अनुसरण करते हैं। जैसे कितने ही नास्तिकादिक ईश्वर को नहीं मानते हैं और शून्य मानते हैं, कितने ही तुच्छ मानते हैं, कितने ही ईश्वर का अभाव मानते हैं, कितने ही वादी नाश्य मानते हैं। कितने ही अदृश्य मानते हैं अर्थात् ज्ञान में तथा दृष्टि में आसकता है ऐसा मानते हैं, परन्तु परमेश्वर में ये सब बातें घट जाती हैं इसलिये महोपनिषद में **"एष ह्येवशून्य एष ह्येवा व्यक्तोऽदृश्योऽचिन्त्यो निर्गुण श्चेति"** यह ईश्वर ही शून्य है। यह ईश्वर ही अभाव है, यह ईश्वर ही तुच्छ है, यह ईश्वर ही अदृश्य है, इसी रीति से शब्द नास्तिकादिकों के मुख से निकलता है, परन्तु इन शब्दों के उनके विचार किये हुए उलटे (विपरीत) अर्थ तो परमात्मा का स्पर्श भी नहीं करता है और वाणीरूपा सरस्वती तो ईश्वर में सुलटी रीति से घटित हो जाता है।

जैसे ऊपर के लिखे हुए मंत्र का अर्थ कर्म पुराण में लिखा है। **"शमूनं कुरुते विष्णु रदृश्यः सन्परं स्वयम्।। तस्माच्छून्यमिति प्रोक्त स्तोदनात्तुच्छमुच्चते। नैष भावयितुं शक्यः केन चित्पुरुषोत्तमः।। अतोऽभावं वदन्त्येनं नश्यत्वान्नाश इत्यपि"** ईश्वर के सुख के आगे लोक का सुख बहुत ही कम है

इसलिये ईश्वर को शून्य कहते हैं। सभी के हृदय में गुप्त होकर प्रेरणा करते हैं इस कारण तुच्छ कहते हैं। भगवान् को कोई उत्पन्न नहीं कर सकता हैं। इसलिये अभाव कहते हैं। काल मृत्यु आपका भक्षण नहीं कर सकते हैं। इसलिये नाश्य कहा है। ऐसे ही दोष वाले पुरुष भगवान् को अदृश्य अथवा शून्य रूप मानते हैं। उनके मत को भगवान् अदृश्य शून्य अभावरूप होकर अनुसरण करते हैं, अर्थात् उनको भगवान् अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं करते हैं। उनके लिये अदृश्य शून्य अभाव रूप ही रहता है। तो पुरुष भगवान् को पूर्णज्ञान क्रियावान् सर्वेश्वर सच्चिदानंद रूप मानते हैं उनको **"रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"** इत्यादि श्रुत्यनुसार रसरूप स्वरूप को अनुभव कराकर अनन्त आनन्द देते हैं। इस प्रकार नानावाद के अनुरोधी हैं अर्थात् अनेक प्रकार के वादी विवादी के वाक्य भगवान् में घट जाते हैं।

अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।।

विरूद्धसर्वेधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्।।७५।।

आविर्भावतिरोभावैर्मोहनं बहुरूपतः।।

इन्द्रिणां तु सामर्थ्याददृश्यं स्वेच्छया तु तत्।।७६।।

वहां शंका होती है कि भगवान् विद्यमान है तो अभाव अथवा शून्यरूप कैसे हो सकते हैं, जो वस्तु सर्वदा विद्यमान हो उसका अभाव नहीं हो सकता है। भगवान् में लोक से विरूद्ध धर्म है लोक में भावरूप घटादिक अभाव रूप नहीं हो सकता है। भगवान् तो **"यदस्ति यन्नास्ति च विप्रवर्य"** इत्यादि वाक्यों के अनुसार **"अस्ति"** भावरूप है, तथा **"नास्ति"** अभावरूप भी है। **"यदेक मव्यक्त मनन्त रूपम्"** ब्रह्म एक है व्यापक है, अनन्तमूर्ति वाला है लोक में एक हो वह अनेक नहीं होता है। भगवान् एक है और अनेक है इस प्रकार लोक विरूद्ध गुण दिखा करके लोक विरूद्ध क्रिया दिखाते हैं। **"तदेजति तन्नैजति"** इस श्रुति के अनुसार भगवान् कूटस्थ हैं अर्थात् अचल हैं तथा चल भी हैं। इसी प्रकार से गुणादिभेद भी भगवान् में संभव हो सकते हैं। यहां विस्तारभय से वर्णन नहीं करते हैं ऐसे और भी वेदोक्त अनेक विरूद्ध धर्म भगवान् में है। परस्पर विरूद्ध धर्म एक पदार्थ कैसे रह सकते हैं यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ब्रह्म ही सब पदार्थों का आधार है।

जैसे भूमि सहज विरोध रखने वाले सांप, चूहा, सिंह, बकरी आदि अनेक पदार्थो का आधार है। जैसे बुद्धि परस्पर विरूद्ध (जाग्रत अवस्था) जागना तथा (स्वप्नावस्था) सोना आदि वृत्ति का आधार है वैसे ही ब्रह्म सर्व पदार्थों का आधार है और पृथ्वी आदि पदार्थों में भी भगवान् की ही विरूद्ध धर्माश्रयता दिखाई पड़ती है। विशेषकर ब्रह्म में लौकिक युक्तिकों की पहुंच नहीं है। जैसे वेद में हजारों मस्तक करचरणारविंद वाले भगवान् को बताये हैं यह बात लौकिकयुक्ति से गम्य नहीं है परन्तु वेदोक्तता से अवश्य मानी जाती है। ऐसे ही वेदोक्त विरूद्ध धर्माश्रयता भी मानी जाती है।

शंका – अवतारों में हमारी लौकिक इन्द्रिय बुद्धि आदि से भगवान् ग्रहण करने में आते हैं ऐसे ही लौकिक युक्तियों से भगवान् जानने में भी आ जाने चाहिये।

उत्तर – लौकिक बुद्धि तथा अलौकिक इंद्रियों से भगवान् ग्रहण करने में आ जाते हैं यह केवल भ्रममात्र है। जैसे – नट अनेक रूप दिखाता है और देखने वालों को यह सिंह है, यह हाथी है, यह राजा है ऐसा धोका हो जाता है, ऐसे ही अवतारों में राम कृष्ण आदिकों में यह साधारण मनुष्य है ऐसा भ्रम हो जाता है तथा मत्स्यावतार, वराह अवतार आदि में साधारण मच्छ तथा साधारण सूर है। ऐसा मोह हो जाता है और जितने (आविर्भाव) प्रकट होने के तथा (तिरोभाव) अवतारों को छिपा लेने के प्रकार हैं, उनमें लौकिक युक्ति नहीं चल सकती है। जैसे खंभे से प्रकट हो जाना तथा हंसावतार में स्वतः प्रकट हो जाना, मत्स्यावतार में शीघ्र ही सरोवर के समान हो जाना, वाराहावतार में क्षण मात्र में पर्वताकार हो जाना, इस कारण लौकिक प्रमाण तथा लौकिक युक्तियों से भगवान् नहीं जाने जाते हैं।

यद्यपि लौकिक नैत्रादिकों से रामकृष्णादि अवतार के दर्शन होते हैं तथापि लौकिक प्रमाण से भगवान् गम्य नहीं है क्योंकि नेत्र आदि इन्द्रियों की भगवान् को देखने की सामर्थ्य नहीं है। भगवान् की जब सब जीवों को अपना स्वरूप दिखाने की इच्छा होती है तभी नेत्र आदि इन्द्रिय से आप दिखाई देते हैं। नेत्र आदि इन्द्रिय अपनी सामर्थ्य से देवताओं को भी नहीं देख सकते हैं तब अवतारों को कैसे देख सकेंगे।

आनंदरूपे शुद्धस्य सत्वस्य फलनं यदा।।
तदा मरकतश्याममाविर्भावे प्रकाशते।।७७।।
चतुर्युगेषु च तथा नानारूपवदेव तत्।।
उपाधिकालरूपं हि तादृशं प्रतिबिंबते।।७८।।

शंका – जो प्रकट रूप वाला पदार्थ होता है उसको नेत्र देख सकते हैं यह नियम है। भगवान् जो प्रकट रूपवाले हैं तो अवश्य नेत्र से दिखने चाहिये।

उत्तर – जो (मायिक) लौकिक प्रकट रूपवाला पदार्थ होता है उसको नेत्र देख सकते हैं यह नियम है, ब्रह्म में तो लौकिक मायिक, रूप नहीं है इसलिये नेत्र नहीं देख सकते हैं। इसी से कहीं कहीं अरूप ब्रह्म का नाम है, अर्थात् मायारचित रूप ब्रह्म में नहीं है।

ब्रह्म के लिये तो आनन्द है वही रूप के स्थान में समझना। इच्छा करके आनन्द ही रूपात्मक भासमान होता है। लौकिक रूप भगवान् को नहीं देख सकते हैं इसके लिये आसुर सब जीवों को नेत्रों की सामर्थ्य करके जो अवतारादिकों के दर्शन हुए वह औपाधिक मायिक रूप के ही हुए आनन्दमय रूप के नहीं हुए। आनन्दमय रूप के दर्शन उन्हीं जीवों को हुए जिनको अनुग्रह पूर्वक इच्छा करके करवाये।

जहां साधारण जीवों को जैसे दर्शन हुए उसमें दृष्टान्त देते हैं- जैसे श्वेत पत्थर के मध्य में (जपाकुसम) लाल फूल के उपर स्वच्छ स्फटिक मणि रखी हो तब देखने वाले को स्फटिक मणि का स्वाभिक रंग नहीं दिखता है। लाल रंग ही मणि का दिखता है तथापि और समीप के श्वेत पत्थर की अपेक्षा मणि में चिलक (चमक) अधिक दिखाई पड़ती है। ऐसे ही साधारण जीवों को अवतार का आनंदमय रूप तो नहीं दिखता है।

इच्छा करके भगवान् के सत्वगुण के देवता का आसन रूप से स्फुरण कर रखा है। उसकी जो आनन्द में परछाई (झाई) पड़ती है उसको वह आनंद नील मेघ के समान प्रकाशित होती है और जैसे लाल फूल से स्फटिक मणिलाल दिखाई देने लग जाती है तथापि और पत्थरों के बीच चमक अधिक करती है, ऐसे ही भगवान् ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि गुणावतारों में माया के सत्वगुण रजोगुण तमोगुण से श्याम, लाल, श्वेत रूप से प्रकाशमान होती है तथापि और जीवों की अपेक्षा उन रूपों में ब्रह्मत्व प्रकट रहता है। क्योंकि भगवान् जिस पदार्थ में स्थित रहते हैं उस पदार्थ को अपने भीतर स्थित कर लेते हैं।

जैसे अग्नि लोह के गोले में स्थित होकर लोह के गोले को अपने भीतर स्थित करके आप बाहर प्रकट हो जाती है। यह बात अन्तर्यामी ब्राह्मण में लिखी है। इस प्रकार (मायिका) औपाधिकरूप में ब्रह्म में अंगीकार किया जाय तब भी मायिक रूप मात्र ही नेत्रों की सामर्थ्य से दिख सकती है। भगवान् के तो दर्शन इच्छा आनन्द कर के ही हो सकते हैं। लौकिक नेत्रादि इन्द्रियों की सामर्थ्य से भगवान् का दर्शन नहीं हो सकता है। इतना विस्तार करके भगवान् इन्द्रियों के गोचर नहीं है यह सिद्ध हुई। इस प्रकार ही पृथ्वी में नील रूपता से आपका आविर्भाव है, जल में प्राण में श्वेतरूपता से, तेज में रक्तरूपता से आपका प्राकट्य समझना। युगावतारों में भी इसी रीति से वर्ण विभाग आगे के श्लोक में दिखाते हैं। सत्ययुग का अभिमानी देवता काल का जब भगवान् के आधार रूप से स्फुरण होता है। तब उसकी श्वेत झाईं से भगवान् का श्वेतरूप सत्ययुग में भासमान होता है। इसी प्रकार त्रेता द्वापर कलियुग के रक्तपीत श्याम देवताओं की झाईं करके उन उन युगों में भगवान् रक्तपीत श्यामरूप से दिखाई पड़ते हैं और पहले कहे अग्नि गोला के दृष्टान्तानुसार अपने आधार भूत कालाभिमानी देवता को अपने भीतर स्थित करके उसको भी अवतीर्ण ब्रह्मत्व संपादन करते हैं।

इस रीति से प्रतिफल नहीं करके ब्रह्मत्व सिद्ध किया तथा नेत्रों की सामर्थ्य से जो भगवान् का रूप दिखने में आता है। उसकी प्राकृतता सिद्ध की अब भगवान् के आनन्दाकार में मायिकपने की शंका दूर करने के लिये मुख्य सिद्धान्त के अनुसार **"आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्" शबलांत् श्यामं प्रपद्ये"** इत्यादि श्रुतियों में लिखा हुआ है जो कृष्ण का अप्राकृत अलौकिक रूप है उसका वर्णन करते हैं।

अथवा शून्यवद्गाढं व्योमवद्ब्रह्मतादृशम्।।

प्रकाशते लोकदृष्टया नान्यथा दृक्स्पृशेत्परम्।।७९।।

(तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महाराजानं यथा पाण्डाविकंयथेंद्र गोपो यथाग्न्यर्चिः) इत्यादि

श्रुतियों में इन्द्र गोपमणि अग्नि ज्वाला आदि पदार्थों के समान पर ब्रह्म श्री कृष्ण का रूप लिखा वह रूप माया रचित नहीं है किन्तु ब्रह्मात्म कहा है। **''यन्मायया मोहिताश्च ब्रह्म विष्णु शिवादयः'''' एवं सर्वे प्राकृताश्च श्री कृष्णं निर्गुणं बिनां''** यह ब्रह्म वैवर्तक प्रकृति खंड के वाक्य में भी और देवताओं को ही प्रकृति लिखा है। श्रीकृष्ण का तो स्वरूप निर्गुण ही है। परन्तु अत्यन्त गंभीर और अनवगात्य है। अर्थात् जिस स्वरूप का दृष्टि अन्त नहीं पा सके ऐसा आपका स्वरूप है। इसलिये लोक दृष्टि से नील जैसा मालूम पड़ता है। वस्तुतः नील गुण वाला आपका स्वरूप नहीं है किन्तु वस्तु ही वह वैसी ही है। निज सामर्थ्य से ही नील भासमान होता है।

न्याय के चौबीस गुणों में जो रूप गुण लिखा है वह ब्रह्म में नहीं है। ब्रह्म रूप गुणरहित हैं तब भी गंभीर है इसलिये अपने स्वभाव से ही नील भासमान होता है, उसमें दृष्टान्त जैसे-अन्धकार तथा आकाश रूप गुण सहित है तब भी गंभीर है इसलिये अपनी सामर्थ्य करके ही नील भासमान होता है। दृष्टि तो रूप को ग्रहण करने वाली है, आकाश में तो रूप नहीं दिखता है। तब दृष्टि अत्यन्त दूर गई हुई नीलरूप को जैसा देखते हैं। वैसे आकाश को भी देखते हैं इसलिये आकाश में रूप है ऐसा नहीं जानना किन्तु रूप सहित ही आकाश गंभीरता से नीलरूप जैसा भासमान होता है। ऐसे ही ब्रह्म भी गंभीर है इसलिये नीलरूप जैसा भासमान होता है। जब आप गंभीरता को नहीं दिखाते हैं तब आपको स्वरूप जैसा श्रुति में लिखा है वैसा ही दर्शन में आता है। जैसे-**''बंदरऽपांडुवदनो मृदु गण्डम्''** इस भागवत के श्लोक में वर्णन है। कृष्ण चन्द्र के व्रज भक्तों को बेर के समान पांडुवदन के अर्थात् पीत गौर मुखारविंद के दर्शन हुए। इतने विस्तार कर के भगवान् रूपरहित है। इसलिये नेत्र अपनी सामर्थ्य से भगवान् को नहीं देख सकते हैं, जो नेत्र और चीजों को जैसे देख सकते हैं। वैसे भगवान् को भी देख सकते हो तो जैसे और पदार्थ नेत्र आदि इन्द्रियों से पर नहीं है वैसे भगवान् भी नेत्रादि इन्द्रियों से पर नहीं कहायेंगे। इसलिये नेत्र अपनी सामर्थ्य से भगवान् को नहीं देख सकते हैं। यह सिद्ध हुआ। इसीलिये **''परांचिरवानि''** इस श्रुति में उलटी (विपरीत) इन्द्रियें ब्रह्म का स्पर्श नहीं कर सकती हैं यह बात लिखी है। इसलिये यह शंका नहीं करना कि भगवान् में रूप इन्द्रिय कुछ भी नहीं है। तब तो आप जिस भक्त को दर्शन देना चाहते होंगे उस को भी कैसे दर्शन देते होंगे क्योंकि दर्शन देना चाहते हैं उसको तो हस्त चरणारविंदादिक इन्द्रिय तथा रूपादि गुण सच्चिदानन्दात्मक ही दिखते हैं।

आत्मसृष्टेर्न वैषम्यं नैघृण्यं चापि विद्यते।।
पक्षान्तरेऽपि कर्म्म स्यान्नियतं तत्पुनर्बृहत्।।८०।।

इसी श्लोक की व्याख्या श्री गुसांईजी ने की उसका वर्णन करते हैं। भगवान् का स्वरूप जैसा अनुग्रह वाले कृपा पात्र भक्त देखते हैं वैसा ही मानना चाहिये। अनेक रूप होने से ब्रह्मपना नहीं मिटता है। इसमें दृष्टान्त देते हैं - जैसे गाढा अर्थात् सघन सैंधव लवण बाहर भीतर से एक रस है ऐसे ही अनेक रूप वाला ब्रह्म भी

सदा एक रस तथा शुद्ध रहता है **''परांचि खानि''** इस श्रुति से ब्रह्म नहीं दिखता है, ऐसा तात्पर्य निकलता है, इसलिये लोक दृष्टि से नहीं दिखता है। यह बात समझनी चाहिये।

उसमें दृष्टान्त देते हैं जैसे सूने घर में कोई पदार्थ दिखाई नहीं पड़ता है क्योंकि वहां देखने योग्य कोई पदार्थ नहीं है ऐसे ही लोक दृष्टि से देखने योग्य पदार्थ लौकिक रूप है और ब्रह्म में लौकिक रूप नहीं है। इसलिये लोक दृष्टि से शून्य के समान ब्रह्म प्रकाशमान नहीं होता है। अर्थात् दर्शन होने के दो प्रकार हैं, एक प्रकार तो यह है कि जिसके लिये भगवान् प्रकट हो वह दर्शन कर सकता है। दूसरा प्रकार यह है कि जिन जीवों के और मनुष्यों के समान ही अपना स्वरूप दिखाने की भगवान् की इच्छा हो तब और मनुष्य जैसे ही भगवान् भी दिखते हैं और जिनके लिये प्राकट्य नहीं है ऐसे आसुर जीव शास्त्रोक्त ब्रह्म को असत् मानते हैं। अर्थात् असत्य मानते हैं उनको भगवान् असत् जैसे ही दीखते हैं। सूने घर में कुछ नहीं दिखाई पड़ता है वैसे भगवान् प्रकाशमान नहीं होते हैं क्योंकि **''मायेत्यसुरास्तं यथायथोपासते''** इस मंडल ब्राह्मण की श्रुति में जो जैसी उपासना करता है उसको वैसे ही भगवान् भासमान होते हैं यह लिखा है।

अथवा शून्य नाम अन्धकार का है जैसे अंधकार वाले घर में दीपक बिना रखी हुई वस्तु भी नहीं दीखती है। ऐसे अनुग्रह विना अवतार समय में विद्यमान भी भगवान् नहीं दिखते हैं। जिस समय अवतार नहीं हो उस समय तो स्वरूप प्रकट नहीं है। इसलिये रूप सहित आकाश जैसे नहीं दिखता है वैसे भगवान् भी नहीं दिखाई पड़ते हैं। वहां इच्छा को ही रूप के स्थान पर समझना जैसे रूप नहीं हो तो पदार्थ नहीं दिख सकता है। वैसे इच्छा नहीं हो तो भगवान् नहीं दिखाई पड़ते हैं।

अन्य लोको में भी दृष्टि करके ही जब आप अपना रूप दिखाना चाहते हैं तब भगवद अनुग्रह भगवद इच्छा करके ही लोकदृष्टि भी हरि का स्पर्श करती है। जैसे महाभारत में अश्वमेघ पर्व में उतंक को लोकदृष्टि से ही भगवान् ने दर्शन कराये। उद्योग पर्व में कौरवों को भी लोकदृष्टि से ही दर्शन कराये इस पक्ष को हृदय में रखकर दूसरा अर्थ करते हैं। जल से भरा (मेघ) बादल जैसे श्याम तथा आकाश जैसा श्यामस्वरूप दृष्टि करके जो प्रतीत होता है वह ब्रह्म ही है। उपाधि अथवा औपाधिक मायिक नहीं है क्योंकि वह वस्तु ही वैसी है। वस्तु स्वरूप युक्तिकी (उपपत्ति की) अपेक्षा नहीं करते हैं। जैसे श्रीं कृष्ण शुद्ध पर ब्रह्म नहीं होते तो ज्ञान रहित पशुपक्षी वृक्षादिकों को प्रकृति काल से पर निजरूप की प्राप्ति नहीं होती, अथवा जो आप परब्रह्म नहीं होते तो भगवान् को अपने शत्रु जानने वाले पूतनादि दैत्य प्रकृति कालातीत भगवान् के स्वरूप को नहीं प्राप्त होते।

इन कहे गये प्रकारों को अपने अपने अधिकारानुसार उपयोग है। उत्तमाधिकारी को पुष्कल ज्ञान सिद्ध होने के लिये इन सभी पक्षों का ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार भगवान् में लौकिक दोष का परिहार किया।

स एव हि जगत्कर्ता तथापि सगुणो न हि।।
गुणाभिमानिनो ये वै तदंशाः सगुणाः स्मृताः।।
कर्ता स्वतंत्र एव स्वात्सगुणत्वे विरूध्यते।।८१।।

अब भगवान् जगत् के कर्ता हैं तो किसी जीव को हंस तथा किसी को काक बनाते हैं ऐसी विषमता क्यों होनी चाहिये तथा किसी को सुखी किसी को दुःखी रखते हैं ऐसा निर्दयपना क्यों होना चाहिये। इन दोनों दोषों का परिहार श्लोक में करते हैं **"आत्मनं स्वयमकुरूत"** इस श्रुति अनुसार भगवान् अपने आत्मा को ही जगद्रूप करते हैं अर्थात् आप ही सर्वरूप हो रहे हैं, इसलिये भगवान् ऊंची नीची गज, गर्दभ आदि अनेक जाति रचते हुए भी निर्दय नहीं कहलाते हैं क्योंकि लोक में भी औरों को दुःख देने वाला ही निर्दयक कहलाता है। जो समर्थ पुरुष क्रीडा के लिये कभी राजा कभी कंगाल बन जाता है तथा कभी सुखी कभी दुःखी अपनी इच्छा से बन जावे उसको कोई विषम वा निर्दय नहीं कहते हैं, ऐसे ही अवतारों में जो आसुर जीवों को मोह कराने के लिये युद्ध से भागना, कहीं अज्ञान दिखा देना कहीं भक्तवश होकर बंधन में आजाना इत्यादि अनेक चरित्रों को दूषण रूप नहीं समझना, किन्तु ऐसे चरित्र क्रीडा के भूषण रूप हैं।

कितने ही मतवादी कर्म को ही सुख दुःख को देने वाला मानते हैं ईश्वर को नहीं मानते हैं, उनसे यह पूछना चाहिये कर्म तो जड पदार्थ है, सुख दुःख कैसे दे सकते हैं। कदाचित् कहो कि कर्म का नियम करने वाला और कोई नहीं है। पूर्वजन्म का सुकर्म या जन्म में सुकर्म में प्रवृत्ति करते हैं। पूर्व जन्म का कुकर्म या जन्म में कुकर्म में प्रवृत्ति करते हैं। उसका उत्तर यह है कि पूर्व कर्म करके ही कर्म में प्रवृत्ति हो जाती हो तो वेद के विविध वाक्यों को कर्म में प्रवृत्ति करवाना वृथा हो जायगा।

इसलिये उन वाक्यों के आधीन सुकर्म को मानना पड़ेगा। कुकर्म को नहीं करने वाला वाक्यों के आधीन कुकर्म को मानना पड़ेगा। तब तो सभी मनुष्य वेद वाक्यों को पढ़कर या सुनकर सभी कुकर्म से निवृत्त हो जायेगे। और सुकर्म में प्रवृत्त हो जायेंगे, अधर्म कोई भी नहीं करेगा तो नरक बनाना व्यर्थ हो जायगा। अधर्म के प्रायश्चित् बताकर बताने वाली स्मृतियां वृथा हो जायेंगी, तथा लोक की अधर्म में प्रवृत्ति हो रहीं है। वह भी नहीं होनी चाहिये। इसलिये धर्मादि धर्म के स्वरूप जानने वाले मनुष्य को भी निज इच्छा के अनुसार पुण्य पाप में प्रवृत्ति निवृत्ति कराने वाला स्वतंत्रकर्ता ईश्वर अवश्य मानना चाहिये। कितने ही मतवादी कहते हैं ईश्वर तो कर्म के अनुसार सुख दुःख देता है, उनके मत में कर्म के आधीन ईश्वर हुआ, ईश्वर समर्थ नहीं हुआ इसलिये सुख दुःख के मुख्य हेतु कर्म को सुख दुःख का कारण मानना उनके मत में उचित हुआ, तब तो ईश्वर ही सुख दुःख का देने वाला है। इस रीति से कहने वाली सब स्मृति व्यर्थ हुई। जैसे गीताजी में– **"सुखं दुःखं भवो भावो भयं चाभयमेव च।। भवन्तिभावाभूतानांमत्त एव पृथक् विधाः"** कृष्ण कहते हैं प्राणिमात्र के सुख दुःख भय अभय मेरे किये हुए होते हैं, तथा **"स एव साधु कर्म कारयति"**

इस श्रुति में जीव को ऊपर के लोक में ले जाने की इच्छा होती है उससे सुकर्म करवाते हैं। जिस जीव को नीचे लोक में ले जाने की इच्छा होती है। उससे कुकर्म करवाते हैं। यह लिखा है। उसका विरोध आयेगा। इसलिये आत्मसृष्टि पक्ष मानना और लौकिक ईश्वर राजादिकों के समान सर्वेश्वर भगवान् में दोष नहीं लगाना। **''वैषम्य नैर्घृण्येन सापेक्षत्वात्''** यह सूत्र तो लौकिक बुद्धि के अनुसार है जो इस सूत्र का अर्थ वादी के मत के अनुसार है, जो इस सूत्र का अर्थ वादी के मत के अनुसार मानोगे तो **''फलमतः''** इस सूत्र में भगवान् ही सुख दुःखादि सब फल के दाता हैं यह बात लिखी है उससे विरोध आयेगा।

शंका – सगुण है उससे कर्म सापेक्ष ईश्वर ही कर्ता हो। अभिप्राय यह है गुणाधीन होने से जैसे ईश्वरता की हानि नहीं है वैसे ही कर्माधीन होने से भी ईश्वरता की हानि नहीं है।

उत्तर – जो उच्चावच सृष्टि का सृजन कर्ता है वही जगत् कर्ता है, परन्तु सगुण नहीं है। गुणों से अभिमानी जो ब्रह्मादिक देवता वे ही सगुण कहलाते हैं। यद्यपि हम देहेन्द्रिय वाले हैं ऐसा अभिमान ब्रह्मादिकों को नहीं है। तथापि अधिष्ठाता देवता बिना सत्व रजतमोगुण सृष्टि कार्य नहीं कर सकते हैं इसलिये गुणों के अधिष्ठाता देवता है, वे ही सगुण कहलाते हैं। वे सब देवता अंशरूप है अतः परतंत्र है, यह बात **''यस्यप्रसादजो ब्रह्मारूद्रः क्रोधसमुद्भवः'' ''आदावभूच्छतधृतीरजसास्य सर्गे विष्णुः''** इत्यादि पुराण स्मृति में प्रसिद्ध है।

परमत निराकरण

केचिदत्रातिविमलप्रज्ञाः श्रौतार्थबाधनम्।।

कृत्वा जगत्कारणतां दूषयन्ति हरौ परे।।८२।।

भगवान् तो सर्वात्मा रूप हैं इसलिये गुणरूप भी आप ही हैं सबके नियन्ता है मूलकर्ता हैं इसलिये सगुण नहीं है, यदि भगवान् सगुण हों तो गुणाधीन हो वैसा स्वतंत्र कर्तापन जो श्रुति पुराणों में लिखा है उससे विरोध आयेगा। कितने ही अतिबिंब विमल बुद्धि वाले अर्थात् निर्मल बुद्धि जिनका उलंघन कर गई है ऐसे पुरुष पहले ब्रह्म को जगत् का कारण मानकर कारण का खंडन करते हैं। शुद्ध ब्रह्म हि जगत् का कर्ता है यही श्रुतियों का मुख्य अर्थ है उसको नहीं मानते हैं। वहां छांदोग्य उपनिषद् में **''सदेव सौम्वेदमग्र आसीत्''** इस श्रुति में जगत् की उत्पत्ति के पूर्व अप्रकट स्वरूप केवल सद्रूप एक पर ब्रह्म ही का वर्णन करके शुद्ध ब्रह्म से ही तेज आदि पदार्थों की उत्पत्ति कही है इसलिये शुद्धब्रह्म ही जगत् का बीज है यह सिद्ध होता है। ऐतरेय उपनिषद में भी परमात्मा से ही जल आदि पदार्थों के क्रम से लोकपालादिकों की सृष्टि कही है ऐसे ही तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्म सच्चिदानंद रूप है ऐसे लक्षण कह कर **''तस्मादात्मन आकाशः संभूतः''** उसी शुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप परब्रह्म से आकाश आदि सब जगत् की उत्पत्ति का वर्णन किया।

इन वाक्यों में माया शबलित ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का कहीं वर्णन नहीं किया है। इसलिये व्यास जी ने शुद्ध परब्रह्म को ही जगत् का कारण कहा है तथा इन वाक्यों के समान जिन वाक्यों में आकाश प्राण आदिकों से सृष्टि का वर्णन किया है। उन वाक्यों में भी **''आकाश स्तल्लिंगात्'' ''अतएव प्राणः''** इत्यादि सूत्रों का करके आकाश प्राण आदि शब्दों को ब्रह्म के वाचक कह कर शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण है यह सिद्धान्त बताया है।

अनाद्यविद्यया बद्धं ब्रह्म तत्किल कारणम्।।

स्वविद्यया संसरति मुक्ति : कल्पितवाक्यतः।।८३।।

मायावादी लोग श्रुति सूत्रों के मुख्य अर्थ को नहीं मानते हैं इसका बाध करके मिथ्या वाक्य युक्तियों से ब्रह्म के जगत् कर्ता पने में दोष लगाते हैं, परब्रह्म को कारण नहीं मानते हैं तब वे लोग जगत् बनाने वाला किसको मानते हैं इस आशंका को दूर करने के लिये मायावादी मत का वर्णन करते हैं। अनादि जो अविद्या अर्थात् जिसकी आदि नहीं है ऐसे भावरूप अज्ञान से बंधा हुआ हो साकार चैतन्य वह इस जगत् का कारण है कारण भी उसी के अनुकूल वैसा ही होता है। कार्य जो जगत् है वह जडरूप है और हेय है और कदर्थ उत्पत्ति अन्त वाला है। इस कारण भी वैसा ही जड हेय तुच्छ निष्ठ होना चाहिये, यह उनकी मिथ्या युक्ति है।

सिद्धान्त तो यह है वेद व्यास जी महाराज ने ब्रह्मसूत्रों में श्रुतियों को ही प्रमाण माना है, लौकिक युक्ति को

प्रमाण नहीं माना है। श्रुतियों में ब्रह्म को कारण बताया है **"सत्यंचानृतं च सत्यमभवत्"** जो श्रुति से कार्य को भी ब्रह्मत्व कहा है **"स आत्मानं स्वयं स्वय मकुरुत"** इस श्रुति में भगवान् ने अपने आत्मा को ही जगत् रूप किया ये बात लिखी है **"बहुस्यां प्रजायेय"** इस श्रुति में भगवान् ही बहुत रूप वाले होने की इच्छा करते हुए यह बात लिखी है। उच्च नीचादिभाव जगत् में दिखता है तथापि ब्रह्म में किसी प्रकार का दोष नहीं है यह बात बताई है स्वयं प्रमाण वेद वाक्यों से कार्य रूपजगत् का ब्रह्मपना सिद्ध किया इसी कारण ब्रह्म ज्ञानियों को जगत् का तुच्छपना अथवा कुत्सितपना नहीं दिखता है। निर्दोष ब्रह्म रूप ही दीखता है और जिन की अविद्या दूर नहीं हुई है उन मनुष्यों को ही जगत् में कुत्सितपना आदि अनेक दोष दीखते हैं। जैसे सफेद शंख पीलिया वाले को मनुष्य को पीला ही दीखता है। परन्तु शंख तो सफेद ही है। इसी प्रकार जगत् तो ब्रह्म रूप है, अज्ञानी लोगों को अविद्या से अनेक दोष वाला दीखता है। जैसे पुरुष को अपने अंगों में कुत्सितपना मालुम नहीं पड़ता है ऐसे ही ब्रह्म के साथ जगत् का अभेद मानने वाले ज्ञानियों को जगत् कुत्सित नहीं प्रतीत होता है। जहां भेद है वहां ही कुत्सितत्वादि दोष प्रतीत होते हैं। जो जगत् को कुत्सित मानोगे तो छांदोग्य में तथा गीता में **"बीजं मां सर्व भूतानाम्"** इस श्लोक में बीजों को ब्रह्मरूपता लिखी है वह नहीं बन सकेगी क्योंकि जो जगत् रूपी वृक्ष को कुत्सित तुच्छ मानोगे तो जीवज, अंडज, अन्न मय बीज को मललुल्यता भी कह सकेगे तो ब्रह्म पना नहीं होगा अर्थात् जगत् रूप वृक्ष को तुच्छ मानोगे तो जगत को बीज ब्रह्म भी तुच्छ हुआ। तब तो ब्रह्मज्ञान होने के लिये पंचाग्नि विद्या के साधक जो श्रौतयज्ञादि कर्म तथा स्मृति के बनाये ज्ञान होने के उपाय वृथा ही होंगे, तो सब सन्मार्ग का नाश होगा। आगे ईश्वर का मायाकृत बंध होने में मायावादी के मतानुसार प्रमाण दिखाये हैं। **"इन्द्रोमायाभिः पुरु रूप ईयते"** माया से बहुत रूप जिसके हो रहा है ऐसा परमेश्वर दृष्टिगोचर होता है इस रीति से इस वाक्य का अर्थ करते हैं परन्तु इसका ऐसा अर्थ नहीं है बहुत रूप वाला परमेश्वर माया से अर्थात् नेत्रादि इंद्रिय जन्य बुद्धि की बृत्तियों से दर्शन में आती है, इस रीति का अर्थ है क्योंकि इस श्रुति में पहले के दो पद में विना ही माया के बहुत रूप धारण करना लिखा है इसलिये बहुत रूप धारण करने में माया कारण नहीं है बहुत रूप वाले परमेश्वर के देखने में माया सहायक मात्र है। ऐसे ही **"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्"** माया प्रकृति कहते हैं, प्रकृति सहित परमेश्वर को मायी जानना। इस वाक्य में सत्य प्रकृति का ग्रहण करना मिथ्या माया का ग्रहण नहीं करना, क्योंकि एकादश स्कंध में **"प्रकृतिर्ह्यस्यो पादानम्"** इस श्लोक में प्रकृति पुरुष काल को भगवद् रुपता लिखी है।

"अनृतापिधानाः" यह श्रुति भी जगत् को मिथ्यात्व नहीं कहती है किन्तु दहर ज्ञानी के (काम) मनोरथ अनृत कर के अर्थात् देहेन्द्रियादि को से ढके हुए इत्यादि अर्थ को कहते हैं। ऐसे ही वाचारम्भण श्रुति को भी कार्य कारणात्मा मानकर उसको सत्य कहने का ही तात्पर्य है। माया शब्द के क्रियादम्भ बुद्धि आदि अनेक अर्थ अनेकार्थ कोश में लिखा है। वेद निघण्टु में माया अभिख्या वयुन इनको बुद्धि के नाम कहे हैं। बुद्धि है

वह अलग अलग इन्द्रियों से नाना प्रकार की होती है इस कारण **''मायाभिः''** यह बहु वचन है। **''मायांतु प्रकृतिम्''** इस वाक्य में मायानाम सृष्टि के आरम्भ में जो सूक्ष्म कार्य उसका नाम है। अनृतनाम देहेन्द्रियादिक का है। यहां अनृतनाम मिथ्या का हो तो मिथ्या हो वह सत्य नहीं हो सकता है। यहां तो आगे की श्रुति में **''सत्यं चा नृतंश्च सत्यमभवत्''** इस वाक्य में अनृत और सत्यरूप दोनों सत्य रूप होते हुए यह बात लिखी है। इसलिये इस वाक्य का ऐसा अर्थ करना अनृत जो देहेन्द्रियादिक सत्य जो जीवात्मा दोनों रूप सत्य जो ब्रह्म है वही होता। अथवा आदि में भगवान् बहुरूप होने की इच्छा करते हुए ऐसा लिखा है। अन्त्य में **''सत्यमभवत्''** अर्थात् सत्य ही था इसलिये यह लिखा है। जो अनृत शब्द का मिथ्यावायी मानोगे तो आद्यन्त से विरोध आयेगा, इसलिये स्वप्न के दृष्टान्त से जगत् को भ्रमरूप नहीं मान लेना। **''असत्य मप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्''** इस गीता वाक्य में जगत् को असल मानने वाले को आसुरी जीव कहा है तथा **''यदभूतंयच्चभाव्यं'' ''हरिरेव जगत्सर्वम्''** इत्यादि सहस्र वाक्यों में जगत् भगवद् रूप माना है। इसी प्रकार अनेक प्रमाणों से खंडन किया भी अविद्यावाद है वह चित्त दोष से जगत् को दोष सहित मानने वाले शम दम आदि साधन रहित पुरुषों के हृदय में वैसा ही भासमान होता रहता है। मायावादी के अनुसार बंध मोक्ष दिखाते हैं। उनके मत में प्रदेश विशेष में जल का जो आवरण मल उसके स्थानापन्न अविद्या से निष्फल ब्रह्म अपने स्वरूप का ज्ञान भूल जाता है तब बर्हिमुख होकर अपने को संसारी मानता है यही बंध है। मूल अज्ञान से छूट जाना ही मोक्ष मानते हैं। कल्पना से ज्ञानवान् माने गये गुरु के उपदेश वाक्य को ही मोक्ष का साधन मानते हैं और जितने लौकिक वैदिक यज्ञ भक्तिआदि साधन को भ्रमात्मक जगत् मध्यपाती मानकर मिथ्या बताते हैं।

एवं प्रतारणा शास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम्।।
उपेक्ष्यं भगवद्भक्तः श्रुतिस्मृतिविरोधतः।।
कलौ तदादरो मुख्यः फलं वैमुख्यतस्तमः।।८४।।

इस रीति का मोह कराने वाले शास्त्र प्राणियों को भगवान् से विमुख करने के लिये बनाया है। इस रीति के शास्त्र में कोई भी बात जानने योग्य नहीं है। भगवान् सब के ईश्वर हैं, सब के कर्ता हैं, कारण के भी कारण हैं, इस रीति के सर्वोपास्य पुरुषोत्तम के माहात्म्य का नाश करने वाला यह मायावाद शास्त्र है, भक्तिमार्ग विरोधी है, इसलिये भगवद् भक्तों को भी इस मंन की उपेक्षा कर देनी चाहिये। इस मायावाद में **''आनन्दाद् धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'' ''अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा''** इत्यादि हजारों वाक्यों का विरोध है। कलियुग में इस मत का बहुत आदर है। इस से आसुर जीव भगवान् से विमुख होकर तम के भागी होंगे।

ज्ञाननाश्यत्वसिद्ध्यर्थं यदेतद्विनिरूपितम्।।
तदन्यथैव संसिद्धं विद्याविद्यानिरूपणैः।।८५।।

शंका – आत्मज्ञान से मोक्ष होता है, इससे विद्या अर्थात् ज्ञान है वह जगद् रूप कार्यसहित अविद्या का नाश करती है। इससे जगत् को मायिक अर्थात् अविद्या का कार्य मानते हैं, क्योंकि जो अविद्या का कार्य न हो तो ज्ञान से कैसे निवृत्त हो।

उत्तर – अविद्या का कार्य अहंता ममतारूप संसार ही है, जगत् अविद्या का कार्य नहीं है और विद्या अर्थात् ज्ञान से भी अहंता ममतारूप संसार का ही नाश होता है। जगत् का ज्ञान से नाश नहीं होता है। ब्रह्मज्ञान में जगत् के लय होने की अपेक्षा नहीं है, ऐसे ही हो तो जैसे प्रलय का कोई पुरुषार्थ नहीं समझते हैं ऐसे ही ब्रह्मविद्या भी अनादर करने योग्य हो जायगी। इसलिये विद्या से अविद्या की निवृत्ति करते हैं यही बात सिद्ध होती है। अतः मोक्ष के लिये जगत् का लय होना नहीं कहना चाहिये। **''विद्यांचा विद्यांच''** इस श्रुति के अन्त में भी **''विद्ययामृतमशनुते''** इस वाक्य में ब्रह्म साक्षात्कार करके (अमृत) मोक्ष की प्राप्ति लिखी है, उससे हृदय में भासमान स्वयं मोक्ष देंगे, जगत् के लय होने से क्या प्रयोजन है।

यन्मायिकत्वकथनं पुराणेषुप्रदृश्यते।।

तदैन्द्रजालपक्षेण मतान्तरमिति ध्रुवम्।।

नास्ति श्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासुकुत्रचित्।।८६।।

पुराणों में जो कहीं कहीं **''विद्धि माया मनो मयम्'' ''त्वप्युद्धवाश्रयति यस्त्रिविधो विकारः''** इत्यादि स्थलों में जगत् को मायिक बताया है वह इस ग्रंथ में पहले कह गये वैदिक सृष्टि के प्रकारों में इन्द्र जाल के समान जो सृष्टि का प्रकार लिखा है जिस सृष्टि का भगवान् उपादान कारण नहीं है केवल माया द्वारा ही होते हैं उसका निरूपण भगवान् के वैराग्य गुण दिखाने के लिये किया है। उसी मिथ्या सृष्टि का निरूपण पुराणों में कहीं किया है, जगत् को मिथ्या समझकर अहंता ममता छोड़ देंगे तो मनुष्य का वैराग्य सिद्ध हो जायगा। इसके लिये किया है। इस पक्ष में पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है किन्तु यह मतांतर है, आसुर जीवों का मोह जनक है। भगवद् लीला के कहने वाले पुराण जैसे अवतारों में आसुरी जीवों की भक्ति नहीं होने के लिये मोहक चरित्र का वर्णन करते हैं। जैसे शाल्व दैत्य के लाये हुए मिथ्या वसुदेव का मस्तक खंडन देखकर कृष्ण का सोच करना भागवत में शुकदेवजी ने मतान्तर के अभिप्राय से लिखकर खंडन कर दिया है।

ऐसे ही जगत् मिथ्यापक्ष लिखकर दैत्यों को मोह कराते हैं। जगत् के मिथ्यापन के ज्ञान में अथवा कर्म में उपयोग हो तो वेद के दोनों काण्ड में लिखा देखने में आना चाहिये। कदाचित् कहोगे सब वेद को आप जानते नहीं हो यह कैसे मालूम पड़ा की वेद में नहीं लिखा है। वहां पर आप आज्ञा करते हैं इस समय में ग्यारह शाखा का प्रचार है उनमें नहीं लिखा है। उन शांखाओं के नाम तैतिरी, काण्वी, माध्यन्दिनी, मैत्रायणी' मानवी यह पांच यजुर्वेद की, हिरण्य केशी तैतिरी का ही नाम है। शांखायनी आश्वलायनी ऋगवेद की दो शाखा हैं। कौथुमी, राणायणी यह सामवेद शाखा है। शौनकी पैप्पलादी यह दो शाखा अथर्वेद की हैं।

वाचरंभणवाक्यानि तदनन्यत्वबोधनात्।।
न मिथ्यात्वाय कल्प्यंते जगतो व्यासगौरवात्।।८७।।

सामवेद की शाखा में वाचरंभण श्रुति से जगत् को मिथ्यात्व सिद्ध होता है। ऐसे कहने वाले मायावादी के प्रतिवाचारंभण श्रुति को ठीक ठीक अर्थ दिखाती है। जो **''वाचारंभणं विंकारो नाम धेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्''** श्रुति के उपक्रम में अर्थात् आरम्भ के पूर्व मृत्ति का पिण्ड का दृष्टान्त दिया है, जैसे एक मृत्तिका पिण्ड के जानने से जितने मिटटी के बने पदार्थ है उनका ज्ञान होता है, इस प्रकार सामान्य रीति से ब्रह्म का लक्षण दिखलाया। दृष्टान्त में कारण मृत्तिका तथा कार्य घडा चप्पन आदि प्रत्यक्ष देखने मे आते हैं। जिसके लिये दृष्टान्त दिया वा दार्ष्टान्तिक में कार्य जगत् के पदार्थ है तो दिखने में आते हैं कारण कि जो ब्रह्म है वह केवल शास्त्र मात्र से जाना जाता है और जैसे मृत्तिका से घट का भेद नहीं है इस प्रकार ब्रह्म से भी जगत् पृथक् नहीं है, जो पृथक् हो तो ब्रह्मज्ञान से जगत् का ज्ञान नहीं हो सकता है। अनेक घट पर आदि पदार्थों को व्यवहार में लाने के लिये ऐसा ही उसको घडा कहना ऐसा हो उसको कूंडा कहना इस रीति से नामधर दिये हैं।

विचार पूर्वक देखा जाय तो ये सब मृत्तिका ही है। इसलिये मृत्तिका सत्य है इस श्रुति से कार्य कारण से अलग नहीं है यह बात बतलाई है जगत् मिथ्या है यह बात श्रुति से सिद्ध नहीं हो सकती है। जो ऐसा श्रुति का अभिप्राय हो तो सीप में चांदी का भ्रम होता है। यह चांदी मिथ्या है, उसी का दृष्टान्त देना योग्य था। जो जगत् मिथ्या हो तो सत्य ब्रह्मज्ञान से मिथ्या जगत् का ज्ञान कैसे संभव हो सकता है। तथा च एक ज्ञान से सर्व पदार्थ का ज्ञान हो जाने की जो प्रतिज्ञा है उसकी हानि है, इसलिये जगत् को मिथ्या बनाने के लिये यह श्रुति नहीं है। सूत्रकार वेद व्यासजी ने भी **''तदन्यत्वमारंभण शब्दादिभ्यः''** इस सूत्र में जगत् का ब्रह्म के साथ अभेद ही सिद्ध किया है। कदाचित् कहोगे जैसे व्यासजी बड़े हैं वैसे शंकराचार्य भी तो बड़े उनके वाक्य को भी प्रमाण मानना चाहिये, आपके किये निर्णय में तो शंकराचार्य के वचनों का विरोध आता है, वहां आज्ञा करते हैं व्यास जी हमारे गुरु हैं अर्थात् वेदान्त का विचार करने वाले हम लोग हैं उन सभी के निर्वाह करने वाले हैं। तात्पर्य यह है कि व्यासजी सूत्रों के बनाकर के श्रुति के संदेह नहीं मिटाते तो हम वेदान्त विचार कैसे कर सकते। इसलिये व्यासजी के अभिप्राय से विरूद्ध मत को हम नहीं मानते हैं।

ज्ञानार्थमर्थवादश्चेच्छ्रुतिः सृष्टयादिरूपिणी।।
अनंगीकरणाद्युक्तं विधिमाहात्म्ययोर्न तत्।।८८।।

शंका – वेद का अर्थ जानने के लिये विचार ही बड़ा साधन है, विचार के द्वारा व्यास सूत्र का अर्थ और आचार्यों ने भी कहा है वहां आपका ही किया अर्थ व्यासजी के संमत है और का किया अर्थ व्यासजी के अभिप्राय के विरूद्ध है इस बात का कैसे निर्णय हो इसलिये विचार करना ही योग्य है।

वहां मोक्ष का देने वाला ज्ञान है, सृष्टि के कहने वाले वेद के जितने वाक्य हैं वे सब अर्थवाद रूप हैं अर्थात्

स्तुति करने वाले हैं और जगत का जो ब्रह्म का कार्य मानोगे तो ब्रह्म विकार वाला मानना होगा, क्योंकि कारण में कुछ विकार हुए बिना वह कार्य नहीं बन सकता है.और कार्य के द्वारा कारण का विलम्ब से ज्ञान होता है। विवर्त (भ्रम) के द्वारा भ्रम के आधार का शीघ्र ज्ञान होता है, इसलिये जगत् का मिथ्या भ्रम रूप ही मानना उचित है।

उत्तर – तुम्हारे मत में सृष्टि वर्णन करने वाले वाक्यों की **तत्वमस्यादिमहा** वाक्यों के साथ एक वाक्यता नहीं संभव हो सकती है। क्योंकि तुम्हारे मन में तो ज्ञान ही मोक्ष का साधन है अर्थात् मोक्ष के देने में असहाय शूर है इसलिये सृष्ट्यादि वाक्य व्यर्थ ही होंगे, क्योंकि तत्वमसि ये वाक्य विधि रूप नहीं है इसलिये सृष्ट्यादि वाक्य किसकी स्तुति करने वाले होंगे। स्तुति करने वाले हुए बिना एक वाक्यता होनी दुर्घट है अतएव जगन्मिथ्यात्व रूप अर्थ भी मानने योग्य नहीं है। हमारे ब्रह्मवादियों के मन में तो पूर्व कांड में यज्ञादिकों में प्रवृत्ति करने के लिये विधि को जैसे अर्थवाद की अपेक्षा रहती है वैसे उत्तर काण्ड के ज्ञान वाक्य भी जननादि माहात्म्य ज्ञान के द्वारा ब्रह्मज्ञान सिद्ध होने के लिये सृष्टि वाक्यों की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये एक वाक्यता बन सकती है, क्योंकि जिन वाक्यों का प्रयोजन एक हो और परस्पर आकांक्षा वाले हों उन वाक्यों की एक वाक्यता होती है यह एक वाक्यता का लक्षण है।

अपवादार्थमेवैतदारोपो वस्तुतो न हि।।
दृढप्रतीतिसिद्ध्यर्थमिति चेत्तन्न युज्यते।।८९।।

शंका – जैसे कोई पुरुष अरुंधती के तारा को नहीं जानता हो तो उस पुरुष को अरुंधती का ज्ञान कराने के लिये जिस वृक्ष की शाखा के ऊपर अरुन्धती का तारा हो उस शाखा को अरुंधती नाम से बताते हैं, उसके पीछे मुख्य अरुंधती का ज्ञान करवा के शाखा में अरुंधती के ज्ञान को दूर कर देते हैं ऐसे ही निराकार ब्रह्मज्ञान कराने के लिये सृष्टि वाक्यों से ब्रह्म का कर्ता भोक्ता बताकर मायिक से गुण ब्रह्म का ज्ञान कराते हैं।

उसके पीछे वाक्यों से कहे हुए कर्ता भोक्तापने का निषेध करके शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान वेद कराते हैं, इससे ज्ञान वाक्यों का कर्ता भोक्तापने की तरह करने के लिये पहला असत्य कर्ताभोक्तापन ब्रह्म में मानना पड़ता है क्योंकि कर्ताभोक्तापन नहीं हुए बिना मना किसकी की जाय इसलिये वाक्यों से कर्ता भोक्ता पन निषेध करने के लिये असत्यकर्ता भोक्तापन का प्रतिपादन करने वाले सृष्टि वाक्यों की अपेक्षा है इससे एक वाक्यता बन सकती है।

उत्तर – जैसे वन्ध्या के पुत्र का निषेध करने के लिये किसी झूंठे वन्ध्या के पुत्र बनावे तो वह पुत्र वाणी मात्र में ही आसकता है और इन्द्रियों से उसकी प्रतीति नहीं होती है। ऐसे ही ईश्वर में कर्ताभोक्तापन का निषेध करने के लिये ही वेद में सृष्ट्यादिक वाक्यों से मिथ्या सृष्टि की कल्पना की जाय तो यह जगत् वाणी मात्र में आना चाहिये प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होना चाहिये।

मुख्यार्थबाधनं नास्ति कार्यदर्शनतः श्रुतेः।।
ऐंद्रजालिकपक्षेऽपि तत्कर्तृत्वं नटे यथा।।९०।।

जगत् की प्रतीति वेद सिद्ध नहीं है इसलिये वेद पहले कहकर फिर निषेध कर सके जगत् तो प्रत्यक्ष दीख ही रहा है, वेद तो इस जगत् के करने वाले को बताता है। कहोगे वेद है वह जगत् को करने वाला ईश्वर है यह पहले कह कर पीछे जगत् के करने वाला ईश्वर नहीं है यह कहा है, ईश्वर है यह पहले कह कर पीछे जगत् के करने वाला ईश्वर नहीं है। यह कहा है, ईश्वर तो अकर्ता है, तब तो कार्यरूप जगत् तो विद्यमान नहीं है। ईश्वर बिना और कोई कर्ता हो नहीं सकता है फिर अकर्तापन का कथन असंभव होने से भ्रम देने वाले मनुष्यों के सदृश वचन के समान हुआ और वेद भी भ्रम से कल्पित है ऐसे कहोगे तो नास्तिक की समानता तथा दुराग्रही पन प्राप्त होगा।

जो वेद अस्मदादिकों की कल्पना से बना हो तो वेद के पढ़ने पढ़ाने की परंपरा अनादि से चली आती है वह नहीं बन सकेगी। यदि और भी जगत् को मिथ्या मानोगे तो **"वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्"** इस व्याससूत्र से विरोध आयेगा क्योंकि इस सूत्र में स्वप्नादिकों के तुल्य जगत् नहीं है, यह बात स्पष्ट लिखी है उससे प्रत्यक्ष विद्यमान जगत् रूप कार्य का कर्तापन जो वेद ने ब्रह्म में बताया है उसका निषेध नहीं करना। जो मायावादी हठ करके माया सहित ब्रह्म को जगत् का कर्ता मानोगे और जगत् माया से बना हुआ मानोगे तब तो जैसे नट मंत्र तन्त्रादिकों से मिथ्यावृक्षादिकों को दिखाते हैं और उनका कर्ता नट ही कहलाता है ऐसे ही मायिक जगत् का कर्ता ईश्वर ही हुआ।

मुक्तिस्तदातिनष्टा स्यात्स्वप्नदृष्टगजेष्विव।।
मायादीनां च कर्तृत्वं श्रुतिसूत्रैर्विबाध्यते।।९१।।

इस पक्ष में मुक्तिका अत्यन्त नाश प्राप्त होता है, क्योंकि सब जगत् जब इन्द्र जाल के समान कल्पित है, मनुष्य भी जगत् में आ गये इतने में मिथ्या कल्पित ही हुए, इनको मुक्ति के लिये प्रयत्न करना वृथा हो जायगा। जैसे इन्द्रजाल के बने हुए कबूतर आदि पदार्थों के कभी मोक्ष नहीं होते हैं जैसे स्वप्न के हाथी की मुक्तिके लिये कोई भी पुरुष प्रयत्न नहीं करता है।

इस पक्ष में जगत् साक्षी भगवान् ही मुक्तमाने जायेंगे। उनकी माया के बने हुए अस्मदादिक जीव सब बद्ध ही रहेंगे तब तो परलोक की प्राप्ति होने के लिये जो शास्त्र में साधन लिखे हैं उनका परिश्रम व्यर्थ ही होगा। वाच स्पति मिश्र कहते हैं जगत् जीव के अज्ञान का बना हुआ है, यह उनको कहना भ्रम देने के लिये है। **"सूर्या चन्द्रमसौ"** इस श्रुति में सूर्यादि सब पदार्थों को ब्रह्म के बनाये हुए कहा है, इससे भी विरोध आता है। किंच इन दोनों पक्षों में जीव की मुक्ति में प्रवृत्ति का विधान होगा तथा शिष्य शास्त्र गुरु ये सब मिथ्या ही होंगे। इसलिये सब को मोह कराने वाला मायावाद नहीं मानना चाहिये।

शंका – सांख्य की रीति से माया जगत् की करने वाली है ऐसा मानना अथवा माया से (उपहित) चारों आरोप से ढका हुआ जीव का बिंबरूप है। जैसे मेघों के चलने में चन्द्रमा चलता है ऐसा प्रतीत होता है ऐसे ही

मायादिकों के जगत् बनाने में ब्रह्म बनाते हैं। ऐसे प्रतीति होती है इसलिये वेद में ब्रह्म को जगत् का कर्ता कहा है।

उत्तर – "**कथमसतः सज्जायेत**" इत्यादि अर्थ असत् अर्थात् असत्य पदार्थ से कैसे बन सकता है "**तत्सत्यं यदिदं किंच न तत्सत्यम्**" इसलिये ब्रह्म भी सत्य है और जो कुछ पदार्थ प्रत्यक्ष दीखता है ये सब सत्य हैं। इस श्रुति से माया के कर्तापन का निषेध सिद्ध होता है "**नेतरोनुपपत्तेः**" इस सूत्र से भी जीव के कर्तापन का निषेध व्यासजी ने किया है, क्योंकि जिस समय सृष्टि के आदि में जीवों के शरीर ही पैदा नहीं हुए उस समय में शरीर बिना जीव कैसे जगत् को बना सकता है, ऐसे अनेक श्रुति सूत्रों से जीव तथा मायाकर्ता नहीं बन सकते हैं।

अकर्तृत्वंच यत्तस्य माहात्म्यज्ञापनाय हि।
विरूद्धधर्मबोधाय न युक्त्यैकस्य वारणम्।।९२।।

शंका – "**अस्थूलमनण्वम्**" इत्यादि "**निरवद्यं निरंजनम्**" इत्यादि वाक्यों से ब्रह्म के कर्तापने का भी तो निषेध सिद्ध होता है। गीता में "**अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**" इस वाक्य से निश्चय होता है। लोक में जो कर्ता दीखता है वह अहंकार मोह भ्रम वाला दीखता है। ब्रह्म को भी कर्ता मानोगे तो ब्रह्म में भी यह दोष आयेगा, इसलिये ब्रह्म को कर्ता नहीं मानना चाहिये।

उत्तर – श्रुति है वह ब्रह्म में अलौकिक कर्तापने का स्थापन करती हुई अहंकारादि दोष सहित लौकिक कर्तापने का निषेध करने के लिये ब्रह्म को अकर्ता कहती है। जो सर्वथा कर्तापने के निषेध में ही श्रुति का तात्पर्य हो तो गीता में "**अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**" इस श्लोक में ब्रह्म में जगत् का कर्तापना वर्णन किया है। उससे विरोध आयेगा, इसलिये ब्रह्म की महिमा बताने के लिये अकर्ता ब्रह्म को बताया है।

जैसे पुरुष सूक्त में "**पुरुष एवेदँ सर्वम्**" "**उतामृतत्वस्ये शानः**" "**एतावानस्य महिमा**" ब्रह्म सर्वरूप है अमृत का भी ईशान है। इस मंत्र में ब्रह्म को सब जगत् का स्वामी बताकर जगत् को भी ब्रह्मरूप ही बताया है। आगे लिखा है कि ब्रह्म की महिमा हैं जो अपने स्वरूप का ही आप स्वामी हो जाता है। यद्यपि लोक में अपने शरीर का आप मालिक हो उस पुरुष की महिमा नहीं होती है, औरों का मालिक हो उसी की महिमा होती है। तथापि ब्रह्म में लोक विरूद्ध धर्म ही महिमा बताने वाला है। परस्पर विरूद्ध धर्म जिस पदार्थ में वेद ने बताये हों वह पदार्थ ही बड़ा समझना और दोनों प्रकार के धर्मों को ही सत्य समझना। जैसे "**समो मशकेन समोनागेन**" इस वाक्य में ब्रह्म को हाथी के तथा मच्छर के समान लिखा है वहां लोक में मच्छर के समान पदार्थ हाथी के समान नहीं हो सकते हैं। ऐसे तर्क करके हाथी के समान ब्रह्म को बताने वाले वाक्य को मिथ्या नहीं मानना, जो एक वाक्य से मिथ्या मान लिया जाय तो ब्रह्म का माहात्म्य नहीं सिद्ध होता है। जैसे नट मंत्र औषधादिक कर के सिंह तथा हाथी बन जाता है वैसे ब्रह्म स्वभाव से ही छोटा बड़ा "**एजति**" चल "**अनेजति**" अचल कर्ता अकर्ता आदिरूप हो रहा है।

मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते।।
तस्मादविद्यामात्रत्वकथनं मोहनाय हि।।९३।।

पुराणों में कहां कहां जगत् को मिथ्या बताया है वह आसक्ति दूर करने के लिये बताया है। पुराण हैं वे मित्र संमित उपदेश करने वाले हैं। जैसे किसी पुरुष ने अपने मित्र से कहा मित्र विष खाना उचित है परन्तु शत्रु के घर भोजन करना योग्य नहीं है, इस वाक्य से शत्रु के यहां भोजन नहीं करने का तात्पर्य है, विष खाने का तात्पर्य नहीं है। ऐसे ही विषयतारूप आन्तरासृष्टि को मिथ्यात्व कहकर आसक्ति दूर कराकर वैराग्य सिद्ध कराने में पुराणों का तात्पर्य है। सत्य ब्रह्मात्मक जगत् को मिथ्या बनाने में पुराणों का तात्पर्य सर्वथा नहीं है। जो जगत् को मिथ्या कहने का ही पुराणों का तात्पर्य हो तो भागवत में **''विश्वं वै ब्रह्मातन् मात्रं''** विष्णु पुराण में **''तदेतदक्षयन्नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्''** इत्यादि अनेक स्थलों में जगत् को सत्यरूपता तथा ब्रह्मात्मकता नहीं लिखते इसलिये अवतार प्रकरण के अनुसार वैसे वचनों को वैराग्य बोध नार्थ समझ लेना। इसका विस्तार आवरण भंग में इस श्लोक की व्याख्या में बहुत किया है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहेतुकम्।।९४।।

इसलिये प्रकरण के अनुसंधान रखे बिना जगत् को अविद्यारूपक कहना प्रतारणा करना है। आचार्यजी आज्ञा करते हैं हमारे सिद्धान्त में भगवान् के वाक्य की संमति है। गीता में **''असत्यमप्रतिष्ठम्''** इस श्लोक में जगत् को मिथ्या मायिक असत्य बताने वाले को आसुर कहते है।

अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा।।
ज्ञानाद्विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः।।९५।।

शंका – वाचारंभण श्रुति से जगत् में ब्रह्मबुद्धि की सत्यता आती है तथापि घटपटादिक विकल्प को तो मिथ्यापना प्राप्त होता है।

उत्तर – वेदान्त में ज्ञान कराने के लिये दो प्रकार लिखे हैं मुख्याधिकारियों के लिये तो प्रथम पक्ष है उसमें ब्रह्मा से लेकर घासपर्यन्त जितने पदार्थ हैं उनमें उच्च नीचत्व को भगवान् ही प्राप्त हो रहे हैं अर्थात् भगवान् ही घट पटादि पदार्थ रूप हैं। इस रीति की विकल्प बुद्धि भी ब्रह्म ज्ञान से विरूद्ध नहीं है और अधिकारियों के लिये दूसरा पक्ष है उसमें यह घट है यह पट है ऐसी विकल्प बुद्धि का अनादर करके सब ब्रह्म है ऐसी बुद्धि रखनी चाहिये जैसे स्वर्ण को लेने वाला यह कुंडल है यह कडा है ऐसी बुद्धि को छोड़कर सभी को सुवर्ण मान कर ही ले जाता है ऐसे ही अखंडाद्वैत ज्ञान सुवर्ण ग्राहक के समान है। जब सब पदार्थों को सद्रूप ही मानते हैं तब यह घट है यह पट है ऐसी बुद्धि का बाध हो जाता है। सब स्थान पर ब्रह्म है ऐसी बुद्धि हो जाती है। इस पक्ष में भी सर्वत्र ब्रह्म बुद्धि हो जाती है। तब यह घट यह पट ऐसी बुद्धि ही मिट जाती है, तथापि घट

पटादि पदार्थ नहीं मिटते हैं।

भिन्नत्वं नैव युज्येत ब्रह्मोपादानतः क्वचित्।।

वाचारंभण मात्रत्वाद्भेदः केनोपजायते।।९६।।

इसलिये इस रीति से भी जगत् मिथ्या नहीं हो सकता है। कितने ही मत वाले घड़ा वस्त्र आदि पदार्थों को अलग अलग देखकर प्रत्यक्ष के अनुसार घट पटादि पदार्थों का भेद मानते हैं वह भी ठीक नहीं है, जैसे सुवर्ण के बने हुए कडा, कुंडल आदि पदार्थों में भेद नहीं होता है, क्योंकि दोनों को (कारण) अर्थात् बताने वाला एक ही पदार्थ है। ऐसे ही जगत् के पदार्थों में भेद नहीं है, क्योंकि सब पदार्थों को बताने वाला उपादान कारण ब्रह्म एक ही है। घट पटादि पदार्थों को धर्मरूप माने जाय तो भी एक ब्रह्म के ही दोनों धर्म हुए इस पक्ष में भी उपादान ब्रह्म के साथ अभेद है, इससे भेद मानना युक्ति विरूद्ध है। प्रत्यक्ष देखने से तो भेद अभेद का निश्चय नहीं हो सकता है। कभी एक चन्द्रमा भी दो चन्द्रमा दीखते हैं। घटाकाश महाकाश का भेद नहीं है, लोक में भेद दीखते हैं जीवात्मा देह का भेद है।

लोक में देह से पृथक् आत्मा भी नहीं दिखती है इससे महात्माओं का प्रत्यक्ष ज्ञान ही प्रमाण है। उनको तो सर्वत्र अभेद की प्रतीति होती है इसलिये **''प्रजायेय''** तथा वाचारंभण वाक्य के अनुसार सब स्थान पर ब्रह्म बुद्धि होने के पश्चात् भेद करने वाला कोई भी पदार्थ बाकी नहीं रहता है। जो भेद कर सके इस कारण भ्रम युक्त लौकिक भेद प्रतीति केवल से ब्रह्मवाद का खंडन नहीं करना।

सांख्यो बहुविधः प्रोक्तस्तत्रैक : सत्प्रमाणकः।।

अष्टाविंशतितत्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः।।९७।।

सांख्य शास्त्र के बहुत भेद हैं ब्रह्मवाद के क्रम से प्रथम उत्पन्न हुए जो पदार्थ उनके साथ संख्या का योग किया अर्थात् उनकी गणना की उससे उन पदार्थों को समूह का नाम सांख्यमत का ब्रह्मवाद में ही समावेश है स्वतंत्र रीति से बनाये हुए जो सांख्यमत है वे प्रमाण नहीं माने जाते हैं, इतने सांख्य मतो में भागवत में जो द्वितीय तृतीय स्कंध में लिखा है वह प्रमाण मानना, उस को ही मनु आदि महर्षि गणों ने प्रमाण माना है।

अन्ये सूत्र निषिध्यंते योगोप्येकः सदादृतः।।

यस्मिन्ध्यानं भगवतो निर्बीजोऽप्यात्मबोधकः।।९८।।

जिस सांख्य मत में अष्टाविंशति २८ तत्व का स्वरूप भगवान् हैं और साख्यमतों में जैसी प्रकृति पुरुष जगत् में प्रतीत नहीं होते हैं और नित्य निरवयव प्रकृति परिणाम मानते हैं यह भी युक्ति विरूद्ध है उससे इस तरह का प्रकृतिवाद स्वभाव वाद में ही गतार्थ होता है और दूषण भाष्य में ही विस्तार पूर्वक लिखे हैं। ऐसे ही योगशास्त्र में भी वही प्रमाण है जो पुराणोक्त है। योगचित्त की वृत्ति रोकने का नाम है।

भगवान् का ध्यान चित्त के बिना नहीं हो सकता है इसलिये ऐसा योग भगवद् ध्यान का साधक है इससे भक्ति का अंग है। जो योगभक्ति बिना ही स्वतंत्र होकर फल देने वाला है। वह प्रमाण नहीं है, उसको लौकिक सिद्धि देकर वृथा काल खोने वाला समझना चाहिये। उस योग को पुराणादिकों में भी तुच्छ माना है। ज्ञानात्मादिक योग कापालिक मत में तथा वाममार्ग में लिखा है वह भी प्रामाणिक नहीं है। ऐसे ही देहेन्द्रियादिकों को दृढ करने वाले जो योग हैं उनको भी वृथाकाल खोने वाला जानना, अप्रामाणिक हैं उन्हीं योगों की **"अनेन योगः प्रत्युक्तः"** इस व्यास सूत्र में खंडन किया है। योग में वे ही प्रमाण है जिसमें भगवान् का ध्यान लिखा हो। जिस योग में ध्यान नहीं लिखा हो उसको केवल आत्मज्ञान का अंग समझना, उसको उसी विषय में प्रमाण समझना चाहिये।

उपसंहार

वैराग्यज्ञानयोगश्च प्रेम्णा च तपसा तथा।।
एकेनापि दृढेनेशं भजन्सिद्धिमवाप्नुयात्।।९९।।

इतने ग्रंथ करके परमत का निराकरण किया तथा स्वमत का वेदादिक के अनुसार स्थापन किया। अब मत का भक्तिमार्ग में उपयोग दिखाते हैं। पांच साधन सहित होकर पुरुष को भगवान् का भजन करना चाहिये। प्रथम तो वैराग्य अर्थात् विषय भोग की तृष्णा को छोड़ना चाहिये, क्योंकि जहां तक विषय भोग की इच्छा नहीं मिटती है वहां तक भगवान् का आवेश नहीं आता है और भगवान् का आवेश आये बिना भगवद् भजन सिद्ध नहीं होता है।

दूसरा साधन ज्ञान अर्थात् जिस पदार्थ का जैसा स्वरूप है वैसा ही स्वरूप उस पदार्थ में जान लेना तथा भगवान् का भी शास्त्र रीति से यथार्थ स्वरूप जान लेना इसका नाम ज्ञान है। इसके बिना भगवद् भजन में प्रवृति ही नहीं होती है। तीसरा साधन योग है। अर्थात् चित्त के रोकने का नाम योग है। चित्त के रूके बिना भगवद् भजन नहीं बन सकता है। चतुर्थ साधन प्रेम है। प्रेम बिना भगवद् भजन में रस नहीं प्रकट होता है। रस आये बिना भगवद् भजन का मुख्य फलस्वरूप नहीं मानते हैं। वहां तक और फल की कामना करके की गई भक्ति स्वतः पुरुषार्थ रूप स्वतंत्र कहलाती है। भगवद भजन का तप पांचवां साधन है। तप विना देहेन्द्रियादिक कच्चे रहते हैं। तप करने से ही देहइन्द्रिय आदि पक जाते हैं। जब देहेन्द्रियादिक पके हो तब ही भगवद् भक्ति बन सकती है परन्तु इन पांच साधनों का सिद्ध होना बहुत दुर्लभ है, इसलिये मुख्य रीति से भजन नहीं बन सके तो गौण रीति से ही करना। इन कहे पांच साधनों में से एक साधन को भी दृढ करके उससे सर्व समर्थ श्रीकृष्ण का भजन किया जाय तो मोक्ष होता है।

ज्ञाने लयप्रकारा हि जगतो बहुधोदिताः।।
मनसः शुद्धिसिद्ध्यर्थमेकः सांख्यानुलोमतः।।१००।।

कितने ही मनुष्य ज्ञान से जगत् का लय होता है इस रीति के अनेक वाक्य सुन कर जगत को अज्ञान रूप मान लेते हैं। इस संदेह को दूर करने के लिये लय का स्वरूप दिखाते हैं। चित्त शुद्ध होने के लिये शास्त्र में जगत् के लय होने के बहुत प्रकार कहे हैं। मुख्य तीन प्रकार के हैं। एक नित्य प्रलय जिससे कहते हैं। काल से नित्य नित्य सर्व पदार्थों का लय होता है। जैसे दीपक की ज्योति का ऊपर से लय होता जाता है और भीतर से दूसरी निकलती जाती है, देखने वाले को एक ही ज्योति प्रतीत होती है। ऐसे ही सब पदार्थ का नित्य ही प्रलय होता है। अस्मदादिको का प्रतीत नहीं होता है। दूसरा नैमित्तिक प्रलय है। यह प्रलय द्रव्य से होता है, जैसे दंड के देने से घडे का लय हो जाता है, ऐसे शेष जी के मुख की अग्नि से जगत् का लय हो जाता है। तीसरा प्राकृतिक प्रलय है। यह प्रलय गुणों से होता है। ब्रह्म की आयुष्य पूरी होने पर सब सृष्टि का लय होता है उस समय

में क्षोभित गुणों का भी नाश हो जाता है। इन प्रलयों को भावनाकर सिद्ध कर लेना यह ही आत्यन्तिक प्रलय है। यद्यपि भावना करके किये हुए प्रलय में जगत् के पदार्थों का नाश नहीं होता है। परन्तु भावना करके उन पदार्थों का प्रलय हुआ समझने से अहंता ममता का नाश हो जाता है। उसी से विषयों का नाश अथवा आत्यंतिक प्रलय कहते हैं। इन तीन प्रकार बिना केवल ज्ञान करके जगत् का नाश मानना प्रमाण विरूद्ध है और वैसी कल्पना से कुछ भी फल नहीं होता है।

एक सांख्यशास्त्रोक्त लय की भावना करने का प्रकार एकादश स्कंध के चतुर्विंशाध्याय में लिखा है। वहां अन्न में शरीर के लय की भावना अन्न का धाना में लय, धाना का भूमि में , भूमि का गंध में , गंध का जल में, जल का रस में, रस की ज्योति में, ज्योति का रूप में, रूप का वायु में, वायु का स्पर्श में, स्पर्श का आकाश में, इस प्रकार परमेश्वर में सब पदार्थों के प्रलय की भावना लिखी है। आगे के श्लोक में **''एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिकोभ्रमः। मनसो हृदि तिष्ठेत्''** ऐसी भावना करने वाले के हृदय में आत्माध्यास रूप अहंकारात्मक भ्रम नहीं रहता है यह ही फल लिखा है। देहनाश इस जगत् नाश होना फल नहीं लिखा है। ऐसा ही होता तो भावना करने वाले को उसी समय देहनाश हो जाना चाहिये। प्राकृतिक प्रलय की भावना का नाम प्राकृतिक आत्यन्तिक लय है। नित्य प्रलय की भावना का नाम नित्य आत्यन्तिक लय है। नैमित्तिक प्रलय की भावना नाम नैमित्तिक आत्यनिन्तक लय है।

इंद्रियाणां देवतात्वं भावनाप्रापणे तथा।।
गोविन्दासन्यसेवातः प्रापणं नान्यथा भवेत्।।१०१।।

लय भावना का एक प्रकार सप्तम स्कंध में लिखा है, वहां वाक्यों सहित वाणी का अग्नि में न्यास करना, शिल्प सहित हस्त का इन्द्र में न्यास करना कहा है। इस रीति से इन्द्रियों का तत्वों का लय दिखाया है, वह भी पति धर्म वैराग्य होने के लिये दिखाया है। कुछ वहां सृष्टि प्रकरण नहीं है। पहले इस ग्रन्थ में देह संघात के लय का प्रकार दिखाया है वह भी लय मनकी भावना मात्र से नहीं होता है किन्तु आसन्य की अथवा गोविन्द की सेवा करके इन्द्रियों में देवभाव होता है। यह लय (रूपांतर) अर्थात् दूसरे रूप को सिद्ध कर देने वाला है।

अद्वयात्मदृढज्ञानाद्वैराग्यं गृहमोचकम्।।
वागादिविलयाः सर्वे तदर्थं मन आदिषु।। १०२।।

जैसे कीडा भृंगी की भावना करते भृंगी होता है, इस न्याय से भावना करके रूप का तो त्याग नहीं होता है और उसी पदार्थ का रूप हो जाता है। यह उत्पत्ति का ही प्रकार है यह लय नहीं है, ऐसे ही राजा युधिष्ठिर ने भी संघात के लय की भावना की है वहां वाणी मन, प्राण आदि नव अग्नि में नव आहुतियों से कल्पना मात्र से होम किया है। इस होम में अपने नियामक को में होम की भावना की जाती है, जैसे वाणी का होम मन में किया जाता है, क्योंकि वाणी मन के आधीन है। मन का होम प्राण में किया जाता है, क्योंकि

"प्राणबंधनं हि सौम्य मनः" इस श्रुति में मन को प्राण के आधीन लिखा है। इत्यादि प्रकार को भी अद्वयज्ञान दृढ होता है, उससे वैराग्य का संन्यास में उपयोग है। राजा ने संन्यास सिद्धि के लिये ही ऐसी भावना की थी इससे यह निश्चय हुआ।

भावनामात्रतो भाव्या न हि सर्वात्मना लयः।।

मनोमात्रत्वकथनं तदर्थं जगतः क्वचित्।।१०३।।

जितने लय के प्रकार हैं भावना मात्र करके भाव्य है। देहादिकों का लय करने वाले नहीं है। ऐसे ही जहां देहादिकों की मनो मात्रता लिखी है वहां भी वैराग्य होने के लिये ही लिखी है। वैसे भिक्षुगीता में वैरांग्य प्रकरण में **"देहं मनोमात्र मिमम्"** इस श्लोक में लिखी है।

भक्ति मार्गानुसारेण मतांतरगता नराः।।

भजंति बोधयंत्येवमविरूद्धं न बाध्यते।।

नैकांतिकं फलं तेषा विरूद्धाचरणात्क्वचित्।।१०४।।

ऐसे मतान्तर का निराकरण करके भक्तिमार्ग की रीति से भगवद् भजन करते हैं उनको ही फल मिलता है और मार्गवर्ती होकर भजन करे तो फल नहीं होता है यह आज्ञा करते हैं। **"भक्ति मार्गानुसारेति"** मायावादादि मत में ब्रह्म को व्यवहार के योग्य नहीं मानते हैं और श्रीकृष्ण को व्यवहार के योग्य मानते हैं इसलिये उनकी रीति से श्रीकृष्ण ब्रह्म नहीं हो सकते हैं। कदाचित् कहोगे उनके मत में सदानंद ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं। अपने मत में तथा उनके मत में पदार्थ सिद्धि अलग अलग है तो वे भी भक्तिमार्गानुसार ही कह रहे हैं ऐसे ही जानना चाहिये। क्योंकि जिस शास्त्र को जो अंगीकार कर लेते हैं वे पुरुष उस शास्त्र के मत को ही अपना मुख्य सिद्धान्त मानते हैं और अंध हस्तिन्याय से एक एक शास्त्र ईश्वर के एक देश के प्रतिपादन करने वाले हैं इसलिये उस मत से फल भी अवश्य होगा। वहां उत्तर देते हैं, मायावादी के मत में मोक्षकिसी पुरुषका हो भी जाय तो भी मायावाद भगवद् भजन का साधक नहीं हो सकता है। जैसे बिल्व मंगल जो पूर्वावस्था में विरूद्धाचरण वाले भी थे परन्तु पीछे प्रबल भक्ति करके मोक्ष को प्राप्त हुए, ऐसे प्रबलभक्ति हो तो नाम मात्र का मायावादी भी हो तो भी मोक्ष हो जाता है। यदि मायावाद का पक्षपात नहीं करे क्योंकि मायावादी की रीति से भगवान् में विपरीत भावना करके अज्ञान की कल्पित बुद्धि हो जाय तो भक्ति सर्वथा सिद्ध नहीं होती है, इसलिये मायावादादि मत में भक्ति विरूद्धाचार होने में फल प्राप्ति का निश्चय नहीं हो सकता है यह बात सिद्ध हुई।

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः।।

यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः।।१०५।।

श्री आचार्यजी आज्ञा करते हैं जो इस ग्रंथ में ज्ञान का वर्णन किया उसका निश्चय कर अर्थात् सब जगत्

भगवान् से ही प्रकट हुए हैं और भगवान् ही सर्व रूप हैं ऐसे गौणमुख्य से भगवान् का माहात्म्य जानकर चित्त के वैराग्य द्वारा विषय भोग की आसक्ति छोड़कर योग के द्वारा चित्त को एकाग्र करके तपश्चर्या के द्वारा देहेन्द्रियादिकों को पक्के करके उत्कट प्रेम से प्रकट हुए जो रस उस रस के बढने से भक्ति का ही परम पुरुषार्थ रूप मानकर श्रवण कीर्तन, स्मरण, पाद सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्म समर्पण रूप नवप्रकार से भगवान् का भजन करे वही उत्तराधिकारी है।

प्रेमाभावे मध्यमः स्याज्ज्ञानाभावे तथादिमः।।

उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत्।।१०६।।

जो मनुष्य शास्त्र के द्वारा भगवान् के माहात्म्य को नहीं जानता हो परन्तु उत्कट प्रेमकर श्रवण, कीर्तनादि नव भक्तिकर भगवत्सेवा करता हो, उस को मध्यमाधिकारी कहना, क्यों कि माहात्म्य जानकर उसका प्रेम नहीं हुआ है पूर्व संस्कार वश से प्रेम हुआ है, इसलिये प्रेम गोण है जो पुरुष शास्त्र के द्वारा भगवान् के माहात्म्य को जानकर प्रेम बिना श्रवणादि नव प्रकारों के द्वारा भगवद् भजन करते हैं उसमे मुख्य अंग प्रेम के नहीं होने से उसको भी मध्यमाधिकारी कहना। जो पुरुष शास्त्र द्वारा भगवन्माहात्म्य को भी नहीं जानता है। जिसका सबसे अधिक उत्कट प्रेम भी नहीं है। साधारण प्रेम करके श्रवणादि नव प्रकार से भगवद् भजन करते हैं उसको (आदिम) अर्थात् हीनाधिकारी कहना चाहिये। जो पुरुष ज्ञानवाला भी नहीं हो और प्रेम वाला भी नहीं हो केवल श्रवणादि नव प्रकारों से भगवद् भजन करता हो उस पुरुष का पाप नाशमात्र होता है, क्योंकि श्रवणादिकों से पाप नाशकता भागवत द्वितीय स्कंध में **''लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषम्''** इस श्लोक में लिखी है अथवा प्रेमज्ञान बिना श्रवणादिक को चान्द्रायणादिकों के समान धर्म रूप समझना, परन्तु माहात्म्य ज्ञान पूर्वक स्नेह सहित है इसलिये भक्ति मार्गीय वे नहीं हो सकते है।

तपोवैराग्ययोगे तु ज्ञानं तस्य फलिष्यति।।

योगयोगे तथा प्रेम स्तुतिमात्रं ततोऽन्यथा।।१०७।।

जो पुरुष तप वैराग्य सहित होकर श्रवणादि नव प्रकार से भगवद् भजन करते हैं अथवा केवल तप सहित होकर अथवा केवल वैराग्य सहित हो श्रवणादि नव प्रकार से भगवद् भजन करते हैं उनके किये हुए श्रवणादिकों से ज्ञान मार्गीय समझना, उन श्रवणादिकों से जन्मातंर में ज्ञान प्राप्ति होती है। जो योग द्वारा चित्त को एकाग्र करके केवल योग सहित होकर श्रवणादिक नवभक्ति करता है उसके किये हुए श्रवणादिक भक्ति मार्गीय है इसलिये उन श्रवणादिकों से प्रेम प्रकट होता है। साधन करते करते प्रथमाधिकारी मध्यमाधिकारी होजाता है। मध्यमाधिकारी साधन करते करते उत्तमाधिकारी हो जाते हैं। ज्ञानमार्ग की रीति से अथवा भक्तिमार्ग के अनुसार किये हुए श्रवणादिक भगवत्प्राप्ति साधक है। ज्ञानमार्ग अथवा भक्ति मार्ग बिना तथा तप वैराग्य, ज्ञान प्रेम योगरूप पांच साधन बिना केवल श्रवणादिक से जो परम पुरूषार्थ साधक **''कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्त बंध**

परं व्रजेत्'' इत्यादि वाक्यों से भगवान् की स्तुति करने वाले जानना चाहिये। जैसे किसी पुरुष के घर कोई महात्मा पधारे तब वह कहता है मैं धन्य हूँ, मेरे घर आप पधारे ऐसे उसका कहना महात्मा की स्तुति करना ही केवल समझा जाता है, ऐसे ही केवल श्रवणादिकों से पुरुषार्थ साधक बता कर भगवान् की स्तुति की है, अर्थात् भगवान् बड़े कृपालु हैं, साधन बिना केवल श्रंवणादिकों से ही पुरूषार्थ सिद्धि कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि कभी भगवान् अपने प्रमेय बल से पंच साधन सहित केवल श्रवण कीर्तनादिक से भी सिद्धि देते हैं। जैसे अजामिल को भगवत् प्राप्ति हुई परन्तु शास्त्रोक्त प्रमाणानुसार तो ज्ञान मार्ग अथवा भक्तिमार्ग की रीति से पंचांग सहित अथवा पांचों में से कोई एक दृढ अंग सहित ही श्रवणादिक भगवत्प्राप्ति करने वाले हैं। यही सिद्धान्त सिद्ध होता है।

अर्थोयमेव निखिलैरपि वेद वाक्यैः,
रामायणैः सहितभारतपंचरात्रैः।।
अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः
निर्णीयते सहृदयं हरिणा सदैव।।१०८।।
इतिश्री श्री कृष्णव्यास विष्णुस्वामि
मतवर्ति श्रीवल्लभाचार्य विरचिते
तत्त्वदीपे शास्त्रार्थ कथनं नाम
प्रथमं प्रकरणं संपूर्णम्।।

श्रीमदाचार्य चरण आज्ञा करते हैं कि मुख्य सिद्धान्त ये ही हैं इसमें सब प्रमाणों की एकता है अर्थात् समस्त वेद वाक्य रामायण तदंगभूत भारत पंचरात्र तथा समस्त पुराण व्याससूत्र इन सभी से प्रमाणों को करके प्रेमसहित ज्ञान सिद्ध करना यह ही निर्णय होता है और रीति से निर्णय किया जाय तो चतुर्दश विद्यारूप सरस्वती की एकनिष्ठता कभी नहीं हो सकती है। वहां भी सरस्वती का हृदय सहित भाव निजपति एक भगवान् में ही है। इसलिये पतिव्रता के अभिप्राय को जैसे पति बिना और कोई नहीं जान सकते हैं ऐसे सरस्वती के इस प्रकार के अभिप्राय को सरस्वती के भर्ता श्रीहरि जानते हैं। यह एकादश स्कंध में भगवान् ने अज्ञा की है। **''इत्यस्या हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चन''** इस सरस्वती के हृदय के अभिप्राय को मेरे बिना और कोई नहीं जानता है। इसलिये आगे होने वाले विद्वान् इस सिद्धान्त से विरूद्ध कहे तो सर्वथा नहीं मानना, सदा सर्वदा इसी को मुख्य सिद्धान्त समझना।

''प्रथमं शास्त्रार्थ प्रकरणं संपूर्णम्''

श्री गोवर्धननाथो जयति।

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित निबन्धस्य सर्वनिर्णयाख्यं द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते।

तत्वदीप निबन्धः

पंचात्मकं द्विरूपञ्च साधनैर्बहुरूपकम्।।
स्वानन्ददायकं कृष्णं ब्रह्मरूपं परं स्तुमः।।१।।
अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा।।
चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पंचविधोहरिः।।२।।

प्रथम शास्त्रार्थ प्रकरण में सात्विक दैव जीवों की भगवत्सेवा में प्रवृति होने के लिये जड जीव अन्तर्यामियों के लिये स्वरूप वर्णन किया तथा भगवान् का भजन ही ऐहिक पार लौकिक फल को देने वाला है तथा उत्तमाधिकारियों को भगवान् को ही फल रूप मानना चाहिये यह बात वेदभाग वतादि ग्रन्थों से सिद्ध की इस लिये उत्तमाधिकारी तो भगवान् सेवा में प्रवृत्त हो जायेंगे परन्तु मन्द मध्यमाधिकारियों के हृदय में यह सिद्धान्त स्थिर करने के लिये प्रमाण प्रमेय फल साधन के द्वारा ज्ञानादि मार्गों को तथा जगत के पदार्थों को यथार्थ स्वरूप निश्चयार्थ सर्व निर्णय प्रकरण नाम से प्रसिद्ध जो दूसरा प्रकरण है उसका प्रारंभ करते हैं। वहां कितने ही वादी शब्द प्रमाण वेदादिकों की अपेक्षा प्रत्यक्ष प्रमाण को बड़ा मानते हैं उनके संदेह को दूर करने के लिये प्रमाणों का बलाबल रूप निश्चित करने के लिये प्रथम प्रमाण प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए मंगल होने के लिये वेदार्थ रूप भगवान् की स्तुति करते हैं।

अग्निहोत्र दर्श पूर्णमास पशु चातुर्मास्य सोम इन भेदों से पांच रूप वाले प्रकृति विकृति भेद से दोष रूप वाले तथा अनेक शाखोक्त साधनों के भेद से बहुत रूप वाले तथा स्वरूपानंद के देने वाले ब्रह्मरूप पर जो श्रीकृष्ण है उनकी स्तुति करता हूँ उनकी अपने ज्ञान के अनुसार जो स्तुति हो सकती है। इस श्लोक में स्वानन्ददायक पद से स्व पशु पुत्रादिक आनन्द अर्थात् आत्म सुख के देने वाले श्रीकृष्ण चन्द्र को बताया है इसलिये धर्म रूपसे फलदान नहीं होता है। किन्तु ईश्वर रूप से ही आप फल देते हैं, ऐसे ही उत्तरकाण्ड में भी ज्ञानादि रूप से फल नहीं मिलता है किन्तु ईश्वर रूप से ही फलदान होता है। इन दोनों रूप में उत्तरकाण्ड वेदान्त प्रतिपाद्य जो रूप है वह श्रेष्ठ है।

प्रथम पांच रूप वाले भगवान् को बताया उन पांच रूपों की दूसरे श्लोक में गणना की है। प्रमेय का निर्णय करके उस को बल कहना चाहिये। वह प्रमेय दो प्रकार है एक प्रमाण के अनुसार प्रमेय होता है, एक स्वतंत्र प्रमेय होता है वहां प्रमाण के अनुसार प्रमेय हो जाता है। एक स्वतंत्र प्रमेय होता है, वहां प्रमाण के अनुसार जो प्रमेय है उसका निरूपण करते हैं। अग्नि होत्र भगवान् का प्रथम रूप है, इसको वेद में जहां तक जीयें तब तक करना लिखा है। दर्श पूर्णमास भगवान् का दूसरा रूप है। निरूढ पशु यज्ञ आपका तृतीय रूप है।

वैश्वदेवादि चारों पर्वरूप जो चातुर्मास्य है वह भगवान् का चतुर्थ रूप है। सोम जो अनिष्टोम यज्ञ है वह भगवान् का पंचम रूप है। इस क्रम से ही इन यज्ञों को किया जाता है। प्रतिदिन अग्निहोत्र, प्रतिमास दर्शपूर्णमास छः महिने में पशुयज्ञ वर्ष के वर्ष सोमयज्ञ करना लिखा है।

शंका – ये यज्ञ तो क्रियारूप हैं इनको करके भगवान् की ईज्या अर्थात् पूजा की जाय तो भगवान् प्रसन्न होते होंगे इसलिये भगवान् की प्रीति के साधक इन यज्ञों को करना चाहिये। इनको भगवान् का रूप कैसे समझ लेवें।

उत्तर – **''पंच विधो हरिरिति'' ''यज्ञो वै विष्णुः'' ''मांविधत्तेऽभिधत्तेमाम्''** इत्यादि श्रुति भगवतादि वाक्यों में यज्ञ की भगवद् रूपता लिखी है इसलिये वेदादि विरूद्ध मत आदरणीय नहीं है।

तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि स्रुगादि यत्।।
प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यन्तु वैकृतम्।।३।।
ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्त्तुर्मोक्षः क्रमाद्भवेत्।।
अन्यथा स्वर्गसौख्यन्तु द्विरूपं तत् क्रमाद्भवेत्।।४।।

साध्यरूप तथा साधन रूप तथा साधन के साधन रूपी हरि ही हैं, क्योंकि **''यज्ञेन यज्ञमय जन्त देवाः''** इस मंत्र में तथा इस मंत्र के विवरण रूप **''पुरुषावयवैरेते संभाराः संभृतामया''** इत्यादि भागवत द्वितीय स्कंध श्लोक में साध्य साधन रूपता भगवान् की ही वर्णन की है।

साधन दो प्रकार के होते हैं, प्रयाजादिक तथा स्रुक आदि। फल का अथवा स्वरूप का उपकार करने वाला जो कोई पदार्थ हो उसको साधन कहना गिने हुए अग्नि होत्रादिक जो पांच है ये प्रकृति रूप कहते हैं, इनको ही नित्यकर्म कहते हैं। नित्यकर्म उसी को कहते हैं जो कर्म वेद में जितना संपूर्ण कहा हो उतना समग्र करना पड़े तथा जिसका फल अवश्य होता हो और जैसे राजा की आज्ञा का पालन नहीं करने वाले को राजा दंड देता है ऐसे ही जिस कर्म के नहीं करने में प्रायश्चित लगता हो यह नित्य कर्म का लक्षण है। यहां फल रहित कर्म से नित्यकर्म नहीं कहते हैं, जैसे राज सेवा में फल का अभाव नहीं है। वैसे नित्यकर्म का फल भी अवश्य ही होता ही है। वेद भी मुख्यता से नित्य कर्म का ही प्रतिपादन करता है। जो काम्य कर्म है उसी को विकृति कहते हैं। काम्यकर्म है वह कामना हो तो फल देते हैं, स्वभाव से नित्य फल को नहीं देते हैं। इस प्रकार उद्देश्य से दोनों रूपों का निरूपण करके फल का निरूपण करत्ते हैं। ''ज्ञानिन इति'' उत्तमाधिकारी जो ब्रह्म ज्ञान वाला निष्काम होता है वेदोक्त यज्ञादि कर्म को यथार्थ करते हैं उसको भगवान् के स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। अर्थात् उपनिषदों का उक्त जो ज्ञान तथा अग्निहोत्रादिक पंच साधन ये षट् पदार्थ सिद्ध हो तब यज्ञ का आधिदैविक रूप प्रकट हो तब ही जीव को भगवदानंद रूप फल की प्राप्ति होती है। क्योंकि मर्यादा में क्रम मोक्ष है वही फल है, सद्य मुक्ति है तो अत्यन्त कृपा से होती है। ब्रह्मज्ञान बिना तो अग्निहोत्रादि पंचात्मक भगवान् से स्वर्ग सुख की प्राप्ति होती है, यह स्वर्ग दो प्रकार का है।

वाक्यशेषादात्मसुखं प्रसिद्धेर्लोक उच्यते।।

यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।।

अभिलाषोपानीतश्च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्।।५।।

वाक्यशेषादिति मध्यमाधिकारी को आत्म सुखरूप स्वर्ग मिलता है हीनाधिकारी को स्वर्ग लोक मिलता है, वहां जो ब्रह्मज्ञान रहित हो परन्तु यथार्थ कर्म करके अग्नि होत्रादिक के अधिकारी देवता संतुष्ट हो जावे तथा जिसका यज्ञ आध्यात्मिक हो जावे उसका अन्तः करण सत्वाकार होकर सब प्रकार की चेष्ठा से रहित शुद्ध हो जाता है तब उसको (आत्म सुख) आत्मानंद प्रकट हो जाता है और जो ब्रह्म ज्ञान से भी रहित हो और जिसके यज्ञ में देवता भी संतुष्ट नहीं हो उसको स्वर्ग लोक प्रसिद्ध है उसकी प्राप्ति होती है, वहां आत्मसुख का नाम स्वर्ग कैसे संभव हो सकता है, ऐसे संदेह में शाखान्तर में प्रसिद्ध जो वाक्य शेष है उससे निर्णय करते हैं। वाक्याशेषादिति जो दुःख सहित नहीं हो जिस सुख को कालग्रास नहीं कर सकता है जो सुख अभिलाषा से प्राप्त हो जाय ऐसा जो सुख है वह स्वर्गपद का अर्थ है **"देवासुराः संयत्ता आसन्"** इत्यादि श्रुतियों में स्वर्ग में स्पर्धा आदि होना लिखा है इसलिये स्पर्धा ईर्ष्या आदि दुःख होने से स्वर्ग का सुख भी दुःख सहित ही है। लौकिक सुख भी काल से ग्रस्त है तथा दुःख सहित है तथा अभिलाषा से प्राप्त नहीं हो किन्तु प्रयत्न से ही प्राप्त होता है, ऐसे ही परमात्मा का आनन्द है वह भी जीव की अभिलाषा से प्राप्त नहीं होता है वह ईश्वराधीन है। ईश्वर जिसको देना चाहे उसको मिलता है। इसलिये दुःख रहित कालग्रास सहित अभिलाषा से प्राप्त होने वाला ऐसा आत्म सुख अर्थात् अन्तः करण का आनन्द ही है वही स्वर्ग पद का अर्थ हो सकता है।

स्पर्द्धासूयादिदुःखानि स्वर्गिणां स्युः सदा ध्रुवम्।।

प्रवृत्तिमार्ग निष्ठत्वान्न ध्रुवोपरि तद्गतिः।।

न च स्वर्गादिलोकेषु वाक्यशेषोक्तमीर्यते।।६।।

अत आत्मसुखं वाक्ये वाच्यं तत्सत्वतोभवेत्।।

शुद्धे सत्वगुणोद्भेदः स्वर्गः सत्वगुणोदयः।।७।।

शंका – स्वर्ग शब्द से आत्म सुख का ग्रहण करते हो वैसे स्वर्ग शब्द से ब्रह्म लोक का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि पहले कहा दोष ब्रह्मलोक में नहीं है।

उत्तर – 'प्रवृत्तिमार्ग निष्ठत्वादिति' ब्रह्मलोक दो हैं जो प्रवृत्तिमार्गीयों के जाने योग्य है वह क्षयादि दोष वाला है, इन्द्रद्युम्न राजा ने मार्कण्डेय तालजंघादि ऋषियों से पूछा मेरा यश पृथ्वी में है या नहीं ? उननें कहा राजा! हमको खबर नहीं है यह सुनकर राजा को भय हुआ कि मेरा यश नहीं होगा तो मैं ब्रह्मलोक से गिर जाऊँगा फिर राजा ने बहुत कल्प जीवी कूर्म (कछुआ) से पूछा उसने कहा तेरा यश है तब राजा ब्रह्म लोक

में गया, ये वार्ता स्कन्द कुमारिका ख़ण्ड में प्रसिद्ध है, इसलिये ब्रह्मलोक नाशवाली है इससे स्वर्ग शब्द वाच्य हो नहीं सकती है और जो अक्षय ब्रह्मलोक है उसमें योगयुक्त ब्रह्मज्ञानी परिव्राट् तथा रण में सन्मुख मरने वाला ये दोनों सूर्य मण्डल को भेद कर के जाते हैं अथवा जो ब्रह्म ज्ञानी कर्म करते हैं वह क्रम मुक्ति मार्ग से ध्रुव के ऊपर होकर जाते हैं इस अक्षय सत्य लोक में प्रवृत्ति मार्ग वाला मध्यमाधिकारी नहीं जा सकता है। इसलिये मध्यमाधिकारी के लिये स्वर्ग शब्द से आत्म सुख का ही ग्रहण करना। ऐसे ही इन्द्र लोक भी दुःख मिश्रित सुख वाला है उससे वह भी स्वर्गपद का अर्थ नहीं हो सकता है। वहां आत्मसुख से अन्तः करण के सुख का ही ग्रहण करना इसी को **"स्वर्गः सत्व गुणोदयः"** इत्यादि वाक्य में भगवान् के अन्तः करण के सुख का साधन जो सत्वगुण का उदय है उसको स्वर्ग कहा है, सत्वगुण बढता है तब आत्म सुख होता है और अन्तः करण शुद्ध होने से सत्व गुण बढता है। अग्नि होत्र दर्शपूर्ण मास चतुर्मास्य पशु सोम इन पांचकर्म की प्रवृत्ति से अन्तः करण शुद्ध होता है।

अतस्तदेव हि फलं कामाभावेऽपि सिद्ध्यति।।
यागादेर्भगवद्रूपात्का मितं फलति स्फुटम्।।८।।
श्लिष्टप्रयोगाद्वेदस्य परोक्षकथनं मतम्।।
बालानुशासनार्थाय रोचनार्थं तथा वचः।।९।।

अर्थात् वर्ष के वर्ष (प्रतिवर्ष) सोम यज्ञ किया जाता है, छः महिना में पशु याग किया जाता है, नित्य अग्निहोत्र किया जाय, इस प्रकार बारंबार आवृत्ति करने से अन्तःकरण शुद्धि की कामना जानकर रखी जाय, तब भी कर्म के स्वभाव से ही अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। जैसे तृप्ति की कामना नहीं रखकर के भी जो भोजन किया जाय तो तृप्ति स्वतः हो जाती है।

शंका – प्रकृति अग्नि होत्रादिकों से अन्तःकरण शुद्धिरूप कार्य होने में कामना की अपेक्षा नहीं है तो विकृति कारीर्यादियाग में कामना की अपेक्षा क्यों होनी चाहिये तथा प्रकृतियाग अन्तः करण की शुद्धि के प्रति कारण है तो कामना वाले हीनाधिकारी की भी अन्तः करण की शुद्धि होनी चाहिये। उसको आधिभौतिक यज्ञ करके वांछित स्वर्गलोकादिकों की प्राप्ति कैसे हो जाती है?

उत्तर – 'यागादेरिति' यागादिक भगवान् का रूप है, भगवान् सब फलके दाता हैं इसलिये कामना के अनुसार फल देते हैं अर्थात् नित्ययाग अग्नि होत्रादिकों में तो **"यावज्जीवं अग्निहोत्रं जुहुयात्"** इत्यादि वाक्य नियामक है इसलिये वेद की आज्ञा से प्रवृति होगी परन्तु वृष्टि पुत्रादिकों के लिये किये जाय, जो कारीरी आदियाग हैं उनमें तो कामना से ही प्रवृत्ति होती है, यदि उनसे कामना सिद्ध नहीं हो तो विश्वास नहीं रहेगा फिर किसी की प्रवृत्ति नहीं होगी तथा पूर्व काण्ड उच्छिन्न हो जायगा।

शंका – **''सुवर्गाय वा लोकाय हूयन्ते''** इत्यादि अनेक वाक्यों से स्वर्ग लोक का ही नाम स्वर्ग लोक है यहां स्वर्ग नाम से आत्म सुख कैसे कहते हो।

उत्तर – अंगों में स्वर्ग लोक लिखा है **''सोमेनयजेत् स्वर्ग कामः''** इत्यादि मुख्य वाक्यों में केवल स्वर्ग लिखा है, वाक्य शेष से भी आत्मसुख का ही वाचक स्वर्ग मालुम होता है। **''स्वर्गः सत्वगुणोदयः''** इत्यादि भगवद् वाक्य से भी आत्म सुख ही स्वर्ग शब्द का अर्थ निःसंदेह मालुम पड़ता है, परन्तु लोक में हीनांधिकारियों को स्वर्ग प्राप्त हो जाता है इसलिये स्वर्ग शब्द के दोनों ही अर्थ है। कदाचित् कहोगे वेद में ऐसा संदेह क्यों रखा, संदेह रहित स्वर्ग शब्द उच्चारण क्यों नहीं किया वहां कहते हैं संदेह सहित स्वर्ग शब्द का जो प्रयोग है वह परोक्ष कथन के लिये है। परोक्ष कथन बालानु शासनार्थ है अर्थात् हीनाधिकारियों की रूचि बढाने के लिये है।

पशुबंधयाजी सर्वांल्लोकानाप्नोति निश्चयः।।
अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्भवति।।
अक्षय्यं सर्वलोकाख्यमात्मरूपं न चान्यथा।।
नित्ये स्वर्गफलं नान्यत्पश्वादिर्विकृतौ फलम्।।११।।
रूपं तदेव विकृतेः किंचित्साधनमन्यथा।।
विकृताद्धि हरेः किंचिद्विकृतम्फलमीर्यते।।१२।।

प्रकृतिरूप जो नित्य पांचकर्म बताये उनमें तीन कर्म का स्वर्ग फल लिखा है, चातुर्मास्य का अक्षय सुकृत तथा पशु बन्ध यज्ञ का सर्वलोक जब फल लिखा है। अब यहां वाक्य शेषकर पांचों नित्यकर्मों का आत्म सुखरुप एक ही फल मानें तब तो एक वाक्यता हो सकती है। जो लोकान्तर वाचक स्वर्गादि शब्दों को मानें तो पृथक्-पृथक् फल होने से एक वाक्यता नहीं हो सकेगी, इस कारण से भी स्वर्ग शब्द से आत्म सुख का ही ग्रहण करना अब उपसंहार करते हैं नित्य यज्ञ का स्वर्ग फल है। बाल जो ब्रह्मज्ञान रहित आधिभौतिक यज्ञ करने वाला है उसको इन्द्रादिलोकरूप स्वर्ग मिलता है तथा आध्यात्मिक यज्ञ करने वाले हैं उसको आत्म सुख रूप स्वर्ग मिलता है अबाल जो ब्रह्मज्ञानी आधिदैविक यज्ञ करने वाला है उसको पर ब्रह्म पुरुषोत्तमानन्द की प्राप्ति होती है। पशु धनादिकों की प्राप्ति तो नित्य यज्ञ का फल नहीं है विकृत्ति यज्ञों का फल है वहां विकृति यज्ञ कैसे फ़ल देते होंगे यह शंका नहीं करनी चाहिये। **''रूपन्तदेवेत्ति''** विकृतिरूप यज्ञ भी भगवान् का ही स्वरूप है इस फल देने में कुछ आश्चर्य नहीं है, प्रकृति यज्ञ जो अग्नि होत्रादिक हैं वे ही साधन के थोड़े अन्तर से विकृतिरूप हो जाते हैं। जैसे प्रकृति यज्ञ में जो जल को चमसकर के लाना, पशु की कामना हों तो दुग्ध दोहने के पात्र से जल लावे, प्रतिष्ठा की कामना हो तो मिट्टी के पात्र में जल लावे और सब कर्म वैसा ही करे इत्यादि थोड़े से विकार से विकृतिरूप हो जाता है। परन्तु ये विकार वेदोक्त है। इसलिये फल है। वेद मे

तो नहीं लिखा है, स्वेच्छा से ही चमस जल नहीं लावे और पीतल के पात्र आदि से जल लावे तो प्रकृतिरूप तथा विकृतिरूप इन दोनों में से एकरूप नहीं हो तो परिश्रम निष्फल हो जाता है और विकृतियाग से विकृत ही फल होता है, नित्यफल नहीं होता है।

नित्यकर्म प्राप्तिसिद्धयर्थं काम्यादीनां विधिः श्रुतौ।।
पशुपुत्राद्यभावेपि न नित्यङ्कर्म सिध्यति।।१३।।
अङ्गेऽपि तत्फलं नित्ये ज्ञानादिभिरूदीर्यते।।
यथा कथंचिन्नित्यस्य सिद्धिर्वेदेन बोध्यते।।१४।।
ध्यानादिभिर्यथामूर्तेरभिव्यक्तिः परात्मनः।।
आधानादिक्रियातोभिव्यक्तिर्यज्ञस्वरूपिणः।।१५।।

शंका – वेद में पशु पुत्रादिक तुच्छफल देने वाले विकृतिरूप यज्ञ का क्यों वर्णन किया उसका उत्तर देते हैं। **''नित्यकर्मेति''** पशु पुत्रादिक नहीं हो तो नित्य अग्नि होत्रादि कर्म नहीं बन सकते हैं तथा पुत्रादिक इस लोक के फल सिद्ध नहीं हो तो परलोक के बिना देखे स्वर्गादि फल में से विश्वास चला जायेगा। तो कोई वेद के कर्म में प्रवृत्त नहीं होंगा। इसलिये पशु पुत्रादिक विकृत फल भी वेद से सिद्ध होता है। ऐसा श्रुति का अभिप्राय है उसमें क्या प्रमाण है वहां कहते हैं ऐसा वेद का अभिप्राय नहीं हो तो नित्यकर्म के अंग जो अपःप्रणयादिक हैं उनके पशु प्रतिष्ठा आदि फल क्यों बतलाते क्योंकि एककर्म के दो फल नहीं हो सकते हैं इसलिये सांगनित्य कर्म की भी यजमान जो पशु पुत्रादिक की कामना से एक आवृति करे तो वह भी फल सिद्ध होता है। ऐसे ही कामना करके ज्ञान को सिद्ध करे तो ज्ञान से भी पशु आदि की प्राप्ति हो **''एवं वेद पशुमान भवति''** परन्तु कामनार्थ हो वह ज्ञानकर्म का अंग है, विकृतियाग के फल को सिद्ध नहीं कर सकता है और प्रकृतियाग के तो अंग भी विकृतियाग के मुख्य फल देने वाले कहे हैं यही प्रकृति का आधिक्य है इसलिये स्वतन्त्रता से पशु पुत्रादिक फल नहीं है किन्तु जैसे बने वैसे नित्य अविकृत अग्नि होत्रादिक पंचात्मक भगवान् की सिद्धि ही वेद ने बतलाई है।

शंका – यज्ञादिक तो हमारी कृति से सिद्ध होते हैं अर्थात् हमारे बनाये हैं ये नित्य कैसे हो सकते हैं।

उत्तर – 'ध्यानादिभिरिति' जैसे ध्यान धारणादिक से आनन्द रूप भगवान् मूर्ति में प्रकट हो जाते हैं वैसे अग्निस्थापन से आदि लेकर यज्ञ पूर्ण होता है, जहां तक ध्यानादिकों के सहित जो वेद की बताई हुई देह चेष्टारूप क्रिया से यज्ञ रूपी भगवान् प्रकट होते हैं। अर्थात् नित्य सर्वदा विद्यमान जो यज्ञ भगवान् है उनको वैदिक क्रिया करके प्रकट होना मात्र ही उनकी उत्पत्ति नहीं है। ऐसे व्याख्यान करने का अभिप्राय वर्णन करते हैं।

दुःखाभावः सुखं चैव पुरुषार्थद्वयं मतम्।।
मोक्षः कामस्तयोरंगं धर्मो ह्यर्थेन साधितः ।।१६।।

"दुःखाभावइति" वेद पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाला है। पुरुषार्थ चार प्रकार के हैं वहां साक्षात् पुरुषार्थ दो हैं। दुःख भाव दुःख नहीं होना, सुख का प्राप्त होना वहां स्वर्ग अक्षय्य सर्वलोकादि पदों से सुख कहा है, मोक्ष अमृत आदि पदों से दुःखाभाव कहा है, इन दोनों की प्राप्ति धर्म से होती है वहां **"अयं हि परमो धर्मो यद्यौगेनात्मचिन्तनम्"** इस वाक्य से ज्ञान भी धर्म में ही गतार्थ है, इसीलिये ज्ञान की पृथक् पुरुषार्थ में गणना नहीं है। धर्म का सिद्ध करने वाला अर्थ है इस प्रकार साक्षात् परम्परा के चार पुरूषार्थ है।

यहां धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरुषार्थों में से काम नाम सुख का है, मोक्षनाम सर्वथा दुःख दूर होने से कहा है, वहां पशु पुत्रादिक अर्थ यज्ञ रूप धर्म का सिद्ध करने वाला है, ज्ञान सहित यज्ञ रूप धर्म स्वर्ग रूप काम का सिद्ध करने वाला है और ज्ञान सहित यज्ञ दुःखाभाव रूप मोक्ष का सिद्ध करने वाला है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त अनुरागी मनुष्य कामना सिद्धि के लिये काम्य कर्मो को करेगा उसकी कामना सिद्ध होने से उसका धर्म में विश्वास होगा, फिर लौकिक सुख दुःखों को अनित्य देखकर सकाम कर्मों को छोड़कर नित्यफल प्राप्ति के लिये नित्यकर्म करेगा, ज्ञानयुक्त नित्य कर्म करके परब्रह्म प्राप्ति होगी।

साधनंच फलंचैव हरिर्वेदे निरूप्यते।।
तदभिव्यक्तितः सर्वं पुरुषार्थस्वरूपतः।।१७।।
रूपप्रपंचकरणादासक्त : स्वांशवारणे।।
श्रुतिमात्मप्रसादाय चकारात्मानमेव सः।।१८।।

वेद में साध्य साधन रूप से हरि का निरूपण किया है, वेदानुसार बर्ताव करने से साध्य साधन रूप भगवान् के प्रकट होने से सब पुरुषार्थ सिद्ध होता है क्योंकि भगवान् ही पुरूषार्थ स्वरूप है। इस प्रकार वेद के अर्थ का निरूपण करके वेद के **"रूपेति"** भगवान् का जगत् रूप बड़ा विचित्र है, इस विचित्र जगत् में अल्प भंगवदंश जीवों का भ्रम हो जाता है उस भ्रम के दूर करने के लिये श्रुति वेदरूप करके भगवान् ही प्रकट हुए वहां अन्तर्यामी रूप करके ही जीव का भ्रम क्यों नहीं दूर किया यह शंका नहीं करना क्योंकि जीव तथा अन्तर्यामी वे दोनों भोगने के लिये हृदय में पहले से ही प्रविष्ट हो रहे हैं वहां भोग करके हुई जो चित्त की मलिनता है उसको भीतर स्थित अन्तर्यामी दूर नहीं कर सके हैं उससे भीतर हृदय में प्रवेश को समर्थ ऐसे बाहर स्थित वेद रूप से प्रकट होकर चित्त प्रसन्न होने के लिये भ्रम दूर करते हैं यही वेद का प्रयोजन है।

इति नित्यः श्रुतेरर्थः सात्विकानाम्प्रकाशते।।
उत्पन्ना स्त्रिविधा जीवा देवदानव मानवाः।।१९।।

वेद के पाठ करने से धर्मादिक की सिद्धि होती है ये नित्य प्रयोजन है अथवा श्री वल्लभाचार्य जी वेदार्थरूप जो पंचात्मक भगवान् है उनका निरूपण करके सदोष जीवों को इस प्रकार वेदार्थ मालुम नहीं पड़ता है किन्तु सात्विक जीवों को ही अर्थ प्रकाश्यमान होता है और को नहीं होता है वहां सब जीव भगवान् के अंश हैं यह कैसे मालुम हो यह सात्विक है ये जीव सात्विक नहीं है। वहां व्यवस्था करते हैं। **''उत्पन्नेति''** जब भगवान् की क्रीडा के लिये बहुत होकर के प्रकट होने की इच्छा हुई तब चिदंश जीव आपके स्वरूप से प्रकट हुए वे सब जीव तुल्य ही नहीं हो जायं इसके लिये त्रिविधजीव प्रकट किये। अन्यथा तामस वस्तुओं का भोग नहीं होगा इसी से श्रुति में **''त्रयःप्राजापत्याः''** इस वाक्य में देवमनुष्य असुर तीन प्रकार के जीव गिने हैं। नारद पंचरात्र में भी तीन प्रकार के ही जीव लिखे हैं। वहां दैव जीव तथा मनुष्यों में से उत्तम जीव मुक्ति योग्य हैं, मनुष्यों में से मध्यमजीव संसार के जीव योग्य हैं, मनुष्य में भी अधमजीव नरक के लिये हैं, असुरजीव तामिस्र अन्धतामिस्र में लय होने के लिये है।

सर्वे वेदविदो जाताः स्वभावगुणभेदतः।।

तेषाम्प्रकृतिवैचित्र्याच्छुत्यर्थो बहुधोदितः।।२०।।

भावस्याज्ञानतः कर्म्ममात्रङ्केचिद्वदन्ति हि।।

लोकप्रतीतं स्वीकृत्य कदाचिद्भगवान् वदेत्।।२१।।

उन त्रिविध जीवों के अन्तःकरण भी गुणों के अनुसार अलग-अलग है इसलिये ये सब जीव वेद के अर्थ को यथार्थ सुनकर जब अपने मुख से वर्णन करते हैं तब अपनी रूचि के अनुसार अलग-अलग वेदार्थ वर्णन करते हैं क्योंकि इनके स्वभाव गुणों के भेद से वेदार्थ बहुत प्रकार का हो जाता है। उन प्रकारों को कहते हैं **''भावस्येति''** उन प्रकारों का वर्णन भागवत के एकादश स्कंध में **''धर्ममेके यश श्चान्ये''** इत्यादि लोक में है। उपक्रम उपसंहार करके प्रकरणार्थ का बिना जाने केवल वाक्यार्थ का अनुभव करके क्रियामात्र वेदार्थ है ऐसे कितने ही कहते हैं।

शंका - जैमिन्यादि महर्षि भगवान् के अनुगुण हैं भगवान् सब मार्ग के प्रवर्तक है इसलिये कर्ममार्ग के वक्ताओं का भी अनुसरण करते हैं। जैसे **''एवन्त्रयी धर्ममनुप्रपन्नाः''** इत्यादि स्थलों में। इसलिये भगवान् योगादिको का प्रचार होने के लिये और प्रकार से किये श्रुत्यर्थ की निंदा करके लौकिकी क्रिया ही वेदार्थ है स्वर्ग लोकादिक की प्राप्ति फल है। इस रीति से साधारण जन प्रतीति को वेदार्थ बताते हैं इसस बड़े ऋषि भी भगवदुक्त का निवारण नहीं करते हैं।

फलन्तु सर्वमेवात्र तदंशत्वाद्भविष्यति।।

अतः कामनिषेधो हि क्वचिद्भगवतोदितः।।२२।।

यथोक्तह्यपुनर्जन्म ह्यन्यथा पुनरूद्भवः।।

तदचिरादि धूमादिमार्गद्वयमुदीरितम्।।

वैराग्यार्थं तदप्युक्तं पंचाग्निख्यापने श्रुतौ।।२३।।

यद्यपि नित्य फल में ही वेद का तात्पर्य है तथापि वैसे अधिकारी का अनित्य काम्य फल में भी अन्तर नहीं आता है क्योंकि याग भगवदंश है इसलिये सब अभिलषित फल भी हो जाता है। वह फल नित्य नहीं है परन्तु इस प्रकार के लोकसिद्ध वेदार्थ नहीं है। जो क्रियामात्र ही वेदार्थ हो तो स्वर्ग लोकादिक ही मात्र फल हो तब तो **"एतान्य पितुकर्माणि संगं त्यत्वा फलानि च"** इत्यादि गीता वाक्य में कामना का निषेध करके कर्म का उपदेश नहीं करते। शंका – वेद का अर्थ एक ही हो तो फल रूप मार्ग अलग-अलग क्यों होने चाहिये, जैसे श्रद्धा तपश्चर्या इष्टापूर्ति आदिकों के फल रूप अर्चिरादि मार्ग से जीव सूर्य लोक में होकर गया फिर नहीं आता है। धूमादि मार्ग जिस मार्ग से गया हो, जीव चन्द्रलोक में जाता है और धर्मक्षय होने से पुनः चला आता है तथा तीसरा मार्ग छान्दोग्य उपनिषद में लिखा हैं इसलिये वेद ही पृथक्-पृथक् साधन बताते हैं तब आत्मसुख की प्राप्ति तथा नित्यकर्म की प्रवृत्ति करने में ही वेद का तात्पर्य है। यह बात कैसे हो सकती है।

उत्तर – वेद के अनुसार से दो मार्ग नहीं हैं किन्तु वेदोक्तमार्ग तो एक ही है, ज्ञान सहित यथार्थ कर्म करके जिस मार्ग में गया जीव पुनः जन्म नहीं ग्रहण करता है और जो जीव यथार्थ ज्ञान बिना कर्म करता है उसका फिर जन्म होता है। ऐसे ही ज्ञान रहित सकाम कर्म करने वालों को सृष्टि वृद्धि के लिये **"जायस्व म्रियस्व"** इतिवाक्यानुसार अपने ही वश में बारम्बार जन्म मरण को प्राप्त होना पड़ता है इसी के अभिप्राय को विचार कर शास्त्रकार ने तथा भगवान् ने भी गीता में दो मार्ग का वर्णन किया है परन्तु वेद का साक्षात् अभिप्राय दो मार्ग नहीं है। वेद का अभिप्राय तो यथार्थ ज्ञान से कर्म करवा करके **"अपुनर्भव"** फिर जन्म नहीं हो ऐसे अर्चिरादिमार्ग में जीव का प्रवेश कराने में है। अब जो जीव यथार्थ ज्ञान से कर्म नहीं करते हैं उसको पुण्यरूप होने से पुनः जन्म लेना पड़ता है। वहां शंका होती है धूमादिमार्ग का वेद में क्यों वर्णन किया है यदि कहोगे धूमादि मार्ग वेद से विहित नहीं है उसका यह उत्तर है जो विधान नहीं है तो केवल भ्रममात्र से जाने हुए मार्ग का फल कैसे हो जाता है उसका उत्तर देते हैं **"वैराग्यार्थमिति"** भ्रम से प्रतिपन्न भी धूमादिमार्ग वेद में वैराग्य होने के लिये कहा है अर्थात् बारम्बार जन्ममरणादि क्लेश देखकर वैराग्य आयेगा तब नित्यकर्म करने में प्रवृत्त होगा। इसके लिये पंचानिविद्या के उपासकों के फल सिद्ध होने के लिये कहा है। जैसे अग्नि की स्तुति के लिये **"धन्वन्निव प्रपा असि"** इत्यादिकों में लोक सिद्ध मारवाड देश की प्याऊ का अनुवाद है जैसे भ्रमसिद्ध धर्मादिमार्ग का भी वेद में वैराग्य होने के लिये अनुवाद है इसी से पशु पुत्रादिक तथा स्वर्गादिकों में ही वेद का तात्पर्य है इस रीति से जिनको भ्रम है उनकी गीताजी में **"वेदवादरतापार्थ" कामात्मानःस्वर्गपराः"** इत्यादि श्लोक में निन्दा लिखी है। भ्रम सिद्धि की उक्ति तो अत्यन्त विमुख

अनुरागी मनुष्यों को किसी प्रकार से सन्मार्ग में प्रवृत्ति करने के लिये जब न फलों से उसकी तृष्णा मिट जायगी तब तुच्छ समझकर उनसे वैराग्य हो जायगा। उसके पश्चात् जन्ममरण छूटने के लिये नित्यकर्म में प्रवृत्त होगा। तात्पर्य से सिद्ध हुवा कि अनेक प्रकार के विकृत्ति याग तथा अनेक फलों का निरूपण वेद में किया है वह पंचात्मक नित्यकर्म में प्रवृत्ति के लिये ही किया है।

बहुप्रकारमेकं हि कर्म वेदे प्रकाश्यते।।
भगवन्मूर्त्तितासिद्धयै ते सर्वे पूर्वजैर्धृताः।।२४।।
अल्पज्ञत्वादाधुनिकाः पाठज्ञानाक्षमा द्विजाः।।
मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः।।२५।।
द्वापरान्ते हरिव्यासास्तदर्थम्प्रथमं पृथक्।।
चातुर्होत्रविभागेन न्यस्तवान् वेदरूपतः।।
शाखाभेदास्तु तच्छिष्यैस्तेनैव प्रेरितैः कृताः।।२६।।

ऐसे वेद तथा वेदार्थ का निर्णय करके शाखा भेदों का स्वरूप तथा उनका प्रयोजन कहते हैं **''बहुप्रकारमिति''** जैसा भगवान् सहस्र मूर्ति वाले हैं वैसे ज्योतिष्टोमरूप यज्ञात्मक भगवान् भी सहस्र मूर्ति वाले हैं। जिसने वेद के भाग से एक मूर्ति का वर्णन हो सके यह वेद भाग शाखा कहलाता है। सबको सब शाखाओं का ज्ञान नहीं है इसलिये सामान्य धर्म के प्रतिशाखा वर्णन करने में पुनरूक्तिदोष नहीं समझना यज्ञों में भगवद् बुद्धि होने के लिये अनेक रूप में यज्ञ भगवान् का वर्णन किया है। मरीचिभृगु आदि ऋषिओं ने तो जितने जितने विशेष प्रकार थे सब साधारण कर रखे थे। अभी के मनुष्यों की वैसी सामर्थ्य नहीं है जिससे शाखा विभाग करके एक विशेष प्रकार का एक-एक शाखा में वर्णन किया है। वहां एक मूर्ति जितने वेद भाग में वर्णन किया है उतने को भी पढ़ना दुर्लभ है, प्रथम में व्यास जी ने चार प्रकार की मूर्ति वाले भगवान् का एक चौथा अंश जितने वेद का प्रतिपादन किया जाता है उतना अंश पृथक् करके एक वेद के चारभाग किये, वे भाग ऋगवेद, अर्थवेद, यजुर्वेद, सामवेद नाम से प्रसिद्ध हैं।

ऐसे विभाग को सहस्र मूर्ति होने में उपयोग है। यज्ञ की सहस्र मूर्तियों में एक मूर्ति जिस वेद के जितने अंश करके सिद्ध होता है वह अंश उसी वेद की शाखा कहलाती है। इस रीति से विभाग व्यास जी के शिष्यों ने किये हैं।

प्रकार भेदेपूर्वन्तु विकल्पो ह्यैच्छिकोमतः।।
अधुना नियतः शाखाभेदात्तत्तदधीतिषु।।२७।।
कर्म्मवद्ब्रह्म भेदांश्च गीयन्ते बहुधर्षिभिः।।
तेषांभिन्नतया पाठे उच्छेदो भवतीतिहि।।
कर्म शाखामताश्चक्रे निर्णयः पृथगेव हि।।२८।।

अभी अनुष्ठान किस रीति से करना, यज्ञ तो सहस्र मूर्ति वाला है किस मूर्ति का अनुष्ठान करना चाहिये अथवा अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जिस शाखा के अनुसार यज्ञ भगवान् की एक मूर्ति का अनुष्ठान कर लेना ऐसा संदेह प्राप्त हुआ वहां निर्णय करते हैं। **"प्रकार भेद इति"** ब्रह्मादिक तो अपनी इच्छा के अनुसार ही सहस्र मूर्ति वाले यज्ञ भगवान् का अनुष्ठान करते हैं क्योंकि उनमें सहस्र प्रकार ही धारण कर रखे हैं। आधुनिक जीव तो अल्पायुष्य वाले मन्द बुद्धि वाले हैं इसलिये सहस्र मूर्तियों में से एक ही मूर्ति का अनुष्ठान कर सकते हैं तथा जिस शाखा का अध्ययन परम्परा से चला आता हो उस शाखा में जिस प्रकार की यज्ञ मूर्ति का वर्णन हो उसके अनुसार उस यज्ञ मूर्ति का ही अनुष्ठान करना। अभी के काल में यही नियम है, पुरुष के छः अंग होते हैं, चरण, हस्त, (मध्यभाग) धड़, मस्तक उनमे से पांच अंग का तो पूर्व काण्ड में वर्णन आया है। छटा अंग जो शिर है उसका प्रतिपादन करने वाले उत्तर काण्ड का उपनिषद भाग है जैसे पूर्वकांडोक्त पांच अंग अनन्त रूप है वैसे ही उत्तरकांड वेदान्त में वर्णन किया है जो ब्रह्म है वह भी अनंतरूप है। अर्थात् जैसे हस्त पादादिक हजारों है वैसे मस्तक भी हजारों हैं। **"कर्मवदिति"** ये अलौकिक हैं जैसे पृथक्-पृथक् शाखांओं से कर्म के अनेक भेद हैं वैसे अलग-अलग उपनिषदों में ब्रह्म भी अनन्त रूप वाला प्रतिपादित किया है। केवल पूर्वकाण्ड के अध्ययन मात्र से अपनी संपूर्ण शाखा का अध्ययन हुआ नहीं कहाता है, जो ऐसे हो तो उत्तर काण्डात्मक उपनिषदों को अध्ययन की पृथक् विधि नंहीं होने के कारण से कोई भी उपनिषदों को नहीं पढ़ेगे तो उपनिषदों का (उच्छेद) तिरोभाव हो जायेगा। इसलिये दोनों काण्डों का एक ही प्रयोजन कहना चाहिये अन्यथा एक वाक्यता नहीं होगी और वेद भी दोनों काण्ड का ही नाम है।

असन्दिग्धोऽपि वेदार्थः स्थूणाखननवत्कृतः।।
मीमांसानिर्णयः प्राज्ञैर्दुर्बुद्धेस्तु ततो द्वयम्।।२९।।
जैमिनिः कर्मतत्वज्ञो निर्णयम्पूर्व उक्तवान्।।
व्यासः स्वयं हि सर्वज्ञ उत्तरे निर्णयं जगौ।।३०।।

पूर्व काण्ड के साथ उत्तर काण्ड का अध्ययन होने के लिये दोनों काण्डों की एक वाक्यता है, निर्णय तो उत्तर काण्ड का व्यासजी ने अलग ही किया है इसलिये प्रयोजन अलग है- तथा वाक्य भेद भी है। परन्तु **"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"** इत्यादि श्रुति में वेद के अध्ययन में उपनिषदों का भी ग्रहण है इसलिये उत्तरकाण्ड का भी अर्थ ज्ञान पर्यन्त अध्ययन करना, जो अर्थ जाने बिना पाठ मात्र से ही अध्ययन सिद्ध हो जाता है। तो मूल के पाठ में किसी को भी संदेह नहीं होगा। तब तो ब्रह्म सूत्रों के द्वारा किया गया निर्णय व्यर्थ ही जायेगा। इसलिये उपनिषदों को अर्थ सहित पढना। दोनों काण्ड भिन्न हैं परन्तु एक ही स्थान में पढे है वह एकदेश के द्वारा परस्पर उपकार होने के लिये पढे हैं, अर्थात् वेदान्त के द्वारा जीव नित्य हैं ऐसा ज्ञान हो तब दूसरे जन्म में स्वर्गादिक प्राप्ति होने के लिये यज्ञादि कर्म में विश्वास हो यह ही वेदान्त का पूर्वकाण्ड में उपकार

है। ऐसे ही आधि भौतिक यज्ञों से आनुषंगिक चित्त शुद्धि हो तब वेदान्त का ज्ञान स्थिर हो यही पूर्व काण्ड का वेदान्त में उपकार है तथापि उपनिषदों का मुख्यार्थ सिद्ध नहीं हुआ तब व्यासजी ने ब्रह्म सूत्र बनाकर मुख्यार्थ सिद्ध करने के लिये पृथक् निर्णय किया।

प्रश्न – अर्थज्ञान से ही वेद का संदेह दूर हो जायगा, जैमिनि ऋषि तथा व्यासजी ने दोनों मीमांसा सूत्र क्यों बनाये।

उत्तर – पाठ समय में सन्देह नहीं है तथापि कालान्तर में संदेह अवश्य होगा तब प्रातिशाख्य भाष्य द्वारा जैसे शब्दों के संदेह दूर किये जाते है वैसे अर्थ का संदेह मीमांसा द्वारा दूर होगा।

गाडी गयी थूणी भी दृढता के लिये फिर उखाडकर गाडी जाती है। ऐसे ही उत्तमाधिकारियों के हृदय में निःसंदेह वेदार्थ है उसमें भी सन्देह उत्पन्न कर दृढता होने के लिये सूत्रों द्वारा निर्णयकारों ने निर्णय किया है और जिनके हृदय में संदेह है ऐसे जो हीनाधिकारी तथा मध्यमाधिकारी उनके तो संदेह मीमांसा सूत्रों के द्वारा ही दूर होता है तथा दृढता भी होती है।

जैमिनि कर्म तत्व के जानने वाले हैं उनसे पूर्व काण्ड का निर्णय जैमिनि ऋषि ने किया और व्यासजी सर्वज्ञ हैं उनसे उत्तर काण्ड का निर्णय व्यास जी ने स्वयं ही किया है।

उभयोर्हि परिज्ञाने सर्ववेदार्थ निर्णयः।।
निर्णयो बहुभिर्नष्टः पश्चाद्वक्ष्ये तयोर्गतिम्।।३१।।
पुरुषो विहितः पोढा करौ पादौ शिरोऽन्तरम्।।
शिरो ब्रह्म हरिः पूर्वं यज्ञः पंचविधः स्वयम्।।
अनन्तमूर्तिभगवान् तेन शाखास्तथा कृताः।।३२।।

वेदान्त निर्णय अल्पज्ञ नहीं कर सकते हैं इसलिये सर्वज्ञ वेद व्यासजी ने उत्तरकाण्ड का निर्णय किया उसमें समस्त वेद का अर्थ जानने के लिये दोनों मीमांसा सूत्रों का ज्ञान आवश्यक है।

शंका – निर्णय करने वाले सूत्र विद्यमान हैं फिर जीवों को वेदार्थज्ञान तथा भगवान् के भजन में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है।

उत्तर – "निर्णयो बहुभिर्नष्टः" इति श्रुति सूत्रों का तात्पर्य बिना विचारे स्वेच्छा से व्याख्यान करने वालों ने निर्णय बिगाड दिया है तब अभी के मनुष्यों का विस्तार कैसे हो वहां विस्तार होने के प्रकार आगे **"वर्णाश्रमवतान्धर्मः"** इत्यादि श्लोको में कहेंगे। अंगो को स्पष्ट कहते हैं। दर्शपूर्णमास दोनों हस्त हैं, पशुयज्ञ चातुर्मास दोनों चरण हैं, सोमयज्ञ मध्यभाग (धड) है, ब्रह्मरूप हरि मस्तक है, ये संपूर्ण पुरुष अनन्त मूर्तिवाला है। जिसके अनन्त शाखा है। इसी कारण सब वेद प्रमाण है। इति वेद निर्णयः।

अथ स्मृति प्रकरणम्

स्मृतिर्बहुविधा प्रोक्ता वेदाचार विभेदतः।।
ऋषिणां पूर्वचरितस्मरणं स्मृतिरूच्यते।।३३।।
तदाचाराल्लोकतश्च न्यायान्नित्यानुमैयतः।।
प्रवृत्तिर्जीविका लोके व्यवहारो विशुद्धता।।३४।।

"श्रीकृष्णाय नमः" अर्थ वेदार्थ का निर्णय करके स्मृतियों का निर्णय करते हैं। वेद के निर्णय में स्मृति का गतार्थ नहीं हो सकता है। वेद में तो अग्निहोत्र पूर्णमासपशु चातुर्मास्य सोमयाग इन भेदों से पंचात्मक तथा प्रकृति विकृति भेद से दो रूप वाले षडंग साधन सहित भगवान् का वर्णन है ऐसे स्मृति का निर्णय नहीं है किन्तु स्मृति बहुत प्रकार की है। स्मृतियों में वेद भी मूल है और व्यवहार भी मूल है, वेद के तथा सदाचार के भेद करके स्मृति बहुत प्रकार की है। स्मृति के लक्षण कहते हैं **"ऋषिणामिति"** ऋषि लोगों ने पहले के आचरणों का स्मरण करके जो वाक्य है उनका नाम स्मृति है। वहां यह नियम है जिसका अनुभव होता हो उसका ही स्मरण होता है। अनुभव अनेक प्रकार के हैं। पूर्व कल्प में ऋषियों का जैसा आचार था, जैसा लोक का व्यवहार था अलग-अलग देशों के अलग अलग जैसे आचार थे जिस ऋषि ने जैसा अनुभव किया था उसको वैसा ही स्मरण आया उस ऋषि ने वैसा ही अपनी स्मृति में वर्णन किया इससे जिन आचरण में परस्पर विरोध दिखता है उनकी देशभेद करके व्यवस्था समझ लेना जैसे कितनी ही स्मृति वाक्यों में तो ब्राह्मण के दश दिन का क्षत्रिय को बारह दिन का वैश्य को पन्द्रह दिन का शूद्र को महिना भर का सूतक लिखा है, कितने वाक्यों में सभी वर्णो के मनुष्यों के लिये दस दिन का सूतक का लिखा है कितने वाक्यों में सभी वर्णो के मनुष्यों के लिये दस दिन का सूतक लिखा है ऐसे स्थल में देशभेद से व्यवस्था कर लेना अर्थात् जिस देश में पूर्वकाल में जैसा आशौच का प्रचार था उस देश वासियों के लिये ऋषियों ने वैसा ही आशौच वर्णन किया। तात्पर्य यह है कि दोनों पक्ष स्मृति में लिखे हैं इसलिये दोनों ही पक्ष प्रमाण है। जिस देश में सर्व वर्ण में दशदिन के आशौच का प्रचार हो उसी देश के लिये उस वाक्य को समझना। जिस देश में चारों वर्णो में पृथक्-पृथक् आशौच प्रचलित है उसदेश में दस दिन द्वादश दिन पंचदश दिन माहमात्र के आशौच निरूपण करने वाले वाक्यों से व्यवस्था समझना।

ऐसे ही न्याय शास्त्र की स्मृतियों का मूल है अर्थात् चन्द्र, बृहस्पति, शुक्र आदि देवताओं का किया हुआ नीतिशास्त्र भी स्मृति का मूल है। आचार लोक व्यवहार ये तीनों व्यवहाराध्याय के मूलभूत हैं इसलिये व्यवहार के उपयोगी हैं। धर्म में उपयोग वाली स्मृति का वर्णन करते हैं। योग के द्वारा नित्यानुमेय वेद का स्मरण कर के ऋषियों ने जो बात कही है उसको अवश्य करने योग्य समझना। जैसे गृहस्थ सूत्र आचार प्रायश्चित्ताध्यायादिरूप जो स्मृति है उसको यज्ञादिकों के उपयोगी होने से धर्मोपयोगिनी समझना, इन चारों के फल का वर्णन करते हैं। आचार से लोक में प्रवृत्ति होती है प्रकर्ष से स्थिति होती है अर्थात् व्रत तीर्थगमनादि कर्मों का प्रवाह होता

है। लोकव्यवहार मूलक स्मृति के अनुसार बर्ताव करने से जीविका होती है। नीतिशास्त्र मूलक स्मृति के अनुसार बर्ताव करने से व्यवहार चलता है। नित्यानुमेय वेदोक्त स्मृति के अनुसार आचरण करने से चित्त शुद्ध होता है। चित्त शुद्ध करने वाली है इसी से यह स्मृति वेदार्थ में साक्षात् उपकार करने वाली है।

शंका – जिन स्मृतियों में आचार प्रायश्चित्तादिक लिखे हैं उन स्मृतियों का ऋषियों ने प्रत्यक्ष विद्यमान जो वेद है उसी के अनुसार वर्णन किया है ऐसा मानना।

उत्तर – ऐसा हो तो स्मृतियों में जैसे आचार प्रायश्चित्तादिक लिखे हैं वैसे ही प्रत्यक्ष वेद में लिखे दिखने चाहिये वह नहीं दिखाई पड़ता है इसलिये नित्यानुमेय वेद का स्मरण करके ही स्मृति का वर्णन किया है। ऐसा मानना।

शंका – उच्छिन्न प्रच्छन्न अर्थात् लुप्त हो गयी जो वेद की शाखा उनका स्मरण करके स्मृति बनाई है ऐसा मानना।

उत्तर – व्यासजी के आदि से लेकर संपूर्ण वेद के जानने वाले जो जैमिनि आदि ऋषि है उनने भी आचार निरूपक स्मृतियों को अनुमान रूपमानी है स्मृतियों के द्वारा वेद को अनुमेय माना है जो कदाचित् प्रत्यक्ष वेद ही स्मृतियों का मूल है तो स्मृतियों को अनुमान रूप क्यों मानते, इस विषय में जैमिनिकृत मीमांसा के स्मृतिपाद का दूसरा सूत्र **"अपि वा कर्तृ सामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्"** यह प्रमाण है इसलिये आचार प्रायश्चित्ताध्यायादिरूप स्मृतियों से अनुमेय वेद एक पृथक् ही है। वह ही नित्यानुमेय वेद है वह वेद ही स्मृतियों का मूल है, यदि ऐसा नहीं होता तो वेद व्यास जी **"स्मृतेश्च"** यह सूत्र नहीं बनाते, क्योंकि वेद को मनुआदि ऋषियों ने योग बल से अनुभव करके उसी अनुभव को अपने बनाये मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में वर्णन किया हो तो उन ग्रन्थों की स्मृतिपना नहीं बन सकेगा। अनुभवरूपता हो जायगी तथा प्रत्यक्ष विद्यमान वेद के ही अनुसार स्मृतियों में वर्णन हो तो प्रत्यक्षवेद विद्यमान ही है **"द्वयन्तरिताम्"** दो जिसमें व्यवधान ऐसी स्मृति का व्यास जी क्यों नाम लेते अर्थात् स्मृति वेद की अपेक्षा अनुभव और अर्थ इन दोनों से व्यवधान वाली होती है। इसका विस्तार इस श्लोक के आवरण भंग में लिखा है। तात्पर्य यह है कि जो आचार प्रायश्चित्तादि वर्णन करने वाली स्मृति है उनको वेद मूलक नहीं मानते हैं तब तो अप्रमाणिक हो जायगी क्योंकि जैमिनि ऋषि ने **"धर्मस्य शब्द मूलत्वादश शब्दमनपेक्षं स्यात्"** इस स्मृत्यधिकरण के सूत्र में वेद विधि मूलक जो स्मृति वाक्य नहीं है उनको आदरणीय नहीं रखा है और जो प्रत्यक्ष वेद विधि मूलक मानते है तो प्रत्यक्ष विद्यमान वेद से ही कार्य हो जायेगा। स्मृतियों का बनाना वृथा होता है इसलिये अनुभव बिना स्मरण नहीं होता है यह नियम है इसलिये जिस अनुभव का स्मरण करके मनुस्मृति आदि बनी है वह अनुभव नित्यानुमेय वेदरूप ही है।

संवादे चान्यशेषत्वान्न स्मृत्यर्थं स्पृशेच्छ्रुतिः।।

गृहादिरिव देहस्य धर्मस्योपकृतिः स्मृतिः।।

उभयोः समवाये तु धर्मः पुष्टो न चान्यथा।।३८।।

गर्भाधानादिसंस्काराः सन्ध्योपासनादिकं तथा।।

नित्यश्राद्धादिककर्माणि पाकयज्ञादिकन्तथा।।३६।।

प्रायश्चित्तमिति ह्येष पंचधा कर्मसंग्रहः।।

नित्यानुमेयवेदस्तु मूलम्पंचविधस्य हि।।३७।।

स्मृतियों में जैसे धर्म दिखाई पड़ता है वैसे प्रत्यक्ष वेद में भी दिखाई देता है। जैसे **''धन्वनः प्रपाअसि'' ''नाप्सु मूत्र पुरीषं कुर्यात्'' ''न विविसतः स्नायात्''** हे अग्नि तुम निर्जल देश की प्याऊ हो अर्थात् निर्जल देश में प्याऊ जैसे मनुष्य को प्यारा है वैसे तुम हमको प्रिय हो। जल में मूत्र पुरीष नहीं करना। नग्न होकर स्नान नहीं करना इत्यादि अनेक धर्म वेद में लिखे हैं। इसलिये प्रत्यक्ष वेद मूलक ही स्मृतियों को मानना।

उत्तर - ''संवादे चान्य शेषत्वादिति'' वेद में भी प्रकरण सब जगह नियामक है, जैसे **''आहिताग्निर्नानृतंवदेत्''** अग्निहोत्री मिथ्या नहीं बोलता है यह वाक्य है इसलिये अग्निहोत्रादि करने वालों के लिये मिथ्या बोलने की मनाही करते हैं। सभी के लिये मिथ्या का निषेध इस वाक्य से नहीं हो सकता है ऐसे यज्ञ में इष्टि का ईंट स्थापन करने वाले के लिये जल में थूंकने का निषेध है। वह निषेध सब के लिये नहीं हो सकता है ऐसे ही लोक प्रसिद्ध प्याऊ के दृष्टान्त के लिये वेद में लिखा है इससे वेद में सब मनुष्यों को प्याऊ बनाने की आज्ञा दी है यह नहीं कह सकते हैं। यदि वेद में यज्ञ के प्रकरण कहे जो वाक्य है उनको सब मनुष्य के ऊपर मानलोगे तो पशु का आलभन ईंटों का स्थापन द्वेषत्वादि मंत्र से वृक्ष की शाखा का छेदन सभी का यज्ञ नहीं होता है। तब भी सर्वदा करना ही पड़ेगा। उससे जिस यज्ञ के प्रकरण में जो वाक्य हो वह वाक्य उस यज्ञ के करने वाले के लिये ही समझना, जो सभी के लिये मानें तो (वाक्यभेद) अर्थात् एकवाक्यता नहीं रह सकेगी। क्योंकि उस प्रकरण को छोड़कर साधारण जब मानेंगे तब उस वाक्य के और अधिकारी हो सकेंगे। यह वाक्य भेद बड़ा दूषण है जैसे वेद में कहीं कहीं नाभाग राजा आदिकों के उपाख्यान का संवाद है वैसे नित्यानुमेय वेद के अर्थ के साथ भी क्वचित्संवाद है इसलिये स्मृति के अर्थ को प्रत्यक्ष श्रुति स्पर्श नहीं कर सकती है किन्तु स्मृति नित्यानुमेय वेद मूलक ही है। स्मृतिये क्यों बनाई इस शंका को दूर करते हुए स्मृति का प्रयोजन कहते हैं **''गृहादिरित''** जैसे देह या जीव को सुख देने वाला है वैसे ही वेदोक्त यज्ञ तप, ब्रह्म ज्ञान आदि धर्म इस आत्मा को सुख देने वाले हैं, जैसे देह का पोषण करने वाला घर है वैसे वेदोक्तयज्ञादिकों का पोषण करने वाला स्मृति के लिखे हुए आश्रमादि धर्म हैं जैसे देह गृह ये दोनों हो तब जीव सुखी हो ऐसे ही वेदोक्त धर्म तथा स्मृति लिखित धर्म इन दोनों से धर्म पुष्ट होता है एक से नहीं।

नित्यानुमेय वेद मूलक जो स्मृति है उसका अर्थ कहते हैं **''गर्भाधानेति''** गर्भाधान आदि से लेकर सोलह संस्कार तथा समय के समय संध्या की उपासना करना उससे शुद्धि होती है क्योंकि **''सन्ध्या हीनोऽशुचिर्नित्यम्''** इस संध्या को नहीं करने वाले को अपवित्र बताया है। **''शौचाचार विहीनानां समस्ता निष्फलाःक्रियाः''** इस वाक्य से आचार हीन अपवित्र पुरुष के लिये कर्म को निष्फल बताये हैं

तथा **"अकाल विहिता सन्ध्या या सा वन्ध्यावधूरिव"** इस वाक्य से समय पर नहीं की गई संध्या को बांझ स्त्री के समान निष्फल बताई गई है, जैसे अनुक्रम से स्मृतियों में सन्ध्योपासनादिक कर्म लिखे हैं वैसे ही क्रम से **"रक्षांसि ह वा पुरोनुवाकः"** इत्यादि वेद मार्ग में नहीं लिखे हैं नित्य श्राद्धादिकों की विधि मासिक श्राद्ध, की विधि गृह सूत्रोक्त औपासन होम वैश्व देव पार्वण श्राद्ध अष्टका मासिक श्राद्ध सर्पबलि, ईशानबलि, ये सात पाक यज्ञ हैं, पाक सिद्ध करने में जो चक्की, चूल्ही आदि में पांच प्रकार की हिंसा होती है उसको दूर करने के लिये वैश्वदैव अवश्य करना चाहिये इन कर्मो को अपने गृहसूत्र के अनुसार करना। तात्पर्य यह है संस्कार, संध्योपासनादिक, नित्य श्राद्धादिक तथा पाक यज्ञ तथा पापों के प्रायश्चित इन पांच धर्मों का संग्रह नित्यानुमेय वेद मूलक स्मृतियों में है।

व्रततीर्थादिकं काम्यन्नित्यवद्बोध्यते क्वचित्।।
पूर्वाचारेण सम्प्राप्तम्पुराणं मूलमस्य हि।।३८।।
कृष्यादिजीविकाशास्त्रं पूर्वर्ष्याचारतः प्रमा।।
करदण्डादिशास्त्रस्य मूलं युक्ति : पुराविदाम्।।३९।।

व्रत करना तथा तीर्थादिकों में गमन करना इत्यादि जो स्मृतियों में धर्म कहे हैं इन धर्मों का पुराण है, ये धर्म अग्निहोत्री के लिये नित्य नहीं हैं, क्योंकि उसको अंग्नि छोड़कर विदेश जाने का निषेध है, तथा **"नैषां सिद्धिरनशनताम्"** इत्यादि वाक्यों में उपवासादिकों का भी निषेध है इसीलिये ये धर्म काम्य कहलाते हैं, परन्तु वैदिक अग्निहोत्रादि कर्म नहीं करते हैं उनके लिये तो ये नित्य है इसलिये नित्य कर्म के समान व्रत तीर्थादिकों का नित्य करना बोध किया है। जहां व्रत तीर्थादिक पुराण मूलक है तब इनका स्मृतिपना कैसे संभव हो सकते हैं, यह शंका नहीं करना, क्यों कि पुराण देख कर ये स्मृति नहीं बनाई है किन्तु पूर्वकल्प के सदाचार का स्मरण करके बनाई हैं इसलिये व्रत तीर्थादि प्रतिपादक स्मृति आचार मूलक है लोक मूलिकास्मृति का विचार करते हैं। **"इदानी मित्यादि"** अभी आचार कहां प्रमाण है ऐसी आकांक्षा हुई वहां कहते हैं। **कृष्णादीति** स्मृतियों में जहां ब्राह्मणादिकों को आपत्काल में खेती करना लिखा है, जैसे **"हलमष्टगवं श्रेष्ठं षड्गवम्मध्यमं स्मृतम्" "चतुर्गवं नृशंसानां द्विगवम्वृषघातिनाम्"** एक हल में आठ बैल जोड कर खेती करना उत्तम पक्ष है, छः बैल से खेती करना मध्यम पक्ष है चार बैल से खेती करना निर्दयपना है, दो बैल से खेती करना बैलों को मार डालना है इत्यादि।

ऐसे ही जिन स्थलों में पिता महादिकों के द्रव्य का विभाग करना लिखा है तथा दान लेना लिखा है उन स्मृति भागों का लोक व्यवहार का स्मरण करके बनाये हैं उनको लोकमूलक स्मृतिभाग कहे जाते हैं, परन्तु पूर्व ऋषियों के आचार से प्राप्त है इसलिये प्रमाण हैं यह मूल का अभिप्राय है। जिस स्मृति भाग में खेती वाले बिना औरों से कर लेना तथा दण्ड देना लिखा है। उस स्मृति भाग को युक्ति मूलक जानना, नीति मूलक स्मृति भी इसी को कहते हैं।

शुद्धिङ्केचित् पृथक् प्राहुः संस्कारः कस्य चिन्मतः।।
देशकाल द्रव्य कर्तृ मन्त्र कर्मविभेदतः।।
षोढा शुद्धिः स्मृतासाऽपि द्विधा ह्यन्योन्यतः स्वतः।।
सर्वशेषेयमाख्याता श्रुत्यर्थेऽपि विशेषतः।।
धर्मः सम्पद्यने षड्भिरधर्मो ह्यन्यथाभवेत्।।४१।।

स्मृतियों में जिस स्थान में पदार्थ की शुद्धि लिखी है उस स्मृतिभाग का नित्यानुमेय वेदमूलक जानना, क्योंकि शुद्धि के संस्कार में अन्तर्भाव है, संस्कार से पृथक् अलग पदार्थ की शुद्धि मानोगे तो उस स्मृतिभाग को आचार मूलक मानेगे परस्पर शुद्धि तथा स्वतः शुद्धि इनमें दो से शुद्धि दो प्रकार की है, द्रव्य देशकाल मन्त्र कर्म कर्ता इनकी परस्पर शुद्धि जैसे व्रीही की मंत्रादिकों के द्वारा शुद्धि होती है, स्वतः शुद्धि जैसे **''क्षुरौ नौ रासन श्चेति स्वयं शुद्ध मिति स्मृतम्''** छुरा, नाव, आसन आदि पदार्थ स्वयं शुद्ध है इत्यादि जाबाल स्मृति के वाक्य में ये जो पदार्थ लिखे है की शुद्धि है वह जीविका व्यवहार लोकास्थिति इन सभी की अंग है तथापि वेदार्थ की विशेष अंगभूत है, क्योंकि देश काल द्रव्यकर्ता मंत्र कर्म ये छः पदार्थ जब शुद्ध हो तब धर्म सिद्ध होता है यदि ये कालादिक छः पदार्थ अशुद्ध हो तो अधर्म होता है।

कल्पसूत्रेषु वेदत्वं स्मृतित्वञ्चप्रतीयते।।
अर्थतः कर्तृतश्चापि वेदत्वं पाठतः स्मृतिः।।४२।।
सौकर्यार्थं कृतिस्तस्य संकलीकृत्य वर्णनात्।।
तेनापिक्रियमाणस्तु धर्मः श्रौतो भवेद् ध्रुवम्।।४३।।

कल्प सूत्र ऋषि प्रणीत है, वेद जैसे स्वर उनमें नहीं है इसलिये उनका पाठ स्मृतियों में गिना जाता है तथा अर्थ उनका वैदिक है, अर्थात् वेदविहित यज्ञादिकों की विधि बताने वाले हैं उनके अर्थ से उनकी वेद में गणना है। अर्थ से कल्प सूत्रों के वैदिक होने में क्या हेतु है वहां कहते हैं **''सौ कार्यार्थमिति''** यज्ञादिक कर्मों का सुकरता से ज्ञान होने के लिये कल्पसूत्रों को देखना चाहिये, परन्तु यज्ञादिकों के उत्तमाधिकारी मरीचि आदि से लेकर जो ऋषि थे उनके लिये यज्ञों में कल्प सूत्रों की अपेक्षा नहीं थी, उनके शुद्ध अन्तःकरण थे जिससे बिना कल्पसूत्र ही कर्म का स्वरूप दिख जाता था यह मुख्य पक्ष है। अभी के मनुष्यों को यज्ञादिक कर्मों का प्रकार जानने के लिये कल्पसूत्र देखने की आवश्यकता है, कल्पसूत्रों के द्वारा किये हुए यज्ञादिक ही वैदिक धर्म समझे जाते हैं।

इष्टयौपासन कर्म्माणि न श्रौतानि कथंचन।।
भेदाद्वैजात्यतश्चापि काल एकस्तयोः परम्।।४४।।

कालबाधान्न कर्त्तव्यं स्मार्तं श्रौतो बली यतः।।
पश्चाद्वा गौणकालेऽपि कर्त्तव्यमिति केचन।।४५।।

गृह्य सूत्र श्रोत नहीं है इष्टि औपासन ये दोनों स्मार्तकर्म हैं, श्रौत तथा स्मार्त अग्न्याधानादि अलग अलग और विजातीय हैं अर्थात् नाम से भी भेद है, **शंका** जब श्रौत स्मार्त अग्नि होत्र अलग अलग हैं तब दोनों ही अग्निहोत्र करने को एक काल का विधान कैसे बन सकता है। **उत्तर**-एक काल का विधान है तथापि वेदोक्त कर्म स्मार्त कर्म की अपेक्षा प्रबल है इससे मुख्यकाल में वैदिक कर्म ही करना योग्य है। श्रौत करने के पीछे स्मार्त अग्नि होत्र करने का निमित्त काल रहता नहीं है। इसलिये स्मार्त इष्टि औपासन नहीं करना। पक्षान्तर कहते हैं। श्रौतकर्म करने के पीछे गौण काल के स्मार्त कर्म करना ऐसे कितनेक कहते हैं।

स्मार्तमात्रस्य करणादाभासो ब्राह्मणो भवेत्।।
स्वर्गाभासाद्यपि फलं श्रौतमात्रेऽपि चाऽखिलं।।४६।।
ब्रह्मप्रकरणं स्मार्त्त कल्पसूत्रवदेव हि।।
पुराणमूलकश्चापि ह्याश्रमाचारतोदिनम्।।४७।।

श्रौतकर्म बलवत् है इसलिये असहाय शूर है, अर्थात् स्मार्त कर्म की इसको अपेक्षा नहीं है, ऐसे स्मार्त कर्म भी असहाय शूर होगा इस शंका को दूर करते हैं। **''स्मार्तमात्रस्येति''** ब्रह्म जो वेद है उसको जाने अर्थात् जानकर जो वेद का अनुष्ठान करता है वह ब्राह्मण है, स्मृति है वह भी नित्यानुमेय वेद मूलक है तथापि अर्थ और अनुभव इन दो से व्यवधान वाली है। इसलिये जैसे कांच का व्यवधान होने से दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब कहाता है ऐसे ही स्मार्त धर्म वैदिक धर्म का आभास कहलाता है।

ऐसे जो ब्राह्मण श्रौतकर्म छोड़कर केवल स्मृति के कर्ममात्र करते हैं वह भी ब्राह्मणाभास कहलाता है और उस कर्म से भी फल वैसा ही होता है। यह आगे के श्लोक में कहते हैं। **''स्वर्गा भासेति''** चित्त शुद्धि हो जावे और वासना का क्षय नहीं हो, दैत्यों का जिसमें उपद्रव हो ऐसे लोक में स्थित होकर सुखभोग करते हैं। यह स्वर्गाभास केवल स्मार्तकर्म का फल है। इसका तात्पर्य आवरण भंग में लिखा है कि श्रौतधर्म का पोषण करना स्मार्त धर्म का प्रयोजन है। स्वतंत्र होकर मुख्यफल नहीं दे सकता है, केवल श्रौतकर्म मात्र के करने से तो अखिल मुख्य स्वर्गादि फल होता है यही वेद की स्मृति की अपेक्षा अधिकता है। स्मृतियों में ब्रह्म प्रकरण प्रत्यक्ष उपनिषन्मूल होगा ऐसी शंका दूर करते हुए प्रकारान्तर दिखाते हैं। **''ब्रह्म प्रकरण मिति''** स्मृतियों में जो ब्रह्म ज्ञान का वर्णन है वह कल्पसूत्रों में जैसा वेदोक्त कर्मों का आनुपूर्वी संकलन किया है वैसे उपनिषद के ज्ञान की सुगमता के लिये संग्रह कर के स्मृतियों में वर्णन किया है इसलिये उससे स्मृतियों के द्वारा प्रकट हुआ भी ब्रह्म ज्ञान फलार्थ है। यह गौण पक्ष है मुख्य पक्ष तो यह ही है जो स्मृतियों में लिखा ब्रह्मज्ञान वह पुराण मूलक है वहां शंका होती है, स्मृति मुख्य है पुराणों की अपेक्षा प्रबल है स्मृति क्यों पुराणों का आश्रय

करती होगी वहां उत्तर आज्ञा करते हैं। **''आश्रमाचारतोदितमिति''** सब आश्रम स्मृति में लिखे है तथा उन आश्रमों के आचार निरूपण करते हैं वहां चौथे आश्रम में ब्रह्म ध्यान का मुख्यता से वर्णन करते हैं उस ब्रह्म ध्यान का वर्णन पुराण में कहा है। इसलिये पुराण से ही संग्रह करके स्मृति में ध्यान का वर्णन किया है। उपनिदों के अर्थ का स्मृतियों में संग्रह किया है ऐसा मानेगे तो उपनिषदत्व भंग दोष आयेगा अर्थात् स्मृतियों से ही कार्य सिद्धि हो जायेगी फिर पृथक् पृथक् शाखा में अलग अलग उपनिषदों का पाठ व्यर्थ होगा तथा स्मृतियों का लिखा ब्रह्मज्ञान सब शाखा वालों के लिये ही हितकारी मानेंगे तो अपनी अपनी शाखा के उपनिषदों का लिखा ही ब्रह्मज्ञान फलार्थ है इस प्रकार की जो मर्यादा है उसका भंग होगा इसलिये स्मृतियों का लिखा ब्रह्मज्ञान स्वतंत्र होकर वैदिक ज्ञान जैसा फल साधक नहीं है किन्तु उपनिषदों के ज्ञान का उपकारक है। वर्णधर्म में ही स्मृति बलवती है।

''इति स्मृति प्रकरणम्''

पुराणं वेदवत्पूर्वसिद्धं सर्वोपयोगि तत्।।
सर्वोपकरणानीव धर्मस्य नरगेहयोः।।४८।।
तदज्ञाने सर्व मोढ्यं तेन तद्धृदयं स्मृतम्।।
भावयुक्त धर्मस्य प्रमितौ तत्प्रयुज्यते।।४९।।

अब पुराण का निर्णय करते हैं। पुराण है वह वेदवत् है वेद के धर्मों का पुराण का अतिदेश है, छान्दोग्य उपनिषद में सनत्कुमार नारद संवाद में पुराण पंचम वेद है ऐसा लिखा है। **''वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणेषु न संशयः''** वेद पुराण में स्थित है इसमें संदेह नहीं है। **''इतिहास पुराणैस्तु कृतोऽयं निश्चलः पुरा''** इतिहास पुराणों से वेद को निश्चल अर्थात् दृढ किया है यह स्कंद पुराण में लिखा है। इत्यादि अनेक पुराणों में वेद तुल्यता पुराणों में सिद्ध होती है। जैसे अग्निहोत्रादिक पंच पदार्थ वेदों में अनेक रूप वाले लिखे हैं। वैसे ही पुराण में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, भक्ति ये पांच पदार्थ नित्य तथा काम्य भेद से अनेक प्रकार से वर्णन किया है। नित्य धर्म जैसे अतिथि का पूजन करना। **''अतिथिर्विमुखो यातः पुण्यमादाय गच्छति''** जिस घर से अतिथि विमुख होकर जाता है उस घर वाले का पुण्य लेकर जाता है। काम्यधर्म जैसे पुत्र की कामना के लिये दिति ने पयोव्रत किया। नित्य अर्थ जैसे ब्राह्मण को शरीर निर्वाह के लिये (कुसूल) कोठी भर अथवा घडा भर धान्य अवश्य रखना चाहिये इत्यादि। काम्य अर्थ जैसे इलास्त्री ने भोग करने के लिये तपश्चर्या करके शिव से पुरुष देह मांगी। नित्य काम जैसे **''ऋतुस्नातान्तु यो भार्यां शक्त : सन्नोपगच्छति'' घोरायां भ्रूण हत्यायां लिप्येत् नात्र संशयः''** ऋतु धर्म होने के अनन्तर स्नान की हुई अपनी स्त्री के साथ जो पुरुष

सामर्थ्य वाला होकर के भी गमन नहीं करता है वह पुरुष घोर भ्रूण हत्या के पाप में लिप जाता है। इस में संदेह नहीं है इत्यादि। काम्यकाम जैसे आग्नीध्ररा जिसने पूर्व चित्ती के साथ संभोग किया। नित्य मोक्ष जैसे सायुज्य मुक्ति **''सायुज्यरूपा परमामुक्तिभुविपरात्मनि''** काम्यमोक्ष जैसे सोलाक्या मुक्ति प्रभृति ऐसे ही निष्काम होकर भक्ति की जाय वह नित्य भक्ति कहलाती है। सर्वकाम अथवा मोक्षकामना के लिये भक्ति की जाती है वह काम्य भक्ति कही जाती है। जैसे अग्निहोत्रादिकों में देश कालादि छः पदार्थ अंग है वैसे धर्मादि पदार्थों के भी अलग अलग देशकालादि अंग है।

शंका – **''अष्टादश पुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः''** अठारह पुराण के कर्ता व्यासजी इत्यादि वचन से व्यास जी पुराणों के बनाने वाले हैं, यह निश्चय होता है। उनको वेद तुल्यता कैसे संभव हुई।

उत्तर – पुराण सब नित्य हैं पहले से ही सिद्ध है। ।।**पुराणं सर्वशास्त्राणाम्प्रथमम्ब्रह्मणास्मृतम्।। नित्यं शब्दमयं ब्रह्म शतकोटि प्रविस्तरम्।। अनन्तरश्च वक्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः।। पुराणमेव तत्रा स्मिन्कल्पे पुरानघ''** शब्द शास्त्रों के पहले ब्रह्मा ने पुराण का स्मरण किया उसके पश्चात् ब्रह्मा के मुख से वेद निकले उस कल्प में पहले पुराण नहीं थे इत्यादि मत्स्यपुराण के वचन इस विषय में प्रमाण है जैसे धर्म सिन्धु निर्णय सिन्धु आदि ग्रन्थ के श्लोक संग्रह करने मात्र से कमलाकर भट्ट आदि ग्रन्थकर्ता कहलाते हैं वैसे सौ करोड़ पुराणों का संक्षेप से चार लाख श्लोक मात्र के संग्रहकर्ता व्यासजी पुराणकर्ता कहलाते हैं।

शंका – पुराण वेद के समान है तब तो वेद विद्यमान ही है उससे ही प्रयोजन सिद्ध हो जायेगा। पुराण का क्या प्रयोजन है।

उत्तर – वेद है वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्ण का ही उपयोगी है, पुराण सब का उपयोगी है उससे सभी का उपकार होना ही पुराण प्रकट होने का फल है।

शंका – तीन वर्णों का तो वेद ही से उपकार हो जायगा केवल शूद्र का उपकार होना ही पुराण का प्रयोजन कहना योग्य है।

उत्तर – चारों पुरुषार्थ दो प्रकार के हैं, ईश्वर के विचारे हुए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष वेद में लिखे हैं, इस जीव के विचारे हुए धर्म,अर्थ,काम, मोक्ष पुराण में लिखे हैं। यदि शूद्र के ही लिये पुराण हो तो **''श्रावयेच्चतुरो वर्णन्कृत्वा ब्राह्मण मग्रतः''** इत्यादि महाभारतादिक के वाक्यों में चारों वर्ण को पुराण का सुनाने का क्यों विधान करते। वेद के लिखे हुए धर्म में भी पुराणों का उपयोग है, वेदोक्त यज्ञादि धर्म देहस्थाना पन्न हैं, स्मृतियों के लिखे संस्कार प्रायश्चितादिक धर्म घर के स्थानापन्न है, पुराण के लिखे व्रतदानादिक धर्म गृह की अन्नवस्त्रादिक सामग्री के स्थान पर है जैसे घर में कुछ साहित्य नहीं हो तो देह की स्थिति नहीं हो सकती है। ऐसे पुराण बिना वेदोक्त धर्म की स्थिति नहीं हो सकती है इसलिये पुराण की अत्यावश्यकता हैं पुराण के

अर्थ का ज्ञान नहीं हो वहां तक सब प्रकार से मनुष्य मूढ रहता है क्योंकि पुराण को जाने बिना जगत् के बाहर के पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है। इसी से श्रुति स्मृति ये दोनों धर्म के नेत्र हैं, पुराण धर्म का हृदय है इत्यादि अनेक वचन है।

वेद में यज्ञादि कहे हैं उनके अभिप्राय का ज्ञान पुराण के द्वारा ही होता है। वैदिक कर्म कब करना कब नहीं करना, कर्म, अकर्म, विकर्म आदि का स्वरूप ज्ञान तथा कर्म कहां तक करना इत्यादि बोध पुराण बिना नहीं होता है। जैसे ब्रह्माण्ड पुराण में अग्नि होत्रादिको का निषेध कलियुग में है उसकी व्यवस्था लिखी है।**''यावद्वर्ण विभागोस्ति यावद्वेदः प्रवर्त्तते'' सन्यासंचाग्निहोत्रश्च तावत्कुर्यात्कलौयुगे''** जहां तक ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारों वर्ण पृथक् रहें जहां तक चारों वेद विद्यमान हैं कलियुग में सन्यास अग्निहोत्र वहां तक करना। जैसे वेद में लिखा है अग्निहोत्री को यज्ञ पात्र के सहित अग्नि में जला देना, इत्यादि वचन से सामान्य से सब हि अग्निहोत्री का श्रोताग्नि करके दाह प्राप्त हुआ वहां **''वैतानम्प्रक्षिपै दप्सु आवसथ्यं चतुष्पथे।। पात्राणि तु दहे दग्नौ यजमाने वृथा मृते।।** इस पुराण वचन से जो अग्निहोत्री पतित नहीं हो उसी का अग्नि होत्र की अग्नि से दाह करना। जो अग्निहोत्री पतित हो तो उसके वैतान को जल में डालना आवसथ्य अग्नि को चार मार्ग के मध्य में धरना, पात्र को अग्नि में डालना इत्यादि व्यवस्था होती है, ऐसे ही कर्म कहां तक करना यह संदेह हुआ वहां **''तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता''** वहां तक कर्म करते रहना जहां तक पूरा वैराग्य मन में दृढ नहीं हो इत्यादि श्री भागवत पुराण के वचन से व्यवस्था होती है उससे मीमांसा जैसे वेद के संदेह को दूर करने वाली है वैसे पुराण भी वेद के संदेह को दूर करने वाला है।

सर्वसृष्टिपदार्थानां यथार्थज्ञापनन्ततः।।
शाखाविभागवत्तस्य विभागः सोऽप्यनेकधा।।५०।।
शतं कल्पास्ततोप्यन्ये सन्ति कृष्णेन निर्मिताः।।
सत्वेन रजसा वाऽपि तमसा वाप्यनेकधा।।५१।।

किंच सृष्टि में जितने पदार्थ हैं उनका यथार्थ स्वरूप पुराणों से ही जानना ऐसा वेद में लिखा है। **''प्रह्लादो ह वै कायाधवः''** प्रल्हाद है वह कयाधु का पुत्र है इतना मात्रवेद में लिखा है वहां कयाधु नाम वाली हिरण्य कशिपु की स्त्री है उसके प्रल्हाद जी पुत्र हैं इत्यादि यथार्थ स्वरूप पुराण से ही जाना जाता है। जैसे संपूर्ण वेद का अध्ययन नहीं होता देखा तब व्यास जी ने वेद के विभाग करके ऋषियों का वेद पढाया, जिन जिन ऋषियों ने जिनता वेद पढा वह वेद भाग शाखा नाम से प्रसिद्ध हुआ। ऐसे ही एक पुराण के विभाग करके अष्टादश पुराण उपपुराण की रचना की है। मत्स्य पुराण में मत्स्य भगवान् आज्ञा करते हैं **''कालेना ग्रहणं दृष्टा पुराणस्य ततो द्विजाः। व्यास रूप महं कृत्वा संहरामियुगे। युगे चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे सदा।।**

तदष्टा दशधाकृत्वा भूर्लोकेऽस्मिन्प्रभाष्यते'' मत्स्यावतार में कहा है जब मनुष्य की (शतकोटि) सौ करोड़ पुराण पढने की सामर्थ्य नहीं रही तब मैंने व्यास जी का रूप धारण करके पुराण का संहार करता हूँ। जब द्वापर आता है तब चार लाख ग्रंथ में अष्टादश पुराण बनाता हूँ। आगे मत्स्य पुराण में लिखा है अभी भी देवलोक में सौ करोड़ पुराण है उन पुराणों का संक्षेप करके अर्थ इन अष्टादश पुराणों में है। ब्रह्माजी ने मरीचि ऋषि के प्रति जो पुराण दश हजार श्लोक संख्या वाला कहा है। वह ब्राह्म पुराण है। जब भगवान् की नाभी में से कमल प्रकट हुआ उसके वृत्तान्त जिसमें लिखे हैं वह पाद्म पुराण है। उसके पचपन हजार श्लोक हैं। वाराह कल्प के वृत्तान्त जिसमें है, जिसमें सब धर्मों का वर्णन है वह वैष्णव पुराण है। २३००० श्लोक संख्या वाला है। श्वेत कल्प के प्रसंग में वायु भगवान् ने जिसमे धर्म कहे हैं, रूद्र का माहात्म्य लिखा है वह वायु पुराण है। २४००० श्लोक संख्या वाला है। जहां गायत्री का अधिकार करके धर्म का विस्तार लिखा है वृत्रासुर का वध जिसमें है वह १८००० अठारह हजार की संख्या वाला श्री भागवत पुराण है। पुराण में सारस्वत कल्प में जो मनुष्य देवता थे उनका वृतान्त है। जिस पुराण में नारद जी ने बृहत्कल्प का आश्रय लेकर धर्म का वर्णन किया है। वह पच्चीस हजार श्लोक वाला नारदीय पुराण है। जिस पुराण में शकुनीन का अधिकार करके धर्म अधर्म का विचार किया है, जैमिनि ऋषि के प्रश्न के ऊपर धर्मचारी पक्षियों ने जो वर्णन किया है उसका विस्तार मार्कंडेय ऋषि ने किया है उसका नाम मार्कण्डेय पुराण है। उसमें ईशान कल्प का वृतान्त ९००० नो हजार श्लोक का पूरा है। जिसमें ईशान कल्प का वृतान्त वसिष्ठजी के प्रति अग्नि ने वर्णन किया है वह अग्नि पुराण यह सोहल हजार श्लोक की संख्या वाला है जिसमें अघोर कल्प का वृतान्त है ब्रह्मा जी ने मनु के प्रति सूर्य के माहात्म्य का वर्णन किया है तथा भूतग्राम के लक्षण का वर्णन किया है। जिसमें रथन्तर कल्प का वृतान्त है तथा जिसमें आगे होने वाले वृत्तान्त का वर्णन है। १४५०० जिसमें चौदह हजार पांच सौ श्लोकों का पूर है वह भविष्य पुराण है। जिसमें ब्रह्म वराह के चरित्र का वर्णन है; जिसमें कृष्ण का माहात्म्य सावर्णि मनु नारदजी के अर्थ वर्णन किया है वह ब्रह्म वैवर्त पुराण है उसमें १८००० अठार हजार श्लोक हैं। ब्रह्मा ने पृथ्वी के प्रति वर्णन किया है २४००० श्लोक का पूर है। जिसमें प्रसंग मानव कल्प का वर्णन किया है वह बारह पुराण १२ है और जिसमें ब्रह्मा जी ने माहेश्वर धर्म का वर्णन किया है वे स्कन्द पुराण हैं ८०००० अस्सी हजार श्लोक संख्या वाला है। जिस पुराण में अग्नि लिंग में स्थित हुए शिव जी ने धर्मार्थ काम मोक्ष का वर्णन किया है। वह अग्नि पुराण है। जिसमें वामन जी की महिमा का वर्णन है जिसमें १०००० दश हजार श्लोक हैं वह वामन पुराण है। जिसमें कूर्म भगवान् ने लक्ष्मी कल्प के अनुसार इन्द्र तथा ऋषियों के समक्ष शिव के प्रति वर्णन किया है, इसमें १७००० सत्रह हजार श्लोक का पूर है। यह कौर्म पुराण है। जिसमें मत्स्य रूपी भगवान् ने मनु के अर्थ धर्म वर्णन तथा नरसिंह जी का वर्णन किया है जिसकी चौदह हजार श्लोक की संख्या है। उसका नाम मत्स्य पुराण है। जिसमें गरुडजी से ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति लिखी है, गरुड कल्प का

जिसमें वर्णन है वह १८००० श्लोक की संख्या वाला गरुड पुराण है। जिसमें ब्रह्माण्ड का माहात्म्य तथा आगे होने वाले कल्पों का विस्तार से ब्रह्माजी ने वर्णन किया है। वह बारह हजार श्लोक संख्या वाला ब्रह्माण्ड पुराण है। विस्तार से पुराणों का लक्षण और पुराणों में भी लिखे हैं। निबन्धस्थ आदि शब्द से उप पुराण संहिताओं का भी ग्रहण है। कूर्म पुराण में उप पुराणों की गणना की है। सनत्कुमार संहिता नान्दी पुराण शिव धर्म पुराण कपिल पुराण, वारूण, सांब पुराण कालिका पुराण, आदित्य पुराण, पाराशर पुराण मारीच पुराण इत्यादि सर्ग, विसर्ग स्थान पोषण ऊती मन्वन्तर वर्णन ईशानुकथा निरोध मुक्तिआश्रय ये दशलक्षण वाला हो उसको पुराण कहना। सर्ग प्रतिसर्ग वंश मन्वन्तर वंशानुचरित ये जिसमें पांच लक्षण हो उसको उप पुराण कहना। **"अष्टादश पुराणानि श्रुत्वा सत्यवती सुतात्। अन्यान्युपपुराणानि मुनिभिः कीर्तितानि तु"** सूत संहिता में लिखा है व्यास जी के मुख से अष्टा दश पुराण सुनकर मुनियों ने और उपपुराणों को प्रकट किया है तथा मत्स्य पुराण में लिखा है अष्टादश पुराणों से अलग पुराण दिखता है तो उसको इन पुराणों से ही निकला हुआ समझना। जैसे वहां वेद यज्ञ रूपी भगवान् का वर्णन करते हैं वैसे पुराण है, वें भुवनात्मक भगवान् का वर्णन करते हैं, वहां जैसे अग्नि होत्र दर्श पूर्णमासादि भेद से यज्ञ भगवान् अनेक रूप हैं और काठक कौथुमी आदि शाखा भेदों से वर्णन किया जाता है। ऐसे ही भुवन रूप भगवान् ब्राह्मपाद्म वाराहादिक कल्प भेदों से अनेक रूप हैं और ब्राह्म पुराणमत्स्य पुराणादि अष्टादश पुराणों से वर्णन क्रिया जाता हैं। वहां विश्वात्मक भगवान् की अनेक रूपता का वर्णन करते हैं ब्रह्माजी के एक वर्ष में एक मुख्य कल्प पूरा हो उन कल्पों का ब्रह्मकल्प पद्मकल्प आदि नाम है। एक वर्ष के तीन सो साठ दैनं दिन कल्प होते हैं। ब्रह्माजी के महीना के ३० कल्प होते हैं उनके नाम मत्स्य पुराण में लिखे हैं। श्वेत कल्प, नील लोहित कल्प, वामदेव कल्प, रथन्तर, शैख, प्राण, बृहत् कल्प, कन्दर्प, सद्य, ईशान, व्यान, सारस्वत, उदान, गारूड, पौर्णमासी के स्थान में कौर्मकल्प, नारसिंह, समान, अग्निय, सोनकल्प, मानवकल्प, उदान कल्प, वैकुंठ, लक्ष्मीकल्प, सावित्री कल्प, घोर कल्प, वाराह कल्प, वैराज कल्प, गोरी कल्प, माहेश्वर कल्प, पितृकल्प, यह पितृकल्प अमावस्या के स्थान में है, इन तीस कल्पों की ब्रह्माजी का एक महीना होता है। जैसे वही तिथि दूसरे महिना में आती है, ऐसे यही तीस कल्प बारह महिना में बारह बार पुनः पुनः आते रहते हैं। ब्रह्माजी के प्रतिदिन के कल्प अन्तर में सबलों का नाश नहीं होता है। किंतु भूलोक भुवलौक स्वर्लोक इन तीन लोकों का ही नाश होता है, इसलिये प्रतिदिन के कल्पों के साथ तो तीन लोकों की रचना बदलती रहती है। क्योंकि ब्रह्माजी सत्य लोक में शयन करते हैं तब ये तीनों लोक बिगड जाते हैं, जब जागते हैं तब फिर इन तीन लोकों को कुछ विलक्षण रीति से बना देते हैं परन्तु प्रतिदिन ब्रह्माण्ड भी शीर्ण होता जाता है। जहां तक ब्रह्मा जी के वर्षभर का अन्त आता है वहां तक ब्रह्माण्ड भी बिखर जाता है। तब वर्ष के अन्त की रात्रि में ब्रह्मा जी सोते हैं तब ब्रह्माण्ड का अपने स्वरूप में लय करके आवरणाम्भ जल में सोते हैं। जब दूसरे दिन जागते हैं उस दिन

ब्रह्माजी का जन्मदिन आ जाता है। उसी दिन ब्रह्मा जी नया ब्रह्माण्ड पूर्व से विलक्षण प्रकट करते हैं, उसी दिन वर्ष दिन रहने वाले मुख्य कल्प का प्रारम्भ होता है। ब्रह्माजी के वर्ष पर्यन्त वही सृष्टि रहती है। इस प्रकार से वर्ष की ब्रह्मा की आयुष्य होती है उसमें भी मुख्य कल्पव्यतीत हो जाता है। इसी को पृथ्वी का किसी कल्प में कमल रूप, किसी कल्प में जघन रूप से वर्णन पुराण में किया है। मयूर कल्प मेघ वाहन कल्प प्रकृति कितने ही कल्प दैनन्दिन कल्प से भी छोटे हैं वे मध्यान्ह अपरान्ह काल के समान ब्रह्माजी के दिन के मध्य में मन्वन्तर समाप्ति तथा चारों युगों की समाप्ति के साथ समाप्त होते चले जाते हैं। इन सब प्रकार के कल्पों में नानारूप वाले ब्रह्माण्डात्मक भगवान् का वर्णन है, क्योंकि **"यत्रयेन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा पदा। स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः"** इत्यादिवाक्य से ब्रह्मवाद में भगवान् ही अनेक रुप हो जाते हैं यह सिद्धान्त है।

नाना सृष्टिप्रकारा हि नाना धर्मा ह्यनेकधा।।
सर्वस्वरूपी कृष्णस्तु कर्ता तेषु तथोदितः।।५२।।
सात्विकेषु तु कल्पेषु तत्प्रकारपुराणतः।।
आचारन्मुक्तिमाप्नोति भवस्त्वन्येषु केवलः
धर्महीनस्तत्सहितो राजसेषु सुखन्ततः।।५३।।

और अनेक रूप होने के लिये अनेक कल्प श्री कृष्ण चन्द्र ने प्रकट किये हैं। वहां तामस कल्प में शिव से सृष्टि है राजस कल्प में ब्रह्मा से सात्विक कल्प में सृष्टि होती है। गुणों से मिश्रित कल्पों में सरस्वती पितृगण, आदि सृष्टि करते हैं। इसी से पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में मात्स्य, कौर्म, लैंग, शैव, स्कन्द, आग्नेय इन पुराणों को तामस कहा है।

वैष्णव, नारद, भागवत, गरूड, पाद्म, वाराह इन छः पुराणों को सात्विक माने हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, माकर्ण्डेय, भविष्य, वामन, ब्रह्म ये छः पुराण राजस हैं। जिन जिन पुराणों में जिन जिन देवताओं से सृष्टि की उत्पत्ति लिखी है उन पुराणों में उन उन देवताओं का ही अधिक माहात्म्य है तथा ईश्वरता लिखी है। उन उन देवताओं का रूप श्रीकृष्ण ही धारण करते हैं।

कूर्म पुराण में लिखा है **"अन्योन्य मनुरक्तास्ते ह्यन्योन्य मुपजीविनः। अन्योन्यं प्रणताश्चैव लीलया परमेश्वराः"** ब्रह्मा, विष्णु, शिवादिक देवता परस्पर अनुराग वाले हैं, परस्पर एक को एक बडा समझकर प्रणाम करते रहते हैं, लीला करके परस्पर एक देवता एक का आश्रय लेते हैं। ये परमेश्वर हैं, इत्यादि अनेक शास्त्र देखने से अमुक देवता बडा है, अमुक देवता छोटा है यह निश्चय नहीं होता है। जो सभी को ईश्वर मान लें तो अनेक ईश्वर होंगे, वहां समाधान करते हैं **"सर्वस्वरूपीति"** शास्त्रार्थ प्रकरण में यह निश्चय कर आये हैं ब्रह्म ही अनेक आकार वाला तथा सभी का कर्ता है और कोई कर्ता नहीं हो सकता है। इसलिये

ब्रह्म ही पुराणों में शिव ब्रह्मादि रूप से वर्णन किया है, वह पर ब्रह्म सदानन्दरूप है इसलिये कृष्ण शब्द वाच्य है उसमें **"परंब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीय ते"** इत्यादि श्रुति प्रमाण है। श्री भागवत में भी कृष्ण के प्रति अक्रूरकी स्तुति है। **"त्वामेवान्ये शिवोक्तन मार्गेण शिवरूपिणम्। बह्वाचार्य विभेदन भगवत्समुपासते"** है कृष्ण शिवादि रूप से अनेक मार्ग द्वारा आपकी ही उपासना करते हैं, इसलिये सर्वरूप श्रीकृष्ण ही उन पुराणों में सृष्टि कर्ता शिव ब्रह्मादिक रूपों से वर्णन किया है। सब जीव की सब पुराण के बताये हुए मोक्ष के साधन से मोक्ष हो जाता है। ऐसे पक्ष में तो संदेह प्राप्त ही नहीं होता है परन्तु पद्म पुराणादिक के वचन देखने से तो सात्विक जीवों की ही सात्विक कल्पानुसारिपुराणोक्त धर्म के आचरण करने से मुक्ति होती है वैसे अधिकारी की पाषडादि धर्म से मुक्ति नहीं होती है। अधर्म कर्ता जीवों का तामस कल्पों में जन्म होता है और दुःख प्राप्त होता है। सुख तथा मोक्ष नहीं होता है। धर्म सहित जीवों का राजस कल्प में न जन्म होता है न दुःख होता है नहीं मोक्ष प्राप्ति होती है। किन्तु सुख की प्राप्ति हो ऐसे सात्विक जीवों की सात्विक पुराणोक्त धर्माचरण से निर्गुणावस्था होकर के मोक्ष होता है।

अपेक्षितन्तु सर्वत्र सर्वोक्तं गृह्यते क्वचित्।।
इदानीं त्रिविधा जीवास्तेन त्रितयमीर्यते।।५४।।
प्रवृत्त्यर्थन्तु सर्वत्र मुक्ति : फलमुदीर्यते।।
तदवस्थापरित्यागाद्वचनं सत्यमेव हि।।५५।।

परन्तु सब कल्पों में जीव उत्पन्न होते हैं वे जीव अपने अपने कल्पानुसारी धर्म को ही करते हैं, जैसे नानादेश के निवासी एक तीर्थ में आते हैं। सब कल्पों में सब कल्पों का धर्म ग्रहण किया जाता है। इस श्वेत वाराह कल्प में तीनों प्रकार के ही पुराण हैं क्योंकि इस कल्प में भी तीनों प्रकार के जीव हैं। राजसजीव के, तामस सात्विक पुराणोक्त धर्म हृदय में नहीं आता है उन जीवों को राजस धर्म नहीं बताये जांयेगे तो वे जीव केवल लौकिक ही रहेंगे तो कल्पान्तर में फिर तामस हो जायेंगे तो राजसोच्छेद होगा इससे उन जीवों के लिये ही राजसपुराण है। उनमें लिखे हुए धर्म का अनुष्ठान करने से आगे के जीव सात्विक हो जायेंगे। ऐसे ही तामस जीवों का अत्यन्त तामसपना दूर होकर उत्कर्ष होने के लिये आगे राजसता होने के लिये तामस पुराण है।

शंका – उन पुराणों में उन उन धर्म के आचरण करने से मुक्ति प्राप्ति लिखी है। सात्विक जीवों की ही मुक्ति होती है। ओरों की नहीं होती है। ये व्यवस्था तो सात्विक कल्प की ही होनी चाहिये। जैसे राजा प्रजा के ऊपर उन उन अवसरों पर अनुग्रह तथा दंड दोनों कार्य को करता है, केवल दंड अथवा केवल अनुग्रह मात्र ही नहीं करता है। ऐसे सभी कल्पों में तत्तत्पुराणोक्त धर्म से मोक्ष और अधर्म से बन्ध होना चाहिये। इसलिये इस कल्प में भी तीनों प्रकार के जीवों की मुक्ति के लिये तीनों प्रकार के पुंराण है।

उत्तर – मुक्ति की अभिलाषा सभी जीवों को है इसलिये सभी जीवों की धर्म में प्रवृत्ति होने के लिये सभी पुराणों में मुक्ति फल बताया है। जैसे केश बढने का लोभ देकर बालक को दूध पिलाया जाता है। कुछ दूध पीते ही केश नहीं बढ जाते हैं, ऐसे ही क्रम से निर्गुणावस्था होने से मुक्ति होने के अभिप्राय से राजस तामस पुराणोंक्त राजस तामस धर्म से मुक्ति होनी लिखी है। इसलिये राजस तामस धर्म को मुक्ति करने वाला नहीं समझ लेना क्योंकि **''मध्येतिष्ठान्ति राजसाः''** इत्यादि भगवद् वाक्यों के अनुसार राजस जीव की मध्य लोक के तामस जीव की नीचे के लोक में ही स्थिति रहती है। वहां तामस राजसादि जीवों के लिये पृथक् पृथक् मोक्ष है यह भी कल्पना नहीं कर सकते हैं क्यों कि परमानन्द रूप मोक्ष में वैजात्य नहीं है अर्थात् मोक्ष पदार्थ एक ही है इसलिये तामसजीव तामस पुराणोंक्त साधन से आगे राजस होता है फिर राजस जीव राजस पुराणोक्त साधन से आगे सात्विक होकर सात्विक जीव सात्विक पुराणोक्त साधन करने से निर्गुण हो तब मोक्ष होता है। इसमें **''राजसस्तु तमः पश्चात् सत्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्।।** इत्यादि भागवत वचन प्रमाण है निर्गुणता होने से भगवत्संबंध हो तब मुक्ति होती है। राजस तामसादि पुरोणक्त रूपान्तर की भक्ति उस रूपान्तर के ज्ञान होने से मुक्त नहीं होता है। **''मामेव ये प्रपद्यन्ते''** इस वाक्य में गीताजी में भगवत्संबंध होने से ही माया का तरण लिखा है। श्वेताश्वतर में **''तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति''** इस वाक्य के पूर्व शिव का प्रतिपादन करके उनके ज्ञान से मोक्ष लिखा है। इसलिये परंपरा से पूर्वोक्त क्रमानुसार निर्गुणता होकर सर्वथा भगवत्संबंध हो तब मोक्ष होता है। सर्वथा भगवत्संबंध होने में बहुत कारण है जैसे कंस राजा को भय के द्वारा सर्वथा भगवत्संबंध हुआ। द्वेष के द्वारा शिशुपाल का भगवत्संबंध होकर तन्मयता हुई। भगवत्संबंध में अवान्तर जाति भेद अर्थात् पशु पक्षी मनुष्य शैव, वैष्णव आदि भेद विघ्न कर्ता नहीं है। जैसे चाहें जिस काष्ठ का दंड हो उसके संबंध से घट बन जाता है। ऐसे ही किसी प्रकार का भी भगवत्संबंध होना चाहिये वह मुक्त हो जाता है। अतएव विभीषण प्रल्हादादिक असुर भी भगवत्पद को प्राप्त हुए, इसलिये भगवत्संबन्ध होना ही परम पुरुषार्थ है और पुराणों में जो राजस तामस देवताओं के स्वरूप ज्ञान को मोक्षरूप लिखा है वह ज्ञान मोक्ष का साधन पूर्वोक्त परम्परा से है। इसलिये ऐसे स्थल में पहले की अवस्था का छूट जाना मुक्ति है। मुक्ति नाम छूटने का है। जैसे राजस देवता की उपासना से जहां मुक्ति लिखी है वहां पहले की तामसावस्था से छूट जाना ही मुक्ति है। इसीलिये ब्रह्म पुराण में सूर्य के द्वारा शिवभक्ति उसके द्वारा वासुदेव में भक्ति तथा उससे कृतार्थता लिखी है। इसलिये मुक्ति प्रतिपादक वाक्य भी सत्य है।

चतुर्युगे तु व्यासानां नानात्वात्स्वस्वकालजम्।।

वृत्तान्त माहुर्नान्यस्य कल्पान्तास्तेन कीर्तिताः।।५६।।

सर्वनिर्धारणार्थाय व्यासो भारतमुक्तवान्।।

एकं कल्पमुपाश्रित्यं स्त्रीशूद्राणां हिते रतः।।५७।।

शंका – एक एक पुराण एक एक कल्प का प्रतिपादन करता है यह बात कैसे संभव है। पुराण में तो चतुर्युग की वार्ता लिखी है। इसलिये अष्टादश चतुर्युग की वार्ता ही अष्टादश पुराणों का अर्थ क्यों नहीं हो सकता है।

उत्तर – एक कल्प में हजार व्यास होते हैं और उनका द्वापरान्त में अधिकार होता है। उसके पश्चात् सत्ययुग में फिर विद्या की पूर्णता होती है फिर दूसरे जीव का व्यास करने के लिये द्वापर के अन्त निवेश किया जाता है। इसलिये वे व्यास अपने अपने चारों युगों की वार्ता कहते हैं। इससे अलग अलग कल्प के प्रतिपादक अलग अलग पुराण हैं इस निर्णय में कुछ दोष आता नहीं है क्योंकि जिस कल्प का प्रतिपादक जो पुराण होता है उस कल्प के सहस्र व्यास या कल्प के ही साहस्र चतुर्युगों का वृत्तान्त ही उस पुराण में कहे हैं।

महाभारत का तो प्रकार भिन्न है। अभी तीनों ही गुणों के पुराण विद्यमान है, संकीर्ण जीवों को किस पुराण के अनुसार बर्ताव करना चाहिये तथा वेदार्थ विषयक सर्वनिर्धार करने के लिये महाभारत व्यास जी ने बनाया। जिस कल्प में वैसे उत्तम धर्मोपयोगी पदार्थ ऐसे कोई एक कल्प का आश्रय लेकर भारत बनाया है। वहां भारतोक्त धर्म करने से स्त्री शूद्रादिको का भी महत्व सिद्ध होता है। इसी से भारत में सभी के धर्म का वर्णन किया है। **''न शूद्राय मतिं दद्यात्''** इस मनु स्मृति के वाक्य में जो शूद्रों को ज्ञान देने का निषेध है वह भारत के ज्ञान देने का नहीं है क्योंकि भारत तो सर्व हितार्थ ही बनाया है। दूसरा इस प्रश्न का यह उत्तर है कि मनुस्मृति के धर्मों को पराशर जी ने सत्य युग में मानने योग्य कहा है। कलियुग में तो पाराशर स्मृति के धर्म को ही मानने योग्य कहा है। ऐसे पाराशर स्मृति के वाक्य इस श्लोक के आवरण भंग में है।

धर्म निर्धारणंतत्र सर्वेषां समुदाहृतं।।
प्रत्यब्दं वृक्षवत्कल्पा भुवनद्रुमरूपिणः।।५८।।
अन्यकल्पोक्तरीत्यापि कथितो भगवान् स्वयम्।।
कल्पेस्मिन्सर्वमुक्तयर्थमवतीर्णस्तु सर्वतः।।
सर्वतत्त्वं सर्वगूढं प्रसंगादाह पाण्डवे।।५९।।

प्रतिवर्ष जैसे वृक्ष के पत्र पुष्पादिक नाना भांति के नये नये आते हैं जाते हैं ऐसे भुवनरुप वृक्ष के कल्पानुसार लोकों की रचना तथा लौकिक धर्म नाना होते रहते हैं।

शंका – श्रीकृष्ण चन्द्र तो सभी की मुक्ति के लिये प्रकट हुए हैं उनका रस रूप वर्णन करने को भागवत प्रवृत्त हुआ है उसे भागवत को मत्स्यपुराण में सारस्वत कल्प के अनुसार बताया है। अभी श्वेत वाराह कल्प है, अभी के जीवों की भागवत के सेवन से कैसे मुक्ति होगी।

उत्तर – **"अन्य कल्पोक्तति"** ओर कल्प की रीति का ही ग्रहण किया है। सब पुराण में ऐसा ही निर्णय है, मत्स्य पुराण में ही सात कल्पों का वर्णन है भागवत में भी **"अयन्तु ब्रह्मणः कल्पः पाद्मकल्प मथोशृणु"** इत्यादि स्थल में ब्रह्म पद्म वाराहादि कल्पों का भी वृतान्त है। इसलिये इस कल्प में सभी की स्वरूप से ही मुक्तिकरने के लिये प्रकट हुए श्री कृष्ण चन्द्र भगवान् का भागवत में सारस्वत कल्प की रीति के अनुसार भी वर्णन किया है।

शंका – स्वरूप से ही श्रीकृष्ण चन्द्र सभी की मुक्ति कर देंगे तब भागवत बनाने का क्या प्रयोजन है।

उत्तर – उन्हीं श्री कृष्ण चन्द्र भगवान् ने प्रसंग से अर्जुन को अर्थ गूढ सर्व तत्व का जिसमें वर्णन है ऐसे गीता शास्त्र का वर्णन किया है इससे मालूम पड़ता है कि अभी के जीवों को शास्त्र द्वारा ही मुक्ति देते हैं। अवतार समय में तो भारतादिक शास्त्र बिना ही स्वरूप से गोपी, पशु, पक्षी आदिकों की मुक्ति होती है। इसलिये अभी तो भागवत शास्त्र की अवश्य अपेक्षा है।

शुकवत्तव्यासंगीतं सत्वेनास्यावतारतः।।
ईशवाक्यन्तु तस्यापि दुर्बोधम्भजनादृते।।६०।।
जीवा एव हि सर्वत्र व्यासाः सांप्रतमेवहि।।
स्वयं भूत्वा हरिः कृष्णः स्वांशं व्यासं चकारसः।।
स्वज्ञापनाय भक्तानाम्पदप्राप्त्यै ततः परम्।।६१।।

शंका – सर्वतत्व गीताजी में वर्णन किया होता तो भारत बनाने के पश्चात् व्यासजी की आत्मा क्यों प्रसन्न नहीं हुई, भागवत बनाने के बाद यह क्यों हुआ कि भारत में गीता भी आगई है।

उत्तर – व्यास जी ने भारत में गीता का वर्णन किया है वह सुवा (तोता) के तुल्य अभिप्राय को जाने बिना भगवान् के वाक्यों को वैसा ही पुण्य पाठ कर दिया था। क्योंकि सत्वगुण के व्यवधान से व्यासजी का अवतार हुआ। उस समय गीता वाक्य विद्यमान थे तथापि भगवान् के भजन बिना उनको अर्थ का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, वहां ऐसे व्यास जी जिनको गीतार्थ ज्ञान नहीं है भागवत रूप तत्व का कैसे वर्णन करेंगे यह शंका नहीं करनी, क्योंकि भगवान् की भक्ति से सत्व का व्यवधान दूर हुआ तब भागवत का वर्णन किया है और द्वापर युग में जीव ही व्यास हो जाते हैं, इस द्वापर युग में तो स्वयं पूर्णरूप कृष्ण चन्द्र प्रकट होकर रूपलीला से क्रीडा करते हुए रूप लीला के तिरोभाव करने के पश्चात् नामलीला शब्दात्मक भागवत का स्वरूप धारण करके क्रीडा करने के लिये प्रहले से ही अपने अंश से व्यास जी को प्रकट किये। वेद पुराण विद्यमान ही है जीव भी धर्मनिर्णय कर सकते थे यह शंका नहीं करना, जिस विषय में व्यास जी को अज्ञान है वहां जीवों का क्या वश है। यह बात व्यास जी ने भागवत में कही है कि मैंने भारत के मिष से वेद का अर्थ दिखाया जिसमें

भारत में स्त्री शूद्रादिकों का भी वर्णन लिखा है ऐसा भारत भी मैंने बनाया परन्तु मेरी आत्मा संतुष्ट नहीं हुई, उसके पश्चात् भगवद् भजन द्वारा जब भगवान् प्रसन्न हुए तब भगवदिच्छा से व्यवधान करने वाला सत्वगुण दूर हुआ तब श्री भागवत प्रकट किया, वह भागवत भगवान् का स्वरूप बताने के लिये तथा भगवत्पद की प्राप्ति करने के लिये प्रकट हुआ है।

सत्वस्य व्यवधानत्वादात्मा ज्ञानात्तु योगतः।।
व्यासकार्यं समस्तंच कृतवान् अधिकन्तथा।।
अनिर्वृतिस्ततो जाता तेन भागवतं कृतम्।।६२।।
सर्वगोप्यो हि धर्मस्तु वेदे मुख्य तयोदितः।।
ब्रह्ममात्रप्रकाशस्तु कृपया सनकादिगः।।६३।।

इन व्यास जी ने और व्यास का कार्य वह भी किया तथा उससे अधिक भी किया अर्थात् महाभारत सत्यवती सुत व्यास जी ने वर्णन किया है। ऐसा मत्स्य पुराण में लिखा है यह भारत बनाना और व्यासों की अपेक्षा इतना अधिक कार्य किया।

शंका – भागवत पहले से ही चली आती है अथवा नवीन ही प्रकट की है? तथा भागवत का सिद्धान्त पहले से ही सिद्ध है अथवा नवीन है?

उत्तर – वेद में मुख्य धर्म अत्यन्त ही गुप्त है ब्रह्म ही जाने ऐसा है कृपा कर के हंस रुप धारण करके सनकादिकों के अर्थ भी भगवान् ने वेदोक्त गुह्यधर्म का वर्णन किया, फिर जब भगवान् ने इच्छा करके सर्वोद्धारार्थ प्रयत्न किया तब परम्परा न रहने के कारण से और व्यास गुप्त वेदार्थ का वर्णन नहीं कर सके तब भगवान् ने ही अंश से व्यासावतार धारण किया।

स इदानीं तु गीतायां प्रकटो भगवत्कृतः।।
तद्व्यासत्वाद्भागवतं पूर्वं भागवतोदितम्।।६४।।
विश्वासार्थम्पुराणेषु पठितं भक्तिहेतुकम्।।
प्रतिपाद्येशलीलायाः पुराणार्थत्वतः पुनः।।६५।।

व्यास जी को अभिप्राय बताने के लिये वेद के गूढार्थ को गीता में प्रकट किया वहां जितना गीता में था उतना ही वर्णन करते, व्यासजी ने अधिक क्यों वर्णन किया ऐसी शंका नहीं करना, जैसे भागवत गीता का विस्तार है वैसे नाम लीला रूप भगवान् का विस्तार व्यासजी है इसलिये इनने गीता का विस्तार किया, तथा भागवत की और भी परम्परा है। भगवान् ने चार श्लोकों से ब्रह्माजी से कहा, ब्रह्माजी ने तीन अध्याय करके नारद

जी से कहा और नारद जी को विस्तार करने की आज्ञा दी, नारदजी ने वेद व्यासजी से कहा, वेदव्यास जी ने भी विस्तार किया, पृथक् पृथक् अधिकारियों के हृदय में स्थिर करने के लिये एक ही सिद्धान्त को अनेक रीति से वर्णन करने का नाम विस्तार कहते हैं।

शंका – **''पंचरात्रस्य सर्वस्यवक्ता नारायणः स्वयम्''** इत्यादि वाक्यों से नारद पंचरात्र स्वतंत्र ग्रंथ है वैसे भागवत के कर्ता भी नारायण हैं, इसलिये भागवत को भी स्वतंत्र होना योग्य है।

उत्तर – स्वतंत्रता होने से नारद पंचरात्र के तुल्य भागवत भी तंत्र में गिना जायगा। लोक का (आगम) तंत्र ग्रंथ की अपेक्षा पुराणों में अधिक विश्वास है इसलिये पुराणों में ही श्री भागवत की गणना की है, दूसरा कारण यह भी है नारद पंचरात्र उपासना विधायक है। श्रीभागवत भक्ति विधायक है। पुराणों में गणना का तृतीय हेतु यह है कि श्री भागवत में सर्ग विसर्गादि दश प्रकार की लीला का प्रतिपादन है यदि दश प्रकार की सर्गादि लीला का वर्णन नहीं हो तो सुनने वालो का कर्म क्षय नहीं हो, कर्मनाश बिना मोक्ष भी नहीं होता है इसलिये दशविधा लीला पुराण का लक्षण है वह श्री भागवत में मिलती है इस कारण इसका पुराण में प्रवेश है।

सर्वमुक्तिनिवृत्त्यर्थं वेदत्वन्तस्य नोक्तवान्।।
वेदकर्तृवचस्त्वाद्धि सतां सर्वम्भविष्यति।।६६।।
स्वस्यान्यस्य च निर्वाहं वेदः कर्तुन्न हि क्षमः।।
अत्यन्तमलिना लोकास्ततो भावगतं कृतम्।।
एतदभ्यसनाल्लोको मुच्यतेऽनुपजीवनात्।।६७।।

वेद का सार रूप श्री भागवत है इसलिये वेद रूप ही है परन्तु व्यासजी इस विषय में संकोच कर गये हैं, आसुर जीवों को विश्वास नहीं कराने के लिये वेदत्व भागवत को नहीं कहा क्योंकि आसुरों को सन्मार्ग से निवृत्त करना बुद्धावतार का काम है, वह व्यास जी ने पहले से ही किया है। दूसरा प्रयोजन यह है कि भागवत को वेद रूप मानते तो बुद्ध भगवान् ने वेद का खण्डन किया उसमें श्री भागवत का भी खंडन हो जाता तथा श्री भागवत की वेद में गणना होती तो वेद से जैसे सब की मुक्ति नहीं होती है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों वर्णों की ही मुक्ति होती है ऐसे भागवत से भी सबकी मुक्ति नहीं होती। वहां भागवत को वेद रूप नहीं मानोगे तो देव जीवों का भागवत में विश्वास नहीं रहेगा। यह शंका नहीं करना क्योंकि वेद के कर्ता जो भगवान् है उन्हीं का वचन श्री भागवत है इसलिये सज्जनों को तो श्रीभागवत से ही सब सिद्ध हो जायेगा। मर्यादा शास्त्र की अपेक्षा भागवत में यह विशेषता है कि वेद के अर्थ का अनुष्ठान करे तो वेद फल दे सकते हैं परन्तु वेद की यह सामर्थ्य नहीं है कि आचारहीन मनुष्यों को अपना अनुष्ठान करवा कर फल दे सके, इसलिये **''आराच हीनं न पुनंति वेदा''** इत्यादि वाक्य से आचार हीन होने से अत्यन्त मलिन जो मनुष्य है वे

वेद के अधिकारी नहीं है उनको मुक्त करने के लिय वेद कुंठित अर्थात् समर्थ नहीं है। यह दोष भागवत में नहीं है क्यों कि ये तो सब के उद्धार करने के लिये प्रकट है। अर्थ का अनुष्ठान नहीं हो सकता है तो श्रीभागवत पढने सुनने के अभ्यास मात्र से भी लोक मुक्त हो जाते हैं क्यों कि **''यस्यां वै श्रूयमाणायां'' ''शुश्रूषुभि स्तत्क्षणात्''** इत्यादि भागवत के ही वचन में श्रवण करके भगवान् की तथा भक्ति की प्राप्ति लिखी है परन्तु इसमें भी एक दोष है कि इसके द्वारा जीविका करना, इसलिये जो पुरुष श्री भागवत करके मुक्त होना चाहे. उसको श्रीभागवत का जीविका के लिये उपयोग नहीं करना चाहिये।

कालादिधर्महेतूनामभावात्सांप्रतं कलौ।।

वेदस्मृतिपुराणनामर्थाः सर्वे हि बाधिताः।।६८।।

कालादिसाधनापेक्षारहितः सर्वतोऽधिकः।।

वेद भागवत में परस्पर विलक्षणता दिखाते हैं। काल, देश, द्रव्य, कर्ता, मंत्र कर्म ये छः पदार्थ शुद्ध हो तब फल सिद्ध करते हैं और वेद, स्मृति, पुराणार्थ इन छः पदार्थों के अधीन हैं। कलियुग में ये छः पदार्थ किसी भांति से भी शुद्ध नहीं हो सकते हैं। कलियुग जैसा अधर्म का हेतु काल है देश है वे मलेच्छों से आक्रांत द्रव्य जो यज्ञादि के सोमलता आदि पदार्थ हैं वे नहीं मिलते हैं। जो मिलते हैं वे भी शुद्ध नहीं मिलते हैं।

कर्ता, आचरणहीन मलिन है, मंत्र भी बहुत से स्वर अर्थ से हीन हैं, कर्म करने की रीति भी परम्परा प्राप्त नहीं है। इसलिये वेदार्थानुष्ठान अभी दुर्लभ है। भागवतार्थ में तो इनकी अपेक्षा नहीं करते हैं क्योंकि **''हरिः सर्वत्र सर्वदा श्रोतव्यः''** इत्यादि वाक्यों से भागवत का तो सब काल में सब देश में सुनना कीर्तन करना लिखते हैं। इसलिये नित्य है तथा दैव आसुर मनुष्य कोई हो सब ही इसके अधिकारी हैं और सुलभ है १०० करोड़ पुराणों में ३३ तैंतीस करोड राजसभाग हैं ३३ करोड़ तामस भाग है ३३ करोड़ सात्विक भाग हैं उनमें ३३ करोड़ के अंदाज सात्विक भाग है। उसका संक्षेप करके भागवत में ही निरूपण है, स्वतंत्रता से भगवान् के यश का इसी में वर्णन है और सात्विक पुराण इसके अंग है इसी से भागवत का माहात्म्य और पुराण में, भागवत में अन्य पुराण का माहात्म्य नहीं है। वेद का पका हुआ रसमय फल श्री भागवत है। वेदादिकों के संदेह को दूर करने वाला है।

फलतः सुगमश्चैव सर्वथा फलसाधकः।।६९।।

योगसांख्येतु ये मुख्ये तयोः सत्वे प्रयोजनम्।।

ज्ञानदुर्बल वादानां न मनोरथवार्तया।।

सिद्धिं यान्ति नरा दुष्टा व्यामोहस्तु ततः फलम्।।७०।।

ग्रन्थान् पुराणवाक्यानि वेदरूपेण वैक्वचित्।।
कृत्वा वृथा वेषधराः कृष्णन्नोपास ते परे।।७१।।

।।इति पुराण प्रकरणम्।।

शंका – योग सांख्य भी गीता तथा भागवत में लिखे हैं तथा काल देशादिकों की भी अपेक्षा इनको नहीं है तथा ज्ञान भी सर्व कर्मों को भस्म करने वाला है। इसलिये इन तीन साधनों को करके भी अनर्थ निवृत्ति हो जायगी।

उत्तर – पौराणिक तथा पातंजलि प्रणीत जो योग सांख्य है वे ही अनर्थ की निवृत्ति करने वाले हैं अथवा जहां तहां लिखे सब प्रकार के ही सांख्य योग अनर्थ की निवृत्ति करने वाले हैं यह विचार करना योग्य है। वहां पौराणिक पातंजल सांख्या योग तो काल देशादि साधन की अपेक्षा वाले हैं इसलिये इस युग में सिद्ध नहीं हो सकता है। जो देश कालादि साधन रहित योग सांख्य हैं वे प्रयोजन सिद्ध करने वाले नहीं है किन्तु साधन सहित ही योग सांख्य उत्तम है तथा वाम मार्गीयों के शास्त्र में कहे योग सांख्य तो ज्ञान दुर्बल है उसमें सिद्ध नहीं है अर्थात् असंगत है मन की कल्पना के बने हुए हैं इसलिये उनसे फल सिद्ध नहीं होता है। किन्तु केवल मोह के करने वाले है। यह बात कैसे जानी जाय, वहां आज्ञा करते हैं। ''ग्रन्थानिति'' वृथा मुडादि पार लौकिक वेष को धारण करके मिथ्या अर्थ के कहने वाले बड़े बड़े ग्रंथों को बना देते हैं जिसमें मनुष्य की बुद्धि शीघ्र लग जाय ऐसे ही कितने ही पुराण के वाक्य भी मन से ही बना लिये हैं। जैसे आत्म पुराण किसी मायावादी ने बना लिया है, वेद में भी कितने ही उपनिषद् बना लिये हैं। जैसे हंसोपनिषद् मांडूक्य के गौडपाद के बनाये हुए श्लोक उपनिदों में पढ दिये हैं। जैसे सर्वोपनिषद् प्राचीन मायावाद के ग्रन्थ में भी जिसकी संमति नहीं दिखाई पड़ती है इत्यादि अनेक शास्त्र बनाकर बनाने वाले स्वयं भी कृष्ण की उपासना नहीं करते हैं, वे करते हो तो उनको देखकर और भी भजन में प्रवृत्त हो उसमें भागवत से ही सब निस्तार हो सकता है यही बात पुराण प्रकरण में निरूपण की है।

।।इति पुराण प्रकरणं संपूर्णम्।।

प्रमाण प्रकरणम्

षडंगानियथा वेदे वेदरक्षाफलानि हि।।

स्वरूपतोऽर्थतश्चैव ह्यनुष्ठातात्रिधा हि तत्।।७२।।

शिक्षा छन्दः स्वरूपे तु निरूक्तं व्याकृतिस्तथा।।

अर्थे ज्योतिस्तथा कल्पो ह्यनुष्ठाने प्रयोजकः।।

विशेषतो हीदमुक्तं सर्वं सर्वत्र चैव हि।।७३।।

वेद के छः अंगों का निरूपण करते हैं। शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरूक्त, छन्दो ग्रन्थ, ज्योतिष ये छः, शास्त्र वेद के अंग हैं। वेद की रक्षा करना इनका सामान्य फल है। वेद की रक्षा तीन प्रकार की है, स्वरूप रक्षा अर्थात् वेद के शब्द लोक के शब्द से विलक्षण है। स्वर वर्णन का जैसे का तैसे बना रखना जो इस प्रकार की रक्षा नहीं की जाय तो पंडित लोग भी "भद्रं कर्णेभिः" इस स्थान पर "भद्रं कर्णैः" ऐसा पाठ कर देंगे उससे अन्यथा पाठ नहीं हो इस लिये वेद की स्वरूप से रक्षा की। ऐसे ही वेद के अर्थ की भी रक्षा करना। अर्थ की रक्षा नहीं होगी तो यज्ञ पदार्थ को भी लोग नहीं जान सकेंगे जैसे अभी यज्ञ को नहीं जानते हैं वे लोग यज धातु का दान अर्थ मात्र ग्रहण करके दान को ही यज्ञ मानते हैं, ऐसे ही वेद के अनुष्ठान की भी रक्षा करनी योग्य है। अन्यथा कल्पसूत्र से कर्म की रक्षा नहीं की जायगी तो यज्ञादिकों का अनुष्ठान नहीं हो सकेगा। इसलिये दो अंगों का एक एक के रक्षा में उपयोग है। शिक्षा छन्दो ग्रन्थ वेद के स्वरूप की रक्षा करने वाले हैं अर्थात् स्वर अक्षरों को यथार्थ रखने वाले हैं। व्याकरण निरूक्तदोनों ही शास्त्र वेद के अर्थ की रक्षा करने वाले हैं। ज्योतिष कल्पसूत्र वेद के अनुष्ठान की रक्षा करने वाले हैं।

ये धातुशब्दा यत्रार्थे उपदेशे प्रकीर्तिताः।।

तथैवार्थो वेदराशेः कर्त्तव्यो नान्यथा क्वचित् ।।७४।।

साक्षाद्धर्मप्रतीतेस्तु कल्पः स्मृतिषु चिन्तितः।।

दर्शादिकालनिर्धारो ज्योतिः शास्त्रफलम् स्मृतम् ।।७५।।

विशेष करके इसी प्रकार से रक्षा है। सामान्य रीति से तो सभी अंग सब प्रकार की रक्षा करते हैं। जैसे व्याकरण से स्वर से स्वर वर्णों की भी रक्षा होती है। व्याकरण का वेदार्थ में उपयोग दिखाते हैं। **"ये धात्वित्यादि"** उपदेश समय में वेद निघण्टु में जो धातु शब्द जिस अर्थ में वर्णन किये उनके अनुसार ही वेद का अर्थ करना अर्थ में व्याकरण का उपयोग जैसे यजधातु देव पूजा संगतिकरण दान इन अर्थों में जैसे **"गौःग्माज्माक्ष्मा"** आदि नाम पृथ्वी के प्रकरण में कहे हैं वैसे ही वेदार्थ का निर्णय करना। जैसे – **"विष्णोः पदेपरमे मध्व उत्सः"** इस मंत्र में कूपवाचक उत्स शब्द का उत्सक अर्थ कितने ही पंडितजनों ने किया है। ऐसे करने में

वेदार्थ की हानि होती है इसलिये वेद का अन्यथा अर्थ कभी नहीं करना। कल्पसूत्र में साक्षाद्धर्म यज्ञादिक प्रतीत होते हैं इसलिये वेदत्व स्मृतित्व दोनों कहे हैं।

वस्तुतः अंगों में ही कल्प सूत्र की गणना है। वेद में दर्शादि काल में यज्ञ करना लिखा है वहां दर्श किस समय का नाम है इत्यादि काल निर्धार करना ज्योतिष का फल है।

पदनिर्वचनाद्वेदे निघण्टु विवृतावपि।।
निरूक्तस्यांगता प्रोक्ता तथाल्पस्तस्य संचरः।।७६।।
व्याकृतिः पाणिनीयं हि प्रातिशाख्यन्तु शब्दगम्।।
आदिमत्वाल्लक्षणानां नांगत्वम्पूर्वचोदितम्।।७७।।

वहां निरूक्त में मंत्र की व्याख्या लिखी है उसका अंगपना कैसे संभव हो सकता है यहां शंका नहीं करना, निघण्टु में कोश के समान शब्द कहे हैं परन्तु उनकी व्युत्पत्ति नहीं की इसलिये निघंटु वेद का अंग नहीं है। निरूक्त का ही अंग है। निरूक्त में तो शब्दों का निर्वचन (व्युत्पत्ति) की है इसलिये वेद व्याख्या रूपत्व है तथापि अंगत्व है निरूक्त नहीं हो तो **"सृण्येव जर्भरी तुर्भरी पर्फरी"** इत्यादि पदों के अर्थ नहीं जाना जावे तथापि व्याकरण की अपेक्षा निरूक्त का संचार वेद में अल्प है। ऐसे ही व्याकरण बहुत है उनमें पाणिनी व्याकरण ही वेद का अंग है प्राति शाख्य वेद भाष्य तो शाखा २ प्रति पृथक् पृथक् है इसलिये साधारण रीति से सर्ववेद का अंग नहीं है शब्द का उपयोगी है। इसलिये व्याकरण में इसका अन्तर्भाव है। लक्षण ग्रंथों का प्रातिशाख्य में अन्तर्भाव है प्रातिशाख्य का व्याकरण में अन्तर्भाव है।

अनिंङ्यादि प्रातिशाख्ये विशेद्व्याकरणे तु तत्।।
छन्दसः पाठहेतुत्वं शब्दज्ञानोपयोगतः।।७८।।
आरोग्ये धर्मसिद्धिः स्यात् रक्षा च धनुषो भवेत्।।
उद्वेगहानिर्गांधर्वे स्थापत्यं च स्रुगादिषु।।७९।।

छन्दो ग्रन्थ का अनुष्ठान में भी उपयोग है क्योंकि जिस मंत्र को नहीं जानो उसके अनुष्ठान का भी फल नहीं होता है। तथापि शब्द द्वारा ही अनुष्ठान में उपयोग है, इसलिये शब्द रक्षा ही छन्दोग्रंथ का प्रयोजन है। उपवेदों का प्रयोजन दिखाते हैं **"आरोग्य इत्यादि"** ऋगवेद का उपवेद जो (आयुर्वेद) वैद्यशास्त्र है उसका आरोग्य फल है। नैरोग्य से धर्मसिद्ध होता है इसलिये रोग निवृत्ति द्वारा धर्म में वैद्यशास्त्र का उपयोग है। धर्म में धनुर्वेद का रक्षा द्वारा उपयोग है।

काव्यादीनामसत्यत्वान्नोपयोगः कथंचन।।
धर्मे कर्तुः क्वचित् कीर्तिः नैपुण्यं [illegible] क्वचित् ।।८०।।

रामायणमनन्तं हि पुराणमिव सम्मतम्।।
व्यासः पूर्वमनेकोक्तो वाल्मीकिः साम्प्रतं किल।।
समाधिभाषया प्राह प्रमाणं सर्वथैव तत्।।८१।।

गान्धर्व वेद का धर्म में उपयोग है। स्थापत्य वेद का अर्थात् खाती के काम का स्रुग स्रुवा स्तंभ पात्रादि बनाने में उपयोग है इसलिये परम्परा का धर्म उपयोगी है। इस प्रकार पुराने न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, अंग, वेद, उपवेद इन अष्टादश विद्या का उपयोग है, जिस शास्त्र में हाथी, घोड़ा मणि आदि के लक्षण हैं उस अर्थ शास्त्र का अर्थ सिद्धि द्वारा धर्म में उपयोग है उस अर्थ शास्त्र का न्यायशास्त्र में अन्तर्भाव है, वात्स्यायनादि काम शास्त्र का काम भोग में उपयोग है, काम सुख है वह मोक्षसुख का दृष्टान्त है। जैसे स्वर्ग सुख का दृष्टान्त राज्य सुख है। यद्यपि राज सुख से करोड़ गुना अधिक स्वर्ग सुख है तथापि अदृष्ट अर्थात् बिना देखे स्वर्ग सुख में प्रवृत्ति होने के लिये राज्य सुख का दृष्टान्त दिया जाता है वैसे ही बिना देखे अनन्त अचल मोक्ष सुख में प्रवृत्ति कराने के लिये ये अल्प नाश वाले काम सुख का दृष्टान्त है। जिससे तुच्छ काम सुख को छोड़कर अनन्त मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त हो जिसके अष्टादश विद्या में कामशास्त्र की गणना नहीं है। काव्य नाटकादिक काम शास्त्र के ही अंग है। काव्य नाटक अलंकारादिकों का धर्म में उपयोग नहीं है क्योंकि मन की अपेक्षा करके बनाये जाते हैं।

परन्तु काव्यादिकों से काव्य बनाने वाले की कीर्ति होती है और जैसे जैसे धर्म से स्वर्ग प्राप्त होता है वैसे मनुष्य को कीर्ति भी स्वर्गादि फल की देने वाली है। इसलिये स्वर्गादि फल प्राप्ति में काव्यादिक का भी उपयोग है मोक्ष में उपयोग नहीं है। ये अच्छे काव्यादि बनाने का फल है। काव्यादिकों के पाठ करने से तो निपुणता होती है। निपुणता का नीति शास्त्र में उपयोग है वहां काव्यादिक में ही रामायण है इसलिये रामायण का भी धर्म में उपयोग नहीं होगा ऐसी शंका नहीं करनी क्यों कि रामायण अनन्त है। आप स्तम्बादि ऋषियों ने भी बनाई है। यह दक्षिण में प्रसिद्ध है। श्रीमान् राजाधिराज चक्रवर्ति चूडामणि श्री रघुनाथजी के चरित्र का सौ करोड़ श्लोक में विस्तार है इसका एक एक अक्षर महापातक का नाश करता है। इसलिये धर्म को उत्पन्न करने वाला है। प्रतिकल्प में प्रतियुग में रामावतार होता है और पदार्थ के समान श्री राम चरित्र का स्वरूप नहीं है इसलिये पहले का चरित्र आगे के कल्प के चरित्र में गतार्थ नहीं हो सकता है। इसलिये ये आगे के कल्प की राम चरित्र की कथा के साथ पीछे के कल्प की कथा का भी वर्णन किया है। इससे अनन्त वर्णन किये हुए को भी फिर वर्णन कहीं कहीं धर्म सिद्धि के लिये किया जाता है। इसलिये इसको पुराण के समान प्रमाण मानना।

रामचरित्र का विस्तार पहले बहुत ऋषियों ने किया है परन्तु अभी वाल्मीकि ऋषि ने समाधि में देखकर रामायण कहा है। इस कारण ये रामायण प्रमाण है और ऋषियों ने तो सुनकर रामचरित्र का वर्णन किया है इसलिये वाल्मीकि रामायण में मिलती हुई और रामायण की कथा प्रमाण है।

वासिष्ठादेस्तु संवादात्प्रामाण्यं नान्यथा क्वचित्।।
न्यायस्तु नीतिशास्त्रं हि तर्को मीमांसया युतः।।८२।।
मोहार्थान्यन्यशास्त्राणि बुद्धे कृष्णे तदिच्छया।।
देवांशैः कल्पितान्येव तदुयुक्तं सर्वथा मृषा।।८३।।

।।इतिप्रमाण प्रकरणम्।।

अठारह विद्या में अक्षपाद का बनाया न्याय शास्त्र नहीं है किन्तु बृहस्पति आदि का बनाया नीतिशास्त्र ही न्यायशास्त्र के नाम से ग्रहण करना उसी की अष्टादश विद्या में गणना है। **''यस्तर्केणानुसन्धत्ते''** इत्यादि स्थल में तर्कशास्त्र से विचार करना लिखा है। वहां तर्क शास्त्र से मीमांसा शास्त्र लेना और काणाद आदिकों के बनाये हुए सब शास्त्र जीव बुद्धि को मोह कराने के लिये है क्योंकि कृष्ण की इच्छा से देवांश प्रकट होकर के उनके शास्त्र बनाये हैं वे सब शास्त्र मिथ्या है; पद्म पुराण में गुणविवरणाध्याय में शिव ने आज्ञा की है **''श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथा क्रमम् '' येषां श्रवण मात्रेण पतनं ज्ञानिनामपि'' काणादेन तु यत्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं बृहत्'' गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै'' धिषणेन तु सम्प्रोक्तं चार्वाक मतिगर्हितम्''** इत्यादि प्रमाण आवरण भंग में लिखे हैं।

प्रमेयं हरिरेवैकः सगुणो निर्गुणश्च सः।।
गुणाः कार्यन्तथा धर्मः क्रियोत्त्यत्याद यश्च सः।।८४।।
बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेणोपवर्ण्यते।।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषतः।।८५।।

जैसे शब्द प्रमाण है उसमें भी वेदादिभाव को आप्त हुए शब्द ही प्रमाण हैं ऐसे ही सर्वजगत भाव को प्राप्त हो रहे ऐसे हरि भगवान् ही एक प्रमेय है सगुण अपररूप, निर्गुण पर रूप तथा सत्व गुण, तमोगुण रूप तथा महत्तत्व से ले के परमाणु पर्यन्त कार्यरूप तथा जाति गुण विशेष समवायादि धर्मरूप लौकिक वैदिक क्रिया रूप तथा उत्पन्न होना बढना परिणाम का प्राप्त होना क्षीण होना नाश को प्राप्त होना इत्यादि ६ भाव रूप, एक भगवान् ही है इसलिये और शास्त्र में कहे जो पदार्थ हैं उन सभी का भी भगवान् में ही अन्तर्भाव है इस कारण शुद्धाद्वैत मत सिद्ध हुआ। भगवान् ही सर्वरूप हैं ऐसे कहने से अंच्छी प्रकार से ज्ञान नहीं होता है इसलिये ये बुद्धि में स्थिर करने के लिये तीन रूप से भगवान् का वर्णन करते हैं। एक तो मूलस्वरूप द्वितीय कारण रूप, तृतीय कार्यरूप इन तीन रूपों से भगवान् को जानने से ही पुराण में जिसका विस्तार किया ऐसे जो वेदोक्त बहुतरूप से प्रकट होने की इच्छा को किया हुआ उच्च नीच भाव है वह हृदय में स्थिर हो जाता है इसमे ब्रह्मवाद सब भगवद् रूप है तथापि भजन मूलस्वरूप का ही करना यह बात सिद्ध हुई।

अष्टाविंशति भेदास्तु कारणे तत्त्व भेदतः।।
भगवत्त्वं यतस्तेषान्तस्मात्तत्वानि तानि तु।।८६।।
अण्डसृष्टेः पूर्वभावात् कारणत्वं न चान्यथा।।
कारणत्वन्न चैवास्ति चिदानन्दांशयोः स्वतः।। ८७।।

कारण रूप भगवान् का स्वरूप वर्णन करते हैं कारण अष्टाविंशति २८ भेद वाला है। प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व, अहंकार, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा, कर्ण, मन, वाणी, हस्त, चरण, उपस्थ, गुदा, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, ये अठ्ठाईस कारण भेद हैं इनको ही तत्व कहते हैं। "तस्य भगवतो भावः सामान्यकारणता तत्वम्" भगवान् का कारण रूप से प्रकट होना तत्व कहलाता है। ये तत्व ब्रह्मांड के पहले प्रकट हुए इसलिये कारण कहलाते हैं, भगवान् सच्चिदानंद हैं तत्व २८ भगवान् के कारण रूप भेद हैं। चित् आनंद ये दोनों किसी के भी कारण नहीं है। अर्थात् तत्वों से पृथक् होकर कोई पदार्थ भी निमित्त कारण अथवा समवायी कारण नहीं है।

आनन्त्यमेव भेदानान्तयोः कार्ये तथैवच।।
अतस्तेषान्तु ये भेदा नोक्तास्ते हि विशेषतः।।८८।।
स्वरूपे तु त्रयो भेदाः क्रिया ज्ञानविभेदतः।।
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रिया ज्ञानवतो हरेः।।८९।।

चित् के अनन्त भेद हैं जितने अनंत जीव हैं सब चित्त के भेद हैं चित् फलरूप है ऐसे ही आनंद के भी अनेक भेद हैं जितने अन्तर्यामी हैं वे सब आनंद के भेद हैं वह स्वरूपभूत है अंतर्यामी में ब्रह्म धर्म प्रकट है इसलिये अन्तर्यामी स्वरूपात्मक ही समझे जाते हैं वृक्षादि घट, पक्षादि रूपकार्य भी अनंत है इस लिये कार्य के भेद नहीं कहे हैं चिद् आनंद का भी तत्वों के साथ सह भाव है इसलियें इनका शरीर में प्रवेश है। इस कारण तत्व सहित चित् आनंद का कारण कोटि में ही प्रवेश कहकर स्वरूप के भेद का वर्णन करते हैं। स्वरूप के तीन भेद हैं वैदिक क्रियारूप धर्म में प्रविष्ट हुआ धर्म स्वरूप यज्ञ शब्द से प्रसिद्ध है तथा ज्ञान रूप धर्म में प्रविष्ट हुआ धर्मी स्वरूप ब्रह्मनाम से प्रसिद्ध है और ज्ञान क्रिया इन दोनों सहित श्रीकृष्ण तृतीय स्वरूप है अर्थात् यज्ञ नारायण क्रियावान् परन्तु क्रिया में प्रविष्ट होकर गुप्त रीति से विराजते हैं इसलिये क्रियाशब्द से ही व्यवहार में आता है। ब्रह्म केवल ज्ञान वाला है परन्तु ज्ञान में गुप्त रीत्या प्रविष्ट है इसलिये ज्ञान शब्द से ही व्यवहार में आता है। श्रीकृष्ण जो पूर्ण क्रिया तथा पूर्ण ज्ञान वाले हैं

विशिष्टे वाचकं गीता श्रीभागवतमेव च।।
केवले काण्डद्वितयं वेदो धर्म प्रवेशतः।।९०।।

तस्यैवोद्भूत रूपत्वात्क्रियाज्ञाने अपि स्वतः।।
अविकार्ये विकार्ये तु ह्यध्रुवे कार्यवन्मते।।९१।।

उन क्रिया ज्ञान विशिष्ट श्रीकृष्ण चन्द्र का वर्णन करने वाले गीता भागवत हैं और केवल क्रियावान् यज्ञात्मक विष्णु का वर्णन करने वाला वेद का पूर्वकाण्ड है वहां पूर्वकांड में तो क्रिया का वर्णन है क्रियावान् का वर्णन नहीं है ऐसी शंका नहीं करना क्योंकि आप क्रिया में प्रविष्ट हो रहे हैं इसलिये क्रिया ही प्रतीत होती है, वस्तुतः आप क्रियावान् है इसी से **"यज्ञो वै विष्णुः"** इस श्रुति में यज्ञ भगवान् की विष्णु रूपता लिखी है ऐसे ही उत्तरकाण्ड वेदान्त में भी ज्ञान वाले ब्रह्म का ही प्रतिपादन है परन्तु ज्ञान धर्म रूप में प्रविष्ट हुआ स्वरूप तो प्रकट नहीं है ज्ञान ही प्रकट रहता है। इसलिये उसको ही ब्रह्मरूप मानकर वर्णन किया है वस्तुतः उत्तर कांड में ज्ञानवान ब्रह्म स्वरूप का ही वर्णन है वहां लौकिक क्रिया से यज्ञ उत्पन्न होता है तथा वृत्तिरूप ज्ञान से ब्रह्मज्ञान होता है। उनको भगवद् रूपता कैसे संभव हो सके है ऐसा संदेह नहीं करना, जैसे वस्त्र को दूर करने पर ढकी हुई वस्तु प्रकट हो जाती है ऐसे लौकिक क्रिया करके आवरण मात्र दूर होता है। तब सर्वदा विद्यमान यज्ञ स्वरूप प्रकट होते हैं। ऐसे ही वृतिरूप ज्ञान करके आवरण दूर होते हैं। तब सर्वदा विद्यमान ब्रह्मरूप प्रकट होते हैं अर्थात् साधन से छिपे हुए यज्ञ रूप तथा ब्रह्मरूप का प्रकट होना मात्र है। उत्पन्न होना नहीं है इसी से वेद के क्रिया ज्ञान (अविकार्य) अर्थात् नित्य है। लौकिक क्रिया ज्ञान (विकार्य) अर्थात् अध्रुव है यदि वेद के क्रिया ज्ञान के दृष्ट्रान्त से इनको भी नित्य मानें तथापि दूषण नहीं है क्योंकि हमारे सिद्धान्त में कार्य भी कारण रूप से सर्वदा रहता है। छिपे हुए कार्य के प्रकट होने से ही लोक में उत्पत्ति कहते हैं। वहां लौकिक क्रिया ज्ञान तथा वैदिक क्रिया ज्ञान दोनों ही नित्य है। तब वेद से क्या प्रयोजन है? ऐसी शंका नहीं करना लौकिक क्रिया ज्ञान से तो लौकिक कार्य की सिद्धि होती है। वेदोक्त क्रिया ज्ञान से यज्ञ तथा ब्रह्म का प्रकट होना फल है इसलिये वेद ही आवश्यकता है पूर्वकांड में क्रिया के अनुष्ठान से क्रिया विशिष्ट यज्ञ फलस्वरूप का प्रादुर्भाव होता है, उत्तरकांड वेदान्त में परिचर्या से प्रसन्न हुए गुरु के अनुग्रह से ज्ञान विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप का प्रादुर्भाव होता है।

वेदवाच्येतु ये रूपे तदभिव्यक्तितः फलम्।।
अनुष्ठानाद्गुरोर्वापि लौकिकेलौकिकं फलम्।।९२।।
प्रेमसेवात्एव स्याद्विशिष्टव्यक्तिरूतमा।।
कार्यभेदविभेदान् हि कल्पयित्वा विभागशः।।९३।।

पूर्ण क्रिया ज्ञान विशिष्ट श्री कृष्ण चन्द्र का प्रादुर्भाव तो प्रेम सहित देहेन्द्रियादिकों से सेवा करने से ही होता है। प्रेम सेवा से जो श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव होता है वह भक्त को कृतार्थ करने के लिये ही होता है वहां प्रादुर्भाव दैत्यवधार्थ नहीं है। प्रेम सेवा का ही नाम भक्तिहै तथा देह इन्द्रियों से जो भगवान् की परिचर्या करना उसी को सेवा कहते हैं इस विषय का आवरण भंग में विस्तार से लिखा है वह अवश्य जानने योग्य है।

शंका – कहीं षोडश १६ पदार्थ, कहीं सप्तदश १७ पदार्थ माने हैं इस प्रकार भगवान् से अतिरिक्त सब पदार्थों का कार्य मानकर कार्य के अनेक भेद बताये हैं, आपने उस रीति से क्यों वर्णन नहीं किया है।

उत्तर – कार्य को ब्रह्म से अतिरिक्त मानकर उसमें सात पदार्थ की कल्पना कर के उन सात पदार्थों में से एक एक के अनेक पृथिव्यादिक तथा शब्दादिक के भेद कहकर उनमें नित्यानित्य विचार करके इतने ही पदार्थ हैं इनके ज्ञान से मोक्ष होता है इस प्रकार की जो शास्त्र की रचना है वह वृथा है क्यों कि वाचारंभण श्रुति में कार्य बुद्धि फल जनक नहीं है यह बात सूचित की है, कार्य की सत्यता भी कारण रूपता करके ही कही है।

वृथा शास्त्र प्रवृत्तिर्हि यस्मात्कार्यमतिर्वृथा।।
सत्वं रजस्तमश्चैव पुरुषः प्रकृतिर्महान्।।९४।।
अहंकारः पंचमात्राः शब्दः स्पर्शाकृतीरसः।।
गन्धो भूतानि पंच्चैव खं वायुर्ज्योतिरप्क्षितिः।।९५।।
क्रियामयानीन्द्रियाणि वाग्दोर्मेण्ढ्रांघ्रिपायवः।।
श्रोत्रं त्वक् घ्राणदृक् जिह्वामनः षट्चेति भेदतः।।९६।।

इसलिये इस ग्रंथ में भगवत्स्वरूप का पृथक् वर्णन करके तत्वों को ही जगत् का कारण बतलाया है और शास्त्र की तरह तत्वों मे ही मूलस्वरूप संमिलित नहीं रखे हैं। अब भगवान् के सिद्धान्त के अनुसार तत्वों की गणना करते हैं। सत्वगुण, रजोगुण,तमोगुण, पुरुष, प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, शब्द, स्पर्श, आकृति, गन्ध, रस, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, वाणी, हस्त, मेढ्र, पाद, वायु, कर्ण, त्वचा, घ्राण, दृष्टि, जिह्वा, मन ये अठ्ठाईस तत्व हैं।

आध्यात्मिकस्तु यःप्रोक्त : सोऽसावेवाधिदैविकः।।
अतो हि देवतावर्ग इन्द्रियेभ्यो न भिद्यते।।९७।।
माया तु गुणरूपा हि कालस्तु भगवान् परः।।
सूत्रं महांस्तथा प्राणो बुद्धिश्चाहमभेदतः।।९८।।

पुरुषादि पच्चीस तत्व के लक्षण तृतीय स्कंध में लिखे हैं तीनों गुणों के लक्षण **"तत्र सत्वं निर्मलत्वात्"** इत्यादि गीता वाक्य में लिखे हैं। मन क्रियामय है तथा ज्ञानमय भी है। दिशा, वायु, सूर्य, प्रचेता, अश्विनी कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र ये दश इन्द्रियों के देवता हैं। **"वह्निर्वाग् भूत्वा मुखम्प्राविशत्"** इत्यादि श्रुति में देवताओं का ही इन्द्रिय रुप हो जाना लिखा है, इसलिये आध्यात्मिक के साथ आधिदैविक का अभेद मानकर इन्द्रियों में ही इन्द्रियों के देवताओं का वर्णन अन्तर्भाव होता है। **"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"** इत्यादि वाक्य से माया का तीनों गुणों में अन्तर्भाव है। **"सत्वं रजस्तम इति निगुर्णस्य गुणा**

स्त्रयः। स्थिति सर्ग निरोधेषु गृहीता मायया विभोः'' इत्यादि वाक्यानुसार जब भगवान् सृष्टि की इच्छा करते हैं तब अपनी सामर्थ्य रूप माया को अपने गुणों में डाल देते हैं। उससे वह माया गुणमयी कहलाती है। **''स भगवान् काल इत्युपलक्ष्यते''** इत्यादि वाक्यों से काल की तत्वों में गणना नहीं है सूत्रात्मक प्राण का महतत्व में अन्तर्भाव है प्राण तथा बुद्धि इनका अहंकार में अन्तर्भाव है।

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा।।

यद् रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते।।९९।।

आनंदांशतिरोभावः सत्वमात्रेण तत्र हि।।

मुख्यजीवस्ततः प्रोक्त : सृष्टीच्छावशगो हरिः।।१००।।

अक्षर काल कर्म स्वभाव इन चारों की भी तत्वों में गणना होनी चाहिये क्योंकि तत्वों के समान ये भी ब्रह्माण्ड के पूर्व प्रकट हुए है तथा इनके कार्य भी परिणामादिक प्रत्यक्ष है इसी शंका को दूर करने के लिये इनके स्वरूप का वर्णन करते हुए प्रथम अक्षर का स्वरूप वर्णन करते हैं **''प्रकृतिरिति''** भगवान् जिस स्वरूप में कार्य करना चाहते हैं उस रूप का ही (व्यापृत)अर्थात् विस्तार युक्त करते हैं जब भगवान् ज्ञान से मोक्ष देना चाहते हैं तब पुरुषात्तम भगवान् अपने चरण स्थानीय आधार भाग के चार स्वरूप करते हैं। अक्षर स्वरूप कालरूप, स्वभावरूप इन चार मूर्तियों में अक्षर दो रूप वाला है। प्रकृति, पुरुष ये दोनों अक्षर के रूप हैं। पुरुषोत्तम के स्वरूप से इनमें इतनी विलक्षणता है, आगे में जगद् रूप होऊंगा ऐसी इच्छा मात्र करके बढा हुआ जो तत्व उससे आनंदांश **''तिरोहित इव''** छिपे हुए के समान गुप्त हो जाता है। इसलिये सृष्टि उत्पन्न करने की इच्छा करके व्यापार वाले भगवान् मुख्य जीव शब्द वाच्य होते हैं। इसी से औडु लौमिमत में चिद्रूप जीवों को चिद्रूप ब्रह्म में ही प्रवेश लिखा है अर्थात् सृष्टीच्छाकर के व्यापार वाले ब्रह्म का आनंद तिरोहित हो रहा है। उसको चिद्रूप ब्रह्म में ही लय लिखा है।

इच्छा मात्रस्तिरोभाव स्तस्या मुपचर्यते।।

ब्रह्मकूटस्थाऽव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम्।।१०१।।

सर्वावरणयुक्तानि तस्मिन्नण्डानि कोटिशः।।

मूलाविच्छेद रूपेण तदाधारतया स्थितिः।।१०२।।

आनन्दांश का सर्वथा तिरोभाव नहीं होता है किन्तु तिरोहित के समान हो जाता है, वस्तुतः आनन्द मय ही है इसीलिये आगे अक्षर से पुरुषाकार होता है सर्वथा ही जो आनन्द का तिरोभाव होता है तो महत्तत्त्वाहंकार के समान अक्षर भी जड़ होने जाता है। इच्छा सघन होकर पृथक् स्थित होता है उसी का नाम प्रकृति है, अक्षर ब्रह्म जीव नहीं कहलाता है, ब्रह्म कूटस्थ अव्यक्त आदि शब्दों से कहा जाता है। सृष्टि के आदि में ''सदे

वेद मग्र आसीत असवेद मग्र आसीत् तमएसवेदमग्रआसीत्'' इत्यादिकों में असत् सत् तम आदि शब्दों से भी अक्षर ही का ग्रहण करना अक्षर है वह पुरूषोत्तम से पृथक् होकर के स्थित हैं वह अक्षर ब्रह्म ही जगत का करण है। उसमें ही कार्य रहता है। अर्थात् पृथ्वी जलादिकों के आवरण सहित करोड़ों ब्रह्माण्ड उस अक्षर ब्रह्म में स्थित रहते हैं। वे अक्षर ब्रह्म मूल पुरूषोत्तम में अभेद संबंध से रहते हैं।

प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकत्वेन तदुभवः।।
अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्यहि।।१०३।।
हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्वम्परमात्मनः।।
तदुपासनया ज्ञानात्परमात्मत्वमस्यहि।।१०४।।
ज्ञानमार्गे त्वेतदेव सेव्यं कृष्णस्ततोऽधिकः।।
रुपान्तरन्तु तस्यैव सर्वसामर्थ्यसंयुतम्।।१०५।।

उसमें प्रकार दिखाते हैं पुरुषोत्तम का सर्वदा आधार से अक्षर स्थित रहता है, जब पुरुषोत्तम प्रकट होते हैं तब अक्षर ब्रह्म भी बहुत प्रकार से होते हैं। अर्थात् प्रभु वैकुंठ में निवास करते हैं तब अक्षर ब्रह्म वैकुंठ लोकरूप तथा वैकुंठ के जड जीव रूप होकर प्रकट होते हैं इसी से वैकुंठ वासी जीव मुक्त कहे जाते हैं। पुरुषोत्तम तो अक्षर से भी बड़े हैं इसी कारण **''अभेदश्चास्मदादीनाम्''** इत्यादि वाक्य संगत होता है।

उपासना करने जब अन्तर्यामी रूप से प्रकट होते हैं। तब ज्ञानी आपके चरणारविन्द में प्रवेश होते हैं। अक्षर ब्रह्म आपके चरण रुप हैं ऐसे ही अवतार धारण करते हैं तब भी अक्षर ब्रह्म आपके चरण रूप ही रहते हैं, आधिदैविक रूपों में भी अक्षर ब्रह्म पादरूप रहते हैं। वेद भी आनंदमय परब्रह्म का जहां हंसरूप से वर्णन करते हैं वहां **''ब्रह्म पुच्छंप्रतिष्ठा''** इस श्रुति में आनन्दमय परब्रह्म रूप हंस की पूंछ अक्षर ब्रह्म रूप बताया है, ऐसे अक्षर ब्रह्म अनेक रूप है तथापि ज्ञानमार्ग में तो अचिन्त्य अर्थात् जिसका विचार करने में नहीं आ सके जिसका वर्णन नहीं कर सके ऐसे रूप से ही अक्षर ब्रह्म की उपासना करते हैं उनको क्लेश अत्यन्त होता है। जब उपासना से ज्ञान होता है तब परमात्मा को प्राप्त होता हैं भक्तिमार्ग में तो आरम्भ दशा से ही परमानन्द ज्ञान मार्ग के अन्त में है, ज्ञानमार्ग में अक्षर की उपासना है। भक्तिमार्ग में अक्षर से उत्तम पुरुषोत्तम की सेवा है **''अक्षरादपि चोत्तमः''** इस गीतावाक्य में अक्षर ब्रह्म से भी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण चन्द्र को अधिक बताया है। अक्षर का स्वरूप निरूपण करके काल का स्वरूप बताते हैं **''रूपान्तर मिति''** काल है वह अक्षर ब्रह्म का ही एक रूप है, सर्वरूप होने की तो सामर्थ्य नहीं है और ब्रह्म की सब सामर्थ्य काल में है इससे ब्रह्म के सब प्रकार का अधिकार वाला काल है यह बात सिद्ध हुई।

चिदानन्दतिरोभावस्तदनुद्गम एव च।।

ईषत्सत्वांश प्राकट्यं बहिरन्तस्तु सर्वतः।।१०६।।

चिदानन्दावपि तथा स कालः सकलोद्भवः।।

क्रियाशक्ति प्रधानत्वान्नित्यगः सकलाश्रयः।।१०७।।

परन्तु काल में ईश्वरेच्छा करके चैतन्य आनन्द का तिरोभाव है जड पदार्थ से भी काल विलक्षण है जड में सत् प्रकट रहता है इसमें सत् भी थोडा प्रकट रहता है उसमें महीना वर्ष, दिन, प्रहर, घड़ी, पल आदि रूपों से काल व्यवहार में भी आता है परन्तु किसी पुरुष के प्रत्यक्ष नहीं होता है। **''योन्तर्धाविति जन्तषु''** इत्याद्यनुसार जो सब के भीतर रहता है (बर्हिर्मुख) बाहर जिनकी इन्द्रियों की वृत्ति उनको बाहर काल का अनुभव होता है परन्तु प्रत्यक्ष नहीं होता है सच्चिदानंद रूप भगवान् हि काल का रूप होते हैं उससे ज्ञानियों को तो काल के भीतर सत् चित् आनन्द तीनों प्रकट दीखते हैं यह काल क्यों बनाया ?

उत्तर – काल पुरुषोत्तम की क्रिया शक्तिरूप हैं उसी से भागवत में काल को पुरूषोत्तम की चेष्टा रूप लिखा है समस्त जगत् के उत्पन्न होने में ये काल निमित्त कारण है इसको देखने से कुछ सिद्ध नहीं है किन्तु अर्जुन के तुल्य कालरूप देखने से भय मात्र ही होता है। इससे क्रिया शक्तिमात्र इसमें प्रधान रखा है उसी से सबका निमित्त कारण है और **''नित्यगः''** चलने का इसका स्वभाव है सदा चलता ही रहता है और सबका नियामक है सर्वजगत् को अपने भीतर धरकर आप सदा चलता रहता है, इसीलिये नित्य प्रलय की भी सिद्धि है सभी को लय करता है।

विकृतावेव तच्छक्ति : सर्वोत्पत्यन्तभावनः।।

ऐश्वर्यं भगवद्दत्तंतत्रैव प्रतितिष्ठति।।१०८।।

अतएवेश्वरः प्रोक्त सर्वान्तर उदीरितः।।

आसुरादिमते तस्मान्नान्यः सेव्य कथंचन।।१०९।।

इस काल में कृष्ण की सामर्थ्य है। विकार जितना है सब काल शक्तिका किया है सब पदार्थ के उत्पत्ति नाश में निमित काल है कितने ही काल को ही ईश्वर मानते हैं, कितने ही अन्तर्यामी को ईश्वर मानते हैं वहां काल ईश्वर कैसे हो सकता है यह शंका नहीं करनी, भगवान् ने काल को ईश्वरता दी है वह सर्वदा काल में रहती है। जैसे राजा मुख्य अमात्य को छत्र चमर गजादिक देता है, ऐसे ही भगवान् का मुख्य अधिकारी काल है जितने अधिकारी देता है उन सबकी अपेक्षा यह अंतरंग है असुर लोग काल को ही ईश्वर मानते हैं ईश्वर के तुल्य काल उनको कृष्णेच्छा के अनुसार फल भी देता है।

मुख्याधिकारी कृष्णस्य प्रभुवत्फलसाधकः।।

सूर्यगत्या तु तद्भेदाः सूर्यस्तस्याधिभौतिकम्।।११०।।

आध्यात्मिकन्तु तद्भेदाः क्वचिदिच्छापि भेदिका।।

विधिषेधप्रकारेण यः क्रियाशक्ति रूद्गमः ।।१११।।

काल के ज्ञान होने के लिये काल के भेदों को कहते हैं **''सूर्यगत्येति''** सूर्य की गति से इसके भेद मालूम पड़ते हैं काल का आधि भौतिक रूप सूर्य है। काल का आध्यात्मिक रूप सत्य युग त्रेता द्वापर आदि युग परमाणु से लेकर घडी प्रहर महिना वर्ष ब्रह्मा की आयुष्यतक है कहीं कहीं भगवान् की इच्छा भी काल का भेद कर देते हैं। जैसे रात्रिका विभाग इच्छाकृत है। कर्म का निरूपण करता है **''विधिषेधेति''** कर्म भी अक्षर का ही एक रूपान्तर है जैसे काल है वैसे ही है परन्तु इतना अन्तर है काल स्वतः प्रकट होता है कर्म का विधि निषेध के प्रकार से पुरुष प्रकट करता है काल की अपेक्षा लोकों में हित अहित करने में कर्म की विशेषता है करने वाले पुरुष को बुरे कर्म दुःख देता है। अच्छा कर्म सुख देता है। कर्म भी क्रिया रूप है।

तत्कर्म प्रगटन्तावत् यावत्फल समापनम्।।

तदेकम्भवद्रूपं साधारण्येन सर्वगम्।।११२।।

अग्रपश्चाद्भावभेदा द्विधा प्रकटमुच्यते।।

सृष्टौ साधारणन्तद्धि स्वांशेन प्रकटं यथा।।११३।।

जिसमें धर्म भगवान् का प्रवेश हो तब कर्म फल देते हैं, काल के समान कर्म सदा प्रकट नहीं रहता है। करने वाले को फ़ल नहीं मिले वहां तक कर्म प्रकट रहता है फिर लुप्त हो जाता है। कर्म व्यापक है और एक है विधि के द्वारा या निषेध करके जिस पुरुष से कर्म का जितना अंश प्रकट किया जाय उतना अंश प्रकट होकर उसको उतना फल देकर लुप्त हो जाता है। इसलिये साधारण रीति से एक ही कर्म से सब कार्य होते हैं। जीव जीव के साथ अलग अलग कर्म नहीं मानते । कर्म एक है तो एक साथ किसी प्राणी को दुःख और किसी को सुख कैसे दे सकता है। ऐसी शंका नहीं करना जिस काल में क़िसी पुरुष ने सुकर्म प्रकट किया उसी काल में दूसरे पुरुष ने निषिद्ध कर्म किया इस प्रकार अग्रपश्चात् भाव का भेद है फिर दोनों एक ही काल में प्रकट हुए कर्म पुरुष भेद से सुख व दुःख देता है वहां सृष्टि के प्रारम्भ में तो विधि निषेध का प्रकार था ही नहीं इसलिये कर्म भी उस समय प्रकट नहीं हुआ होगा फिर बिना कर्म महत्तत्त्वादिकों की उत्पत्ति कैसे हुई यह शंका नहीं करना क्योंकि उस समय साधारण कर्म विद्यमान था अर्थात् जैसे काल है वह भगवान् की इच्छा से तीनों गुणों की समता को मिटाकर सृष्टि प्रारंभ समय में रजोगुण को बढा देता है ऐसे साधारण कर्म भगवान् की इच्छा से महत्तत्त्वादिकों का परिच्छेद करने को उतने अंश से प्रकट होते हैं।

कालवत्सकलं रूपमंगन्तद्वशगन्तथा।।
इच्छामात्र प्रकटनं सर्वथा तत्तिरोहितम्।।११४।।
सर्ववस्त्वाश्रितम्पश्चात्स्वभावोऽयं हरेस्तनुः।।
वस्तूद्गमतिरोभावैस्तथा सत्वादिभिः पुनः।।११५।।

काल के समान कर्म में भी चित् आनन्द आदि का तिरोभाव है, काल के समान ही एक होकर व्यापक है और जो काल के वश हो रहा है उसी को कर्म व्याप्त कर सकता है और व्याप्त नहीं कर सकता है। अब स्वभाव का वर्णन करते हैं ''**इच्छामात्रेणेति**'' स्वभाव है वह सच्चिदानंद रूप से प्रकट नहीं होता है किन्तु भगवान् की इच्छा रूप करके स्वभाव प्रकट होता है। स्वभाव में सत्, चित्, आनंद का सर्वथा तिरोभाव है अर्थात् पदार्थों का (परिणाम) बदलने वाली जो भगवदिच्छा उसी को स्वभाव कहते हैं वह स्वभाव सब पदार्थों में रहता है, दूध का दही बन जाता है दूध का तैल नहीं बनता है, तथा मृत्तिका से पट (वस्त्र) नहीं बनता है घड़ा ही बनता है डोरों (सूतों) से घड़ा नहीं बनता है कपड़ा ही बनता है। इसमें भगवान् की इच्छा ही कारण है मयूर में चित्र विभिन्न रंग हो जाता है, हंस सफेद हो जाता है इत्यादि परिणाम का कारण स्वभाव ही है। स्वभाव इच्छारूप से प्रकट हो जाता है जैसे बुद्धि विज्ञानरूप से प्रकट हो जाती है, जैसे काल निराधार होकर भूत, भविष्य, वर्तमानादि व्यवहार का उपयोगी है, कर्म चेतन का आधार होकर के व्यवहार का उपयोगी है ऐसे स्वभाव है वह चेतन, अचेतन सब पदार्थों का आधार है अंशों से एक एक वस्तु का भी आधार है और स्वभाव है वह वस्तु के पीछे अथवा वस्तु में लीन नहीं रहता है किंतु वस्तु को अपने भीतर स्थित करके स्वभाव आगे प्रकट हो जाता है। जैसे दुष्ट पुरुष का स्वभाव उसके ज्ञान को दबाकर स्वरूप से प्रकट हो जाता है तथा पदार्थ के साथ ही प्रकट होता है, पदार्थ के साथ ही इसका तिरोभाव होता है तथा सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण ज्ञान, कर्म, मंत्र आदि का भी पूर्व स्वभाव का तिरोभाव करके दूसरे प्रकार के स्वभाव को प्रकट कर देते हैं।

परिणामस्तुतत्कार्यं सर्वानुभव साक्षिकम्।।
सामान्यतो विशेषेण न प्रकाशः कदाचन।।११६।।
एवं कालस्तथा कर्म्म स्वभावो हरिरेव सः।।
अतस्तदुद्गमः शास्त्रे न कदाचिदुदाहृतः।।११७।।

परिणाम रूप कार्य के द्वारा ही स्वभाव जाना जाता है। स्वभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान किसी का कभी नहीं होता है। इस प्रकार कालकर्म स्वभाव भगवान् हरि आप ही हैं। इसी कारण भगवतादिक में पृथ्वी जलादिकों के समान इनका बनना नहीं लिखा है वहां काल कर्म स्वभाव इनकी उत्पत्ति नहीं होने से कार्य में गणना नहीं करते हो तो कारण में गणना होनी चाहिये यह शंका नहीं करनी चाहिये।

सर्वसाधारणत्वेन न तत्तत्वं तदेव तत्।।

अभावः कारणं चात्र ध्वंसश्चापि तदुच्यते।।११८।।

कार्यादिशब्दवत्तस्मिन्सापेक्षा वृतिरेतयोः।।

अपृग्विद्यमानत्वान्न धर्मैरधिको गणः।।११९।।

इति कारण प्रकरणम्।।

जैसे भगवान् सर्वसाधारण हैं इसलिये तत्वकोटी में भगवान् की गणना नहीं है ऐसे ही काल कर्म स्वभाव भी सर्वसाधारण है इस कारण कारणभूत तत्वों में इनकी गणना नहीं है किन्तु इन तीनों को भगवदात्मकता है, नैयायकों के मत में प्रागभाव को कारण मानते हैं बाकी तत्वों में गणना होनी चाहिये यह शंका नहीं करना क्योंकि कार्य उत्पन्न हुए पहले जो उस कार्य का कारण में अभाव है उसका प्रागभाव कहते हैं। वह प्रागभाव का कारण से अलग नहीं है इसलिये उसको इन कारण तत्वों से अलग मानकर तत्व की अधिक संख्या बढाने में प्रमाण नहीं है क्यों कि आगे होने वाली कार्य की उत्पत्ति देखकर उसका अनुभव होता है यह ही अत्यन्ताभाव में और प्रागभाव में भेद है। इससे कार्य के पूर्व जो इस कार्य में अभाव है वह कारण नहीं है वह अभाव कार्य का वह कारण नहीं है वह अभाव कार्य के उत्पन्न होने में कुछ भी व्यापार नहीं करते हैं, कार्य उत्पन्न होते ही उस प्रागभाव को निवृत्त कर देते हैं ऐसे ही प्रध्वंसाभाव भी दंडादि रूप ही है। तिरोभाव शक्ति से अलग ध्वंसाभाव का स्वरूप नहीं बता सकते हैं इसलिये पदार्थ के दूसरे रूप को देखता हुआ पुरुष पहले रूप के तिरोभाव को देखकर के कार्य ध्वस्त हुआ ऐसा मानते हैं।

शंका – कारण से अलग प्रागभाव नहीं हो तो अभी घट का प्रागभाव है इत्यादि वाक्यों में प्रागभाव शब्द का क्यों उच्चारण होना चाहिये?

उत्तर – जैसे घटादिकों से अतिरिक्त कार्य नहीं है दंडादिकों से अलग कोई कारण नहीं तथापि लोक में दंडादिकों से घटादि बने हैं इस प्रकार बोलते हैं तथा कारण से कार्य बना है ऐसे भी बोलते हैं। ऐसे ही अवस्थान्तर प्राप्त कारण में प्रागभाव शब्द का भी प्रयोग होता है।

शंका – संख्या परिमाण, परत्व, अपरत्व, जाति आदि धर्मों को तत्वों में गिनना योग्य है। आप तत्वों के २८ अष्टाविंशति ही क्यों बताते हो?

उत्तर – संख्या आदि जो गुण हैं वे इन तत्वों से भी पृथक् होकर के नहीं रहे हैं। इस कारण इन तत्वों में ही उन गुणों का अन्तर्भाव है।

इतिकारण निरूपणम्।।

आनन्त्येपिहि कार्याणां गणभेदो द्विधान मतः।।
समष्टिर्व्यष्टिभेदेन केवले जड जीवता।।१२०।।
सर्वेषां त्रिगुणत्वाद्धि त्रयो भेदाः पृथङ्मताः।।
आधिदैविक माध्यात्ममधिभूतमितिश्रुताः।।१२१।।
सच्चिदानन्दरूपेण देहजीवेशरूपिणः।।
समष्टिव्यष्टिः पुरुषो जीवभेदास्त्रयोमताः।।१२२।।

ऐसे कारण का वर्णन करके कार्य के स्वरूप का ज्ञान होने के लिये अवान्तर भेदों का वर्णन करते हैं। यद्यपि कार्यअनन्त प्रकार का है, उससे यह घट है यह पट है यह कुंडल है इस रीति से नहीं जाना जाता है तथापि सब कार्य की दो राशि है समष्टिरूप ब्रह्मार्यण्डों की राशि १ अक्षर ब्रह्म में व्यष्टि रूप देहादिक की राशि २ ब्रह्माण्ड में है जितना कार्य है सब जड जीव रूप है यद्यपि जीव का नहीं है तथापि आनन्द के लिये देह में अभिमान रखते हैं; इसलिये कार्य कोटि में गिना जाता है, अन्तर्यामी देह में रहे परन्तु देह में अभिमान नहीं रखते हैं। इससे कार्य कोटि में गणना की जाती है। गुण तीन प्रकार का है उससे कार्य भी आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक इन भेदों से तीन प्रकार है स्वतंत्र जो अधिष्ठाता है वह देव कहलाता है आत्मा अभिमन्ता इन दोनों के बीच में जो सदंश देहादिक है जिससे इन दोनों का (व्यवच्छेद) होता है वह आधिभौतिक है। अधिदैविकादि तीनों पदार्थों के पृथक् पृथक् कार्य दिखते हैं। इससे परस्पर भेद मालुम पड़ते हैं। परन्तु ब्रह्मस्वरूप में भेद नहीं है जैसे एक ही पुरुष जब रसोई बनावे तब पाचक कहलाता है जब पढाने लगता है तब पाठक कहलाता है जब रक्षा करे तब पालक कहलाता है इसी प्रकार सच्चिदानंद रूप ब्रह्म है वह धर्मरूप सदंक्ष का कार्य प्रकट करता है। तब अधिभूत कहलाता है। चिद्धर्म का कार्य प्रकट करे तब अध्यात्म कहलाता है। धर्म रूप आनंदांश का कार्य प्रकट करता है तब अधिदेव कहलाता है स्वरूप में भेद नहीं है। ब्रह्म के सत् अंश से सत्वगुण, चिदंश से रजोगुण, आनन्द से तमोगुण प्रकट होता है, सत् अधिभूत है चित अध्यात्म है, आनन्द अधिदैव है, जीव के तीन भेद है समष्टि रूप ब्रह्माण्डाभिमानी जीव, व्यष्टिरूप अस्मदादि देहादिमानी जीव २ आवरण पुरुष ३ ये जीव के तीन भेद हैं व्यष्टिरूप अस्मदादिशरीर सत्प्रधान है, समष्टि रूप ब्रह्माण्ड शरीर चित्प्रधान है, पुरुष शरीर आनंद प्रधान है, उदाहरण कहते है देह अधिभूत है, जीव अध्यात्म है, अन्तर्यामी अधिदेव है, यद्यपि समष्टि व्यष्टि आवरण पुरुष ये तीनों तत्व में जो गिना गया है क्षर पुरुष उस के अवतार है उसमें "यस्यांशां शेन सृज्यन्ते" यह प्रमाण है तथापि देह के अभिमान रखने वाले हैं इसलिये जीवों में गणना है उसी एक देह में रहने वाला अन्तर्यामी शरीराभिमान नहीं रखता है। इस कारण ब्रह्मरूप में गिना जाता है। इस प्रकार तीन भेदों का जो ज्ञान है वह स्वरूप के तारतम्य का निश्चय कराकर मूलरूप के उत्कर्ष को बताते हैं।

अन्तयाम्यक्षरं कृष्णो ब्रह्मभेदास्तथा परे।।

स्वभावकर्म कालाश्च रूद्रो ब्रह्मा हरिस्तथा।।१२३।।

एक स्थान पर ही ब्रह्म तीन प्रकार के रहे हैं, उन प्रकारों को गिनाते हैं **"अन्तर्यामीति"** अन्तर्यामी अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म कृष्ण ये तीन ब्रह्म के भेद हैं। जैसे एक रथ में रथ चलाने वाला, रथ में बैठने वाला और बैठने वाले का जीवात्मा ये तीन पदार्थ हैं, जैसे रथ चलाने वाला रथ का नियामक है ऐसे व्यष्टि रूप देह वाले जीवों का नियामक अन्तर्यामी है जैसे रथ चलाने वाले का नियामक रथ में बैठने वाला है ऐसे अन्तर्यामी का नियामक अक्षर ब्रह्म है ये वार्ताप्रशासन श्रुति सिद्ध है।

"एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने द्यावा पृथिवीविधृते" इत्यादि जैसे रथ में बैठने वाला का नियामक उसका आत्मा है ऐसे अक्षर ब्रह्म के नियामक पर ब्रह्म कृष्ण है इसमें **"अक्षरादपि चोत्तमः"** इत्यादि प्रमाण है इस प्रकार सब पदार्थों में भगवान् विराजमान हैं और सर्व के नियामक हैं ऐसा ज्ञान हो तब सर्वत्र पुरुषात्तमत्व का दर्शन होता है। इस प्रकार पर ब्रह्म ही तीन प्रकार के हैं ऐसे ब्रह्म विषयक तीन वर्णन किये हैं इनमें से एक एक के बहुत से प्रकार हैं जैसे अक्षर के स्वभाव, कर्म, काल आदि प्रकार के हैं तथा ब्रह्मा, रूद्र, विष्णु आदि तीन प्रकार के भेद पर ब्रह्म श्री कृष्ण के तथा अन्तर्यामी के भेद नहीं है क्योंकि सर्वत्र भिन्न होकर स्थित रहते हैं।

अविद्या प्रकृतिर्माया निद्राचिन्तेन्द्रजालता।।

महत्तत्वं ब्रह्मरूपमस्मच्चितं तथैव च।।१२४।।

अहंकारो रूद्ररूपमहंकारोऽस्मदादिषु।।

मनश्चन्द्र शरीरंच मनोस्माकन्तथैव च।।१२५।।

चक्षुः सूर्यशरीरं च चक्षुरस्माकमेव च।।

मूलेन्द्रियाणि ब्रह्माण्डं देवदेहास्तथैव च।।१२६।।

अस्मदिन्द्रियवर्गश्च रूपत्रयमुदाहृतम्।।

चन्द्रश्चन्द्राभिमानी च मनः प्रेरक एव नः।।१२७।।

सूर्यो मण्डलमानी च चक्षुः प्रेरक एव नः।।

एवं सर्वत्र तद्भेदाः स्वयमूह्या विभागशः।।१२८।।

इन तीनों की शक्तिका निरूपण करते हैं। जीव की अविद्या शक्तिहै। प्रकृति अक्षर ब्रह्म की शक्तिहै। मायाकृष्ण की शक्तिहै, तथा अविद्या प्रकृति माया आदिकों के भी आधिदैविकादि तीन तीन भेद हैं जैसे द्वादश शक्तिमें जिसकी गणना है वह आधिदैविकी अविद्या है, पंच पर्वात्मिका आध्यात्मिकी अविद्या है। सीप में चांदी का भ्रम तथा रस्सी में सांप का भ्रम कराने वाली आधिभौतिकी अविद्या है। इस प्रकार प्रकृति माया के भी भेद

समझने निद्रा, तन्द्रा, इन्द्र जाल आदि अविद्या के अवान्तर भेद हैं ऐसे महत्तत्व भी तीन प्रकार का है, महत्तत्व आधिदैविक रूप है ब्रह्म शरीर आध्यात्मिक रूप है अस्मदादिकों का चित्त आधिभौतिक रूप है ऐसे अहंकार आधिदैविक रूप हैं रूद्र आध्यात्मिक रूप है अस्मदादिकों के अहंकार आधिभौतिक रूप है ऐसे पुरूष चक्षु आधिदैविक हैं, सूर्य का शरीर आध्यात्मिक है अस्मदादिकों के चक्षु आधिभौतिक है, पुरूषमन आधिदैविक है चन्द्रमा का शरीर आध्यात्मिक है अस्मदादिकों का मन आधिभौतिक है ऐसे ही मूलेन्द्रिय आधिदैविक है देवताओं की देह आध्यात्मिक है अस्मदादिकों इन्द्रिय आधिभौतिक है इन तीन तनी रुपों में भी एक एक के तीन तीन भेद है जैसे चन्द्रमण्डल आधिभौतिक चन्द्राभिमानी आधिदैविक मनः प्रेरक आध्यात्मिक है जैसे सूर्यमण्डल आधिभौतिक सूर्य मण्डलाभिमानी आधिदैविक अस्मदादिकों के चक्षुः प्रेरक आध्यात्मिक इस प्रकार सब पदार्थों में तीन तीन भेद स्वयं बुद्धि से समझ लेना अर्थात् आनन्द प्रधान आधिदैविक है, चित्प्रधान आध्यात्मिक है, सत् प्रधान आधिभौतिक है, सब स्थान पर मूल कारण आधिदैविक होता है अवान्तरकारण आध्यात्मिक होता है कार्यस्थ रूप आधिभौतिक होता है ऐसे ही काल के स्वरूप का विचार किया जाय, काल का सूर्य आधिभौतिक रूप है, सूर्य के स्वरूप का विचार किया जाय तो सूर्य आधिदैविक है जैसे सांबपुराण में सूर्य की अधिक महिमा लिखी है वहां मूलेन्द्रियात्मा आधिदैविक सूर्य समझना ऐसे ही जहां विष्णु का अपकर्ष लिखा है वहां **''विष्णुर्गत्यैव चरणौ''** इत्यादिकों में अस्मदादिकों के चरण प्रेरक आधिभौतिक विष्णु का वर्णन समझना इस प्रकार घट पटादि पदार्थ भी तीन प्रकार के हैं, वैदिक सृष्टि के जो घटदिक हैं वे आधिदैविक हैं, सत्सृष्टि के घटादिक आध्यात्मिक है, गुणंज सृष्टि स्थित घट पटादिक आधिभौतिक हैं।

तन्मात्राणि च भूतानां गुणाः कार्यगतास्तथा।।
महाभूतान्यावरणं मध्यभूतानि च क्रमात्।।१२९।।
अहंकार महत्तत्व प्रकृतीतां पुनस्तथा।।
मूलमावरणं चैव ब्रह्मान्तः करणन्तथा।।१३०।।
अन्येऽप्यवान्तरा भेदाः शतशः सन्ति सर्वशः।।
लोकपालास्तु ते त्वत्र स्वर्गस्थस्तु पुरन्दरः।।१३१।।
दशदिक्षु च ते चात्र मध्यस्थस्तु पुरन्दरः।।
तादृशैरपरैर्देवैः प्रतिमन्वन्तरं पृथक्।।१३२।।
लोकपालास्त्रिधा भिन्नाः स्थानैः सह विभागशः।।
लोका लोके मानसे च मेरोर्मूर्ध्नि तथैव च।।१३३।।

तन्मात्राओं के भेद का वर्णन करते है, पंचतत्वों के कारण जो मात्रात्मक रूप, रस, गन्ध, स्पर्श शब्द है वे आधिदैविक है, और पंचतत्व आध्यात्मिक है, कार्य के गुणरूप जो रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द वे आधिभौतिक है। ऐसे ही आध्यात्मिक महाभूत भी तीन प्रकार के हैं। कारण रूप महाभूत आधिदैविक है, ब्रह्माण्ड के चारों ओर लिपट रहे हैं जो आवरणरूप महाभूत आध्यात्मिक है, ब्रह्माण्ड के भीतर जो महाभूत है वे आधिदैविक है इसी प्रकार अठ्ठाईस तत्वों के भी तीन भेद हैं मूल कारण रूप अष्टाविंशति (२८) तत्व आधिदैविक हैं ब्रह्माण्ड जिनसे घिर रहा है वे आध्यात्मिक हैं और ब्रह्माण्ड के भीतर जो तत्व वे आधिभौतिक हैं ऐसे एक एक तत्व भी तीन प्रकार का है जैसे पृथ्वी के तीन स्वरूप हैं जिसके ऊपर मनुष्यादि रहते हैं वह आधिभौतिक पृथ्वी के तीन स्वरूप हैं जिसके ऊपर मनुष्यादिक रहते हैं वह आधिभौतिक पृथ्वी है, दैत्यों से दुःखी हुई गौरूप वाली जो ब्रह्माजी से प्रार्थना करने गई थी वह आध्यात्मिक पृथ्वी है और भगवान् की पत्नी है वह आधिदैविक पृथ्वी है ऐसे ही जलादिकों के भी तीन भेद समझ लेना, ऐसे ही लोकपाल भी तीन प्रकार के हैं, सात्विक अहंकार से उत्पन्न हुए जो दश इन्द्रियों के देवता हैं वे ही लोकपाल हैं क्योंकि उनके इनके एक ही नाम है जैसे अपना देह है वैसे ब्रह्माण्डाभिमानी पुरुष की ब्रह्माण्ड देह है जैसे अपने पिंड के हाथ, पांव आदि अवयवों के रक्षा करने वाले इन्द्र, वायु आदि देवता हैं, ऐसे ब्रह्माण्ड रूप देह के स्वर्गादिलोक रूप अवयवों के रक्षा करने वाले वे ही देवता हैं लोकालोक में रहने वाले देवता उनके आधिदैविक रूप हैं, मानसोत्तर पर्वत पर रहने वाले उनके आध्यात्मिक रूप हैं मेरूपर्वत के ऊपर रहने वाले देवता आधिभौतिक रूप हैं ऐसे ही इनके स्थान में भी तीन भेद हैं मेरू आधिभौतिक स्थान है, ये देवता साथ ही प्रकट होते हैं, साथ ही तिरोहित हो जाते हैं, मन्वन्तर मन्वन्तर में ब्रह्माण्ड के देवताओं के अंशरूप देवता अलग अलग हो जाते हैं, जैसे अपने कर्णो की दिशा देवता है। ऐसे ब्रह्माण्डाभिमानी पूर्वाभिमुख पुरुष के कर्णो के देवता भी दिशा हैं ऐसे सब इन्द्रियों के जानना चाहिये। ये देवता पृथ्वी मे तो दश दिशाओं के पालक होकर के अपनी दिशाओं में रहते हैं, वहां हस्ताभिमानी देवता इन्द्र पूर्व दिशा के पाल हैं, वाणी की देवता अग्नि अग्नि कोण का मालिक है, कर्णों की देवता दिशा है, वहां अपने आधिभौतिक यमराज के रूप से दक्षिण दिशा में रहते हैं वायु इन्द्रिय का देवता मित्र है वह अपने आधिभौतिक निर्ऋति देवता के रूप में नैऋत्य कोण में रहते हैं। जिह्वा का देवता वरूण है वह पश्चिम दिशा में रहता है। त्वचा इन्द्रिय का देवता वायु वायुकोण में रहता है, नासा इन्द्रिय का देवता अश्विनी कुमार अपने आधिभौतिक कुबेर रूप से उत्तर दिशा में रहते हैं, अभिमानाधिष्ठाता रूद्र ईशान कोण के स्वामी हैं, गुह्य के देवता ब्रह्मा ऊपर की दिशा में रहते हैं, चरण के देवता आधिभौतिक विष्णु नीचे की दिशा में रहते हैं, ये देवता इंद्रियों सहित अपने अपने गो लोकों में रहते हैं परन्तु हस्त का देवता इन्द्र तो मध्य भाग जो स्वर्ग है उसमें स्थित है, क्योंकि हस्त जैसे सर्व शरीर का स्पर्श कर सकता है ऐसे इन्द्र भी सर्वलोकों में विचरता हुआ तीनों लोकों में ऊपर जो स्वर्ग लोक है उसमें स्थित रहते हैं, स्वर्ग विराट के मध्यभाग में है।

ब्रह्मणोऽपि तथा सत्ये विराट् जीवस्तु भोगभुक्।।
गुणावतारस्त्वन्यः स्यादेव मन्यत्र सर्वशः।।१३४।।
कैलासादि विभेदश्च तथा वैकुंठवासिनः।।
कृत्रिमं च ध्रुवस्थानं श्वेतद्वीपं तथैव च।।१३५।।
एवमेक प्रकारेण गुणतस्त्रिविधं मतम्।।
सूर्यश्चक्षुस्तथा रूपं गोलकं चेति वा भिदा।।१३६।।
बुद्धिः खानि तथा मात्रा क्वचिदेवं भिदा त्रयम्।।
भगवद्व्यतिरिक्तानां घटादीनां यथोद्भवः।।१३७।।
इति कार्य प्रकरणम्।।

ब्रह्मादिकों के त्रिविध भेद का वर्णन करते हैं, सत्यलोक में आधिभौतिक ब्रह्मा है, ब्रह्माण्ड देह के सुख का भोक्ता विराट देह में अभिमान रखने वाला आध्यात्मिक ब्रह्मा है, सुमेरू पर्वत पर जिसकी पुरी है वह आधिभौतिक ब्रह्मा है, भगवान् के चिदंश से प्रकट हुए रजो गुण में अवतार लेने वाला नाभि कमल से जो प्रकट हुए हैं वे ब्रह्माजी इन तीनों से अलग हैं ऐसे शिवलोक के भी तीन भेद हैं, कैलाश में एक शिव लोक है, दूसरा शिवलोक सत्य लोक के ऊपर है, इस प्रकार ओर पुराणों के अनुसार तीसरा शिवलोक भी जान लेना ऐसे ही वैकुंठ के तीन भेद हैं लक्ष्मी जी की प्रार्थना से प्रकट किया आधिदैविक वैकुंठ है, ध्रुव जी जिस वैकुंण्ठ रहते हैं वह आध्यात्मिक वैकुंठ है, श्वेत द्वीप में आधिभौतिक वैकुंठ है।

पहले प्रकार में आनन्द प्रधान पदार्थ का आधिदैविक, चित्प्रधान, आध्यात्मिक, सत्प्रधान को आधिदैविक कह आये हैं, इस द्वितीय प्रकार में आनन्दादि धर्मों का ग्रहण करके तथा व्याकरणादि द्वारा आधिदैविकादि शब्दों का जैसे अर्थ होता है उसको भी लेकर तीन प्रकार वर्णन करते है सूर्य आधिदैविक है, चक्षु आध्यात्मिक है गोलक आधिभौतिक है, इस क्रम में आधिदैविक पदार्थ को प्रथम, आध्यात्मिक को द्वितीय, आधिभौतिक को तृतीय समझ लेना, तृतीय के दो भेद हैं गोलक और रूप, व्याकरण के द्वारा आधिदैविकादि पदों का जैसा अर्थ होता है उस को लेकर तृतीय प्रकार का वर्णन करते हैं, अस्मादादिकों के इन्द्रिय का प्रेरक **''भीष्मो हि देवः''** इत्यादि श्रुति सिद्ध मनरूप देव निष्ठ जो बुद्धि है वह आधिदैविक है, शरीर में रहने वाली इन्द्रि में आध्यात्मिक है पंचभूतों में रहने वाली रस रूप, गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि मात्रा आधिभौतिक है, ऐसे और पदार्थों में भी भेद जानना, यह प्रकार द्वादश स्कंध चतुर्थाध्याय में **''दीपश्चक्षुश्च रूपंच एवं धीः खानि मात्राश्च न स्युरन्यतमादृतात्''** इत्यादि स्थल में प्रसिद्ध है, ये प्रकार व्यवहार के उपयोगार्थ वर्णन किया है इस रीति से तीनों प्रकारों का निरूपण करके संपूर्ण पदार्थों का यथार्थ स्वरूप भगवान् ही है यह निरूपण

करते हैं वहां लौकिक सच्चिदानंद सब पदार्थ तथा इनके नाम रूप ये सब पदर्थ भगवत्स्वरुप माने तब उनके जन्म नाशादि क्यों होते हैं ऐसी शंका होती है। यदि उन पदार्थों के जन्म नाशादि नहीं मानते हैं तो घटादि सब पदार्थ विद्यमान ही हैं इनकी उत्पत्ति नाशादि करने के लिये क्रिया की आवश्यकता नहीं होगी तब क्रिया के लिये हस्तपादादिक कर्मेन्द्रिया भी वृथा ही होती ऐसे ही ज्ञान भी सर्व पदार्थ विद्यमान है तब पदार्थों के ज्ञान करवाने वाले नेत्र, श्रवणादिक ज्ञानेन्द्रिय भी वृथा होगी इसके लिये व्यवहार में आने वाले ज्ञान क्रियाओं की उत्पत्ति नाशादिकों का यथार्थ स्वरूप युक्तिद्वारा वर्णन करते हैं इसलिये कहे हुए आधिदैविकादि तीन भेदों का भी समर्थन हो जायेगा। वहां भगवान् के आविर्भाव, तिरोभाव तो वैदिकों में मानते हैं उनमें संदेह नहीं है किन्तु लौकिक पदार्थों में संदेह है, क्योंकि मायावदी उनको उंत्पत्ति नाशवाले मानते हैं, सांख्यवादी आविर्भाव, तिरोभाव वाले मानते हैं इसलिये घटादि पदार्थों के उत्पत्ति नाश का निर्णय करना आवश्यक है उसी में ज्ञानक्रिया के उत्पत्तिनाश का भी निर्णय हो जायगा। इसलिये इन्द्रियों के व्यर्थता की शंका भी दूर हो जायगी।

व्यवहारे तथा ज्ञान क्रियोरपि निश्चयः।।

न प्रतिस्फुरणं रूपरहितस्य कदाचन।।१३८।।

अविद्यायास्तथा बुद्धेर्नशुद्धत्वं कदाचन।।

बुद्धेर्वृत्तिः स्थितिर्नाम गुणतः सा त्रिधा मताः।।

अतो जागरणादीनि जीवस्तद्वशगो यतः।।१३९।।

माया वादियों के मत में कार्यरूप ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मानते हैं किन्तु ज्ञान के स्वरूप को नित्य मानते हैं, इसलिये नित्य ज्ञान की जो बुद्धि वृत्ति में प्रतिबिंब है उसको कार्यरूप ज्ञान कहते हैं वहां उनसे यह पूछना योग्य है तुम केवल ज्ञान रूप चित्त को नित्य कहते हो, वैसे सत् को तथा आनन्द को भी नित्य मानना चाहिये क्योंकि **"सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म"** इस श्रुति में सत् ज्ञान आनंद रूप ब्रह्म कहा है इसलिये जैसे ज्ञान ब्रह्म स्वरूप है वैसे सत् आनंद भी ब्रह्मस्वरूप है तथा नित्य मानते हो तो इन तीनों पदार्थों को ही नित्य मानना योग्य है, किंच ज्ञान रूप रहित वस्तु है इसका किसी देश में प्रतिबिंब नहीं हो सकता है।

दूषणांतर आज्ञा करते हैं – अविद्या ब्रह्मरूप ज्ञान का प्रतिबिंब जीव कहलाता है बुद्धि में ब्रह्मात्मक ज्ञान का प्रतिबिंब लौकिक व्यवहार में आने वाला ज्ञान कहलाता है। यह कथन मायावादी का जब बन सके, विद्या बुद्धि ये दोनों शुद्ध हो, ये तो दोनों ही मलिन है, मलिन वस्तु में प्रतिबिंब ही नहीं बन सकता है जो विद्या बुद्धि को शुद्ध मानकर इनमें अरूप ज्ञान का भी प्रतिबिंब मानोगे तो रूप वाले शरीर के भीतर के अन्यत्रों को तथा बाहिर के घटादि सदंशों का अविद्या बुद्धि में प्रतिबिंब होने में कुछ बाध कहा नहीं तब तो जो अविद्या में व्यापक जीव प्रति बिंबित है उस अविद्या में ही घटादि सब पदार्थ प्रतिबिंबित है सब के साथ तादात्म्य संबंध वाले ब्रह्म के समान जीव भी सब पदार्थ के साथ संसर्ग वाला होने से स्वरूप चैतन्य से सब पदार्थ का प्रकाशक

हो सकता है तब तो सब जीवों को सर्वज्ञता होनी चाहिये, कदाचित् कहोगे अन्तःकरण पृथक् पृथक् है तथा (प्रमाता) जानने वाला भी अलग अलग है इसलिये सबजीव सर्वज्ञ नहीं है यह बात तो नहीं बन सकती है, जीव को व्यापक मानते हो इसलिये सब जीवों का सब के अनावरण के साथ संबंध है फिर जानने वाले का भेद नहीं हो सकता है। अन्तःकरण का संबंध सब जीवों के साथ समान ही है फिर एक जीव अन्तः करण विशिष्ट है, दूसरा जीव उस अन्तःकरण विशिष्ट नहीं है, इसमें कोई कारण नहीं हो सकता है अदृष्ट की कारणता का तो पूर्व प्रकरण में खण्डन कर आये हैं, जीव का ही अविद्या में प्रतिबिंब होता है और सब घटादिकों का प्रतिबिंब नहीं हो सकता है इसमें भी कोई हेतु नहीं है किंच जीव प्रकाशक प्रतिबिंबरूप होने से स्वप्न से जैसे इंद्रिय बिना ही प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है वैसे पूर्व संस्कार वश से बिना ही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान हो जायेगा, इन्द्रियों की उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी अतः प्रतिबिंब प्रक्ष नही बन सकता है। इसलिये पदार्थ प्रकाशक ज्ञान है वह कार्य रूप ज्ञान है वह ज्ञान नित्यज्ञान से पृथक् है इसीलिये कोश तथा व्याकरण में बुद्धि के साथ चित्त आदि शब्दों की एकार्थता लिखी है। नेत्र मीलन करने के पश्चात् बाहर के पदार्थ का आकार भीतर दिखता है उसका नाम वृत्ति है वह वृत्ति बुद्धि से अलग नहीं है किन्तु सत्व, रज, तम से बुद्धि की अवस्था बदलती है उसी को वृत्ति कहते हैं, वृत्ति गुण जन्य है इससे ही तम आदि जन्य वृत्ति में भ्रमादिको का भी संग्रह है वह वृत्ति इन्द्रियों से जन्य है भ्रम से हुए घट के ग्रहण में भ्रम है उस देश में अनुभूयमान वृत्ति में ही घट में तथा आत्मा में नहीं है, वृत्ति को इन्द्रिय जन्य नहीं मानोगे तो घट में कहीं भी भ्रम नहीं होना चाहिये, किंच वृद्धि वृत्ति को गुणजन्य नहीं मानेगे तो स्वप्न जाग्रत सुषुप्ति इन जीव की तीन अवस्थाओं का कारण कुछ ओर ही मानना पडेगा तो "सत्वाज्जागरणम्" इत्यादि भागवत वाक्य का विरोध आयेगा इसलिये सत्वादिगुण वश से निश्चय संशयादिरूप बुद्धि वृत्तियों को जैसे इन्द्रिये प्रकट करती हैं वैसे ही तत्समानाकार विशिष्ट ज्ञान भी गुणवश से ही होता है इसलिये बुद्धि इंद्रिय जन्य नही है, तथापि बुद्धि की अवस्थारूप वृत्ति तो इंद्रिय जन्य नहीं है तथापि बुद्धि की अवस्था रुप वृत्ति तो इन्द्रिय जन्य ही है जीव बुद्धि के आधीन है इसलिये ज्ञान की उत्पत्ति में जीव स्वतंत्र कर्ता नहीं है सत्व अधिक होने से इंद्रियों से निश्चय रूप वृत्ति होती है। सत्व, रज समान होने से संदेह होता है, तम अधिक होने से अज्ञान रूप बुद्धि वृत्ति इन्द्रिय से प्रकट होती है, इस प्रकार ज्ञान की उत्पत्ति निरूपण करके प्रतिकूल ज्ञान से जाना जाता है ऐसा जो विषय दुःख तथा अनुकूल ज्ञान से जाना जाय ऐसा जो विषय सुख इन दोनों की उत्पत्ति का निरूपण करते हैं।

सुखदुःखसमुत्पत्तिर्नित्या ब्रह्मसुखात्पृथक्।।१४०।।
अंधंतमः प्रवेशाच्च हीच्छादीनां च सर्वशः।।
मनोधर्माश्च ये चान्ये भगवत्संगवर्ज्जिता।।१४१।।
उत्पद्यंते विलीयंते घटादिरिव नान्यथा।।

आविर्भाव तिरोर्भावौ शक्ती वै मुखैरिणः।।१४२।।

"सुख दुःख समुत्पत्ति रिति" सत्वगुण के बढने, घटने से जिसका **"तरतमभाव"** अर्थात् बढना घटना होता है ऐसी जो अंतःकरण की वृत्ति उसको लौकिक सुख कहते हैं। ऐसे ही तमोगुण के बढने घटने से तरतमभाव वाली अंतःकरण की वृत्ति लौकिक दुःख कहलाता है, इन वृत्ति रूप सुख दुःखों की उत्पत्ति तो परमत वाले भी मानते हैं इसलिये इसमें विवाद नहीं है। नैयायकादिक ब्रह्म में सुख नहीं मानते हैं इसलिये ब्रह्म सुख की भी कोई उत्पत्ति मान ले उसका निरास करते हैं **"ब्रह्मसुखात्पृथगिति"** ब्रह्म सुख से लौकिक सुख अलग है, ब्रह्म सुख उत्पत्ति वाला नहीं है। ऐसे ही अविद्या के उपासक जो असुर हैं उनका अंधतम में प्रवेश होता है, नित्य जो ब्रह्मानंद है उसके तिरोभाव से ही अंधतम कहते हैं, नित्यानंद तिरोभाव रूप है इसी से उत्पत्ति रहित होने के कारणों से वह नित्य है अर्थात् असुरों का अंधतम प्रवेश सदा ही रहता है, ऐसे ही लज्जा इच्छा द्वेष प्रयत्न प्रीति आदि जो भगवद् धर्म से अलग मन के धर्म है उनकी उत्पत्ति होती है, यद्यपि जो भगवद् धर्म से अलग मन के धर्म है उनकी उत्पत्ति होती है, यद्यपि भगवान् के धर्म इच्छादिक तथा मन के धर्म इच्छादिक (तुल्य) एक समान ही मालुम पड़ते हैं तथापि उनको समान नहीं समझना, कपूर और कपास दोनों एक से सफेद हैं तथापि बुद्धिमान् पुरुष इनको एक नहीं मानते हैं, ऐसे ही भगवान् के धर्म जो इच्छा आदि हैं वे नित्य हैं भगवद् रूप हैं अनेक धर्म जो इच्छा द्वेषादिक हैं वे कार्यरूप हैं अनित्य है यहां कितने ही ऐसी आशंका करते हैं **"सोऽकामयत"** यह श्रुति बहुत रूप होने के लिये भगवान् इच्छा (कामना) करते हुए ऐसा लिखा है वह कैसे हो सकता है, इच्छा तो विकार है तथा अनित्य पदार्थ है जो भगवान् इच्छा करते हों तो भगवान् भी इच्छा वाले होने से विकारी हुए। इत्यादि शंका करते हैं उसका भी यही समाधान है, अर्थात् भगवान् के धर्म इच्छा आदिक हैं वे लौकिक कार्यरूप अनित्य धर्मों से पृथक् हैं तथा नित्य हैं भगवद् रूप हैं इस प्रकार की अवतारादिक में भी इच्छा प्रीति लज्जा आदि धर्म हैं वे भी नित्य अविकारी आविर्भाव तिरोभाव वाले नित्य ही हैं इस प्रकार सब पदार्थों की उत्पत्ति लय वाले होने के कारण से तुल्यता बताकर घट, पटादिक (घडा, वस्त्र) सब पदार्थ ब्रह्मरूप हैं इसलिये नित्य हैं यह इस बात को सिद्ध करने के लिये उत्पत्ति नाशादिकों के स्वरूप का निर्णय करने वाली युक्ति से आज्ञा करते हैं **"आविर्भाव तिरोभावाविति"** करणस्थित जो कार्य उसको कारण से बाहर प्रकट करने वाली जो निमित्त कारण तथा उपादान कारण में रहने वाली शक्तिउसको आविर्भाव कहते हैं ऐसे ही तिरोभाव करने वाली जो शक्तिवह तिरोभाव शक्तिकहलती है अथवा कार्य में जो प्रकट होने की सामर्थ्य है वह आविर्भाव कहलाता है तथा कार्य में तिरोभूत होने की सामर्थ्य है वह तिरोभाव कहलाता है, ये दोनों भगवान् की शक्ति है **"परास्य शक्तिः"** इत्यादि श्रुतियों में भगवान् को अनन्त शक्ति वाले वर्णन किये हैं। यदि कारण में आविर्भाव शक्ति नहीं हो तो बीज वृक्ष रूप कैसे हो जाता है तथा वीर्य देहरूप कैसे हो जाता है इसलिये उन उन बीज वीर्यादि कारण में रहने वाली अपने अपने कारण के ही आकार के कार्य को प्रकट करने वाली भगवान् की आविर्भाव शक्ति अवश्य माननी, वह ही शक्ति

वीर्यादिको से देहरूप करके परिणाम करने में कारण है इसमें श्रीभागवत एकादश स्कंध में **"शक्तिभिर्दु र्विभाव्य भीरचिता वयवा हरेः"** इत्यादि वचन भी प्रमाण है, दूसरे पक्ष में प्रकट होना तथा तिरोहित होना आविर्भाव तिरोभाव शब्दों का अर्थ होता है ये दोनों धर्म घटादि कार्य में रहते हैं। घटादिकों के प्रति आविर्भाव धर्म ही कारण है ये दोनों भगवच्छक्ति है इसका कारण नित्य है और घटादि पदार्थ भी नित्य ही है उनके आश्रय ही ये दोनों धर्म रहते हैं। वहां आविर्भाव तिरोभाव नित्य है तो सदा ही घटादिकों के आविर्भाव तिरोभाव होते रहना चाहिये ऐसी शंका नहीं करनी क्योंकि जैसे आविर्भाव तिरोभाव शक्ति है वैसे भगवान् की इच्छा शक्ति भी सब शक्तियों से प्रबल शक्ति है इसलिये भगवान् की इच्छा सहित ही आविर्भाव तिरोभाव शक्ति पदार्थों का प्राकट्य तथा तिरोधान कर सकते हैं तथा उत्पत्ति मानने वाले के मन में भी उत्पत्ति धर्म में कौन धर्मी में रहे इसलिये धर्मी को नित्य मानना और उत्पत्ति की उत्पत्ति तथा उसकी उत्पत्ति मानने के रूप अनवस्था दोष भी उन के मन में आता है, किंच घटादि धर्मी पदार्थों को नित्य नहीं मानेगे तो घट नष्ट है घट उत्पन्न नहीं हुआ है, घट होता है इत्यादि व्यवहार भी नहीं बन सकेगा। क्योंकि उत्पन्न नहीं हुआ तथा फूटा हुआ जो घड़ा उसको फूटा ऐसे ही कह सकेंगे। फूटा हुआ घड़ा है ऐसे नहीं कह सकेंगे इसलिये जिस समय में घड़ा उत्पन्न नहीं हुआ अथवा फूट गया उस समय में भी कारण में छिपा हुआ घड़ा अवश्य रहता है इस कारण धर्मी का सनातन ही समझना, धर्मी है वह भगवान् ही है उनके अलावा धर्मी और नित्य नहीं हो सकता है तथा दीपक से दीपक का प्रकाश अलग नहीं हो सकता है वैसे ही धर्म भी धर्मी से पृथक् नहीं है इस कारण धर्म भी भगवान् का ही रूप है इस प्रकार सर्वजगत् भगवद रूप है तथा कारण रूप से नित्य है उससे भ्रम वाले बालकों के विचार करने की सामर्थ्य नहीं है इसलिये शब्दार्थ के उलंघन से मन माने उत्पत्ति नाश पद के अर्थ करते हैं इससे उनके मत में हम दूषण भी नहीं देते हैं। जैसे पाप रूप मुरदैत्य को दूर करके मुरारि नाम से प्रसिद्ध हुए ऐसे ही सर्वत्र जगत में प्राप्त हुए अनित्यत्वादि दो दोषों को दूर करने के लिये सब पदार्थों के स्वरूप धारण करके भगवान् प्रकट होकर के सर्वात्मा सर्वरूप कहलाते हैं।

भक्त्यात्वाद्यो द्वितीयस्तु तदभावाद्धरौसदा।
सर्वाकारस्वरूपेण भविष्यामीति या हरेः।।१४३।।
वीक्षा यथा यतो येन तथा प्रादुर्भवत्यजः।।
मृदादि भगवद्रूपं घटाद्याकारसंयुतम्।।१४४।।

आविर्भाव तिरोभाव स्वतः ही सब पदार्थों के होते रहे हैं तब तो भगवान् का भी आविर्भाव स्वतः ही हो जायगा तथा लौकिक कार्य का भी आविर्भाव हो जायेगा फिर शास्त्रों में लौकिक अलौकिक साधन का क्यों वर्णन किया इस शंका को दूर करते हुए आविर्भाव तिरोभाव से लेकर जितने पदार्थ हैं उनके आविर्भाव तिरोभाव का निरूपण करते हैं वहां मूलभूत आविर्भाव तिरोभाव की प्रणाली दिखाते हैं **"भक्त्यात्वाद्य इति"** भगवान्

का आविर्भाव भक्ति जैसे देश काल भक्ति के अनुकूल है वैसे देश काल सहित हो तब उससे भगवान् का आविर्भाव हो उसके तिरोभाव में भगवान् तिरोहित हो जाते हैं देश काल भक्ति के अनुकूल नहीं हो तो बाहर से तिरोभाव होकर हृदय में आविर्भाव हो जाता है, धर्म की रक्षा करने के लिये असुर मारने के लिये भगवान् प्रकट होते हैं तब भी भक्ति से ही होता है जैसे हिरण्य कशिपु को मारने के लिय नृसिंह जी का आविर्भाव प्रल्हादजी की भक्तिसे ही हुआ। ऐसे ही और पदार्थों में आविर्भाव तिरोभाव का भी वर्णन करते हैं, जिस जिस आकार से अर्थात् घट पटादि आकार से जिस देश में जिस प्रकार के जो साधन करके प्रकट होने की भगवान् की इच्छा हो वैसे सब साधन सिद्ध करके उनके द्वारा आप प्रकट होते हैं वहां दृष्टान्त देते हैं, जैसे मृत्तिका से घट का आविर्भाव होता है अर्थात् मृतिका में जितने घडे उत्पन्न होने वाले हैं वे सब कारणता से मृत्तिका में विद्यमान है यह मानना आवश्यक है, यदि ऐसे नहीं हो तो मृत्तिका से घडाओं का उत्पन्न होने वाले हैं से सब कारणता से मृत्तिका में विद्यमान है यह मानना आवश्यक है, यदि ऐसे नहीं हो तो मृत्तिका से घडाओं का उत्पन्न होना नहीं बन सकेगा। मृत्तिका आदि कारण में घटादि कार्य के प्रादुर्भाव करने की जो सामर्थ्य है उस कारण से भगवद्रूप मानने से संगत होता है, इससे मृत्तिका आदि पदार्थ भावद्रूपही है। घटादि कार्य भी मृत्तिका में ही लीन रहता है, वह घटादिकार्य भी प्रपंच स्थानीय भगवद् रूप ही है।

मूलेच्छातस्तथा तम्मिन्प्रादुर्भावो हरेस्तदा।।
तिरोभाव स्तथैव स्याद्रूपांतरविभेदतः।।१४५।।
वृद्धिर्विपरिणामश्च तथापक्षय एव च।।
पूर्वरूप तिरोभावो द्वितीयस्यादिमस्तथा।।१४६।।
उभावेकीकृतौ लोके वृद्धयादिभिरुदीरितौ।।
परिणामाधिक्यतश्च वैजात्यान्नयून्न्यूनभावतः।।१४७।।

जब मूलरूप पुरुषोत्तम की इच्छा होती है तब वैसी रीति के ही दंडादि साधन के द्वारा कुंभकार के व्यापार से घटरूप कार्यात्मक भगवद्रूपका आविर्भाव होता है जैसे नट क्रम से अनेक रूप को धारण करता है वैसे भगवान् भी सुवर्णादिक में से कटक, मुकुट, कुंडलादि अनेक रूप धारण कर प्रकट होते हैं ऐसे ही जब जिस प्रकार से जिन साधन से तिरोभूत होने की इच्छा होती है तब उस प्रकार के उन साधनों से आपका तिरोधान होता है परन्तु प्रपंच में आपके एक रूप का तिरोभाव होता है वहां दूसरे रूप का अवश्य आविर्भाव हो जाता है। जैसे बीज रूप का तिरोभाव होते ही दूसरा अंकुर रूप उत्पन्न हो जाता है। जैसे नट जहां तक अपने चरित्र को करना चाहे वहां तक पहला रूप छिपाकर शीघ्र ही दूसरा रूप प्रकट करता है, बाहर दीखता हुआ ही जब हाथी दीखने लगता है तब देखने वाले को बडा आश्चर्य होता है वैसे यहां भी अंकुर दीखता हुआ ही थोड़े समय में वृक्ष दीखने लगता है, यही मूलरूप भगवान से प्रपंच रूप भगवान में विशेषता है, मूलरूप में दूसरे रूप

के आविर्भाव करने की आवश्यकता नहीं वहां तक भगवान् जगत का विस्तार करना चाहे वहां तक पूर्व पूर्व रूप के तिरोभाव के साथ ही दूसरे दूसरे रूप का आविर्भाव करते रहते हैं ऐसे ही जो वस्तु जल जाती है उसका दूसरा रूप भस्म रूप में प्रकट हो जाती है।

लोक प्रतीति मानकर अनित्य जड वस्तु के आविर्भाव तिरोभाव उत्पत्ति नाश शब्दों से कहा जाता है नित्यपरिच्छिन्न जीव के आविर्भाव तिरोभाव समागम निर्गम शब्द से कहा जाता है नित्य अपरिच्छिन्न भगवदवतार के आविर्भाव तिरोभाव प्राकट्य तिरोधान शब्द से कहा जाता है अथवा इस जगत् की भगवान् के साथ तुल्यता **"अखण्डं कृष्णवत्सर्वम्"** इस श्लोक के व्याख्यान में कहेंगे। पहले के रूप से अधिकं परिणाम वाले दूसरे रूप के आविर्भाव का (वृद्धि) बढना कहते हैं प्रथम रूप के परिमाण से न्यून परिमाण वाले दूसरे रूप के आविर्भाव से (ह्रास) घटना कहते हैं। प्रथम रूप से विलक्षण दूसरे रूप के आविर्भाव को (परिणाम) अर्थात् बदल जाना कहते हैं, जैसे दूध का दही के रूप में परिणाम हो जाता है इस प्रकार **"जायते वर्द्धते विपरिणमते"** इत्यादि छः भाव विकारं भी आविर्भाव तिरोभावों में गतार्थ है।

मनश्चान्नमयं वेदे तदस्माकमथापिवा।।
पोषितत्वात्तदन्नेन तद्रूपेणोपवर्ण्यते।।१४८।।
एवं सृष्टि प्रभेदेषु कल्पेषु च तथैव च।।
प्रकार भेदा दोषाय न भवंति तदिच्छया।।१४९।।
इंद्रियाणां प्रमाणत्वं सत्वयोगान्न चान्यथा।।
सत्वस्य तारतम्येन याथार्थ्यं वस्तुनः स्फुरेत्।।१५०।।
अतः प्रमाणगणना लोकेषु न विचार्यते।
व्यवहारः सन्निपातो गुणानां स च लौकिकः।।१५१।।
शास्त्रसिद्धेः पूर्वसिद्धः प्राणिमात्रस्य सर्वतः।।
तस्य त्रिविधरूपत्वन्नाममात्रेण सा प्रभाः।।१५२।।

शंका - **"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च"** इस श्रुति में ब्रह्म से मन की उत्पत्ति लिखी है **"अन्नमयं हि सौम्य मनः"** इस श्रुति द्वारा मन का अन्नमय वर्णन किया है, दोनों कैसे संभव हो सकते हैं?

उत्तर - अहंकार कार्य से अतिरिक्त अस्मदादिकों के मन को अन्नमय समझना अथवा आरूणि ऋषि ने श्वेत केतु नाम वाले शिष्य को पन्द्रह दिन उपवास कराये तब मन सूक्ष्म हो गया फिर अन्न भक्षण करने से मन बढता चला गया, इत्यादि कथा से ज्ञात होता है कि अन्न से मन पुष्ट होता है, अन्न के नहीं खाने से सूक्ष्म हो जाता है इसीलिये मन को अन्नमय कहा गया है इस प्रकार भगवान ने अनेक कल्पों में अनेक प्रकार से सृष्टि करते

हैं अलग अलग प्रकार से सृष्टि के भेद अलग अलग कल्प के अनुसार है इसलिये उनमें विरोध नहीं आता है, ये भेद परस्पर सृष्टि में विचित्रता दिखाने के लिये इच्छा करके किये हैं।

शंका – सभी प्रमाण वाददियों के मत में प्रत्यक्ष प्रमाण को सभी प्रमाण से प्रबल माना है जगत को नित्य मानना यह बात प्रत्यक्ष प्रमांण से विरूद्ध है प्रत्यक्ष में जगत् के पदार्थ (अनित्य) नाशवाले दीखते हैं।

उत्तर – सत्वगुण सहित ही बुद्धि प्रमाण है, सत्व गुण बढे तब अन्तःकरण यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न करता है **''सत्वात्संजायते ज्ञानम्''** सत्वगुण से ज्ञान प्रकट होता है ऐसा भगवद्वाक्य है, सत्वगुण के लय होने से ज्ञान प्रकट करने वाली सामग्री जो इन्द्रियादिक है वे भी भ्रम को पैदा करने लगे है इसी कारण सत्वगुण ही प्रमाण है। सत्वगुण का कार्य ही प्रामाणिक है। रजोगुण तो लौकिक व्यवहार का उपयोगी है लौकिक व्यवहार में अर्थात् रजोगुण संयुक्त इन्द्रियों से जो भेद सहित नाना पदार्थों का ज्ञान होता है वह लोक व्यवहार का निर्वाहक है। तमोगुण तो अप्रमाण ही है। रजोगुण तमोगुण के मेल होने से जैसे जैसे सत्वगुण घटता जाय वैसे वैसे यथार्थ ज्ञान से हीनता होती चली जाती है। जैसे शुद्ध सत्व से यथार्थ ज्ञान सत्वरस से लौकिक ज्ञान रजतम से दबाये गये सत्व से संदेह, तमोगुण के अधिक होने से भ्रम उत्पन्न होता है, इसी से लोक में कभी नेत्र से यथार्थ रस्सी दीखती है कभी उन्हीं नेत्रों से रस्सी में सर्प भ्रम हो जाता है इस प्रकार इन्द्रियादिक की यथार्थ व्यवस्था नहीं इसी कारण नैयायक मत के समान प्रत्यक्ष अनुमान उपमादि प्रमाणों की गणना हम नहीं करते हैं क्योंकि रजोगुण मिश्रित लौकिक ज्ञान का परमार्थ दशा में कुछ उपयोग नहीं है।

कदाचित् कहोगे लौकिक व्यवहार चलाने के लिये तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों की गणना करना चाहिये?

उत्तर – **''व्यवहारः सन्निपातोमनोमात्रेंद्रियासु भिः''** इत्यादि भगवद्वाक्य से लौकिक व्यवहार तो सन्निपातरूप है, सन्निपात का कार्य प्रमाण नहीं होता है।

शंका – जैसे लौकिक व्यवहार मन मात्रा इन्द्रियादि से होता है वैसे शास्त्र में कहे यज्ञ श्राद्ध उपासनादिक भी मन मात्रा इन्द्रियादिकों में ही होती है। इनका भी सन्निपातरूप अप्रमाणिक ही मानना चाहिये।

उत्तर – सन्निपात रोगी औषधि के लिये प्रथम तो कुचेष्टा है वही सन्निपात कार्य समझी जाती है, सन्निपात नाशक औषध लेने के पश्चात् जो सुन्दर चेष्ठा है वह सन्निपात कार्य नहीं समझी जाती है, ऐसे ही पहले से हो रहा जो सब प्राणी पशु आदिकों के समान में ये मेरा इत्यादि लौकिक व्यवहार वह ही सन्निपात है क्योंकि **''अहमित्यन्यथा बुद्धिः प्रमत्तस्य यथा सदा। मनसो हृदि वर्तेत रजोवेग विमोहिता''** इत्यादि भगवत वचनों से रजोगुण के वेग से मोहित मन के कार्य को ही सन्निपात कार्य कहा वेद शास्त्र सिद्ध जो यज्ञादिक व्यवहार वह तो रजोगुण प्रेरित मंत्र के कार्य नहीं है, क्रिन्तु शास्त्र विधिप्रेरित है इसलिये औषधवत् सन्निपात निवर्त्तक हैं सन्निपात कार्य नहीं है लौकिक व्यवहार में भी तीन भेद हैं वे एकादश स्कंध के भागवत पंच विंशाध्याय में **''प्रवृत्ति लक्षणे निष्ठा''** इत्यादि श्लोकों में कहा है इसलिये **''जीवो जीवेन**

निर्मुक्तो" इत्यादि वाक्यों से लौकिक व्यव्वहार नाममात्र के प्रमाण है परमार्थ में प्रमाण नहीं है।

तस्माद्वेदादि रेवात्र प्रमाणं तच्च कीर्तितम्।।
अपंचीकृतरूपं हि सूत्रमात्र हरिः स्वयम् ।।१५३।।
सुषुम्णा मार्गतो व्यक्त : शब्दब्रह्म प्रकाशते
पंचाशद्वर्णरूपंच सूक्ष्मो नित्यो निरंतरः।।१५४।।
सर्वतोऽन्तो ऽनन्तरूपो बहुरूपः स्वभेदतः।।
वर्णः पदं तथा वाक्यं तस्य नामत्रयं मतम्।।१५५।।

इसीलिये ही पूर्व प्रकरण में शब्द रूप वेदादिकों को ही प्रमाण कहा है। वेद के अविरोधी जो हो वही प्रमाण है। ऐसे रूप प्रपंच का वर्णन करके नाम प्रपंच रूप वेदादिकों का निर्णय करते हैं। अधिष्ठान कर्ता करण कर्म दैव ये पांच रूपात्मक प्रपंच के प्रकट करने वाले हैं। अर्थात् अधिष्ठान माया कर्ता भगवान्, करण, कर्म, क्रिया, स्वभाव, दैव, काल इस प्रकार पंचात्मक भगवान् आदि सृष्टि में पदार्थों के प्रकट करने वाले हैं। अवान्तर सृष्टि में, अधिष्ठान, शरीर, कर्ता, जीव, करणं, इंद्रिय, कर्म, विविध चेष्टा, दैव, भाग्य इस प्रकार पांच रूप वाले भगवान् सृष्टि करते हैं शब्द सृष्टि इन पांच रूपों रहित सूत्रात्मा भगवान् जिनका महतत्व में अवतार है वह आसन्य प्राणरूप भगवत्स्वरूप शब्द सृष्टि के कारण हैं। शब्द सृष्टि का प्रकार दिखाते हैं सुषुम्णा मार्ग से शब्द ब्रह्म प्रकाशित होता है, जैसे अवकाश में काष्ठ के घिसने से पवन की सहायता से बढी हुई जो ऊष्मा उष्णता अणुमात्र अग्नि कण रूप होकर घृतादिक से बढती हुई चली जाती है। ऐसे ही शब्द सृष्टि करने की भगवान् को इच्छा हुई तब भगवान् जीव की मुख्यापाधि रूप आसन्य सूत्रात्मा प्राणात्मा होकर के घोष, अव्यक्तनाद सहित हृदय में प्रवेश करके मनोमय सूक्ष्मरूप प्रयत्न द्वारा विशेष से हृदय, कंठआदि स्थान भेद से मात्रास्वरादि स्थूल वर्णरूप वैरवरी हो जाती है।

तृतीय स्कंध सुबोधिनी की रीति से प्रकाश रूप जो अविकृत भगवान् का गुण रूप ज्ञान है वह ही घोषवान् प्राण रूप होकर वेद शरीर का ग्रहण करता है। शब्द ब्रह्म के अंश भी पूर्ण ही है अर्थात् पचास वर्ण है ये शब्द ब्रह्म के अंश है शोडष स्वर है अ आ इ ई इत्यादि पंचविंशति स्पर्श है। क ख ग घ ङ से लेकर प फ ब भ म पर्यन्त अन्तस्थ चार य र ल व उष्माण चार शष सह। अन्त का अक्षर है ककार षकार मिलाने से क्ष बनता है परन्तु इसका श्रवण भिन्न है। इस कारण पृथक् गणना है। क्ष है वह ज्ञ का भी उपलक्षक है अवान्तर अनुनासिकादि भेद बहुत है किसी ग्रंथ में चार और साठ वर्ण माने हैं। किसी में तरेसठ कहीं इक्कावन किसी ग्रन्थ में बावन वर्ण माने हैं। तथापि मातृका विद्या में सिद्ध जो पक्ष है उसका ग्रहण है भगवद्रूप होने से सर्व वस्तु नित्य है तब भी व्यवहार में आये वे क ख ग घ ङ आदि वर्ण की नित्यता सिद्ध करने के लिये (वर्णाः) इति बहुवचन का प्रयोग किया है।

जितने वर्ण हैं सब नित्य है और व्यापक हैं जो वर्ण व्यापक नहीं हो तो अनेक देश में एक काल में अनेक पुरुष उच्चारण नहीं कर सकते सभी स्थान पर सभी वर्ण निरंतर विद्यमान हैं। कंठ तालु आदि स्थानों में प्राणवायु के आघात से प्रकट होते हैं और स्थान पर जहां प्रकट होने का साहित्य नहीं हैं वहां भी विद्यमान है भगवान् के समान सर्वशक्तियुक्त हैं अनन्त रूपवाले हैं अर्थात् भगवान् बहुरूप है ऐसे शब्द भी बहुरूप हैं। जैसे भगवान् ने तीन भेद सत् चित् आनंद ऐसे शब्द में वर्णपद वाक्य ये तीन भेद हैं।

द्वयं चाविकृतं लोके वेदे सर्वं स्वयं हरिः।।

वर्णाः पदानि सर्वाणि भगवद्वाचकत्वतः।।१५६।।

सर्वार्थान्येव सर्वत्र व्यवहृत्यै तथापि तु।।

शक्ति संकोचतो लोके विशेषख्यापनानि वै।।१५७।।

वर्ण पद दोनों नित्य हैं। लौकिक वाक्य अनित्य है। क्यों कि आधुनिक बुद्धि परिकल्पित है लोक में वाक्य के वर्ण तो नित्य ही हैं। वैदिक वाक्य तो नित्य है। वेद में तो वर्ण पद वाक्य तीनों स्वयं हरि हैं किसी के मत में पद ही अर्थ वाला मानते हैं। वर्ण वाक्य अर्थ वाले नहीं मानते हैं। किसी के मत में क्यों को भी अर्थ वाला माना हैं। हमारे मत में तो वर्ण भी अर्थ वाले हैं **"वेदाक्षराणि यावन्ति पठितानि द्विजोत्तमैः। तावन्ति हरि नामानि कीर्तितानि न संशयः।।"** इत्यादि वाक्यों में वेद का एक एक अक्षर भगवान् का नाम है यह स्पष्ट लिखा है। सर्व वर्ण भगवान् के वाचक हैं और भगवान् सर्वरूप हैं इसलिये सब वर्ण तथा पद सब वस्तु के वाचक माने जाय तो बुभुक्षित पुरुष के मुख से **"अन्नं देहि"** ऐसा उच्चारण सुनकर वस्त्र दिया जाय तथा शीतातुर पुरुष को **"वस्त्रं देहि"** ऐसा उच्चारण सुनकर जल दिया जाय तो लौकिक व्यवहार बिगड् जाय इसलिये शब्दों की सामर्थ्य की संकोच करके एक एक दो दो पदार्थों के वाचक ही एक एक शब्द मानते हैं अर्थात् देश काल के भेद करके उच्चारण किया हुआ यह शब्द इसी अर्थ का बोध करता है इसलिये जितने शब्द हैं सब संकुचित शक्ति होकर के पदार्थ विशेष के वाचक हो गये, जैसे घट यह शब्द सभी पदार्थ का वाचक है परन्तु व्यवहार सिद्धि कि लिये घड़ा कोई वाचक मानते हैं। कूप, सूप, यूप इन शब्दों के अवयव जो वर्ण हैं केवल वर्णन के समान हैं तथापि एक एक वर्ण एक एक अर्थ का प्रतिपादन नहीं करता है वैसे हो तो व्यवहार सिद्धि नहीं हो व्यवहार चलने के लिये पद मध्य पाति वर्ण का सर्वथा शक्ति संकोच मानकर उनको अवाचक मान के पद का वाचक मानते हैं सर्वथा वर्णो का निरर्थक तो नहीं मानते हैं अन्यथा अच् प्रत्ययादिको का भूआदि धातुओं का भी अर्थ नहीं होगा व्यवहार ही इस विषय में नियामक है।

तत्र व्याकरणादीनां व्यवस्थापकता मता।।

देशे देशे तथोच्चारो भाषाभेदैरनेकधा।।१५८।।

अनंतमूर्तयो वर्णाः पदे तेनार्थ वाचकाः।

केवलाः कोशतो ज्ञेया वाचकाः पदतोथवा।।१५९।।

जब शक्ति संकोच माना तब घट पटादि शब्दों से किस प्रकार की उपस्थिति होगी वहां व्यवस्था कोष व्याकरणादि से कर लेना भाषा के शब्दों के उच्चारण में अलग अलग देश के अलग अलग भाषाओं के भेदों को करके व्यवस्था कर लेनी इस रीति से सर्व व्यवहार बन सकता है। वर्ण से पद बलिष्ट है पद से वाक्य बलिष्ट है पद में वर्णवाचक नहीं है वाक्य में पद वाचक नहीं है, वर्ण अनन्त मूर्तिवाले हैं पदों में जो वर्ण हैं वे गौण हैं केवल जो वर्ण हैं वे एकाक्षर कोष के अनुसार तथा निघण्टु द्वारा व्यवहार में भी अर्थ के वाचक हैं वे मुख्य हैं।

पदं न वाचकं वाक्ये सादृश्यात्स्मारकं परम्।।

विशिष्टं वाक्यमेवात्र वाक्यार्थस्य च वाचकम्।।१६०।।

पदान्तर प्रवेशेन विशिष्टे वाच्य वाचके।।

पटवद्वाक्य भेदश्च वाक्यार्थश्चापि भिद्यते।।१६१।।

वाक्य में पद भी अर्थ वाचक नहीं है वहां वाक्य के पदों को अर्थवाचक नहीं मानते हो तो जो पुरुष पदों के अर्थ को नहीं जानते है, उसको भी वाक्य के अर्थ का ज्ञान होना चाहिये ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, वाक्य के अवयव रूप हो रहे जो पद हैं वे उनके तुल्य स्वतंत्र पदों के अर्थों को स्मरण कराने वाले है उनके है उनके द्वारा वाक्यार्थ का ज्ञान होता है इसलिये वाक्य सदृश स्वतंत्र पदों के अर्थ जानने वाले को ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है यदि वाक्य के अवयवरूप पदों को अपने अपने अर्थों के वाचक मान लें तो वे अपने अपने अर्थ को बताकर कृतार्थ हो जांय फिर वे पद वाक्यार्थ को प्रकट नहीं करेंगे इसलिये अन्वय सहित वाक्य हैं वे वाक्यार्थ का बोध कराने वाले हैं। विवक्षित अर्थ के बोधक पदों का सम्बन्ध का अन्वय कहते हैं वहां वाक्य अनन्त है उनमें संकेत का ज्ञान कैसे होगा यह शंका नहीं करनी क्योंकि जैसे दो तन्तु (सूत्रों) के बने हुए वस्त्र को पहचानने वाला तिहरे तन्तु के बुने हुए वस्त्र को भी पहचान लेता है। ऐसे ही **''घट मानय''** घड़ा लाओ। इस वाक्य को जानने वाला शीघ्र पद के प्रवेश करके **''शीघ्रं घट मानय''** शीघ्र घड़ा लाओ पहले के वाक्य से अलग जो वाक्य है इसके अर्थ को भी जाना जाता है इस प्रकार क्रिया पदों में प्रवेश करके अलग अलग हुए अनेक वाक्यों के अर्थ का भी अभ्यास दृढ़ होने से जाना जाता है।

अवान्तराणां वाक्यानां स्मारकत्वं तथापरे।।

वाक्यमेकं हरिश्चैको वेदेवाक्यार्थरूपधृक्।।१६२।।

अवान्तरेषु च तथा पदे वर्णे तथैव च।।

त्रयोपि वैदिका भिन्ना नाना धर्मयुतास्तथा।।१६३।।

इस प्रकार महावाक्यों में अवान्तर वाक्य भी वाचक नहीं है किन्तु पूर्व रीति के अनुसार महावाक्य के जो वाक्य है वे उनके सदृश स्वतंत्र अन्य वाक्यों के अर्थ का स्मरण कराने वाला है यदि अवान्तर वाक्यों का भी वाचक मानोगे तो वे वाक्य अपने अपने अर्थ को बताकर निवृत्त हो जायेंगे, महावाक्य के अर्थ को नहीं बतायेंगे, इस प्रकार शब्द सृष्टि के अवान्तर भेदों का निरूपण करके (घोष) नादरूप शब्द ब्रह्म ही वर्ण पद वाक्यरूप होता है इसलिये परस्पर भेद नहीं है यह बात दृढ़ की है एवं संपूर्ण वेद भी एक महावाक्य है और एक **"हरिः"** भगवान् ही उस वेद रूप महावाक्यार्थ के धारण करने वाले भी भगवान् हैं पद में पदार्थ रूप वर्ण में वर्णार्थरूप भी भगवान् ही है। लोक के जो वर्ण पद वाक्य है उनसे वेद के वर्ण पद वाक्य पृथक् हैं क्योंकि वैदिक वर्णन में उदात्त अनुदात्त स्वरित प्रचय न्युब्ज इत्यादि अनेक भेद है, इसलिये व्यवहार वर्णन से वेद के वर्ण अलग हैं।

सादृश्येऽपि न वेदत्वं तादृग्वाक्ये ततोऽन्यतः।।
अधिकारिविभेदेन धर्माधर्मो तथामते।।१६४।।
प्रत्येकं पूर्णता वाक्ये शाखाभेदेषु सर्वतः।।
दर्शादिषु तदंगेषु मंत्रमात्रे तथैव च।।१६५।।
हरिस्तत्तत्स्वरूपेण तस्मात्सर्वत्र वाचकः।।
पुराणे च ततोन्यत्र वाक्यार्थो बुद्धिकल्पितः।।१६६।।
पदानामानुपूर्वी तु तत्र कल्प्या ह्यनेकधा।।
सर्वप्रतीतिनाशे तु तन्नाश उपचर्यते।।१६७।।
तथावाक्यत्वनिष्पत्ते र्नदूषणमिहाण्वपि।।
अद्यापि तानि जायन्ते घटवज्ज्ञानतः स्थितिः।।१६८।।
विप्रलिप्सादिमूलत्वादप्रामाण्यं च लौकिके।।
अप्रामाण्येपि प्रामाण्यं कर्तृविश्वासतः क्वचित्।।१६९।।
अतो वेदाद्यसंवादी नार्थो ग्राह्यः कथंचन।।
वेदे सर्वत्र नाधिक्यं वाक्येन न्यूनतापि वा।।१७०।।
अतो न वाक्यभेदः स्यात् लोके तन्नैवदूषणम्।।
भूतसूक्ष्मो ध्वनिर्वर्णो नामसृष्टौ निरूप्यते।।१७१।।

किसी किसी काव्य के वर्ण वेद के वर्ण के समान दीखते हैं तथापि उन वर्णों की वेदरूपता नहीं समझना, **''मयद्वैतयोर्भाषायाम्। द्वयचश्छन्दसि''** इत्यादि सूत्रों में लोक के शब्दों का तथा वेद के शब्दों का भिन्न भिन्न निरूपण पाणिनि ऋषि ने किया है लोक वेदाधिकरण में भट्टवार्तिक के जो लोक वेद शब्द का अभेद लिखा है वह अप्रमाणिक है क्योंकि जैमिनी ऋषि ने कहीं भी लोक वेद के शब्दों का अभेद नहीं लिखा, वेद बुद्धि से अधिकारी वेद का पाठ करें तब उसको धर्म अनधिकारी स्त्री, शूद्रादिक वेद बुद्धि से वेद का पाठ करे तब उनको अधर्म होता है। लौकिक शब्द से वैदिक शब्द की उत्तमता सिद्ध करके, इसके आगे **''वदैश्च सर्वै रहमेववेद्यः''** इस वाक्य के अनुसार संपूर्ण वेद में भगवान् का ही प्रतिपादन किया है इसलिये संपूर्ण वेद का अर्थ भगवान् ही है यह निरूपण करते हैं। **''प्रत्येकं पूर्णतेति''** महावाक्यार्थ रूप नहीं होंगे। ऐसी शंका नहीं करनी, वेद के अवान्तर वाक्य भी पूर्ण ही है **''विजज्ञौइति ह स्माह शांडिल्यः''** इस श्रुति में इतने मात्र अवान्तर वाक्य के वाक्य ज्ञान से ब्रह्म वेत्ता हो जाना लिखा है उससे शाखा भेदों में भी पूर्णता समझनी, कर्म काण्ड में भी प्रपात अनुयाजादिकों को पूर्ण ही समझना **''दूषेत्वेत्यादि''** एक एक मंत्र के अर्थ को भी पूर्ण मानना। भगवान् ही वेद में वर्ण पद वाक्य मंत्र शाखा उपनिषदादिरूप से वाचक हैं तत्तद्रूपभगवान् के खंडशः प्रतिपादन करने वाले अवयव रूप पदों का भी संपूर्ण वेदात्मक महावाक्य वाच्य पूर्ण ब्रह्म में ही तात्पर्य है, पुराणों में भी इसी रीति से शब्द, अर्थ इन दोनों को भगवद्रूप समझना, वेद पुराण से अलग जितने वाक्य हैं सब बुद्धि कल्पित हैं, वेद के वाक्यों में तो पदों की आनु पूर्वी सदा एक सी रहती है। इसलिये उन पदों का संबंध भी सिद्ध ही है। लोक में तो पदों के मिलाने से वाक्य बनते हैं इस कारण लौकिक वाक्य वेदवत् पुरुषार्थ का साधन नहीं है।

प्रश्न – जैसे पुरुष के प्रयत्न से बने हुए घटादिकों को सर्वदा विद्यमान भगवद्रूप मानते हो वैसे ही बने वाक्यों को भी भगवद्रूप मानना चाहिये। वाक्य बनाने वाले को तो सिद्ध वाक्य को प्रकट करने वाला मात्र मानना चाहिये।

उत्तर – जिन बुद्धिमानों को यह निश्चय है कि मनुष्य वाक्य नहीं बना सकता है किन्तु मूल भगवदिच्छा से गुप्त रीति से सर्वदा विद्यमान जो वाक्य है उनका मनुष्य कंठ तालु दन्तादिक द्वारा प्रकटमात्र करता है उनके ऐसे दृढ़ विश्वास से लौकिक वाक्य भी पुरुषार्थ साधक है।

कालिदासादिकों के जो वाक्य हैं वे भी बहुत काल स्थिर रहे हैं क्रिया से रूप सृष्टि की स्थिति रहती है ऐसे ज्ञान से नाम सृष्टि की स्थिति रहती है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि से रचना करके वाक्य उच्चारण किया जाता है जहां तक बुद्धि की स्थिति वहां तक वाक्य की स्थिति बुद्धि के नाश में वाक्य के नाश का भी उपचार किया जाता है। किंच नेयायिकों के मत में जैसे शब्द को तीन क्षण रहने वाला मानते हैं अर्थात् उच्चारण करते ही शब्द का नाश होता है उसके सदृश दूसरे शब्द उत्पन्न हो जाते हैं उनसे लोक व्यवहार चलता है ऐसा मानते हैं इस पक्ष में बड़े बड़े दूषण हैं यह दूत राजा की आज्ञा को कह रहा है इस स्थान पर यह दूत राजा की आज्ञा की नकल कर रहा है ऐसे भी कह सकेंगे तब तो जैसे भांड के वाक्य में किसी की श्रद्धा नहीं होती है वैसे दूत

के वाक्य में भी किसी की श्रद्धा नहीं होगी, इस प्रकारआज्ञा भंग होने से राज मर्यादा भंग होगी तथा वेद के मंत्र का उच्चारण से प्रेष (संदेश) दिया जाता है। उस प्रेष से कुछ फल सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वेद के मंत्र का तो उच्चारण होते ही नाश हो गया उसके नकल के मंत्र से दिये हुए प्रेष से न देवता प्रसन्न होंगे न फल देंगे। ये दूषण हमारे मत में नहीं है इस मत में तो शब्द नित्य है तथा बहुत काल स्थित रहता है परन्तु कैसे शब्दों को प्रमाण मानना कैसे शब्दों को अप्रमाण मानना यह विचार आगे के श्लोक में करेंगे। जिस वाणी में भ्रम प्रमाद **"विप्र लिप्सा"** ठगने के लिये मिथ्या भाषण आदि पुरुष के दोष की संभावना है वह लौकिक वाणी अप्रमाण है, व्यवहार है वह सन्निपात रूप है या व्यवहार से भ्रान्त पुरुष भ्रम प्रमाद युक्त वाक्य सुनने से अत्यन्त भ्रान्त हो जाता है। तब प्रमाण वेद को अप्रमाण मानने लगे, अप्रमाण प्रतारक तथा बौद्ध वाक्य को प्रमाण मानने लगे हैं।

इसलिये वेद विरूद्ध वाक्यों के अर्थ को नहीं मानना और कितने ही वादी वेद में भी दोष बताते हैं वहां और दोष तो नहीं है परन्तु एक तो जिन अर्थवादों में ब्रह्म तो कर्ता ही नहीं हो सकता है तथा माया का निरूपण वेद में नहीं है यह वेद में बडी कमी है क्योंकि जगत् तो रज्जुसर्पवत् - मिथ्या है माया का ही बनाया हुआ है इसलिये मायिक सृष्टि का अवश्य वर्णन वेद में होना योग्य है इस प्रकार से विचार कर वेद में माया का वर्णन अधिक मिला देता है और ब्रह्म से सृष्टि वर्णन करने वाले वाक्यों का त्याग करके वेद में वाक्य भेद कर डाले हैं वे वाक्य भेद सर्वथा अप्रमाणिक है।

लोक में तो वाक्यभेद है वह दूषण नहीं है क्योंकि लौकिक वाक्य तो भ्रम प्रमादादि अनेक दूषण ग्रस्त सदा ही है।

शंका - वर्णन की अष्टाविंशति २८ तत्वों में गणना क्यों नहीं की?

उत्तर - पदार्थ सृष्टि के प्रतिकारण जो पदार्थ हैं उनकी ही उन तत्वों में गणना है उनमें आकाश तन्मात्रा रूप शब्द की तत्वों में गणना लिखी है। वेद में रूप सृष्टि से नाम सृष्टि का पृथक् निरूपण है इसलिये इस ग्रन्थ में भी ध्वनि वर्ण का नाम सृष्टि के निरूपण में अलग वर्णन किया है।

प्रकृतिप्रत्ययौ लोके व्युत्पत्त्यर्थं निरूपितौ।।
नैतावता कृत्रिमत्वं शब्दे वक्तुं हि शक्यते।।१७२।।
प्रपंच भेदात्तत्वानामाधिक्यं वर्णतो नहि।।
संस्कारमात्रविलयादथवा तद्विलीनता।।१७३।।
तदभावाद्वासुदेवे तच्छब्देषु न लीनता।।
शब्दभेदं वितनुते रूपेष्विव विनिश्चयः।।
वाक्यार्थयोगयावयवैवाक्यं सर्वत्र संमतम्।।१७५।।
आकांक्षायोग्यतासत्तिः पदेतस्मादुदीरिता।।

मृदा घोटकनिर्माणे नशृंगकरणं मतम्।।१७६।।
तथा युक्तार्थबोधाय नाकांक्षारहितं पदम्।।
अर्थद्वारा पदे धर्मा लोकदृष्टयैव कल्पिताः।।१७७।।
तस्माद्वाक्य सर्वमेव सा यतो विश्वतोमुखी।
पदद्वयं सुप्तिङंतं ताभ्यां चलति वाक्पतिः।।१७८।।

शंका – पद कैसे नित्य हो सकता है, प्रकृति प्रत्ययों के द्वारा पद तो बनाये जाते हैं?

उत्तर – पद तो सब नित्य ही हैं सुगम रीति से पदों के अर्थ समझाने के लिये प्रकृति प्रत्यय का विभाग कल्पना से किये हैं, वस्तुतः सब शब्द **''अव्युत्पन्न''** स्वतः ही सिद्ध है, प्रकृति प्रत्येक विभाग से उनका कृत्रिम पना नहीं हो सकता है। लौकिक वाक्यों के लय का प्रकार दिखाते हैं **''संस्कार मात्रेति''** व्यवहार के अनुसार तो लौकिक वाक्य अनित्य है क्योंकि जीव बुद्धि परिकल्पित हैं, वेद वाक्य नित्य है सर्वदा वैसे ही रहते हैं, ब्रह्मवाद के अनुसार तो ज्ञान की अथवा बुद्धि वृत्ति की सूक्ष्मावस्थारूप संस्कार के तिरोहित हो जाने से बुद्धि में वाक्य का स्फुरण नहीं रहता है तब उस वाक्य का नाश कहते हैं, इस रीति का नाश भी वेद वाक्य का नहीं होता है, क्योंकि वेद मंत्र के दृष्टा भगवान् का ज्ञान नित्य है तथा वेदों के मंत्र को देखने वाले ऋषि लोगों के संस्कारी भी महाप्रलय पर्यन्त वैसे का वैसा स्थित रहता है ये व्यवहार के अनुसार लौकिक वैदिक शब्दों में अनित्यत्व नित्यत्व बताया ब्रह्मवाद के अनुसार तो सब शब्द वेद तुल्य ही हैं। **''नाम रूपे व्याकरवाणि''** इत्यादि श्रुति के अनुसार जैसे सब पदार्थ सृष्टि के कर्ता भगवान् हैं वैसे सब शब्द सृष्टि के कर्ता भी भगवान् ही हैं ऐसे नहीं होता तो भगवान् का सर्वकर्तापना वेद में कहा है वह मिथ्या ही होता इसलिये सब वाक्य भगवान् के किये हुए ही मानना। क्रीडा के लिये अस्मदादिक मनुष्य के मुखद्वारा अनेक प्रकार के वाक्य का विस्तार भगवान् ही करते हैं ऐसे रूप सृष्टि में भी घट पटादि पदार्थों को मनुष्यों के द्वारा भगवान् ही क्रीडा के लिये प्रकट करते हैं इसलिये ज्ञान होने के पश्चात् सब ही नित्य है सब ही प्रमाण है वहां कौनसा वाक्य योग्य है कौनसा अयोग्य है तथा योग्य वाक्य में आकांक्षा योग्यता आसक्ति अंगों की कल्पना कैसे संभव हो सके इत्यादि संदेह नहीं करना जैसे रूप सृष्टि में कोई मनुष्य मृतिका का घोडा बनावे वह पुरुष चेतन घोडे में जैसे अवयव पूंछ, पांव होते हैं उनके अनुसार ही उसमें सब अवयव बनाता है उसी से वह भी घोडा नाम से प्रसिद्ध होता है यदि कोई पुरुष घोडे के जैसा अवयव हो वैसे अवयवों में कमी अधिक करदे पूंछ न लगावे सींग अधिक लगादे तब तो उसके देखने से किसी को भी घोड़े की प्रतीति नहीं हो, ऐसे ही ऋषियों के पुराने वाक्यों के अनुसार जो अस्मदादिकों के आकांक्षा योग्यता आसत्ति धर्मसहित वाक्य हैं वे ही वाक्य कहाते हैं जिस वाक्य में अयोग्य पद है उसके वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होती है वह यथार्थ वाक्य नहीं कहलाता है इसलिये वाक्य का यथार्थ बोध होने के लिये आकांक्षा सहित ही पद वाक्य में स्थापन करने वस्तुतः लोक दृष्टि से ही अर्थ के द्वारा ये वाक्य योग्य है ये वाक्य अयोग्य है इस प्रकार की कल्पना की जाती है। परमार्थ दृष्टि से सब ही

वाक्य योग्य हैं सब शब्द सब पदार्थ के वाचक हैं **''वह्निना सिंचति''** अग्नि से सींचे हैं इस वाक्य में अग्नि शब्द है वह जल वाचक भी हो सकता है, सरस्वती सर्वतोमुखी है भ्रान्त पुरुषों ने जो भी कोई वाक्य कहा उस के ज्ञान के अनुसार वह वाक्य भी प्रमाण है ''जैसे नारद जी ने ब्रह्मा जी से कहा आप जगत के कर्ता हो तब ब्रह्मा जी ने कहा ये तुम्हारे कथन तुम्हारे ज्ञान अनुसार असत्य नहीं है क्योंकि मेरे से जो परे परमात्मा है जिसके बनाये हुए जगत को मैं प्रकट करता हूँ उसको तुम नहीं जानते हो इस कारण ऐसे कहते हो इसलिये शब्द मात्र को प्रमाण मानकर ही वाणी के प्रति भगवान् की उपासना करना वाणी के प्रतिभगवान् के दो चरण है सुबन्त तथा तिङन्त इन दोनों चरणों से चलता है।

पदानि बहुशः सन्ति सुप्तिङमध्यविभेदतः।
तत्रासकरवालादि ते भिन्ना अंशतः परे।।१७९।।
तदुदाहरणे श्लेषस्तत्र योगादिकल्पना।
फलार्थं लक्षणा प्रोक्ता गौणी चाप्युपचारतः।।१८०।।
प्राकटयेषत्तिरोधानतिरोधानैर्हररिर्बभो।।
प्रवर्तकत्वं कृष्णस्य न विध्यर्थस्य कर्हिचित्।।१८१।।
कार्यतादिपरिज्ञानमुत्पाद्यैष प्रवर्तयेत्।।
अनिष्टमिष्टं साध्यं वा नासाध्यं किंचिदस्ति हि।।१८२।।
तथापि यतते कश्चित् क्वचिदेव हरीच्छया।
मिथ्याप्रलोभनं वेदे न क्वचित् कर्हिचिद्भवेत्।।१८३।।

जैसे रूप सृष्टि में आप सहस्रों चरण वाले हैं ऐसे शब्द सृष्टि में भी दो चरण के मध्य में सहस्रों चरण हैं **''तत्रास करवालात्''** इस वाक्य में तत्रास इस एक तिङन्त दो चरण तत्र १ आस २ **''करवालात्''** इस एक सुबन्त में कर १ बालात् २ सुबन्त हैं जैसे **''कुरुभव''** अर्थ है कुरु देश के होने वाले या एक सुबन्त चरण में (कुरु) कर (भव) हो ये तिङन्त चरण है जैसे एक मृत्तिका पिंड में घट शरावादि अनेक पदार्थ हैं वैसे एक पद में अनेक पद विद्यमान हैं। एक पद में स्थित जो अनेक पद हैं उनका श्लेष में उपयोग है श्लेष है वह नाना अर्थों के आश्रित हैं केवल रूढि से एक पद में सब स्थान पर अनेक अर्थ नहीं बन सकते हैं इसलिये श्लेष में नानार्थ सिद्धि कि लिये योग योग रूढी तात्पर्यवृत्ति इन तीन की कल्पना करना, वृत्ति तीन प्रकार सुबोधिनी भागवत दशम में मानी है मुख्या १ गौणी २ तात्पर्य वृत्ति ३ इन भेदों से वृत्ति तीन प्रकार की है, लक्षणा को चौथी वृत्ति नहीं मानते हैं गोणी वृत्ति में ही लक्षणा का अन्तर्भाव है, काव्य में लक्षणा के दो भेद हैं शुद्धा १ गौणी २ वहां शुद्धा दो प्रकार से होती है एक रूढी से लक्षणा जैसे **''देवदत्तः सर्वकर्मणि कुशलः''** देवदत्त सब काम में कुशल है यद्यपि इस वाक्य में कुशल शब्द का योग शक्ति से कुशों को लेने

वाले का नाम होता है यह अर्थ यहां संभव नहीं हो सकता है इसलिये जैसे कुश लेने वाला कुश लेने में **"सावधान"** निपुण होता है ऐसे ही जो कार्य में सावधान हो उसको कुशल कहते हैं इसलिये यहां रूढि से कुशल शब्द की **"सावधान"** निपुण में लक्षणा हुई इस लक्षणा को हम नहीं मानते हैं क्योंकि यहां **"अभिधा"** शक्ति वृत्ति से ही कुशल शब्द का ही **"सावधान"** निपुण अर्थ हो सकता है, शक्ति वृत्ति के बताने वाले व्याकरण कोशादिक है **"कृति कुशल इत्यपि"** इस अमर कोश के पद से कुशल शब्द की निपुण में शक्ति स्पष्ट मालुम पड़ती है, दूसरी शुद्धा फलार्थ लक्षणा प्रयोजनवती लक्षणा है जैसे **"गंगायां घोषः"** गंगाजी में अहीरों का ग्राम है। यहाँ जल प्रवाह रूप गंगाजी में ग्राम का स्थित होना असंभव है तथापि वक्ता ने गंगाजी में गांव की स्थिति कही है वह गांव में शीतलता, पवित्रता आदि फल बतलाने के लिये कही है इसलिये गंगापद का फलार्थ लक्षणा करके तीर अर्थ करना तब इस वाक्य का गंगा जी तीर पर अहीरों का गांव है यह अर्थ हुआ, काव्य में गौणी लक्षणा दो प्रकार की है सारोपा ? साध्य वसाना, २ सारोपा का उदाहरण **"सिंहो माणवकः"** बालक सिंह है। यहां बालक सिंह नहीं हो सकता है इसलिये विष भी सिंह जैसा क्रूर शूर है वैसा ही अनिगीर्ण विषय (बालक) क्रूर शूर जानकर बालक में सिंह का आरोप करके बालक सिंह है ऐसा कहा है, दूसरी गौणी साध्यवसाना है। जैसे बालक को देखकर के **"अयंसिंह"** यह सिंह है निगीर्ण विषय **'बालक'** का नाम न लेकर विषयी सिंह जैसा क्रूर शूर बालक को जानकर बालक में सिंहपने की बुद्धि करके यह सिंह ऐसे कहा है, हमारे सिद्धान्त में पहली वृत्तिशक्ति है कोश व्याकरणादिद्वारा जो शब्द का अर्थ प्रसिद्ध है उस शब्द से उसी अर्थ की बताने वाली वृत्ति से मुख्या **'अमिधा'** शक्ति नाम से कहा है, योग योग रूढी आदि इसी के भेद हैं निरूढ लक्षणा का रूढी में अन्तर्भाव है इनके काव्यों में अनेक भेद हैं, दूसरी गौणी वृत्ति है **"शक्यार्थ बाधे सति सादृश्य रूपस्तदितरो वा शक्य संबंधो गौणी वृत्तिः"** शक्ति वृत्ति से जिस शब्द का जो अर्थ है वह अर्थ जहां संभव नहीं हो सके वहां सदृशतारूप अर्थ अथवा समीपता कार्य कारणता आधाराधेयता आदि कोई जो शक्य (मुख्य) अर्थ के साथ कोई संबंध है उसको गौणी वृत्ति कहते हैं इसी के गौणीवृत्ति में दो भेद हैं फल से गोणी तथा उपचार से गौणी फल से गौणी जैसे **"गंगायां घोषः"** इत्यादि उपचार से गौणी **"सिंहोमाणवकः। यजमान प्रस्तारः"** इत्यादि अर्थ – बालक सिंह है यहां सिंह के क्रूरता आदि गुणों को बालक के साथ (योग) संबंध होने से बालक को सिंह नहीं कहा है किंतु क्रूरता धर्म वाले सिंह के रूप से दूसरे धर्मी वाले का उपचार है अर्थात् जैसा क्रूरता आदि गुणों को बालक के साथ (योग) संबंध होने से बालक को सिंह नहीं कहा है किन्तु क्रूरता सिंह है वैसा क्रूर बालक को देखकर बालक का सिंह के साथ उपचार (अभेद ज्ञान) किया है अर्थात् सिंह कहा है बालक सिंह है ऐसा कहा है, ऐसे ही **"यजमानः प्रस्तरः"** यहां भी यजमान रूप धर्मी करके **"प्रस्तर"** दर्भमुष्टीरूप धर्मी का उपचार अभेद ज्ञान किया है अर्थात् यज्ञ में बहुत से कर्म यजमान के करने के दर्भ के मुठिया में किये जाते हैं वहां यजमान के साथ दर्भ के मुठिया को उपाचार अभेद मानकर डाभ का मुठिया यजमान है ऐसे कहा है बालक सिंह है इत्यादिक में

क्रूरता आदि धर्मों का स्फुरण तो सिंघादि धर्मी के ज्ञान होने से स्वतः ही होते हैं इस गौणी वृत्ति में ही रूढि लक्षणा तथा फलार्थ लक्षणा आदि भेद सहित मुख्या लक्षणा का तथा सारोपा साध्यवसानादि भेद सहित गौणी लक्षणा का अन्तर्भाव है क्योंकि मुख्यार्थ का बाध होना तथा लक्ष्य अर्थ में मुख्य अर्थ की सदृशता समीपता आदि संबंध होना जो गौणी वृत्ति का लक्षण है वह सब प्रकार की लक्षणा में विद्यमान है। तीसरी तात्पर्य वृत्ति है **''शक्त्यतिरिक्तत्वे सति बुभुत्सितार्थ प्रतीतिजनिका तात्पर्य वृत्तिः''** शक्ति वृत्ति से अलग होने और जिस अर्थ के जानने की इच्छा हो उसकी प्रतीति कराने वाली हो उसको तात्पर्य वृत्ति कहते हैं जैसे **''सैन्धवमानय''** अर्थ में नाम घोडा का तथा नमक का है वहां भोजन के समय में जानने की इच्छा योग्य अर्थ निमक है अन्य प्रतीति तात्पर्यवृत्ति करके ही होती है अर्थात् भोजन के समय में भोजन करने वाले के मुख से सैन्धव ला ऐसे शब्द को सुनकर श्रोता का शक्ति वृत्ति से घोडा तथा निमक दोनों अर्थ उपस्थित हुए परन्तु भोजनकर्ता निमक को ही चाहते हैं ऐसा जानकर वह श्रोता तात्पर्य वृत्ति द्वारा निमक को ही लाता है इस तात्पर्य वृत्ति में ही व्यंजना का अन्तर्भाव है इन तीनों वृत्ति रूप भगवान् का ही होता है अर्थात् शक्ति रूप होकर अपने अर्थरूप को प्रकट करता है लक्षणा रूप होकर के अपने अर्थ रूप को कुछ 'तिरोधान' अर्थात् छिपाते हैं।

तात्पर्य वृत्ति रूप होकर अपने अर्थ रूप को सर्वथा ही छिपाते हैं। शक्ति लक्षण तात्पर्य वृत्ति आदि शब्द धर्मों का विचार करके शब्द है। वह श्रोता को कार्य में प्रवृत्त कर सकता है या नहीं इस बात का विचार करते हैं **''प्रवर्त्तकत्व मिति''** ब्रह्म को जो पुरुष कार्य मात्र में प्रकट नहीं मानते हैं उनके मत में शब्द के सुनने के पीछे जिस कार्य में पुरुष की प्रवृत्ति होती है उसमें शब्द ही कारण है अर्थात् शब्द ही कार्य में प्रवृत्त करता है वहां छ पक्ष है कितने ही शब्द स्वरूप को ही प्रेरक मानते हैं, कितने ही प्रवृत्ति करने वाले वाक्य के अभिप्राय ज्ञान द्वारा प्रेरक मानते हैं कितने ही आर्थी भावना द्वारा शब्द को प्रेरक मानते हैं कितने ही भाट्टमतानुवर्ती मीमांसक (अभिधा) अर्थात् लिंङ लकार में रहने वाली शाब्दी भावना को प्रेरक मानते हैं, प्रभाकर मत वाले आज्ञा (वियोग) को प्रेरक मानते हैं नैयायक मत में (**इष्ट साधनता ज्ञान का**) अर्थात् इस कार्य से हमारा अनिष्ट नहीं होगा और अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति होगी। इसलिये यह कार्य करना ऐसा ज्ञान जिन लिंगादि शब्दों से होता है वे शब्द ही प्रेरक हैं इन छ पक्षों को एक साथ दूषित करते हैं **''कृष्णस्येति''** शास्त्रोक्त विधि है वह पुरुष को सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं कर सकते हैं तथा कुकर्म से निवृत्त भी नहीं कर सकते हैं, पर ब्रह्म श्री कृष्ण ही कर्म में प्रवत्त करते हैं यद्यपि **''स्वर्ग कामोयजेत''** स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे इस वेद वाक्य सुनने के पीछे ही पुरुष यज्ञ करता है। तथापि जैसे काक (कौआ) को आना और उसी समय ताल के फल का गिरना हो जाय उसके पीछे ही वह काक ताल फल का भक्षण करता है इसलिये ताल फल के खाने में ताल फल का गिरना कारण नहीं है (उसके प्रारब्ध कर्म द्वारा भगवान् ही तालफल के मिलने में कारण है।) ऐसे यज्ञ करने में पूर्वसिद्ध विधि वाक्य का श्रवण कारण नहीं है कृष्ण ही प्रेरणा करने वाले हैं इसी से भारत में लिखा

है **"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्य धर्मं न च मे निवृत्तिः केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा प्रयुक्तोऽमि तथा करोमि"** मैं धर्म को जानता हूँ परन्तु धर्म करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता हूँ। कोई देव हृदय में स्थित है वह प्रेरणा करता है वैसा ही करता हूँ जो **"स्वर्ग कामो यजेत"** स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे इत्यादि वाक्यों की प्रेरणा करने वाले मानते हो तो जितने इस वाक्य के सुनने वाले ब्राह्मणादिक है सब ही क्यों नहीं यज्ञ करने लग जाते हैं। कदाचित् कहोगे यज्ञ है वह स्वर्ग का देने वाला है मेरे को अवश्य करना चाहिये ऐसा ज्ञान उत्पन्न करके वेद विधि वाक्य ने ही पुरुष को यज्ञ में प्रवृत्त किया है इस लिये विधि को प्रेरक मानते हो उसका उत्तर यह है कि जिसको पर ब्रह्म यज्ञ में प्रवृत्त करना चाहता है उस को ही वेद विधि वाक्य द्वारा ये कर्म मेरे को अवश्य करना चाहिये ऐसा ज्ञान प्रकट करके प्रवृत्त करता है इसी से विधिवाक्य को सुनने वाले सभी पुरुष यज्ञादिकों में प्रवृत्त नहीं होते हैं जिसको भगवत्प्रेरणा है वही यज्ञादि सत्कर्म में प्रवृत्त होता है यदि यह कार्य अभिलषित फल का सिद्ध करने वाला ऐसा ज्ञान जो पुरुष को सत्कार्य में प्रवृत्त कर सकता है तो यह कार्य अनिष्ट दुःख का करने वाला है ऐसा ज्ञान अनिष्ट करने वाले कर्म से पुरुष को निवृत्त क्यों नहीं कर लेता है। यदि ऐसा ही हो तो विष खाने में, युद्ध करने में, जानकर नदी आदियों में गिर पड़ने से बहुत मनुष्य क्यों प्रवृत्त हो जाते हैं तथा जिन मतों से सर्वथा मोक्ष नहीं होता है ऐसे पाखंड मत में मोक्ष के लिये क्यों प्रवृत्त हो जाते हैं।

कदाचित् कहोगे भ्रम से प्रवृत्त हो जाते हैं उसका यह उत्तर है पाखंड मत की पुस्तकों में वाक्य का सब पुरुषों के प्रति एकसार ही सुनने में आता है परन्तु किसी पुरुष की तो प्रवृत्ति होती है किसी की नहीं होती है इसमें क्या कारण है उसको ईश्वरेच्छा ही कारण है उसको ही कितने अदृष्ट कहते हैं सत्य पूछो तो इष्ट अनिष्ट साध्य असाध्य कुछ भी नहीं है तथापि भगवान् की इच्छा से कोई पुरुष किसी कार्य में प्रवृत्त रहा ही आता है।

शंका-ईश्वर ही प्रवृत्त करने वाले हैं तब तो वेद में यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति कराने के लिये यज्ञादि देवताओं की प्रशंसा करने वाले अर्थवाद वाक्य वेद में लिखे हैं वे ही वृथा हो जायेंगे।

उत्तर - वेद में जो देवताओं की प्रशंसा की है वह पुरुष की यज्ञ में प्रवृत्ति कराने के लिये नहीं की है वेद है वह परम आप्त है असत्य प्रशंसा प्रलोभनार्थ कभी वेद नहीं करता है।

तथैव कर्मविज्ञानं धर्मस्तेनैव न्यथा।
साधनानि स्वरुपं च सर्वस्याह श्रुतिः फलम्।।१८४।।
न प्रवर्तपितं शक्ता तथा चेन्नरको न हि।।
लोकेऽपि राजदण्डादेरन्यथा विषयोनहि।।१८५।।
प्रेरको भगवानात्मा स्वात्मना दोषवर्ज्जितः।।
न विशेषोऽस्ति लोकेऽस्मिन्तारतम्यं नचैव हि।।१८६।।

अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथातत्तु निरूपितम्।।
आत्मैव तदिदं सर्वं सृज्यते सृजति प्रभुः।।१८७।।
त्रायते त्राति विश्वात्मा ह्रियते हरतीश्वरः।
आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा।।१८८।।
इति श्रुत्यर्थमादाय साध्यं सर्वैर्यथामति।
अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टं मोहाय कल्पितम्।।१८९।।

इसलिये वेदोक्त जितनी स्तुति है अर्थात् उन उन देवताओं की उत्तमता बतलाने के लिये गुणों का वर्णन किया है वे सब सत्य है उन गुणों को जानकर ही कर्म करना चाहिये। जैसे व्रीहीयों का प्रोक्षण (चांवलों को धोना कूटना) आदि यज्ञ का अंग है जिस प्रकार (प्रोक्षण) धोना (अवहनन) कूटना लिखा है वैसे ही करने से फल होता है ऐसे ही (**वायुर्वैक्षिप्र कारिणी देवता**) वायुशीघ्र कार्य करने वाली देव है, ऐसे वायु की स्तुति लिखी है इसको जानकर ही कर्म करना इस प्रकार जितनी स्तुति अर्थ वाद में लिखी है वे सब कर्म का अंग है उनको जाने का कर्म करने से ही कर्म सांग सफल होता है। जैसे गायत्री संबंधी रस पृथ्वी पर गिरा वह पृथ्वी में धस गया (प्रवेश) वह खैर का वृक्ष रूप हुआ इत्यादि (खदिर) खैर का वृक्ष स्वरूप जानकर खैर का (यूप) यज्ञ स्तंभ बनाना वेद है स्वर्गादि फलों का वर्णन करते है तथा स्वर्गादि प्राप्त होने के लिये साधन जो सोमयागादिक हैं उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं, पुरुष जबरदस्ती यज्ञादिक नहीं करा सकते है जो साधन फल बताने मात्र से ही वेद की प्रवृत्ति करने वाला मान लो तो बहुत अच्छी बात है। सभी की वेद सत्कर्म में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है। यदि प्रवृति कर ली जाती है तो नरक में मनुष्य क्यों जावे तथा चोरी हिंसा आदि कर राजदंड क्यों पावे, इस कारण वेद में प्रवृत्ति नहीं कर सकते हैं।

शंका – भगवान् ही कर्म में पुरुष को प्रवृत्त करते हैं ऐसे मानने में भी दोष आता है क्योंकि भगवान् तो परम कृपालु है अधर्म में पुरुष को प्रवत्त कर नरक राजदंडादि दुःख क्यों देते हैं?

उत्तर – ''प्रेरको भगवानात्मेत्ति'' भगवान् को प्रेरक मानने में कुछ दोष नहीं होता है क्योंकि भगवान् तो सबकी आत्मा है इसलिये जैसे सुख हो वैसे प्रेरणा करते हैं, जैसे पुरुष अपने अंगों में यथा सुख चेष्टा करते हैं किसी समय उसमें पांव को नीचे धरकर उसके ऊपर दायें पैर को धरते हैं किसी समय दाये पांव को नीचे धरकर उसके ऊपर बायें पैर को धरते हैं ऐसे ही **''तमेवसाधु कर्म कारयति''** इस श्रुति के अनुसार इच्छा हो उस जीव को राजा बनाकर उच्च कर देते हैं, इच्छा हो उस जीव को हीन दास बना देते हैं वहां भगवान् तो ऐसे भी प्रेरणा कर सकते हैं जिससे सब जीव सुकर्म करके समान रहें फिर भगवान् जीवात्मक अपने स्वरूप को ऐसी प्रेरणा क्यों करते हैं जिससे अनेक मनुष्य गौ, गधा आदि योनियों में ज़ीव जन्म ले तो फिर ऐसी शंका नहीं करनी सब जीव समान हो जावे तो राजा ही राजा सब हो जायेंगे तब वह जगत् क्रीड़ा संभव नहीं हो सकती है तथा जगत् में विचित्रता भी नहीं हो सकती है और सुख दुःख तो सब ही योनियों में सभी जीवों में समान

है पुरुष है वह अपने भ्रम से ऊँच नीच तथा सुख दुःखादि **''तरतमभाव''** उतार चढाव देखते हैं यदि गर्दभादि योनियों में दुःख हो तो गर्दभ की योनि में गाय जीव उस योनी के सुख की इच्छा क्यों करता है भगवान् स्वयं ही जीव रूप धारण करके क्रीड़ा करते हैं, जब चाहें तब अपने जीव रूप का राज्याधिकारी कर देते हैं जब चाहे तब नरकाधिकारी कर देते हैं सब स्थान पर फल भी समान है स्वरूप भी समान है इसीलिये गीता में **''शुनि चैवश्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः''** भागवत षष्ठस्कन्ध सप्त दशाध्याय में **''स्वर्गापवर्ग नरकेष्वपि तुल्यार्थ दर्शिनः''** अर्थात् गौ, हस्ती, श्वान आदि योनि में तथा स्वर्ग नरकादि में ज्ञानी भक्त समान दृष्टि रखते हैं, उत्तमाधिकारी को अखण्ड कृष्ण के समान ऐसे मध्यमाधिकारी को प्रतीत होता है उत्तमाधिकारी अखंड कृष्ण रूप है ऐसे अनुभव होता है यह बात शास्त्रार्थ प्रकरण में **''यत्र येन यतोयस्य''** इस श्लोक में निरूपण किया है वहां सब कारक भगवद् रूप है यह बात लिखी है जैसे ब्रह्म सृष्टि के आदिकाल में इच्छा करके आत्मा से जीवों के लिये ब्रह्माण्ड को करते हैं इस वाक्य में ब्रह्म कर्तृकारक है, जीव संप्रदान कारक है, ब्रह्माण्ड कर्म कारक है, आदिकाल अधिकरण कारक है, इच्छाकरण कारक है, आत्मा उपादान कारक है, सृष्टि संबंध है ये सब पदार्थ भगवद् रूप समझना इस प्रकार मात्र भगवद् रूप है एकादश स्कंध में **''आत्मैवतदिदं सर्वम्'' ''ब्रह्मैव तदिदं तथा''** इस श्लोक में लिखी है भगवान् ही सर्वरूप हैं भगवान् ही उत्पन्न करते हैं, भगवान् ही उत्पन्न होते हैं भगवान् ही रक्षा किये जाते हैं भगवान् ही रक्षा करते हैं विश्वात्मा भगवान् आप अपने स्वरूप का ही संहार करते हैं और भगबान् ही आविर्भाव तिरोभाव शक्तिद्वारा उत्पत्ति/स्थिति संहार लीला करते हैं। श्री वल्लभाचार्य जी श्रेष्ठ जीवन के प्रति उपदेश करते हैं, प्रथम प्रकरण में देवकी पुत्र गीत जो गीता है वह एक ही शास्त्र है यह प्रतिज्ञा कर आये हैं। गीता में जो लिखा है उसको ब्रह्मवाद समझना जो वादी विपरीत शंका करके कही हुई युक्तियों से बांध कर उनके आगे गीता द्वारा ही अपने सिद्धान्त का स्थापन करना, गीता जी के दशमाध्याय में **''एकांशेन स्थितो जगत्''** इस श्लोक में तथा एकादशाध्याय में अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखाया वहां जगत् भावद्रूप है यह स्पष्ट ज्ञात होता है श्री कृष्ण ने भी गीता में **''वासुदेवःसर्वमिति''** इस श्लोक में सब जगत् भगवान् ही है ऐसे मानने वाले को महात्मा कहा है ये गीता शास्त्र ही ब्रह्मवाद है इससे विरोध रखने वाले जितने मत हैं जीवों को भ्रम उत्पन्न करने वाले हैं वहां इस ब्रह्मवाद में चोरी आदि करने वाले को दंड नहीं होना चाहिये क्यों कि परमात्मा का प्रेरक मानते हो तब चोरी करने में भी परमात्मा ही प्रेरक हुआ?

उत्तर – देह इंद्रियआदिकों में अर्हता नहीं होती है मैंने यह कार्य किया ऐसी जिसकी कभी बुद्धि नहीं हो उसको पाप नहीं है **''यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिम्पते। हत्वापि स इमान् लोकान् न हन्ति न निबध्यते''** यह गीता में लिखा है। लोक में भी अहंता रहित पहमहंसादि को दण्ड नहीं होता है जहां तक अहंकार वहां तक दण्ड भी है।

इति प्रमेय प्रकरणम् समाप्तम्।।

वर्णाश्रमवतां धर्मः श्रुत्यादिषु यथोदितः।
तथैव विधिवत्कार्यः स्ववृत्त्यन्नेन जीवता॥१९०॥
आचारो वृत्तिहीनश्चेदर्धं फलति नाखिलम्।
अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च लंघनात्॥१८९॥
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्रान् जिघांसति।
शिलोंच्छवृत्त्या संतुष्टः श्रौतं कर्म्माखिलं चरेत्॥१९२॥
तपन्स्वाध्यायनिरतो ह्यग्नि होत्रादिपंचकम्॥
स्मार्तं.कृता तस्य सर्वं ज्ञानन्हरिं यथा॥१९३॥
कमेण मुक्तिमाप्नोति ब्रह्मलोकम्परंगतः॥
एतस्य तारतम्येन मानुषानन्दतो द्विजः॥१९४॥
अक्षरानंद पर्यंत मानंदान्विंदते क्रमात्।
उपांत्यानंद पर्यंतं पुनर्ज्जन्म भवेद् ध्रुवम्॥१९५॥
तत्तद्रूपेण लोकेषु भोगान् भुक्त्वा तथा विधान्।
एकाश्रमेण वातिष्ठेत् विशेद्वा समनंतरम्॥१९६॥
आयुर्भाग क्रमेणैव चतुष्टयमथापि वा।
त्रिदण्डं परि गृह्णीत सर्वशास्त्रा विराधि तत्॥१९७॥
शास्त्रेऽपि भगवानाह दण्डस्यैकस्य धारणम्।
प्रतिपत्तिरियं सर्वा देहस्य ज्ञानिनो भवेत्॥१९८॥

इस प्रकार प्रमेय प्रकरण समाप्त करके फल प्रकरण को प्रारम्भ करते हैं। श्री कृष्णाय नमः। अंग बिना केवल शास्त्र विहित साधन मात्र के कर लेने से फल नहीं होता है किन्तु अंग सहित साधन किया जाय तब फल होता है जैसे वैद्य शास्त्र के अनुसार औषध का तो साधन करता रहे परन्तु उष्ण जलपान, पथ्य अन्न का भोजन निरोगादेश में रहना आदि जो औषध अंग है उनका आचरण नहीं किया जाय तो औषध का कुछ भी फल नहीं हो ऐसे ही वेद शास्त्रोक्त जो अग्नि होत्रादि साधन है उनके बाहर के अंग वर्णधर्म आश्रम धर्म हैं इनको छोड़कर यज्ञादि किये जांय तो सर्वथा फल नहीं हो इसलिये श्रुति स्मृति पुराण के अनुसार ही वर्णाश्रम का साधन जैसे पथ्य अन्न का भोजन करके ही औषध सेवन किया जाय ऐसे अपने वर्ण धर्म के अनुसार जिस वर्ण की जो वृत्ति शास्त्र में लिखी है उस वृत्ति से प्राप्त हुआ जो अन्न उसी से देह निर्वाह करते हुए वेदोक्तयज्ञादि धर्मों को करना, ये नहीं जानना कि कुवृत्ति से निर्वाह करेंगे तो कुवृत्ति करने का जो पाप है वही लगेगा और अधर्म जो किया जायगा वह तो सफल होगा किन्तु कुवृत्ति से निर्वाह करने वाले पुरुष के किये हुए और धर्मों का

भी आधा फल रह जायगा। वस्तुतः उसका फल नहीं होता है स्मृति में लिखते हैं कि अन्न के दोष से आलस्य होने से आचार का उलंघन तथा वेद का अभ्यास छूट जाने से विप्रकी मृत्यु होती है। स्मृति को अत्यन्त भूल जाय उसको मृत्यु कहते हैं। स्मृति नाश है वह बुद्धि का नाश करती है, बुद्धि नाश होने पर पीछे धर्म फल नहीं देने देते हैं। तब धर्म कैसे फल सकता है। उसका उत्तर देते हैं **''शिलोञ्छवृत्त्येति''** जिस रीति से शास्त्र में जिस वर्ण को वृत्ति करना लिखा है, उसी रीति से निर्वाह करके धर्म करे तब धर्म सफल हो, जैसे ब्राह्मण की चार वृत्ति हैं। १. शिलोञ्छ, २. अमृत, ३. मृत ४. प्रमृत जहां (मृत) नित्य मांगना, (प्रमृत) खेती करना, (अमृत) बिना मांगे कोई वस्तु देवे उसको लेना इनमें शिलोंछवृत्ति श्रेष्ठ है, खेत में अथवा हाट में (बाजार) जाकर शुद्ध भूमि में गिरे हुए धान्य कणों को लाकर उनसे अपना निर्वाह करना शिलोंछवृत्ति कहलाती है इस रीति से ब्राह्मण बर्ताव करे सदा संतोष रखे, यदि संतोष नहीं है तो शिलोंछवृत्ति से निर्वाह करना व्यर्थ हो जाता है। श्रीभागवत में लिखा है **''सदसस्पतयो राजन्नसंतोषात्पतन्त्यधः''**

शंका – केवल धान्यकण बीनकर निर्वाह करने वाले ब्राह्मण स्मृति के लिखे हुए होमादि कर्मों को द्रव्य बिना कैसे कर सकेंगे?

उत्तर – इस उत्तम वृत्ति से निर्वाह करने वाले ब्राह्मण के लिये **(स्मार्तकर्म)** स्मृति का लिखा होगा **(कृताकृत है)** इच्छा हो समृद्धि हो तो करना, मृत प्रमृतादि वृत्ति से निर्वाह करने वाले को तो स्मार्त होम भी करना चाहिये। इस रीति से'निजवृत्ति से निर्वाह करने वाले ब्राह्मण सब जगत् को भगवद्रूप मानते हुए ब्रह्मलोक में जाते हैं। ब्रह्मा के साथ उनकी मुक्ति होती है, यह क्रम मुक्ति वैदिक मार्ग की उत्तम निष्ठा का फल है। यह फल पूर्णकर्म सिद्ध होता है। पूर्ण ज्ञान सिद्ध होता है, पूर्ण निष्काम हो तब होता है अर्थात् पूर्णये लक्षण हो तब तो **(ब्रह्मानंद)** अक्षरानंद प्राप्त होता है अक्षरानंद के लिये आनंद की गणना है उन लक्षणों में कुछ न्यूनता हो तो बृहस्पति के आनंद की प्राप्ति हो उससे भी न्यूनता हो तो इन्द्र हो उससे न्यूनता हो तो समस्त पृथ्वी का पति हो इस प्रकार साधन के तारतम्य में फल का तारतम्य समझना। साधन दो प्रकर से होते हैं एक वर्ष में सोमयाग चातुर्मास्य यागादिकों की आवृत्ति वर्ष के वर्ष होती रहती है अथवा जन्म जन्म में एक एक सोम चतुर्मास्यादि यज्ञ होता रहता है, वहां वर्ष के वर्ष आवृत्ति करना उत्तम पक्ष है दूसरे पक्ष में यज्ञ से प्रकट हुआ जो अदृष्ट उससे खिच आये पंचभूतों से बने हुए शरीर से उन उन लोक में जाते हैं, पुण्य क्षीण होने पर पीछे भूमि पर आते हैं फिर कर्म करके उत्तम से उत्तम लोक में जाकर भोगों को भोग कर यहां आते हैं **''उपान्त्यानन्द पर्यन्तम्''** ब्रह्मलोक के समीप का जो तपो लोक है वहां तक गये जीव का भी पुर्नजन्म होता रहता है। तपलोक से भी आकर जन्म लेकर यज्ञादिकों की आवृत्ति करते हैं तब ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा के साथ मुक्त होते हैं इसलिये निजवृत्ति से उपार्जित अन्न ही यज्ञादिक के द्वारा उन उन देव लोकों के भोग को भुगाने वाले हैं। आश्रम धर्म की व्यवस्था करते हैं **''एकाश्रमेणेति''** १. ब्रह्मचर्य, २. गृहस्थ, ३. वानप्रस्थ, ४. संन्यास इन चारों आश्रमों की अवस्था के चार भाग करके एक एक भाग में एक एक आश्रम का यथार्थ

साधन करे अथवा इन चारों आश्रमों मे से एक कोई आश्रम में धर्म को मरणपर्यन्त यथार्थ साधनों अथवा आयु के विभाग बिना ही क्रम से आश्रम धर्मों का बर्ताव करना इन तीनों पक्षों का फल समान ही होता है। अव्यवस्था का जो संन्यास है वह वैराग्य की स्तुति करने के लिये है पूरा वैराग्य होने से संन्यासी होना योग्य है। ब्रह्मचर्याश्रम साधे बिंना ही संन्यासी हो जाना गृहस्थाश्रम धर्म में से कच्ची अवस्था में ही संन्यासी हो जाना इत्यादि अव्यवस्था का संन्यास मनुस्मृत्यादिकों में नहीं लिखा है इस लिये तीन ही पक्ष है अभी कलियुग में अनेक प्रकार के मन के बनाये संन्यास चले हैं उनको स्वीकार नहीं करना, शास्त्रोक्त त्रिदंड संन्यास का ग्रहण करना **''मौनानीहानिलायामा दंडा वाग्देह चेतसाम्''** इस श्रीभागवत के वचन अनुसार वाणी का दंड प्राणायाम द्वारा प्राण वायु को रोकना है, इन तीनों दंडों को धारण करना **''जिज्ञासा दशा में''** अपक्वदशा में मौन रखे बिना तथा चेष्टा करना छोड़े बिना देह वाणी में दोष उत्पन्न हो जाता है इसलिये तीनों दण्डों की संन्यासी को आवश्यकता है। यह पक्ष किसी शास्त्र से भी विरूद्ध नहीं है। एक दण्ड धारण का पक्ष तो सर्वसंमत नहीं है यदि यह पक्ष तथा और कोई पक्ष जो हो तो सर्व शास्त्रानुसारभूत श्रीभागवत में अवश्य लिखा है उससे और पक्ष सर्वसंमत नहीं है। आचार सहित चारों आश्रमों के धर्म हैं वह ज्ञान के अंगभूत हैं ऐसे समझकर जिसको ज्ञान सिद्ध हो जाय उसको भी आश्रम धर्म छोड़ना योग्य नहीं है, अवश्य संन्यासादि आश्रम में ही स्थित रहे यदि उच्छृंखल होकर व्यवहार करे तो ज्ञानी का भी फिर जन्म होता है।

आद्यंतयोस्तु भिक्षान्नं द्वितीये तु शिलोञ्छनम्।
तृतीये वन्यभेदाः स्युर्भिक्षायामपि संयमः।।१९९।।
गुरुसेवा कर्म्मकृतिस्तपः पर्यटनं क्रमात्।
स्वाध्यायेन तथा कृत्या तपसा मानसामरवाः।।२००।।
अत्यावश्यकमेतद्धि चतुर्णां तत्पृथक् पृथक्।
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।।२०१।।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।
उत्तरोत्तरधर्म्मेषु निष्ठायामधिकं फलम्।।२०२।।
तस्य चेत्परमा भक्तिस्तिरोधानं विनश्यति।।
भक्ति : स्वतन्त्रा शुद्धा च दुर्लभेति न सोच्यते।।२०३।।
अयं हि सर्वकल्पनामुत्तमः परिकीर्तितः।
त्रिषुस्वाश्रमधर्मेषु प्रथमे वा प्रतिष्ठितः।।२०४।।

ऐसे आश्रमों का निरूपण करके वर्ण वर्ण के अनुसार और एक एक आश्रम के अनुसार वृत्ति अनेक प्रकार की

है, शीघ्र फल का उपयोगी कैसे अन्न का है उसका वर्णन करते हैं "आद्यन्तयोस्तु योस्तु भिक्षान्नम्" ब्रह्मचारी संन्यासी के लिये तो भिक्षा का अन्न उत्तम है, गृहस्थ को, शिलोञ्छ अर्थात् हाट (बाजार) उठे पश्चात् बिखरे हुए अन्न के कण शिलोञ्छ कहलाते हैं तथा खेत वाले किसान लोगों के लिये पीछे बची हुई धान्य की मंजरी शिल कहलाती है यह अन्न गृहस्थी के फल का उपयोगी है, संन्यासाश्रम में फिरते हुए सात घर की भिक्षा करना। वहां केवल अन्न का ही नियम है किन्तु ब्रह्मचारी की गुरुसेवा करना, गृहस्थ का अधिकारानुसार कर्म करना, वानप्रस्थ का तपश्चर्या करना, संन्यासी का पृथ्वी का पर्यटन करना आदि और भी नियम बहुत है उन सभी को करना यज्ञ तो चारों आश्रम में पृथक् पृथक् प्रकार से सभी को करना योग्य है, गृहस्थ का अतिथि का सत्कार देवपूजन आदि धर्मों को भी अवश्य परिपालन करना योग्य है, ये धर्म और आश्रम से नहीं बन सकते हैं, इतनी ही गृहस्थाश्रम में श्रेष्ठता है, यज्ञ तो चारों आश्रम वालों को करना तथा ब्रह्मचारी को "यं यं क्रतुमधीते" इस वाक्य के अनुसार यज्ञ विधि का करना वेद का पढ़ना है यह ही वाचिक यज्ञ करना है। गृहस्थ को क्रिया द्वारा कायिक यज्ञ करना लिखा है, वानप्रस्थ को तप के द्वारा मानसिक यज्ञ करना, संन्यासी को भी आवश्यक है इसी से "अजरामर्याग्नि होत्र" श्रुति में ज्ञानी के लिये कहा है। संन्यासी का जो ज्ञान धर्म है उसकी अपेक्षा और आश्रम का धर्म हीन समझकर के उनको छोड़ना योग्य नहीं अपने आश्रम के धर्म में अपनी मृत्यु हो जाना ही कल्याण करने वाला है। दूसरे आश्रम के धर्म को ग्रहण करना भय देने वाला है ऐसा गीता वाक्य है "उत्तरोत्तर" आगे आगे के धर्म में जैसे श्रद्धा बढती जाय वैसे वैसे अधिक फल प्राप्त होता है। अपने अपने आश्रम धर्म सहित जो ज्ञान है उनमें संन्यासाश्रम का ज्ञान उत्तम है वह ज्ञान ब्रह्मा के साथ अथवा ब्रह्मा जी से पहले भी क्रम से मुक्ति देने वाला है यही उस ज्ञान की उत्तमता है उससे भी अधिक उत्तमता जब होती है "एवं धर्मैर्मनुष्याणाम्, मयि संजायते भक्तिः" इस भागवत वाक्य के अनुसार वे वर्णाश्रम धर्म हैं वे भक्ति के उत्पन्न करने वाले होकर भगवद् धर्मरूप हो जावे अर्थात् वर्णाश्रम धर्म सहित जो ज्ञानी हैं उसकी भगवान् में भक्ति सिद्ध हो जाय तो जीव में आनन्द का जो तिरोभाव हो रहा है उसका नाश हो जाय उसका नाश होते ही ब्रह्मभाव हो जाता है, आश्रम धर्म सहित ज्ञान सहित भक्ति ही तिरोभाव का नाश करने वाली है भगवान् का माहात्म्य जानकर उनमें परम स्नेह करना भक्ति कहलाती है ऐसे ही यह भक्ति भगवान् की परिचर्या सहित स्वतः पुरुषार्थ रूप सेवा मानकर के की जाय अर्थात् भक्ति से और कुछ फल नहीं मांगा जाय भक्ति को ही फल माना जाय वह भक्ति स्वतन्त्र भक्ति कहलाती है। सारांश यह है कि आश्रम धर्मसहित ब्रह्म के अनुभव सहित जो माहात्म्य ज्ञान पूर्वक स्नेह है वह ब्रह्मभाव को सिद्ध करता है वैसा ही स्नेह प्रभु परिचर्या सहित हो तब वह परिचर्या आनन्द रूप होती हुई त्रयोदश गुण वाली फलरूप होती हैं उस प्रियतम प्रभु के सेवा में आश्रम धर्मादिकों का आचरण करना "फलानुभव का" भजनानन्द के अनुभव का प्रतिबन्धक ज्ञात होता है, इसलिये जैसे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ जीव आश्रम धर्मादिकों को छोड़ देता है वैसे ही भजनानंद अर्थात् प्रियप्रभु की सेवा के आनन्द का अनुभव करने वाले

उत्तमाधिकारी भक्त को आश्रम धर्मादिकों का करना उस आनंद का प्रतिबंधक मालुम पड़ता है इसलिये आश्रम धर्म उस समय में त्याग योग्य है इसलिये जहां तक पर ब्रह्म पुरुषोत्तम के स्वरूपानंद के अनुभव पूर्वक भजनानंद का सेवा के सुख का अनुभव नहीं हो वहां तक तो आश्रम धर्मों को सर्वथा नहीं छोड़ना। ऐसी स्वतंत्र शुद्ध भक्ति दुर्लभ है इस कारण उसका संक्षेप में ही निरूपण किया है विस्तार इस ग्रंथ में नहीं किया है क्योंकि ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए जीव जगत् में है परन्तु वैसे भक्त जगत् में करोड़ों में एक होना भी दुर्लभ है श्री भागवत में लिखा है **''मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपिमहामुने।।''** भगवच्छांत्र में इस प्रकार की भक्ति को सर्वोत्तम बताई है **''यमेवैषवृणुते तेनलभ्यः''** इस श्रुति से निश्चय होता है भक्त को अंगीकार करके ऐसी भक्ति देना भगवान् के अधीन है यदि भगवान् इच्छा करके ऐसा भाव (भक्ति) उत्पन्न करदे तो चतुर्थ संन्यासाश्रम में नहीं रहना, आश्रम में यथेष्ट भोजन बिना इन्द्रियों की सामर्थ्य नष्ट हो जाये तो प्रिय प्रभु की सेवा नहीं बन सकती है इसलिये तीन आश्रमों में रहना वहां गृहस्थाश्रम में आह्निक कर्म में काल व्यतीत हो जाय ऐसे ही वानप्रस्थ में वन के फलादिक संग्रह करने में कालव्यतीत हो जाय तो प्रभु परिचर्या नहीं हो सकती है इसलिये यदि स्त्री पुत्रादिक सेवा के अनुकूल हो तो गृहस्थाश्रम में रहना परन्तु सब की अपेक्षा इंद्रियों को जय कर के ब्रह्मचारी होकर प्रेम सेवा का अनुभव करना सर्वोत्तम है क्योंकि ब्रह्मचारी को यथेष्ट भोजन करना लिखा है अर्थात् प्रथमाश्रम में रहकर यथेष्ट भोजन करके इन्द्रियों की सामर्थ्य बढाकर भगवत् सेवा करना इतने विस्तार का यह निचोड है कि वैदिक धर्म करते करते जब भक्ति उत्पन्न हो जाय तब जानना उत्तम वैदिक धर्म मेरे से बन आया है भक्ति को उत्पन्न कर देना यही वैदिक धर्म की उत्तमता है, यह वार्ता **''भगवान् ब्रह्मकात्स्न्र्येन''** इस भागवत के श्लोक में स्पष्ट लिखी है इस प्रकार वैदिक भक्ति वैदिक धर्म की अपेक्षा रखती है इसलिये धर्म अंग है वैदिक भक्ति अंगी है और निरपेक्ष स्वतन्त्र भक्ति तो दुर्लभ ही है।

न्यासे सर्वपरित्यागी नष्टाहंममताभिदः।
योगमुक्तममास्थाय लोकातीतो बहिर्दृशिः।।२०५।।
असंप्रज्ञातयोगेक्षो देहत्यागो विमुच्यते।
तादृशस्य बलाद्वापि देहत्यागो विमुक्तिदः।।२०६।।
संप्रज्ञातसमाधिस्थः सांख्येनात्मविभिन्नदृक्।
विकृतं प्रकृते कार्यं मायेति त्यक्तविग्रहः।।२०७।।
एवं योगं च सांख्यं च समास्थापयते कृती।
योगेन त्यक्तदेहश्चेत्क्रमान्मुक्तिं स विंदति।।२०८।।

ब्रह्मलोक प्रवृत्तानां या गतिस्तस्य सा भवेत्।

भक्ताधिकारिणां मुक्तिरन्यथा प्रकृतौ लयः।।२०९।।

पुनः सृष्टौ तथैश्वर्यं कर्मिणां पुनरागतिः।

आसन्योपासकानां तु ब्रह्मणा सह मुक्तता।।२१०।।

अभक्ते पुनरावृत्तिर्योग निष्ठां गतस्य तु।

ऐश्वर्यादिहरेर्भक्तौ भित्वाण्डं प्रविशेद्धरिम्।।२११।।

गीता भागवतस्थ योग, सांख्य शास्त्रों को एक समझकर सद्योमुक्ति तथा क्रम मुक्ति का वर्णन करते हैं, प्रथम सद्योमुक्ति का वर्णन करते हैं। संन्यास के द्वारा मन से भी सब पदार्थों को छोड़कर अहंकार तथा ममता छोड़कर भगवान् के प्रकट होने के लिये उत्तम योग धारण करके **"केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे"** इत्यादि वाक्यानुसार प्रादेशमात्र चतुर्भुजाकार भगवान् विराजते हैं उनको धारण करके स्मरण करे, लोक व्यवहार का त्याग करे, आत्मा को लोक से भिन्न समझे अन्तर्निष्ठ रहे। बाहर दर्शन की संभावना हो तो असंप्रज्ञात योग में दृष्टि लगाकर बाहर के पदार्थों का ज्ञान छोड़कर वैसी निष्ठा में ही देहपात हो वहां तक स्थित रहे तो देहपात होते ही सद्यमुक्ति हो जाती है, क्योंकि उस अवस्था में भगवान् का आविर्भाव हृदय में ही हो रहा है इस अधिकारी से जो हीन अधिकार वाला है उसको हृदय में संदेह रहता है जब मेरा देह पात हो इतने बहुत काल तक भगवान् का आविर्भाव स्थित रहा रहेगा या नहीं उस अधिकारी को भगवान् का आविर्भाव हृदय में हो उसी समय में प्राणवायु से बह्माण्ड भेद कर देह त्याग करना योग्य है उसकी भी देहत्याग होते ही सद्यमुक्ति होती है।

क्रममुक्ति का प्रकार बताते हैं **"संप्रज्ञाते नेति"** बहिः संवेदन अर्थात् बाहर के पदार्थ ज्ञान सहित ही योग करके भगवान् के दर्शन करते हुए, ज्ञाननिष्ठ होकर भी परम विरक्त दशा में रहता हुआ मरण पर्यन्त ज्ञान योग का अभ्यास करता हुआ योग करके ही यदि देह का त्याग करता है वह क्रम मुक्ति को प्राप्त होता है। वहां ब्रह्मलोक पर्यन्त जाकर बहुत समय तक वहां स्थिर रहकर अधिकारानुसार अनेक मार्गों से जाता है।

अर्थात् ब्रह्मलोक में स्थित जीवों की पांच प्रकार की गति है जो अधिकारी होकर भी भक्त हैं वे ब्रह्मादिक अधिकार समाप्त होने से मुक्त होते हैं वैसे ही यह भी ब्रह्म लोक जीव गत अधिकारी भक्त होकर किसी निमित्त से जन्म को प्राप्त हो गया हो तो यह जीव भी मुक्त हो जाता है, भक्ति बिना अधिकारी ब्रह्मादिकों का भी प्रकृति में ही लय होता है। यह बात तृतीय स्कंध में **"क्ष्मांभोनलानिल"** इत्यादि दो श्लोकों में तथा **"आद्यं स्थिरचराणां यः"** इत्यादि चार श्लोकों में लिखा है फिर सृष्टि हो, जब वो ब्रह्मादिक फिर वैसे ही ऐश्वर्य वाले हो जाते हैं, यह गति सहस्र अश्वमेघ करते हैं उसको भी होता है। वह भी ब्रह्मलोक में जाता है परन्तु फिर आता है, तृतीय मार्ग कहते हैं, आसन्य प्राण की जो वेदोक्त प्रकार से उपासना करने वाले हैं वे कल्प पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहकर ब्रह्मा के साथ मुक्त होते हैं।

ब्रह्मा अथवा आसान्योपासक यदि इन जैसा कोई भक्त नहीं हो तो कालादि में फिर आवृत्ति हो अर्थात् पुनः जन्म लेना पड़ता है। चतुर्थ गति का वर्णन करते हैं जो योगी है अर्थात् जिसके योग मार्ग सिद्ध हो गया है उसको तो वहां ही ईश्वरता अणिमा महिमा आदि की सिद्धि प्राप्त हो जाती है इस अधिकारी का ही एकादश में सिद्धि के प्रकरण में भगवान् ने वर्णन किया है। पंचम मार्ग का वर्णन करते हैं **''योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्त रात्मना''** इत्यादि गीता वाक्यानुसार जो योगी हरि का भक्त है वह तो द्वितीय स्कंधोक्त प्रकार से ब्रह्माण्ड को भेदकर श्रीहरि के स्वरूप में प्रवेश करता है। आद्यमार्ग वाला वहां ही मुक्त होता है पंचम मार्ग वाला अंड को भेद कर मुक्त हो यह ही आद्य से इसमें विशेषता है।

केवलेन हि सांख्येन निविक्ताध्यात्मसंस्थितिः।
नैव किंचित् करोमीति दृढबुद्धिरसक्त धीः।।२१२।।
अन्तेऽप्येवं सदाज्ध्यायन्नविद्यातो विमुच्यते।
केवलेनापि योगेन दग्धकर्म मलाशयः।।२१३।।
योग वीर्येण जितदृक् लिंगभित्वा तथा भवेत्।
योगसांख्ये धर्महीने विमार्गे परिपोषिते।।२१४।।
नरकायैव भवतः पश्चात्किंचित्सुखं भवेत्।
ज्ञानांगे चित्तरोधे च तौ प्रमाणं न सर्वथा।।२१५।।
पदार्थतत्वनिद्धरि न प्रमाणं कथंचन।
फलांशे तु प्रमत्तस्य शास्त्रमात्रपरस्य हि।।२१६।।
नरकस्त्वन्यथा भावात्तेन मूले विनिन्दितौ।
फलांशे तु स्तुतौ कृष्ण वाक्ये भागवतोऽपि च।।२१७।।
तदन्येषां मतानां तु सर्वथा व्यर्थता मता।
नतैरिष्टेन युज्यंते मिथ्यार्थाभिनिवेशतः।।२१८।।
तस्माद्वेदोक्त मार्गेषु न स्वल्पोऽपि पतेद्बुधः।
अतः स एव सद्धर्मैः सेव्यो वर्णिभिरादरात्।।२१९।।
धर्ममार्गं परित्यज्यच्छलेनाधर्मवर्तिनः।
पंततिनरकेघोरे पाषंडेमतवर्त्तनात्।।२२०।।

मिश्रित सांख्य योग भक्ति का वर्णन करके इन जीवों की अपेक्षा जो हीनाधिकारी है उनके लिये केवल सांख्य केवल सांख्य केवल योग का उपयोग है इसलिये फल द्वारा सांख्य योग का निर्णय करते हुए केवल जो सांख्ययोग भक्ति है उनके फल का वर्णन करते हैं **'केवलेनेति'** केवल सांख्य के दो अंग है। संघात से भिन्न मानकर आत्मा का ज्ञान होना और अहंकार नहीं होना इन दोनों का निर्वाह में कोई कर्म नहीं करूं ऐसी बुद्धि करने से तथा वैराग्य रखने से होता है। इस प्रकार जीवन पर्यन्त एक धारणा से स्थित रहे तब अविद्या से छूटता है अर्थात् दूसरे जन्म में ज्ञानी होकर उत्पन्न हो ऐसे ही केवल योगाभ्यास करके ज्ञान का उदय हो जाता है तब योग बल करके देह को छोड़ दे तो अविद्या से छूट जाता है अर्थात् पंच पर्वाविद्या में जो भक्ति है उस भक्ति सहित जो सांख्य योग है वे तो मुक्ति के देने वाले रहे हैं और केवल जो सांख्य योग है वे अविद्या मात्र से छुड़ाने वाले हैं यह सिद्धान्त हुआ। निषिद्ध योग सांख्य का फल कहते हैं– धर्म मार्ग रहित जो वाम वार्ग के सांख्ययोग सांख्य है उनमें अपेय पानादिकों से नाडी को शुद्ध करना लिखा है वे सांख्ययोग नरक के देने वाले हैं क्योंकि उनका विपरीत मार्ग से पोषण होता है **"यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्, योगेनैव दहेदंहः"** इत्यादिकों में जो सांख्य योग की स्तुति की है वह पुराण में लिखे सांख्य योग की ही की है। वे दोनों परंपरा से ज्ञान द्वारा मोक्ष के अंग हैं। सांख्योक्त नित्य, अनित्य वस्तु का विचार है वह ज्ञान का अंग है। योग शास्त्रोक्त चित्त का रोकना है वह ज्ञान का स्थिर करने वाला है। अन्यथा ज्ञान स्रव जाता है इसलिये नित्य अनित्य वस्तु विचार तथा चित्त निरोध, इन दोनों के सांख्य योग शास्त्र अंग हैं, पदार्थों के स्वरूप निर्धार करने में ये दोनों शास्त्र प्रमाण नहीं है, क्योंकि **"योन्यथा सन्त मात्मानम्"** इस श्रुति में विपरीत ज्ञान से पाप होना लिखा है। इस कारण ही आनुमानादिकादि सूत्रों में सांख्य का **"अनेन योगः प्रत्युक्तः"** इसमें योग को व्यास जी ने दूषित किया है उससे सांख्योपजीवक जो मायावादी हैं उनकी व्यर्थता है सत्फल कुछ नहीं है, इससे यह सिद्धान्त हुआ कि नित्यानित्यवस्तु विचार रूप सांख्य के एक अंश का उपयोग है और चित्तनिरोध रूप एक योग के अंश का उपयोग है, इसलिये योग सांख्य की स्तुति गीता आदि में क्वचित् है। स्वतंत्र होकर मोक्ष फल को नहीं दे सकते हैं, इस कारण व्यास सूत्रों में तथा **"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्त मानिनः"** इत्यादि श्लोकों में निन्दा लिखी है इस कारण वेदातिरिक्त जितने मार्ग हैं वे स्वतंत्र फलसाधक नहीं है, वेद के ही अंग होकर के वेदोक्त प्रमेय जैसा है वैसे को ही सिद्ध करते हुए सफल होते हैं। इसका कारण वेदोक्त मार्गों के अनुसार बर्ताव करने से पुरुष का थोड़ा भी पात नहीं होता है। अतः त्रिवर्णी ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यों को वेदोक्त सद्धर्म का ही आदर पूर्वक आचरण करना चाहिये। वेद मार्ग को छोड़कर छल (कपट) से अधर्मक के बर्ताव करने वाले हैं वे पाखंड वेष के स्वीकार करने के कारण घोर नरक में पड़ते हैं इस कारण आपत्काल बिना ही जो पुरुष म्लेछों के वेश, भाषा, आचरण को धारण कर लेते हैं उन की भी सद्गति नहीं होती है यह बात भी बतलाई है।

अधुना तु कलौ सर्वे विरूद्धाचार तत्पराः।
स्वाध्यायादि क्रियाहीनास्तथाचारपराङमुखाः।।२२१।।
क्रियमाणं तथाचारं विधिहीनं प्रकुर्वते।
विक्षिप्तमनसोभ्रान्ता जिह्वोपस्थ परायणाः।।२२२।।
व्रात्यप्रायाः स्वतो दुष्टास्तत्र धर्मः कथं भवेत्।
षड्भिः संपद्यते धर्मस्ते दुर्लभतराः कलौ।।२२३।।
अथापि धर्ममार्गेण स्थित्वा कृष्णं भजेत्सदा।
श्रीभागवतमार्गेण स कथं चित्तरिष्यति।।२२४।।
अत्रापि वेदनिंदाया मधर्मकरणात्तथा।
नरके न भवेत्पातः किंतु हीनेषु जायते।।२२५।।
पूर्व संस्कारतस्तत्र भजन्मुच्येत जन्मभिः।
अत्यंताभिनिवेशश्चेत्संसारे न भवेत्तदा।।२२६।।

सांख्य योग द्वारा वेद विरोधी सब मतों को दूषित किया, अब भक्ति मार्ग में यद्यपि ब्राह्मण के वेष से विरूद्ध वेष धारण नहीं है तथापि कोई पुरुष शंख चक्रादिकों के धारणादि वेद विलक्षण प्रकार से देखकर यह भी पाखंड मार्ग है ऐसी शंका करते हैं उसका निराकरण करने के लिये भक्तिमार्ग की वैदिक से जो विलक्षणता है उसमें हेतु कहते हुए अन्य मार्ग की अपेक्षा उत्तमता दिखाते हुए भक्तिमार्ग का विस्तार दिखाते हैं **''अधुनात्विति''** अभी के समय में तो कलिकाल के दोष से सभी की शक्ति क्षीण हो गई है वेद की यथार्थ स्थिति नहीं है सब पुरुष विरूद्धाचरण में तत्पर हैं वैदिक क्रिया से हीन हैं आचार से रहित हैं **''शौचाचार विहीनानां समस्ता निष्फलाः क्रियाः''** इसलिये किये गये कर्म भी सब निष्फल होते हैं। यदि कोई पुरुष वैदिक कर्म को करता है किंतु विधि रहित करता है मन एकाग्र नहीं रखता है सदा सर्वदा भ्रम में ही डूबा रहता है। जिह्वा उपस्थ के सुख में ही परायण रहता है व्रात्य प्राप्यवर्णधर्म से हीन है स्वभाव से दुष्ट है ऐसे मनुष्यों में धर्म कैसे रह सकता है, क्योंकि देश, काल, द्रव्य, कर्ता, कर्म, मंत्र, इन छः पदार्थों से धर्म बनता है इस कलिकाल में इन शुद्धि देशादि छ पदार्थों का मिलना दुर्लभ है। कलिकाल के दोषों से शक्ति का ह्रास हो गया है इसलिये वेद का अभाव है अतः एव सब धर्मों का भी अभाव है तब अनेक प्रकार से संतापों से दुःखी जीवों को परम सुख प्राप्ति के लिये क्या साधन करना योग्य है वहां उत्तर आज्ञा करते हैं **''अथापि धर्म मार्गेणेति''** पाखंड मत का त्याग करके भक्ति के अंग समझकर यथा शक्ति अग्निहोत्रादिकों को करता हुआ सदा श्री कृष्ण की भक्ति में परायण रहे तो कलियुग को तिर जाता है अर्थात् इस कलियुग में मुख्य वैदिक धर्म नहीं बन सकता है इसलिये वेदोक्त फल भी नहीं होता है।

भगवद् भजन करता रहे तो पात (गिरना) नहीं हो किंतु कलि के दोष उस भक्त को दबा नहीं सकते हैं, अल्पसाधन करके बडे भारी फल को देने को कलियुग का स्वभाव उस भक्त के आगे प्रकट हो जाते हैं तब तो भगवदुक्त प्रकार से श्रद्धापूर्वक भगवत्कथा का श्रवण भगवद् गुणों का गान स्मरण जन्मोत्सवादिक करता हुआ धर्म, अर्थ काम का भगवान् के अर्थ ही आचरण करता हुआ सदा भजन करता है तब **"इमं लोकं तथैवामुम्"** इत्यादि तृतीय स्कंध पंच विशाध्यायोक्त जीवन्मुक्ति को प्राप्त होता है। इससे भी अधिकारी हो तो **"परस्वमेतेऽश्नुवतेतुलोके"** इस प्रकार श्लोकोक्त वैकुण्ठ में भोग को प्राप्त होता है, अर्थात् सेवा फल की टीका में जिस प्रकार लिखा है उसके अनुसार वैकुष्ठादिकों में सेवोपयोगी देह को प्राप्त होता है। मूलकारिका में जो कथंचित्पद कहकर भक्तिमार्ग से भी कलियुग में तिरने में संदेह दिखाया है उसका कारण कहते हैं **"अत्रापि वेद निंदायामिति"** भक्ति में भी दो बाधक हैं, भक्ति मार्ग में स्थित होकर वेद को अप्रमाण कहे तथा अधर्म का आचरण करे तो यद्यपि नरकपात होना ठीक है परन्तु भगवान् का नाम नरक विरोधी है इसलिये नरक में तो वह पुरुष नहीं गिर सकता है परन्तु जन्म मरणात्मक तृतीय मार्ग को प्राप्त होकर हीन शूद्रादि योनि में उत्पन्न होता है इसी को नीच योनि में **"कबीर, सूदन, रैंदास"** आदि भगवद् भक्तों के जन्म देखने में आते हैं इस कारण वेद निंदा तथा अधर्म का त्याग करके भगवान् की सेवा करना योग्य है।

शंका – वेद निंदा तथा अधर्म से शूद्रयोनि में गये हुए भक्त की फिर क्या गति होती है?

उत्तर – "पूर्वसंस्कारत इति" शूद्र योनि प्राप्त हुए भक्त पूर्वजन्म के संस्कार से वा शूद्र योनि में प्राप्त हुए भक्तपूर्वजन्म के संस्कार से वा शूद्र योनि में भी भगवान् का भजन करते हैं और उस देह में वेद की याद नहीं रहती है इसलिये वेद निंदाभी नहीं करते हैं तब प्रसन्न होकर के भगवान् उस भक्त को मुक्त करते हैं परन्तु उस जन्म में भी एक बाधक है पूर्व जन्म की भक्ति का संस्कार दुर्बल हो जाय तो संसार में अभिनिवेश होने से दृढ भजन नहीं बन सकता है तब मुक्ति भी नहीं होती है इतने कथन से वेद निंदा करके **"पुनरावृत्तिः"** जन्म मरण होता है परन्तु शुद्ध भजन से होने वाली मुक्तिको पूर्वजन्म की की गई वेद निंदा नहीं रोक सकती है, इसलिये वेद निंदा नहीं करके भगवद् भजन किया जाय तो भक्तिमार्ग अति श्रेष्ठ है।

एतावन्मात्रताप्यस्ति मार्गेऽस्मिन्मुरवैरिणः।
सर्वत्यागेनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे।।२२७।।
सायुज्यं कृष्णदेवेन शीघ्रमेव ध्रुवं फलम्।
एतादृशस्तु पुरुषः कोटिष्वपि सुदुर्लभः।।२२८।।
यो दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।।
हित्वा कृष्णे परं भावं गतः प्रेमप्लुतः सदा।।२२९।।
विशिष्टत्वं वेदार्थः फलं प्रेम च साधनम्।

तत्साधनं नवविधा भक्तिस्तत्प्रतिपादिका।।२३०।।

गीतासंक्षेपतस्तस्या वक्तास्वयमभूद् हरिः।

तद्विस्तारे भागवतं सर्वनिर्णयपूर्वकम्।।२३१।।

व्यासः समाधिना सर्वमाह कृष्णोक्तमादितः।

मार्गोऽयं सर्व मार्गाणामुत्तमः परिकीर्तितः।।२३२।।

यस्मिन्पातभयं नास्ति मोचकः सर्वथा यतः।

वर्णाश्रमवतां धर्मे मुख्ये नष्टे छलेन तु।।२३३।।

क्रियमाणेन धर्मः स्यादतस्तस्मान्न मोचनम्।

बुद्धिमानादरं तस्मिन् छले साध्येऽपि दुःखतः।।२३४।।

वहां भगवन्मार्ग की अपेक्षा वेद के उत्कर्ष को नहीं सहता भक्त वेद निंदा क्यों नहीं करेगा और निंदा करेगा तो उसका हीन योनि में जन्म भी होगा तब तो भक्तिमार्ग नाशवाला ही हुआ ऐसी शंका नहीं करना क्यों कि वेद निंदा नहीं करे तो मोक्ष हो। यदि वेद निंदा करने में आती है तो भी नरकादि नहीं होता है यह सामर्थ्य भी भक्तिमार्ग में ही है। वेदातिरिक्त सांख्यादिमार्ग में यदि वेद निंदा हो तो अवश्य नरक पात हो इतने कथन् से प्रारम्भ दशा में सापाय भी भक्तिमार्ग और मार्गों की अपेक्षा उत्तम है यह बात बतलाई है। जहां तक निश्चल भक्ति सिद्ध नहीं हो वहां तक भक्ति मार्ग की प्रारंभ दशा समझी जाती है। इस प्रकार **''यद्यनीशो धारयितुम् अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म परमोभव''** इत्यादि गीता वाक्योक्त हीनाधिकारियों की भी फल द्वारा उत्कर्षता वर्णन करके **'ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्यमत्पराः'** इति गीता वाक्योक्त भक्ति मार्गीय मध्यमाधिकारी जो भक्त हैं वैदिक मार्ग के फल के समान जिनको फल मिलता है जिनको नाश का भय नहीं है जिनके लिये शीघ्र उद्धार करने की भगवान् ने प्रतिज्ञा की है उन मध्यमाधिकारियों के फल का वर्णन करते हैं **''सर्वत्याग इति''** बाहर से देह वाणी से सर्वत्याग हो, भीतर से मन से सर्व त्याग हो, सर्वदा अपने स्वामी मानकर श्री कृष्ण चन्द्र में ही मन का निवेश हो, अन्य देवताओं को श्रीकृष्ण की विभूति मानकर उनके अंश मानकर अथवा भगवत्सेवक मानकर सन्मान करना हृदय में स्फुरण हो इस प्रकार देहपात पर्यन्त कृष्णैक मानस रहना है अर्थात् मृत्यु हों जहां तक कृष्ण के विषय में ही चित्त लगाया रखे तो श्री कृष्ण चन्द्र के साथ शीघ्र ही सायुज्य फल को प्राप्त होता है। देह तथा वाणी का श्रीकृष्ण में विनियोग नहीं हो, प्रेम भी नहीं हो, केवल अभ्यास से भगवान् में मन की सर्वदा स्थिति की जाय तथापि यह फल हो यहां **''अनन्येनैव योगे न मां ध्यायन्त उपासते''** इस श्लोकार्थ का स्पष्टार्थ किया है। उत्तमाधिकारी का वर्णन करते हैं - ऐसा पुरुष करोड़ों पुरुष में भी दुर्लभ है जो पुरुष, स्त्री, घर, पुत्र, प्राण, वित्त, यह लोक, परलोक को छोड़कर श्री कृष्णचन्द्र में परम भाव को प्राप्त हो वैसे भक्त की प्रशंसा की है **''मुक्तानामपि सिद्धानां नारायण परायणः। सुदुर्लभः**

प्रशांतात्मा कोटिष्वपि महामुने'' साधना करने वाले करोड़ पुरुषों में एक मुक्त होता है वैसे करोड़ो मुक्त पुरुषों में भी नारायण में परायण पुरुष होना दुर्लभ है। ज्ञानमिश्र भक्त जो, प्रेमयुक्त हो वह उससे ही दुर्लभ है। इस भक्ति को **''देवानां गुण लिंगानाम्''** इसका तृतीय स्कंध में वर्णन है। संकल्प विकल्प रहित देवरूप जिस का मन हो जाता है जो पुरुष के इन्द्रियों की गुणातीत भगवान् में स्वभाव से निष्ठा हो उसको भक्ति कहते हैं। **'नैकात्मतां मे स्पृहयान्ति केचित्'** ऐसे भक्त मुक्ति को नहीं चाहते हैं ऐसे भक्त कितने ही हैं। इससे दुर्लभता दिखाई है उस भक्ति को करके भगवान् भक्त के वश में हो जाते हैं उस भक्ति की अवस्था का नाम प्रेम कहा जाता है। उस भक्ति का भी सायुज्य ही फल है इसका **''अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते''** इस श्लोक में वर्णन है इससे भी उत्तमाधिकारी वर्णन करते हैं **''तत्रापि सद्य प्रेम प्लुतः''** जो सर्वदा प्रेम में निमग्न रहता है वह सब से उत्तमाधिकारी है।*

---

* इस प्रसंग में दृष्टान्त का वर्णन करते हैं – श्री विठ्ठल नाथ जी श्री गुसांई जी की एक सेवकनी (डोकरी) वृद्धा स्त्री थी। श्री बालकृष्ण जी की सेवा करती थी। वैष्णवों ने उस डोकरी की श्रीगुंसाईजी के आगे निंदा की कि ये श्री ठाकुरजी के दाणा का भोग धरती है और कुछ सेवा नहीं करती है। यह सुनकर श्रीगुसांईजी अचानक उसके घर पधारे उस समय प्रभु के आगे दरिद्रता के कारण दीनता करके भीगे बाजरा के कण भोगधर के डोकरी मन्दिर के बाहर आकर बैठ गई थी। आप भीतर पधार कर प्रभु के दर्शन करके अपने प्रभु से प्रार्थना की आप मेरे साथ पधारो यहां डोकरी आपको बडा परिश्रम देती है। यह सुनकर श्री ठाकुर जी ने आज्ञा की ये डोकरी दीनता करके प्रेम में निमग्न होकर बाजरी के कण भोग धरती है। ये एक एक कण मेरे को त्रिलोकी के व्यंजन से अति प्रिय लगते हैं। मैं इस डोकरी को सर्वथा नहीं छोडूंगा। यह सुनकर श्रीगुसांईजी बहुत प्रसन्न हुए और उस डोकरी के भाग्य की बड़ी प्रशंसा की। इसलिये सदा प्रेम निमग्न ही उत्तमाधिकारी है।

वैसे भक्तको भगवान् अलौकिक सामर्थ्य रूप परम फल को देते हैं। उसके द्वारा भक्तहै वह भगवान् के भजनानंद का अर्थात् सेवा के आनंद का अनुभव करते हैं। इस मुख्य भौतिक लक्षण श्रीभागवत के तृतीय स्कंध में **"अहैतुक्य व्यवहिता या भक्ति : पुरुषोत्तमे"** इस श्लोक में लिखा है वही **"दीयमानं न गृह्णातिविनामत्सेवनं जनः"** इस श्लोक में भगवत्सेवा के आनन्द में निमग्न वह भक्त सेवा बिना दी हुई चार प्रकार की मुक्ति को भी ग्रहण नहीं करते हैं। यह बात लिखी है ऐसे भक्त के आधीन भक्त हो जाते हैं **"अहंभक्त पराधीनः"** ऐसे भक्त को ही अलौकिक सामर्थ्यरूप फल मिलता है। यह फल सेवा फल ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है इस प्रकार फल का वर्णन करके सभी मार्ग का वर्णन करते हैं।

इस भक्तिमार्ग में प्रमेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ भगवान् हैं अर्थात् जिनका क्रिया रूप अंश वेद के पूर्व कांड में वर्णन किया है जिनका ज्ञान रूप अंश उत्तर काण्ड में विवरण किया है। भक्तिमार्ग में तो दोनों अंश सहित अर्थात् पूर्ण ज्ञान क्रिया वाले भगवान् ही (प्रमेय हैं) जानने योग्य हैं और भगवान् ही फल है, भगवान् की प्राप्ति में प्रेम ही साधन है। प्रेम का साधन नवधा भक्ति है श्रवणादिक नवधाभक्ति किये बिना संस्कार वश से फल कामना से अथवा उत्पन्न हुई जो प्रीति वह गौण प्रेम कहलाता है। श्रवणादिभक्ति भगवत्प्राप्ति के साधन है इसमें **"भक्त्या त्वनन्ययाशक्यः"** इत्यादि गीता वाक्य प्रमाण है, इस वाक्य में साध्यरूप प्रेमभक्ति, साधनरूप श्रवणादि भक्तिइन दोनों भक्तियों को एक समझ कर के मैं एक भक्ति करके ही जाना जाता हूँ तथा दर्शन देता हूँ, इस प्रकार आज्ञा की है जिन श्रीकृष्ण की प्राप्ति भक्तचाहते हैं उन फलरूप कृष्ण के वचन श्री गीताजी है इसमें परम प्रमाण श्री गीताजी मानी जाती है। परमानन्दरुप तथा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है इसलिये श्री कृष्ण ही फलरूप है। संक्षेप से कहे गये गीता जी के अर्थ को संदेह सहित मानकर विस्तार पूर्वक वर्णन करने के लिये उन्हीं श्रीकृष्ण चन्द्र ने ही कृष्ण द्वैपायन नाम वेद व्यास जी का रूप धारण करके श्री भागवत महापुराण की आज्ञा की है। प्रमाण प्रमेय, साधन, फल, ये चारों इस मार्ग में एक रूप है इसलिये ये मार्ग सर्वमार्ग की अपेक्षा उत्तम है। तथा हि इस भक्तिमार्ग में भगवान् का वाक्य ही प्रमाण है। प्रभु के वाक्य में विश्वास रखकर प्रवृत्त हुआ जो भक्तहै उसके कदाचित् कोई बाधा आने के कारण साधन ठीक ठीक नहीं बन सकते हैं तथापि भगवान् प्रमेय बल से भक्त को कृतार्थ करते हैं क्योंकि आप परम दयालु हैं स्वयं जानते हैं कि मेरे वाक्य में विश्वास रख कर भक्तिमार्ग में प्रवृत्त हुए भक्त की दुर्गति हो जायगी तो **"न मे भक्तः प्रणश्यति"** मेरे भक्त का नाश नहीं होता है ऐसी मेरी प्रतिज्ञा वृथा होगी तथा इस मार्ग में (प्रमेय) अर्थात् जानने योग्य वस्तु भगवान् है और फल भी भगवान् है इसलिये प्रमेय का जो ज्ञान हो जाना है वह ही फल का अनुभव करना है। साधन जो भक्ति है वह फल से भी अधिक है। इसीलिये भक्त फलरूप भगवान् में लीन होना नहीं चाहते हैं किन्तु सर्वदा भक्ति करना ही चाहते हैं। फल है वह भी इस मार्ग में ज्ञान कर्मादिकों से साध्य जो पदार्थ उनसे अधिक है इसके लिये इस मार्ग में दुर्गति का भय नहीं है क्योंकि भगवान् के गीता भागवतादिकों के प्रमाण वाक्यों को सुनकर के जिस दिन से भक्तिमार्ग में जीव प्रवृत्त होता है उस दिन से उस भक्त की श्रीभगवान् रक्षा करते

हैं क्योंकि ऋषि आदियों के कहे हुए प्रकार से भी प्रवृत्त हुए मनुष्यों को भगवान् मुक्तकर देते हैं, मुक्त करने का आपका स्वभाव ही है। वहां श्री मुख के वाक्य गीता आदि के अनुसार बर्ताव करने वाले भक्तों का उद्धार क्यों नहीं करेंगे?

यदि भगवान् का मुक्त करने का ही स्वभाव है तो वेदोक्त यज्ञादि द्वारा ही क्यों नहीं मुक्त करते हैं? ऐसी शंका तो नहीं करनी कलिकाल के दोष से वेंदादिक मुक्ति के साधक नहीं हो सकते हैं, यथावत् यज्ञोपवीतादिक संस्कार हुए बिना ब्राह्मण्यादि देवताओं का प्रवेश देह में नहीं होता है तथा आश्रमों में जैसे आचार कहे हैं वे आचार भी नहीं बनं सकते हैं इसलिये कलियुग में किया गया धर्म नाम मात्र का धर्म है ऐसे धर्म से अपूर्व नहीं होता है, अपूर्व बिना मुक्त्यादिक फल भी नहीं होता है जब भगवान् ने इस प्रकार जाना तब भक्तिमार्ग का कथन किया इसलिये अभी कलिकाल में और मार्ग फलदायक नहीं है इस प्रकार भक्तिमार्ग की उत्तमता वर्णन करके श्री वल्लभाचार्य जी महाप्रंभु जी सात्विक जीव को उपदेश देते हैं **"बुद्धिमानादरमिति"**

त्यक्त्वा मार्गे ध्रुवफले भक्ति मार्गे समाविशेत्।
विरूद्धकरणं नास्ति प्रक्रिया न विरूध्यते।।२३५।।
कल्पितैरेव बाधः स्यादवोचामः प्रमाणताम्।
सर्वथा चेद्धरिकृपा न भविष्यति यस्य हि।।२३६।।
तस्य सर्वमशक्यं स्यान्मार्गेस्मिन्सुतरामपि।
कृपा युक्तस्य तु यथा सिद्धयेत्कारणमुच्यते।।२३७।।
कृष्ण सेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्।
श्रीभागवततत्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्।।२३८।।
तदभावेस्वयंचापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित्।
परिचर्यां सदा कुर्यात्तद्रूपं तत्र च स्थितम्।।२३९।।
साकार व्यापकत्वाच्च मंत्रस्यापि विधानतः।
श्रीकृष्णं पूजयेद्भक्त्या यथालब्धोपचारकैः।।२४०।।
यथा सुन्दरतांयाति वस्त्रैराभरणैरपि।
अलंकुर्वीत सप्रेम तथा स्थानपुरःसरम्।।२४१।।

कलियुग में कर्मादिक सर्वथा नहीं बन सकते हैं परन्तु सत्ययुगादिकों मे भी **"कर्मणो गहना गतिः"** इत्यादि गीता वाक्यानुसार दुःखसे सिद्ध हो सकता है। ऐसे कर्मादिक मार्गो में आदर का त्याग करना अर्थात् बहुत

मार्गों में परम आदर नहीं बन सकता है इसलिये एक मार्ग के विषे ही आदर करना वेदमार्ग की अपेक्षा भक्ति मार्ग उत्तम है तथा अभी अन्य मार्ग विद्यमान भी नहीं है इस कारण आदर पूर्वक बुद्धिमान् पुरुष भक्तिमार्ग में ही प्रवेश करे **''अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव समन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः''** इत्यादि गीता वाक्यों में स्पष्ट यह बात लिखी है कि दुराचारी भी पुरुष अनन्य होकर भगवत्सेवा करता हो तो उसको सत्पुरुष समझना। इस लिये भक्तिमार्ग में प्रवेश होते ही जीव कृतार्थ हो जाता है।

श्री महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं जैसे पाखंडी लोग अपने मार्गों में जीवों को फसाने के लिये अपने मार्ग को सब उत्तम बताते हैं। इस कारण पाखंडियों के भी वचन होते हैं वैसे हमारे वचन को मत मानना क्योंकि पाखंडियों के मतों में श्रुतिस्मृति से विरूद्ध आचरण होता है ऐसे इस भक्तिमार्ग में श्रुति स्मृतियों से विरूद्ध आचरण नहीं है। वेद में जो परमात्मा परब्रह्म रूप प्रमेय का प्रतिपादन है उसी को भक्तिमार्ग में प्रमेय माना है इसलिये भक्ति मार्ग में वेदविरूद्धता की संभावना नहीं करना।

शंका – मायावादियों ने वेद में जो आत्मा शब्द है उसको जीव का नाम माना है तब शरीर संबन्धि जीवात्मा वेद का प्रमेय हुआ और उसी समय जीवात्मा के अधीन मुक्ति होना मानते हैं, तब उनके मतानुसार स्वाधीनमुक्ति हुई और भक्तिमार्ग में तो परमात्मा को प्रमेय माना है और मुक्ति भी उन्हीं के आधीन मानी है तब वेद का तथा भक्तिमार्ग का एक प्रमेय कैसे हुआ?

उत्तर – ''कल्पितैरिति'' मनः कल्पित वाक्यों से उन वादियों ने **''तरति शोक मात्मवित्'' आत्मलाभान्नपुरं विद्यते''** आत्मा को जानने वाला शोक को तिर जाता है, इत्यादि वाक्यों में आत्मा को शब्द के अर्थ को शरीर संबंधी जीवात्मा पर लगा लिया है इसी से वेदार्थ के संदेह दूर करने वाले व्यास जी ने **''अनुपत्तेस्तु न शारीरः''** इस सूत्र में वेद के ब्रह्मकरण पठित आत्म शब्द पर ब्रह्म वाचक है जीव वाचक नहीं है यह निर्णय किया है इस कारण वे वादी अपने जीव को फल रूप मानते हैं यह बात प्रमाण विरूद्ध है। वेद में आत्म शब्द भगवान् का वाचक है वेदान्त भाग जीव पर नहीं हो सकता है, जीव फलस्वरूप भी नहीं हो सकता है क्योंकि जीव में सत्ता चैतन्य दो ही गुण है भगवान् में सत्ता चैतन्य आनंद तीन पदार्थ हैं आनंद भगवान् मैं अधिक है जीव में नहीं है ज़ीव तो अंश है भगवान् तो जीव से अधिक है उसमें **''अंशो नाना व्यपदेशात्। अधिकन्तुभेद निर्देशात्''** इत्यादि व्यास सूत्र प्रमाण है इसलिये भक्तिमार्ग तथा वेद दोनों के प्रमेय भगवान् एक ही हैं इस कारण मुक्ति भी दोनों भगवान् के आधीन है जीव के आधीन नहीं है इसलिये भगवान् की प्राप्ति का कारण स्नेह ही है। इस प्रकार युक्ति से भी भक्ति मार्ग को प्रामाणिक बताया है। यदि सर्वोत्तम यह मार्ग है तो सभी बुद्धि वाले पुरुष इसमें प्रवृत्त क्यों नहीं होते हैं?

उत्तर – सभी पुरुष को इस भक्तिमार्ग में फलदायक अधिकार नहीं है जिस पर भगवान् की कृपा है उसी को भक्ति के मुख्य फल की प्राप्ति होती है पाप नाश तो **''देवोऽसुरो मनुष्योवा''** इत्यादि वाक्यानुसार दैव

आसुर कोई जीव हो भक्ति करने से मुक्त हो जाता है। भगवान् की कृपा से भक्तिमार्ग रूचि से जानना, भगवान् की कृपा बिना इस मार्ग में रूचि नहीं होती है वहां इस जीव की भक्तिमार्ग में रूचि है या नहीं है यह कैसे ज्ञात हो यह शंका तो नहीं करनी, वेष, भाषा, आचरण से मार्ग की रूचि मालुम पडती है अर्थात् जो पुरुष सदा तिलक, कंठी आदि भक्तों के वेश को धारण करते हैं, दृढता के वचन बोलता रहे, एकान्त में सब के सन्मुख भी भगवान् के नाम को जपता रहे। भक्तिमार्ग के आचार अनुसार सदा बर्ताव करता रहे तब जानना इस पुरुष की भक्तिमार्ग में रूचि है।

शंका – भगवत्कृपा से ही उद्धार हो जायेगा तो साधन करने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर – भगवान् के अनुग्रह से तो भक्ति प्रकट होती है, प्रकट हुई प्रेमभक्ति को साधन की अपेक्षा है वहां गुरु की उपासना प्रथम साधन है **''निरालम्बो यथा लोके स्थान भ्रष्टो निगद्यते। हरेः कृपा विशिष्टोऽपि गुरु हीन स्तथैव च''** जिस पुरुष के कोई आलंबन नहीं हो उसको लोक में स्थान भ्रष्ट कहते हैं। ऐसे ही भगवत्कृपा सहित भी पुरुष गुरु हीन हो तो उसको स्थान भ्रष्ट के समान समझना। इसलिये प्रथम कृष्ण सेवा में ही परायण होकर उसको गुरु करना जो गुरु ओरों को सेवा करने का उपदेश देता है वह गुरु स्वयं भगवत्सेवा को उत्तम जानेगा तो क्यों नहीं करेगा। इसलिये सेवां परायण हो वही गुरु है वहां भी किसी निमित्त से सेवा नहीं करता हो, काम, लोभ, प्रतिष्ठा के लिये कपट से सेवा नहीं करता हो वहां सर्व प्रमाण सारभूत श्रीभागवत के अनुसार ही की गई सेवा पुरुषार्थ सिद्ध करने वाली है, अन्यथा मन के अनुसार विपरीत सेवा से फल सिद्धि नहीं है। इसलिये श्री भागवत के तत्व के जानने वाला हो उसको गुरु करना और शिष्य को गुरु के समीप जिज्ञासु होकर जाना चाहिये। कौतुकाविष्ट होकर जाना ठीक नहीं है आदर पूर्वक सर्वभाव से ऐहिक पार लौकिक सहित आत्मा का निवेदन कर के आदर पूर्वक गुरु की आज्ञा का सदा पालन करता रहे, उसके पश्चात् गुरु जिस प्रकार भगवत्सेवा करना सिखावे उसके अनुसार भगवत्सेवा करना योग्य है।

वहां श्री वल्लभाचार्य जी कलियुग को बलिष्ठ देखकर आगे होने वाले मनुष्यों में गुरुपने के लक्षण का अभाव विचार कर अपने ही स्वरूप में (पुष्टिमार्ग) अर्थात् **''पोषणं तदनुग्रहः''** इस वाक्यानुसार अनुग्रह विशिष्ट भक्तिमार्ग के गुरुत्व का स्थापन करते हुए सेवा का प्रकार दिखाते हैं **''तदभाव इति''** जिस देश में भक्ति मार्ग के विरोधी नहीं रहते हों ऐसे किसी देश में स्थित होकर के भगवान् की मूर्ति की सेवा करे अर्थात् भगवान् के स्वरूप में यह मेरे स्वामी है इस प्रकार का भाव रखकर अपने को भगवान् का सहज दास समझकर दास के कार्य को करता रहे, यहां कथा श्रवण भगवान् की प्रसन्नता के लिये धर्म अर्थ आदिकों का आचरण आदि धर्मों का पहले वर्णन नहीं करके प्रथम मूर्ति सेवा का प्रकार दिखाया है उसका कारण यह है कि ये सब साधनों में मुख्य साधन है क्योंकि मूर्ति में किया हुआ वस्त्र भूषण नैवेद्यादिक उपचार साक्षात् भगवान् को अंगीकार कराया समझा जाता है। वहां तीन प्रकार से मूर्ति में भगवत्त्व का निरूपण करते हैं। प्रथम तो सर्व पदार्थ भगवद्रूप

हैं तो मूर्ति भी भगवद्रूप है विशेषता इतनी अधिक है जैसे प्रल्हाद जी आदि भक्तों के लिये स्तंभादिकों में से आप प्रकट हुए हैं ऐसे ही सेवा करने वाले भक्त के उद्धारार्थ आप मृतिका आदि को से मूर्ति रूप से प्रकट होते हैं जैसे इन्द्रद्युम्न के उद्धार करने के लिये दारू ब्रह्म रूप श्री जगन्नाथजी प्रकट हुए तक्षक द्वारा भी जैसी इच्छा थी वैसा ही आकार भगवदाविष्ट चन्दन का काष्ठ प्रकट हुआ यह बात जगन्नाथ माहात्म्य में प्रसिद्ध है ऐसे ही मूर्ति सिद्ध होने में जीव की कृति द्वारा भी जैसे स्वरूप से प्रकट होने की इच्छा होती है वैसे ही स्वरूप का प्रादुर्भाव होता है। भक्तिमार्गानुसार से तो भगवान् का स्वरूप मूर्ति में स्थित है यह निश्चय रखना। जहां मूर्ति के श्री हस्तचरणारविन्द हैं वहां ही भगवान् के भी हस्तचरणादिक हैं मूर्ति के सब अवयवों में भगवदावयव हैं क्योंकि भगवान् हैं वे साकार व्यापक ब्रह्मरूप है इसलिये कडा, किरीट, कुंडालिक उपचार भगवान् के अवयवन में ही साक्षात् अंगीकृत होते हैं। उपासना मार्गों के अनुसार मंत्र सहित न्यास पूर्वक पूजा भी मूर्ति में ही श्रेष्ठ हो सकती है, इसलिये ज्ञानी भक्त तथा उपासना मार्गीय इन तीनों को ही मूर्ति पूजन करना योग्य है और देवताओं की मूर्ति में भी पूजन हो सकता है परन्तु वहां दो व्यवधान होते हैं भगवान् का अंश अक्षर पुरुष उसके अंश अवतार तथा अन्य देवता उनका आवेश लोह के गोले में जैसे अग्नि का आवेश होता है वैसे मूर्ति में आवेश होता है। श्रीकृष्ण की मूर्ति में अंशी मूलरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम का ही आवेश होता है इसलिये श्री कृष्ण की ही प्रेम सहित सेवा करना राजाधिराज का जिस प्रकार उपचार किया जाता है उसी रीति से सेवा करनी चाहिये। जितने पदार्थ प्राप्त हों उनसे (उपचार) उचित सत्कार करता रहे। भक्तिमार्ग के अनुसार ही भगवत्सत्कार करना ही योग्य है जैसे सुन्दरता प्रकट हो ऐसी रीति से प्रेम करके वस्त्र आभूषण धारण कराना, प्रेमसहित सेवा करने से चित्त का उद्वेग मिटता है, प्रथम मन्दिर की सोहनी, मन्दिर वस्त्र छिडकाव, मांडना आदिकों से सेवा करना इस प्रकार चंदवा पिछवाई, सिंहासन, शैय्याजी आदि पदार्थों की सेवा भी प्रथम ही कर रखना जिससे उस समय में विलम्ब नहीं हो।

भार्यादिरनुकूलश्चेत् कारयेत् भगवत्क्रियाम्।
उदासीने स्वयं कार्यं प्रतिकूले गृहं त्यजेत्।।२४२।।
तत्त्यागे दूषणं नास्ति यतो विष्णुपराङ्मुखाः।
सर्वथा वृत्तिहीनश्चेदेकं यामं हरो नयेत्।।२४३।।
पठेच्च नियमं कृत्वा श्रीभागवतमादरात्।
सर्वं सहेत् परुषं सर्वेषां कृष्णभावनात्।।२४४।।।
वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्।
एतद्देहावसाने तु कृतार्थः स्यान्न संशयः।।२४५।।

इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत्सदा।
सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनः स्थिरम्।।२४६।।
दृढविश्वासतो युक्त्या यथा सिद्धयेत्तथाचरेत्।
वृथालाप क्रियाध्यानं सर्वथैव परित्यजेत्।।२४७।।
यद्यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मनः।
येन स्यान्निर्वृत्तिश्चित्ते तत्कृष्णे साधयेद्ध्रुवम्।।२४८।।

स्त्री, पुत्रादिकों से भी सदा भगवत्सेवा करवाते रहना क्योंकि सेवा में सहायता की अपेक्षा है। पुरुष वस्त्र भूषणादि धारण करावे उतने समय में स्त्री व्यंजन सिद्ध करले तो भोग आने में विलंब नहीं हो यदि स्त्री पुत्रादिकों की उदासीन वृत्ति हो अर्थात् सेवा में प्रीति नहीं हो तो उनसे सेवा नहीं कराना, आप स्वयं ही सब सेवा करे क्योंकि आग्रह करके स्त्री पुत्रादिकों से सेवा करवाने में उनको क्लेश हो तो क्लेश सहित सेवा को भगवान् अंगीकार नहीं करते हैं। यदि स्त्री पुत्रादिक (प्रतिकूल) अर्थात् सेवा के विरोधी होकर अपने को सेवा नहीं करने देते हों तो उनको छोड़ देना। सेवा से प्रतिकूल हुए बिना स्त्री पुत्रादिकों के त्याग करने में दोष है। स्त्री पुत्रादिकों का ही नाम यहां गृह है **"गृहणी गृह मुच्यते"** उन्हीं का त्याग है घर का त्याग नहीं है। घर छोडने से सेवा नहीं बन सकती है। **"ततो दुःसंग मुत्सृज्य सत्सु सज्जेत् बुद्धिमान्"** इत्यादि प्रमाणानुसार भगवान् से बर्हिमुख स्त्री पुत्रादिकों के त्याग में दोष नहीं है इस लिये अवैष्णव के साथ नहीं बैठना यह बात भी बतायी है। जीव निर्वाह का प्रकार दिखाते हैं सर्वथा किसी प्रकार की जीविका नहीं हो तो प्रहर भर सेवा करके पीछे अनिषिद्ध उपाय करके जीवन करे, परंपरा से भी जो निषिद्ध वृत्ति चली आती हो तो उसको भी छोड देना योग्य है। यद्यपि भक्ति में सब जीवों को अधिकार है परन्तु आहार की शुद्धि होने से सत्व शुद्धि नाम अन्तःकरण शुद्धि होती है इसलिये शुद्ध वृत्ति से जीविका करना चाहिये।

जीविका के कार्य में लगे हुए चित्त को पुनः भगवान् में लगाने के लिये उपाय बताते हैं **"पठेच्चेति"** नियम पूर्वक श्री भागवत का पाठ करना, थोडी भी बहिर्मुखता मालुम हो तो श्री भागवत का पाठ करना यह ही भगवान् में चित्त लगाने का उपाय है यह सेवा (आन्तरीय) मुख्य है। अर्थात् जैसे श्री गंगाजी का प्रवाह समुद्र में सर्वदा अविच्छिन्न मिला रहता है इस प्रकार प्रेम प्लुत होकर सर्वदा श्रीकृष्ण में मन की अविच्छिन्न गति रखना मानसी सेवा है यह मुख्य है।*

जैसे बाहर देह से सेवा करने में सेवा विरोधी पदार्थ का त्याग है ऐसे भीतर हृदय में सेवा करने में भी जो विरोधी हो उनके त्याग का वर्णन करते हैं **"सर्वं सहेतेति"** जैसे बाहर सेवा करने में गृह की व्याकुलता दूर करना ऐसे ही भीतर सेवा करने के लिये हृदय की व्याकुलता दूर करना। जैसा कष्ट शत्रु के बाण लगने से नहीं होता है ऐसा दुष्टों के वचन से हृदय में क्षोभ होता है। यदि उनके वचनों से व्याकुल हृदय हो तो भीतर की सेवा नहीं बन सकती है, इसलिये दुष्ट वचन को अपना हितकारी समझकर सुन लेना। यदि वे वचन अत्यन्त विरूद्ध हो तो श्रीकृष्ण ही मेरे को आज्ञा करते हैं कि बर्हिमुख होकर नहीं रहना ऐसे समझ लेना परन्तु हृदय में क्षोभ नहीं होने देना।

उत्तम गुरु की जो दो शिक्षा है उनको याद रखना, वैराग्य और संतोष कभी नहीं छोड़ना। आसक्ति रखने से कपोत जैसे स्त्री पुत्रादि सहित जाल में फस गया ऐसे आसक्ति रखने से गृहस्थी फस जाता है। इसलिये वैराग्य रखना संतोष रखने से पिंगला वैश्या कान्ताशा छोडना ऐसे सहन करने का कारण यह है कि जैसे लोक में सेवक स्वामी की सेवा करते समय यह दृढ विश्वास रखता है कि सेवा के अन्त में फल अवश्य मिलेगा। इस लिये कब सेवा पूरी हो कब फल मिले ऐसे ही **"कालं प्रतीक्षत्विमदो विमत्सरः"** इत्यादि वाक्यानुसार नारद जी अपनी मृत्यु की बाट देखते भगवत्स्मरण कीर्तन परायण रहते थे। देहान्त होने के पश्चात् भगवत्पार्षद हो गये। इस प्रकार ही देह के अन्त में अवश्य मैं कृतार्थ होऊंगा ऐसा दृढ निश्चय रखकर जहां तक बन सके वहां तक बाह्यसेवा, तनुजा, वित्तजा तथा आन्तर सेवा मानसी को करता रहे, यह सबऊपर कहा, उपदेश हीनाधिकारी तथा मध्यमाधिकारी के लिये है इस उत्तमाधिकारी को तो भगवत्साक्षात्कार होने से सेवा में आनन्द प्रकट हो जाता है फिर वह **"विनामत्सेवनंजनाः"** मुक्ति को नहीं चाहते हैं। सेवा को स्वतः पुरुषार्थ रूप मानकर उसके आनन्द में निमग्न हुआ सर्वदा सेवा ही करता रहता है। वहां मन्द मध्यमाधिकारी यह शंका करे कि सर्वदा हमसे सेवा नहीं बन सकती है। उसका उत्तर यह है कि एक समय की हुई प्रेम सहित एक भी

---

* इस प्रसंग में दृट्रान्त का वर्णन करते हैं। एक वैष्णव ब्राह्मण सकुटुंब सेवा करता था अपने पुत्र की बहु को उन्मत्त समझकर के उसको आये गये भक्तें की सेवा करने का कार्य दे दिया। भीतर की सेवा कुछ भी उससे नहीं करवाता। थोडे ही दिनों में भक्तो की सेवा से उसके ऊपर भगवान की कृपा हो गयी। एक दिन वह ब्राह्मण कुमार ठाकुरजी के श्रृंगार करते समय मन में विचार करने लगा अभी शीघ्र राजभोग धर के जूती पहनने जाऊंगा। उसी समय एक वैष्णव ने आकर उस ब्रह्माण को पुकारा तब उस समय पुत्र की बहु बोली कि श्वसुर यहां नहीं है जूती पहनने गये हैं। यह सुनकर के ब्राह्मण वैष्णव पुत्र की बहु को धन्यवाद देने लगा और उसके ऊपर अधिक भगवत्कृपा जानकर सब सेवा उससे करवाने लगा। आप भी भगवान् में एकाग्र चित्त रखकर सेवा करने लगा।

सेवा परम पुरुषार्थ देने वाली हैं। श्री भागवत में लिखा है **''सकृदिष्ट्वादि पुरुषं पुरूषोयाति साम्यताम्''** एक समय पूजन के पुरुष भगवान् की समानता को प्राप्त हो जाता है, वहां एक सेवा करके ही कृतार्थता हो जायेगी सर्वदा सेवा क्यों करनी ऐसी शंका तो नहीं करनी क्यों कि बाहर की सेवा में देह का जीव के ऊपर बडा उपकार है इसलिये उसके बदले में जीव को भी देह से सेवा कराकर देह को कृतार्थ करना योग्य है। नित्य प्रलय पक्ष के अनुसार देह क्षण क्षण में और होती चली जाती है, उन क्षण क्षण में उत्पन्न होने वाले देहों को कृतार्थ करने के लिये किसी क्षण सेवा बिना नहीं रहना चाहिये तथा एक दंडादिधारण करना जैसे ज्ञानी देह के निश्चय कराने वाले हैं वैसे भक्त देह की निश्चय कराने वाली सेवा है **''अथवा वैधोपयोगोर्वरितस्य भूयो वैधोपयोगः प्रतिपत्ति रूच्यते''** वहां किस देश में कैसे परिचर्या करना ऐसी आकाक्षा हुई वहां आज्ञा करते हैं **''सर्वापेक्षा मिति''** सर्व अपेक्षाओं को छोड़कर अर्थात् भगवान् के अर्थ स्थापन करके मन को भगवान् के अर्थ अर्पण कर सेवा के साहित्य में अशक्यता से किसी पदार्थ की हीनता देखकर हृदय में उत्पन्न हुई विकलता उसको निवारण करे, अर्थात् माता पिता पुत्र का हित ही करते हैं ऐसे भगवान् मेरा हित ही करेंगे ऐसा दृढ विश्वास करके चित्त को भगवान् में ही स्थिर करके जैसी रीति से सेवा सिद्ध हो वैसे ही बर्ताव करना, **''मदर्थेष्वंगे चेष्टाच''** इस वाक्य में मेरे ही लिये भक्तों को अंगों की चेष्टा करनी चाहिये। यह जो भगवान् ने आज्ञा की है इससे सेवा का ही श्री मुख से उपदेश दिया है, चित्त को एकाग्र रखे बिना की गई सेवा आधिदैविकी नहीं होती है इस लिये चित्त को एकाग्र रखना, जितने में सेवा साधन सिद्ध हो उतना ही उपाय चातुर्य करना, अधिक नहीं करना सेवार्थ लौकिक उपाय करने में बर्हिमुखता भी नहीं होती है। लौकिक उपायादि युक्ति सिद्धयर्थ देहवाणी मन इनकी वृथा चेष्टा नहीं करना, अर्थात् वाणी से वृथा भाषण नहीं करना, शरीर से वृथा चेष्टा नहीं करना, मन में वृथा लौकिक पदार्थों का ध्यान नहीं करना, क्लेश सहित सन्मार्ग के उपार्जित साधनों से सेवा करनी अन्याय करके क्लेश पूर्वक उपार्जित पदार्थ को भगवान् के अर्थ अपर्ण नहीं करना, क्लिष्ट पदार्थ तीन प्रकार का होता है।

लोक जिसमें क्लेश पाता है, आत्मा जिसमें क्लेश पाती है, चित्त जिसमें क्लेश पाता है ऐसा पदार्थ भगवान् के अर्थ अर्पण नहीं करना। आगे अक्लिष्ट पदार्थ का निरूपण करते है - **''यद्यदिष्टतमं लोके यच्चाति प्रियमात्मनः''** यह आधा श्लोक श्री भागवत एकादश स्कन्धोक्त भगवद् वाक्य है अर्थ - लोक में जो इष्टतम अर्थात् अत्यन्त अभिलाषा के योग्य जो वस्तु हो जैसे दाख, आम्रफल, केला आदि तथा जो वस्तु आत्मा को अत्यन्त प्यारी हो जैसे दुग्ध, नवनीत आदिक वस्तु भी सन्मार्ग से उपार्जित किये गये हों अन्याय, चोरी आदि करके नहीं लाये गये हों तथा किसी को उन वस्तुओं में हिस्सा नहीं हो तथा पदार्थ का बहुत काल से मनोरथ हो रहा हो जिस पदार्थ के प्राप्त होने से चित्त में आनंद हो ऐसे पदार्थों को भगवान् के अंर्पण करना इनके अलावा पदार्थों का निषेध करने के लिये यह कथन किया है।

स्वयं परिचरेद्भक्त्या वस्त्रप्रक्षालनादिभिः।
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि पूजयेत्।।२४९।।
स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम्।
इन्द्रियाश्वविनिग्राहः सर्वथा न त्यजेत्रयम्।।२५०।।

सेवा मुख्य है पूजा मुख्य नहीं है इसलिये सेवा योग्य पदार्थों के संचय करने में परिश्रम पड़ता समझ कर सेवा छोड़कर केवल मन्त्रों से मन में पूजा करने में परायण नहीं हो जाना **"आदरः परिचर्यायाम्। विना मत्सेवनं जनाः। सेवानुरक्तमनसा मभवोपिफल्गु"** इत्यादिक वाक्यों में सेवा ही मुख्य रखी है। आगे साधन में पूजा करने का उपदेश किया है वहां भी भगवान् के समीप स्थित होकर वस्त्र अलंकार आदि धारण कराने की जो प्रधान सेवा है उसको पूजा शब्द से ग्रहण करना वेदोक्त तथा तंत्रोक्त पूजा का वहां ग्रहण नहीं है उस पूजा का प्रकार तथा फल सेवा के प्रकार फल से भिन्न है। क्षर अक्षर से उत्तम जो पर ब्रह्म पुरुषोत्तम श्री कृष्ण है वह केवल भक्ति से ही प्राप्त होता है। **"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया। नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्याय स्तपस्त्यागः"** इति श्रुति स्मृति पुराणों के वाक्यों से यज्ञ, दान, पूजा, तप, योग आदि साधन है उनसे पर ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती है। यह बात सिद्ध होती है **"भक्त्याह मे कया ग्राह्यः। भक्त्यैव तुष्टि मभ्येति। धर्मान्संत्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः। तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्"** इत्यादि भगवान् के वाक्यों से भक्ति करके ही पुरुषोत्तम पर ब्रह्म की प्राप्ति होती है वहां भक्ति शब्द **"भजसेवायाम्"** धातु से सिद्ध होता है इसलिये भक्तिनाम सेवा का है श्रुतिस्मृति तन्त्रों में उस सेवा का प्रकार दिखाया है। ऐसे माना जाय तो श्रुति स्मृति से कहे हुए और साधनों का परब्रह्म प्राप्ति का निषेध है वैसे भक्ति द्वारा भी पर ब्रह्म प्राप्ति का निषेध सिद्ध हो जायगा जो यदि ऐसे ही माने तो **"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"** इत्यादि वाक्यों में एक भक्ति करके ही मेरी प्राप्ति होती है यह लिखी है इसलिये विरोध आता है इस कारण श्रुति स्मृति तंत्रों में मुख्य भक्ति का विधान नहीं है। श्रीकृष्ण ने भी **"भक्ति योगः पुरैवोक्त। तानाविदन्मय्यनुसंग बद्धधियः स्वमात्मान मदस्तथेदम्" केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः रवगा मृगा"** इत्यादि वाक्यों से वेदमंत्रादि विधि रहित ब्रजवासियों की भक्ति को मुख्य रखी है। जैसे एक स्वामी के दो सेवक हैं एक सेवक मासिक द्रव्य लेने के लिये जिस कार्य की स्वामी आज्ञा करता जाता है उस कार्य को वह करता जाता है। दूसरा सेवक सब कामना छोडकर स्वामी की सेवा को ही परम फल मानकर आज्ञा की अपेक्षा नहीं रखकर स्वामी की अभिलाषा के अनुसार आगे से आगे प्रेम पूर्वक सर्व सेवा करता है। प्रथम सेवक के समान वैदिक तान्त्रिक भक्ति वाले को समझना अर्थात् जैसे जैसे वेद तथा तंत्र में भगवान् की पूजा करने की आज्ञा करते हैं उसके अनुसार वह सेवक स्वर्गादि अथवा मुक्तिआदि पदार्थ के लिये पूजा करता जाता है। दूसरे सेवकके समान अविहित प्रेम लक्षणा

भक्ति करने वाले को समझना जैसे यशोदाजी आदि गोप गोपी वेद तंत्रादिक में पूजा करने की जैसी आज्ञा है उसकी अपेक्षा न रखकर श्रीकृष्णचन्द्र की अभिलाषा के अनुसार स्नेहकर के सेवा करते थे। शुकदेवजी ने भी **''नायं सुखापो भगवान्। नेमं विरिंचो न भवो''** इत्यादि श्लोकों में विहित भक्ति करने वाले ब्राह्मादिकों की अपेक्षा प्रेम लक्षणा भक्ति करने वाली यशोदा की प्रशंसा की है परन्तु यह भक्ति जहां तक प्रेम नहीं हो और प्रभु के अभिप्राय को नहीं जाना जाय वहां तक नहीं बन सकती है वहां तक वेदतंत्रानुसार पूजा अवश्य करते रहना यह मुख्य भक्ति मार्ग में आये जीवों को जहां तक प्रेम द्वारा प्रभु को अभिप्राय विदित नहीं हो वहां तक जिन भक्तों को प्रभु का अभिप्राय विदित है जिनके आधीन प्रभु हो रहे हैं उनके आचरणों के अनुसार आचरण करना चाहिये।

''देवासुर मनुष्येषु मद्भक्ता चरितानि च'' जैसे वे सेवा करते हैं वैसे ही सेवा करना चाहिये। वहां स्वयं शुद्ध होकर के तथा सेवा के साधन गृह द्रव्यादिकों को शुद्ध करके कृष्ण सेवा करना **''इष्टं दत्तं तपोजप्तं वित्तं यच्चात्मनः प्रियम्। दारान्सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मैनिवेदनम्। मयि संजायते भक्ति रूद्धवात्म निवेदनम्''** इत्यादि भागवत वाक्यानुसार स्त्री, पुत्र, द्रव्य देहादि सहित आत्मा को भगवान् के आगे निवेदन करने से ये सब पदार्थ शुद्ध हो जाते हैं, यही आत्म निवेदन का प्रकार श्री वल्लभाचार्य जी के प्रति साक्षात् भगवान् ने पवित्रा एकादशी के दिन रात्रि में आज्ञा की वह वल्लभाचार्यजी ने सिद्धान्त रहस्य में वर्णन किया है। इस निवेदन के करने से सब पदार्थों में से अपना संबंध दूर हो जाता है, ब्रह्म संबंधी अर्थात् सब पदार्थ भगवान् के हैं ऐसी बुद्धि हो जाती है तब सेवा की योग्यता होती है। उसके पीछे पूर्ण भक्तों ने जैसे प्रभु की इच्छानुसार सेवा के क्रम बांधे हैं उनके अनुसार घंटा, शंखनाद आदि से लेकर शयन पर्यन्त सेवा करना वहां घंटा शंखनादादिक वेद तन्त्रानुसार इस मार्ग में क्यों होता है ऐसी शंका नहीं करना, भगवत इच्छानुसार ही शंखनादादि क्रम आचार्यों ने बांधा है तंत्रानुसार नहीं है।

प्रसंग-प्रथम श्रीनाथजी के यहां शंखनाद नहीं होते थे। एक दिन श्री गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथजी ने सांझ को सेवा करने के लिये मंदिर के किंवाड खोले उस समय श्रीनाथजी का बागा फट रहा था यह देखकर विचार करने लगे इतने में गोविन्द दास ने आकर कहा महाराज श्रीनाथ जी श्याम ढाक पर से कूदकर पधारे उस समय बागा फट गया है। कुछ टूक श्याम ढाक पर लटक रहा है उसको लाया हूं। उस दिन से शंखनाद तीन बार करना उसके पश्चात् दस पल ठहर कर मंदिर के किंवाड खोलना प्रारम्भ हुआ है।

इस प्रकार जितना सेवाक्रम है सब भगवान् की अभिलाषा के अनुसार बंधा हुआ है। उत्तमाधिकारी जीव को रहस्य ग्रन्थ देखने से स्फुट हो जाता है इसलिये स्नेहपूर्वक स्वयं अपने हाथों से श्री प्रभु के वस्त्र जलाशय पर जाकर धोना, उपवन में से फल पुष्पादिक लाने, सेवा के अति बहिरंग साधन को भी अपने हाथों से करना जैसे कृच्छ्रादिकों के उपवास कष्ट पाकर के भी धर्म प्राप्ति के लिये करने पड़ते हैं, इस प्रकार धर्म सिद्धिरूप

प्रयोजन का विचार कर सेवा नहीं करनी जैसे स्त्री प्रिय पति की सेवा स्नेह से करती हैऐसे ही प्रीति पूर्वक अपने अहो भाग्य समझकर प्राणप्रिय प्रभु की सेवा करनी, साधनावस्था में अभी प्रभु को अमुक वस्तु अंगीकार करानी यह बात हमको कैसे मालुम पड़े यह शंका तो नहीं करनी क्योंकि सिद्धावस्था हुए पीछे तोप्रभु स्वयं अनुभव से जता देंगे जहां तक वैसा अधिकार नहीं है वहां तक **''यच्चातिप्रिय मात्मनः। तत्तन्निवेद येन्मह्मम्''** इत्यादि वाक्यानुसार जिस पदार्थ में अपनी प्रिय समझ कर इच्छा हो उस पदार्थ को प्रभु को अंगीकार कराना अर्थात् जहां तक साक्षात् अनुभव नहीं हो वहां तक भक्त के हृदय में स्थित होकर अपने अंगीकार करने के लिये उन उन पदार्थों में भक्त की इच्छा कराते हैं। प्रधान की आवृत्ति होने से उसके अंगों की भी आवृत्ति होती है। वहां प्रधान से जो वस्त्रालंकार नैवेद्यादि समर्पणारूप पूजा है उसकी आवृत्ति करना एक काल अथवा दोनों काल अथवा प्रातः मध्याह्न, सायं इस प्रकार त्रिकाल पूजन करना अधिक स्नेह हो तो बहुकाल भी पूजन करे अर्थात् समयानुसार नानाभांति के व्यंजनों को अनेक बार अंगीकार करावे जैसे जिस माता का पुत्र में स्नेह होता है वह पुत्र के लालन पोषण में दिन को व्यतीत करती है क्षणभर दूर होना दुःख रूप समझती है। इस प्रकार प्रेम प्लुत भक्त प्रभु सेवा के वियोग दुःख रूप समझता है। नित्य कर्मणादिक स्वधर्मों को सेवा के अंग समझ के सेवा के अवकाश में करना **''धर्मोमद् भक्तिकृत् प्रोक्तः। श्रेयोभि र्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते''** इत्यादि वाक्यों में वर्णाश्रमादि सब धर्मों को श्रीकृष्ण चन्द्र में भक्ति सिद्ध होने के लिये करना यह बात लिखी है। देह द्रव्य के सामर्थ्य के अनुसार अग्निहोत्रादिक धर्म करना सामर्थ्य रहते जीव नहीं छुपाता (विधर्म) निषिद्ध धर्म का आचरण कभी नहीं करना, सर्वथा निषिद्ध कार्य नहीं करना इन्द्रिय रूप घोड़ों को रोके रहना जैसे घोड़े को ओर तरफ से रोककर एक मार्ग में ही चलाया जाय तब अभिलषित देश में ले जाता है, अर्थात् महाराजोपचार से भगवत्सेवा करे उसके पश्चात् भगवान् के प्रसादी नाना व्यंजनों को भक्तों को देकर स्वयं भोजन करना। उन व्यंजनों को **''अद्यादात्म विशुद्धयर्थम्''** इत्यादि भागवत वचनानुसार यह आत्म शुद्धि करने वाला महाप्रसाद है यह बुद्धि रखना, जीभ की प्रसन्नता के लिये भोजन करता हूं ऐसी बुद्धि नहीं रखना, तथा आगे से अच्छी सामग्री प्रभु के अर्पण करने के लिये अच्छे बुरे व्यंजन की परीक्षा के लिये सब सामग्रियों का स्वाद लेना अपनी धर्म पत्नी के साथ भी इन्द्रिय की प्रसन्नता के लिये कभी संग नहीं करना किन्तु सेवा में चित्त के उद्वेग करने वाले काम की निवृत्ति के लिये संग करना, ये तीनों क्रीडा के लिये कभी नहीं छोडना, आसक्ति इन तीनों की बाध करने वाली है। जो कुछ इन तीनों का विरोधी हो उसको शीघ्र छोड़ देना, सामान्य वचन धर्मादिकों का उपलक्षण है अर्थात् धर्मादिकों के लिंये भी स्वधर्माचरण, विधर्म से निवर्तन, इन्द्रियनिग्रह इन तीनों को नहीं छोडना अन्यथा परोपकारार्थ इन्द्रियनिग्रह के त्याग का संभव होगा।

एतद्विरोधियत्किंचित् तत्तु शीघ्रं परित्यजेत्।
धर्मादीनां तथा चास्य तारतम्यं विचारयन्।।२५१।।

यथा यथा हरिः कृष्णो मनस्या विशते निजे।
तथा तथा साध नेषु परिनिष्ठा विवर्द्धते।।२५२।।
कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना।
अहंकारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत्।।२५३।।
सर्वथा तद् गुणालापं नामोच्चारणमेव वा।
सभाया मपि कुर्वीत निर्भयो निस्पृहस्ततः।।२५४।।
साधनं परमेतद्धि श्रीभागवतमादयत्।
पठनीयं प्रयत्नेन निर्हेतुकमदंभतः।।२५५।।
शंखचक्रादिकं धार्यं मृदा पूजांगमेव तत्।
तुलसीकाष्ठजा माला तिलकं लिंगमेव तत्।।२५६।।
एकादश्युपवासादि कर्तव्यं वेधवर्जितम्।
तथा कृष्णाष्टमी वापि सप्तमी वेधवर्जितां।।२५७।।
अन्यान्यपि तथा कुर्यादुत्सवो यत्र वै हरेः।
एतत्सर्वं प्रयत्नेन गृहस्थस्य प्रकीर्तितम्।।२५८।।

तथा पूजा विरोधी धर्मादिक भी त्याग करना या विषय में विचार का वर्णन करते हैं। भगवद् भजन का फल अचल मोक्ष है। परोपकारादि सर्व धर्मों का फल क्षय वाले स्वर्गादिक हैं उससे पूजा तथा सभी धर्मों का अन्तर जानकर जो पूजा के विरोधी परोपकारादि धर्म हो उनको भी छोड देना सेवा को छोड़कर नहीं करना, अवकाश में करना। इस मार्ग में पूजा के साधनों की अनुवृत्ति होने में कारण बताते हैं **''यथायथेति''** जैसे जैसे श्रवण कीर्तनादिकों से हृदय में भगवान् का आवेश होता है, वैसे वैसे प्रधान सेवा के साधनों में श्रद्धा बढती चली जाती है, अर्थात् भगवान् का पूर्ण आवेश हो जाता है, तब सर्वदा सभी काल में प्रधान सेवा का निर्वाह होता है। अभिप्रायः श्रवण कीर्तनादिक करने वालों के हृदय में भगवान् का आवेश नहीं होता है यही कारण है कि श्रवण कीर्तनादिक पूरे बन नहीं सकते हैं इसलिये श्रवण कीर्तनादिक के बाधकों के त्याग का वर्णन करते हैं **''कृष्णे सर्वात्मक इति''** मन में सदा दीनता रखनी सब स्थान पर जड वस्तुओं में तथा सब लोकों में सब जीवों में भगवद् बुद्धि रखना और कोई अपना अपमान करे तथापि अहंकार नहीं करना, भगवान् से अपने मन की अपेक्षा नहीं रखना यह सिद्ध होने के उपाय का वर्णन करते हैं (सर्वथा) सदाभगवान् के गुणों का गान अथवा भगवान् के नामों का उच्चारण सभा में भी निर्भय निस्पृह होकर करते रहना, अर्थात् सभी स्थान पर भगवान् के उत्कर्ष का वर्णन करने से पूर्वोक्त सिद्ध होता है, इसलिये आसुर जीवों के समीप भी फल की इच्छा

छोड़ कर भगवान् के उत्कर्ष का वर्णन करता रहे। केवल नामोच्चारणादिक कदाचित् साधक नहीं हो तो मुख्य साधन का वर्णन करते हैं **"साधनं परमिति"** सर्वदा श्री भागवत का कीर्तन करने से पूर्वोक्त सिद्ध होता है। इसलिये यही परम साधन है। कपट का त्याग करके कामना रहित आदर पूर्वक प्रयत्न करके श्रीमद् भागवत जी का पाठ सर्वदा करते रहना। इतने कथन से **"श्रद्धां भागवते शास्त्रे निन्दामन्यत्र चा पिहि। सर्वभूतेषु मन्मतिः। वचसामद् गुणेरणम्"** इत्यादि एकादश स्कन्ध के वाक्यों का सिद्धान्त वर्णन किया है। इस वैष्णव मार्ग में नित्य भिन्न सकाम धर्मों में जहां वेद विरोध हो वह धर्म नहीं करना भक्तिमार्ग के नित्य धर्मों मे तो वेद विरोध भी सह लेना जैसे वस्त्र, भूषण धारण तथा नैवेद्यादिक समर्पण आदि मुख्य सेवा करने में संध्याग्नि होत्र आदिकों का काल नहीं सध सके तो ऐसा वेद विरोध सह लेना जब अवकाश हो तब संध्याग्नि होत्रादि कर्म करना, उसका वर्णन करते हैं **"शंख चक्रादिक मिति"** रामानुजमाध्वादिकों के मार्ग से इस मार्ग में बाहर के प्रकार विषय में विलक्षणता दिखाते हैं **"वह्निनैव तु संयुक्तम्"** इस श्लोक का अर्थ अग्नि सहित चक्र को लेकर वैष्णव धारण करे सब वर्णों की भगवान् के सालोक्य की कामना के लिये इस श्लोक में तप्त मुद्रा धारण काम्य बताया है **"शंखचक्र इति"** इस श्लोक का अर्थ शंख चक्रों को मृत्तिकाकर के अथवा गरम लोह करके जो करते हैं वह शूद्र के तुल्य संपूर्ण द्विजकर्म से बाहर निकालने योग्य है। यह स्मृति का विरोध भी है **"शंखादि चिह्नरहितः"** इस वाक्य का अर्थ शंख चक्रादिकों से रहित जो पूजा करते हैं उसका पूजन निष्फल है। भगवान् भी तुष्ट नहीं होते हैं। प्रथम श्लोक में काम्यत्व तथा द्वितीय श्लोक में निषिद्धत्व लिखा है। इसलिये तृतीय श्लोक में प्राप्त नित्यत्व का बाध नहीं होता है इसलिये पूजा के अंग समझ कर मृत्तिका से शंख चक्रादि को धारण अवश्य करना निषेध है वह तो पूजा बिना केवल शंख चक्रादि को धारण करने का है, पूजांग समझ कर धारण करने वाले को पाखण्डित्व संपादक नहीं है। मृत्तिकादिकों के निषेध का उपक्रम करके तप्त लोह से चक्रादिक धारण करने में पर्यवसान वचन है इसलिये तप्तमुद्रा धारण में ही निषेध की प्राप्ति है। सेवांग समझ कर मृत्तिका से चक्रादि धारण का निषेध नहीं है।

किंच द्वितीय श्लोक से ब्राह्मण को शंख चक्रादि धारण निषिद्ध है **"शंखादि चिह्न संहितः"** इस तृतीय श्लोक से वैष्णव को शंखादि धारण का विधान है वहां ब्राह्मण जो वैष्णव हो पूर्व से पर बलवान् है अन्यथा पर विधान व्यर्थ होगा इस न्याय के अनुकूल वैष्णव धर्मों के अनुसार बर्ताव करना योग्य है। निषेधक स्मृति तो वैष्णव धर्म सहित केवल संस्कार मात्र वाले ब्राह्मण में चरितार्थ है,

शंका – ब्राह्मण को वैष्णव धर्माचरण करने में पाखण्डित्व संभव होगा?

उत्तर – **"किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः"** इस गीता वाक्य में ब्राह्मण का वैष्णव धर्म से निःसंदेह उद्धार होना लिखा है। प्रमाण और प्रमेय इनमें प्रमेय बलवान् है पाखण्डिपन तो वेदनिषिद्ध अर्हतबुद्ध आदि देवताओं की उपासना होती है। इसलिये कितने ही वैदिक धर्म तथा वैष्णव धर्मों का परस्पर विरोध बाधक नहीं है जैसे

दत्तात्रेय दुर्वासा आदिकों को पाखण्डी नहीं माना है किन्तु वैदिक धर्मों से योग के धर्मों को विलक्षण मान कर समाधान करते हैं वैसे भक्तों में भी पाखंडितता की संभावना नहीं करना, वैदिक धर्मों से भगवद् धर्मों को विलक्षण मानकर समाधान करना अतः मृत्तिका से सेवांग समझकर शंख चक्रादिक मुद्रा धारण करना तथा तुलसी काष्ठ की माला भी सर्वदा धारण करना, यद्यपि कितने वचनों से नित्यता नहीं है तथापि वैष्णवता की बताने वाली है और **"साधूनां समयश्चापि प्रमाणं वेदवद् भवेत्"** इस ब्रह्माण्ड पुराणों के वचन से महात्मा का आचरण भी वेद जैसा ही प्रमाण है। तुलसी काष्ठ माला का सर्वदा धारण करना परंपरा से भी सिद्ध है, इसके उल्लंघन करने में परंपरा का बाध हो इसलिये माला भी नित्यकर्म के तुल्य है किंच **"धारयन्ति न ये मालां हेतुकाः पाप बुद्धयः। नरकान्न निवर्तन्ते दग्धाः क्रोधाग्नि ना हरेः"** माला को जो नास्तिक पाप बुद्धि व्राले नहीं धारण करते हैं वे मनुष्य भगवान् के क्रोधाग्नि से जले हुए नरक से पीछे नहीं आते हैं, इस वचन से माला धारण नित्य है तिलक भी दण्ड के आकार का ललाट पर करना, कमल के आकार का वक्ष स्थल पर करना वंश के पत्र के आकार दोनों बाहूओं पर करना और तिलक दीप की ज्योति के आकार वाले करना, जैसे यज्ञोपवीत द्विजत्व को बताने वाला है ऐसे तिलक माला वैष्णवता को जताने वाली है। एकादशी का व्रत भी छप्पन घडी के दशमी के वेध रहित करना योग्य है। प्रथम और प्रकार का भी व्रत करता हो परन्तु भगवन्मार्ग में प्रवेश होने के पश्चात् पचपन घडी दशमी हो तो उस एकादशी का त्याग करना दूसरे दिन व्रत करना सूर्योदय होने के बाद सप्तमी हो तो उस जन्माष्टमी का त्याग करना अर्थात् द्वितीयदिन व्रत करना उसमें **"उदयादुदया प्रोक्ता हरिवासर वर्जिता"** इत्यादि वाक्य प्रमाण है। भगवन्मार्ग में और भी रामनवमी आदि व्रत करना, नृसिंह जयन्ती व्रत उत्सव हो तो करना, वैसे ही वामन जयन्ती व्रत भी करना अर्थात् वामन द्वादशी के दिन क्रमानुसार वामन प्रादुर्भावोत्सव करना उस दिन उपवास करना उसके पहले एकादशी के दिन उपवास की सामर्थ्य नहीं हो तो नहीं करना, बहुत विस्तार पूर्वक कथन से क्या प्रयोजन है।

उत्सव मुख्य है भोजन करके उत्सव करना निषेध किया है, भोजन किये पीछे भगवान् का आवेश नहीं होता है, तात्पर्य यह है जन्माष्टमी का उपवास तो आवश्यक है और तीनों जयन्ती के उपवास तो देह से तथा द्रव्य से उस दिन सेव्य स्वरूप का उत्सव करने की सामर्थ्य हो तो उत्सव के अंग समझकर करना क्योंकि भोजन करने के पश्चात् भगवदावेश नहीं होता है तथा जिनको पुराण वाक्यों से राम, वामन, नृसिंहादिकों में पूर्ण पुरुषोत्तम की स्फूर्ति हो उनको तो उनकी जयन्ती अवश्य करना चाहिये।

ऐसे दीवाली आदि पर्व रथयात्रा स्नान यात्रा आदि यात्रा तथा जन्माष्टमी आदि महोत्सवों को एकाकी द्रव्य देह से करने की सामर्थ्य हो तो एकाकी करना अपनी एक की सामर्थ्य हो तो और धनिक कुटुम्बियों के साथ होकर महाराजाधिराज की जिस प्रकार परिचर्या हो उस प्रकार श्री कृष्ण की सेवा करते हुए पर्वयात्रा महोत्सवों को करना सांख्य, योग, ज्ञान कर्म आदिकों का उपदेश देकर अंत में उद्धव जी के प्रति श्रीकृष्ण ने **"पृथक् सत्रेण वा मह्यं पर्व यात्रा महोत्सवान्"** इस श्लोक में यह ही उपदेश दिया है ऐसा पूजा मार्ग अर्थात् पूजा

प्रधान सेवा मार्ग में उत्सव यात्रा पर्व सहित सेवा करना, उसका निरूपण किया उसका उपसंहार करते हैं, गृहस्थ के लिये यह सेवा मुख्य है जैसे "सगृहः सपशुः सुवर्ग लोकमिति" इत्यादि श्रुतियों में वैदिक कर्म करने वाले यजमान को स्त्री, पुत्र पशु सहित स्वर्ग में प्राप्त होना लिखा है, वैसे पूर्वोक्त रीति से सेवा करने वाला भक्त भी कुटुम्ब सहित भगवान् के सायुज्य को प्राप्त होता है।

अन्येषां संभवे तु स्याद्यतेः पर्यटनं वरम्।
विक्षेपादथवा शक्त्या प्रतिबंधादपि क्वचित्।।२५९।।
अत्याग्रहप्रवेशे वा परपीडादिसंभवे।
तीर्थपर्यटनं श्रेष्ठं सर्वेषां वर्णिनां तथा।।२६०।।
यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः।
अतस्तेष्वप्रतिग्राही तद्दिनान्नाधिकस्य हि।।२६१।।
हतत्रपः पठन्नित्यं नामानि च कृतानि च।
एकाकी निस्पृहः शान्तः पर्यटेत् कृष्णतत्परः।।२६२।।
देहपातनपर्यन्तमव्यग्रात्मा सदा गतिः।
उत्तमोत्तममेतद्धि पूर्वमुत्तममीरितम्।।२६३।।
गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत कृष्णः संसारमोचकः।।२६४।।
धनं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्त्यक्तं न शक्यते।
कृष्णार्थं तत्प्रयुंजीत कृष्णोऽनर्थस्य वारकः।।२६५।।

ब्रह्मचारी, विधवा, वीतरागादिकों के भी साधन संपत्ति हो वहां तक तो सेवा हि करना चाहिये, सेवा के साधन नहीं बन सके तब तो और उपाय करना, उस उपाय को आगे कहेंगे। संन्यासी को तो आगे उपाय करना ही उत्तम है "यतेः पर्यटन मिति" संन्यासी को तो पर्यटन करना श्रेष्ठ है। गृहस्थों के भी सेवा में पांच दोष है वे जब आ जाय तो तीर्थाटन करना श्रेष्ठ है। उन दोषों को बताते हैं, स्वतः सेवा में प्रवृत्त नहीं होने वाले इन्द्रिय बलात्कार से सेवा में लगाये जाते हैं तब चित्त में विक्षेप को उत्पन्न करते हैं यह प्रथम दोष है, कुटुंब के अथवा ओर लोक सेवा को नहीं करने दे यह तृतीय दोष है। वृद्धावस्था से अथवा रोग से सेवा करने की सामर्थ्य नहीं रहना यह द्वितीय दोष है, कुटुंब के अथवा ओर लोक सेवा को नहीं करने दे यह तृतीय दोष है अपने हृदय में परम असत्य (खोटा) आग्रह उत्पन्न हो जाय जिससे अज्ञान रूप अन्धकार में फसा हुआ मनुष्य भगवान् का स्मरण नहीं करता है यह चतुर्थ दोष है। सेवा करने वालों और जीवों को पीड़ा देने लग जाय यह

पांचवां दोष है। ये पांच दोष हो वहां सेवा का त्याग करना यदि जहां सेवा करे वहां ही दोष आ जावे तो परदेश में शून्य देव मन्दिर में पूजा करना वहां भी दोष संभव हो तो सेवा प्रतिबन्धक पापों को दूर करने के लिये तीर्थ पर्यटन करना, जहां जाने से सेवा बन सके वहां ही सेवा करना, तीर्थाटन की गौणता दूर करने के लिये स्वतंत्रता से तीर्थाटन का प्रकार दिखाते हैं, जैसे विष्णु भक्तिमें सर्व जीव अधिकारी हैं वैसे ही तीर्थाटन भी विष्णु भक्ति का प्रकार है इसलिये इसमें सभी का अधिकार है। वर्णाश्रम धर्म वाले मनुष्यों के अर्थ भी वर्णाश्रम धर्मों के साथ तीर्थों का विकल्प किया है। भारत में तीर्थो का तथा यज्ञो को समान लिखा है। भगवान् ने भी तीर्थ किये हैं। तीर्थ यात्रा का प्रकार दिखाते हैं। तीर्थ स्थल में जिस दिन प्रवेश करे उस दिन उपवास करना, दूसरे दिन अन्नमात्र भी नहीं हो तो जितने में पेट भर जाय उतना ही अन्न की याचना करना, तीर्थ में दान नहीं लेना, नित्य विचरते रहना, बहुत काल एक स्थान में नहीं रहना। ऊंचे स्वर से लाज (लज्जा) छोड़कर भगवान् के नामों का कीर्तन करते रहना, तीर्थाटन का अंग है भीतर भगवान् का स्मरण का सर्वदा रखना, एकाकी रहना मार्ग में इन्द्रियों के विषय भोगों के अर्थस्पृहा नहीं करना, चित्त को शान्त रखना, जो मनुष्य ऐसा अधिकारी नहीं है उसके लिये और उपाय आगे आज्ञा करेंगे। श्रीकृष्ण की प्राप्ति से तात्पर्य है तीर्थादिकों में तात्पर्य नहीं है इसलिये श्रीकृष्ण मेरे को कब दर्शन देंगे। ऐसी उत्कंठा सदा तीर्थाटन करते बनी रखना।

देहपात नहीं हो वहां तक विचरता रहे; देहपात होने के पश्चात् मैं अवश्य कृतार्थ होऊंगा ऐसा निश्चय रखना, सदा शुद्ध रहना, संध्यावंदन जैसे नित्य किये जाते हैं वैसे नित्य ही तीर्थाटन करते रहना, इस पक्ष में अन्तः करण में सर्वदा श्री कृष्ण स्फुरण होता है इसलिये ये पक्ष उत्तमोत्तम है। इस विषय में संमति के लिये भगवान् की आज्ञा किये हुए दो श्लोकों को कहते हैं- अर्थ गृह का भी सर्वात्मा से त्याग करना, यदि घर नहीं छोडा जाता तो श्रीकृष्ण के अर्थ घर का विनियोग करना, कृष्ण संसार से छुडाने वाले हैं। **"गृहंधन मिति"** सर्वात्मा से धन का त्याग करना जो वह धन नहीं त्याग किया जाय तो श्री कृष्ण के अर्थ उसको विनियोग करना, कृष्ण अनर्थ को दूर करने वाले हैं।

अथवा सर्वदा शास्त्रं श्रीभागवतमादरात्।
पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्।।२६६।।
वृत्त्यर्थं नैव युंजीत प्राणैः कंठगतैरपि।
तदभावे यथैव स्यातथा निर्वाहमाचरेत्।।२६७।।
त्रयाणां येन केनापि भजनं कृष्णमाप्नुयात्।
जगन्नाथे विठ्ठले च श्रीरंगे वेंकटेऽथवा।।२६८।।
यत्र पूजा प्रवाहः स्यात्तत्र तिष्ठेत तत्परः।
एतन्मार्यादसं प्रोक्तं मतिसाधनसंयुतम्।।२६९।।

पूर्व कहे दोनों अधिकार जिनमें नहीं है उनके लिये तृतीय पक्ष कहते हैं **''अथवेति''** सब कामना छोडकर आदरपूर्वक प्रयत्न करके सदा श्रीभागवत का पाठ करना। श्री भागवत से अपनी वृत्ति प्राण कण्ठ में चले जावें तथापि नहीं करना, वृत्ति के अभाव में जैसे निर्वाह बन सके वैसे निर्वाह करना परन्तु श्री भागवत को वृत्तिं के अर्थ विनियोग नहीं करना **''स ब्राह्माभ्यन्तरो ह्यजः''** इत्यादि श्रुत्यानुसार भगवान् का एक बाह्य रूप है। वह सब पदार्थों के बाहर रहते हैं। दूसरा आन्तर रूप है वह सब पदार्थों के भीतर रहता है। तीसरा आपका रूप शब्दों में रहता है। इसलिये तीन प्रकार के भक्तिमार्ग का वर्णन किया है (प्रपत्तिमार्ग) अर्थात् शरण मार्ग का वर्णन करते हैं **''जगन्नाथ इति। सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज''** इस गीता के श्लोक में सर्वधर्मों को छोड़कर एक भगवान् के ही शरण जाना लिखा है। उसी के अनुसार गुरु के द्वारा भगवान् के शरण जाना फिर अन्याश्रय छोड़कर श्री भगवान् का ही दृढ विश्वास रखना, जैसे हनुमानजी को ब्रह्मास्त्र से राक्षसों ने बांध दिया पीछे संदेह हुआ वानर बहुत प्रबल है ब्रह्मास्त्र को तोड डालेगा, इसलिये और अस्त्रों से भी बांधना ऐसे विचार करके जब ब्रह्मास्त्र का विश्वास छोड़कर और अस्त्रों से बांधने लगे, तब हनुमानजी ब्रह्मास्त्र से छूट गये, ऐसे ही भगवान् के आश्रय में संदेह से जब अन्य देव का आश्रय किया जाता है तब वह भक्त शरण मार्ग से पतित हो जाता है। इसी कारण **''मामेकं शरणं व्रज''** इस वाक्य में **''एकम्''** ऐसा पद कहा है अर्थात् एक मेरे ही शरण आं दूसरे का आश्रय मत कर, भगवान् देहादि संघात का सेवा के अनुकूल करे अन्यथा अत्यन्त आसुर संघात को छुडा दे तब जानना शरणागति सिद्ध हुई। उसके पश्चात् सेवा में जिसकी रूचि है भगवान् के स्वरूप को जानने की इच्छा हो भगवच्छास्त्रों में परायण रहे तब जानना इसका ये अन्तिम जन्म है, अर्थात् फिर इसका जन्म नहीं होगा। शरण धर्म सिद्ध होने के लिये ही कृष्णाश्रय स्तोत्र श्री आचार्य चरण ने प्रकट किया है। शरणागत मनुष्य को श्री जगन्नाथजी श्री पुण्डरीक विठ्ठलनाथजी श्री रंगनाथजी श्री वेंकटेश जी इत्यादि स्वरूपों के समीप रहना चाहिये और भी कोई भगवद्धाम हो जहां सदा पूजा का प्रवाह हो तो वहां रहना चाहिये। पूजा प्रवाह है वह भगवान् के सन्निधान का बनाने वाला है इस श्लोक के आवरण भंग में श्रीपुरुषोत्तम जी महाराज ने ऐसा क्रम लिखा है पहले भगवान् की कृपा के अंकुर का स्वतः अथवा वैष्णव के संग से उद्‌बोध हो तब इस मार्ग में रूचि हो, उसके पश्चात् इस मार्ग में प्रवेश की इच्छा हो फिर कृपा का अंकुर दृढ होता है तब यह मार्ग सब मार्गों से उत्तम दिखता है फिर द्वारभूत गुरु के द्वारा भगवान्के शरण आता है फिर सत्संग से श्री आचार्य चरणों में यह भगवान् है ऐसी अभेद बुद्धि होती है तदनन्तर सर्वोत्तम स्त्रोत्रादिकों को पठने से गुरू की सेवा करता रहता है। उसके पश्चात् भगवदियों के संग से पूर्व रीति के अनुसार भगवान् की सेवा करता रहे। स्वमार्गीय ग्रन्थों को सुनने देखने से प्रतिबन्धक की निवृत्ति होती है तब दोष निवृत्ति तथा सेवा के उपयोगी गुणों की प्राप्ति होती है उसके पश्चात् बारम्बार भगवत्सेवा की आवृत्ति करता रहे तो कुटुम्ब को भगवत् प्राप्ति होती है तथा उन कुटुम्ब वालों में भी जो सेवा में उदासीन रहे अथवा सेवा का (प्रतिकूल) विरोध हो उसको भगवत्प्राप्ति नहीं होती है, प्रथम कहे हुए पांच दोषों का

जो संभव हो तो तीर्थाटन करके दोष निवृत्ति करना निवृत्ति करने के पश्चात् सेवा की जाती है तो भगवत्प्राप्ति होती है। सेवा का अनधिकार हो तो श्री भगवताश्रय करना, उसमें भी अधिकार नहीं हो तो पुरुषोत्तम सहस्रनाम, त्रिविध नामावली का आश्रय करना, उत्तमाधिकार में तो तीर्थपर्यटन श्रेष्ठ है उसमें भी अनधिकार हो तो शरणागत होकर सहस्र नामादिकों का पाठ करता हुआ जहां पूजा प्रवाह हो वहां समीप अथवा दूर स्थित रहना कहे हुए प्रकारों के अनुसार बर्ताव करने से साधक भक्त फलोन्मुख होता है तथा फल की प्राप्ति होती है (प्रपत्तिमार्ग) अर्थात् शरणमार्ग भक्तिमार्ग का अनुकल्प है इसलिये भक्तिमार्ग में ही इसका प्रवेश है। यहां तक फल साधन सहित वैदिक मार्ग तथा भक्तिमार्ग का निरूपण किया है।

कर्ममार्गे प्रवक्ष्यामि भ्रांतानां बहुशः फलम्।
अयथाज्ञानतः कर्म कुर्वाणास्त्रिविधामताः।।२७०।।
सात्विकादि विभेदेन कर्म चापि त्रिधा भवेत्।
सात्विकः सात्विकं कर्म्म यथा श्रुतिपरः कृती।।२७१।।
स्वर्गलोकस्तस्य सिध्येद्विमानस्त्रीभिरावृतः।
पुण्यस्य तु तिरोधाने पतत्यर्वाक् शिरास्ततः।।२७२।।
पुण्यशेषं समादाय समीचीनेषु जायते।
राजसं कर्म कुर्वाणो मेर्वादिसुखभाग्यभवेत्।।२७३।।
तामसं कर्म कुर्वाणः पाताले सुखभाक् तथा।
राजसः सात्विकं कुर्वन् दैत्यस्वर्गेरषु जायते।।२७४।।
राजसं कर्म कुर्वाणश्चन्द्रलोके सुखी भवेत्।
वृष्टिद्वारान्नरूपः सन् रेतोयोनिषु जायते।।२७५।।
तामसं कर्म कुर्वाणों यक्षलोके सुखीभवेत्।
तामसः सात्विकं कुर्वन्पितृलोके महीयते।।२७६।।
राजसं कर्म कुर्वाणो भूतादिसुखमाप्नुयात्।
तामसं कर्मः कुर्वाणः सर्पादिसुखभाग्भवेत्।।२७७।।
सर्वेषां पुनरावृत्तिस्तथा कर्म पुनर्भवः।
एवं त्रयीधर्मपरा गतागतमवाप्नुयुः।।२७८।।

सर्वत्र ही जगत् में सभी लोकों में सुख रूप फल है। वहां "एकस्यैवानन्द स्यान्यानि भूतानि मात्रमुप जीवन्ति" इस श्रुति से जहां अल्प भी सुख को भगवद्धर्मानन्दांशरूप समझना, उन सुखों के लिये साधन भी

कहते हैं **"कर्म मार्ग इति"** स्वभाव गुणभेद से नाना प्रकार के जो कर्म है वे ही नाना लोक में जाने के लिये उपाय है तात्पर्य यह है **"गुणाजीवस्य नै वमे। चित्तजा यैस्तु भूतानां सज्जमनो निबध्यते"** इत्यादि वचनों से अन्तः करण में त्रिविध गुण रहे हैं। उन चित्त स्वभाव भूत गुणों के भेदों से त्रिविध कर्म करने वाले त्रिविध जीव हैं। मायिक गुणों से व्याप्त उनके अन्तः करण है। इसलिये ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान उनको नहीं होता है इसलिये अयथार्थ ज्ञान से ही वे कर्म करते हैं, तामस प्रकार कभी सात्विक कर्म नहीं करेगा यदि सात्विक कर्म करेगा तो उसको तामस प्रकार से ही करेगा। इसी से नो भेद गीता जी में लिखे हैं। सात्विक कर्ता सात्विक कर्म करके **"उर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः"** गीतावाक्यानुसार उत्तर मार्ग द्वारा स्वर्ग लोक में जाता है। स्त्री जनों से आवृत रहे हैं। पुण्य का तिरोधान होने से अधोमुख होकर के गिर पड़ते हैं। शेष पुण्य को लेकर वह जीव सत्कुल में उत्पन्न होता है। सात्विक कर्ता राजसकर्म करके दक्षिण मार्ग से मेर्वादिकों के सुख का अनुभव करता है। तामस कर्म करके पाताल में सुख भोगता है। राजसकर्ता सात्विक कर्म करके दैत्य स्वर्ग में जन्म लेता है। राजसकर्ता राजसकर्म करके चन्द्र लोक में सुख का अनुभव करते हैं।

पुण्य का तिरोधान होने से शेष पुण्य लेकर वृष्टि द्वारा अन्नरूप होकर के फिर शरीर में आकर के वीर्य रूप होकर नाना योनियों में उत्पन्न होते हैं। राजसकर्ता तामसकर्म करके यक्ष लोक में सुखी होते हैं। तामस जीव सात्विक कर्म करके पितृ लोक में जाते हैं। तामस जीव राजस कर्म करके पितृलोक में जो भूतलोक है उसके सुख को प्राप्त होते हैं। तामस जीव तामस कर्म करके सर्पादिक सुख का भोगी होता है। इस प्रकार नवविध फल का निरूपण किया है। इन सब कर्म वालों की कर्मानुसार पुनरावृत्ति तथा पुनर्जन्म किया है। इन सब कर्म वालों की कर्मानुसार पुनरावृत्ति तथा पुनर्जन्म होता है। यही भगवान् गीता में आज्ञा करते हैं। **"एवंत्रयी धर्मपरा गता गत मवाप्नुयुः"** ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, इन तीनों वेदों के धर्म में परायण मनुष्य गतागतको अर्थात् जाने आने को प्राप्त होता है।

तत्तद्देवोपासकानामाजन्मोपासने फलम्।
तत्तत्सायुज्यरूपादिवेदोक्तानामनेकधा।।२७९।।
पौराणिकानां च तथा निषेद्धेतरभावतः।
यजन्ते सात्विका देवान् यक्ष रक्षांसि राजसाः।।२८०।।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसाजनाः।
विहितनेककर्तृणां देहांते यदुपासनम्।।२८१।।
तत्सायुज्यादिसिद्धिः स्यात्तत्पोषोन्यस्य वैफलम्।
कर्मणांगहना रीतिर्ब्रह्मणापि न बुद्धयते।।२८२।।

ईश्वरत्वात्तदिच्छायाः प्रधानत्वादनेकधा।

तदुद्रेकोऽवसाने स्यात्कृपाक्रोधविभेदतः।।२८३।।

कृपयाधमतां प्राप्य भक्तं वै मोचयेत्क्वचित्।

अनियुक्ततपस्यानां पीडया क्रोधतः क्वचित्।।२८४।।

हीनभावं नयत्येष दुष्टं वा मोचयेत्क्वचित्।

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।।२८५।।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।

अतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः।।२८६।।

प्रकीर्ण फल का वर्णन करने के लिये देवताओं के उपासकों के फल का वर्णन करते हैं **''तत्तद्देवोपासकाना मिति''** जैमिनी प्रणीत संकर्षण काण्डानुसार वेदोक्त अग्नि आदि देवताओं की देवोपासना बुद्धि से अग्नि होत्रादि करने में भेद बुद्धि विद्यमान है। इसलिये देवताओं की जन्म पर्यन्त उपासना की जाय उसके सायुज्य को प्राप्त होगा। ऐसे ही पौराणिक, दुर्गा, गणपति प्रभृत्ति देवताओं की शुद्धि भाव से उपासना करने वाले भी अपने अपने उपास्य देवता के सायुज्य को प्राप्त होते हैं बहुत से पुराणों में तथा वेद स्मृतियों में भी विष्णु ही की महिमा अधिक है इसलिये विष्णु को छोड़कर और देवताओं की उपासना कौन करेगा? ऐसी शंका नहीं करना क्यों कि तीन प्रकृत्ति के मनुष्य होते हैं, सात्विक मनुष्य सात्विक देवता की उपासना करते हैं। राजस प्रवृत्ति वाले यक्ष राक्षसों की उपासना करते हैं। तामस प्रकृति वाले मनुष्य प्रेत भूत गुणों की उपासना करते हैं उसमें **''यजन्ते सात्विका देवान्''** इत्यादि गीता के भगवद् वाक्य प्रमाण हैं। एक साथ बहुत देवताओं की उपासना करने से तो कर्ममार्ग का यही फल होता है क्योंकि उस उपासना में कर्म ही प्रधान है इसलिये उपासना का फल नहीं होता है। भक्तिसहित क्रम से विधान पूर्वक अनेक देवताओं की उपासना करने वाले को जिस देवता की देह त्याग समय में उपासना होती है उस देवता के सायुज्य को प्राप्त होता है और देवताओं की की गई उपासना तो अन्तिम देवता के शीघ्र प्रसन्न होने में कारण है ऐसे उपासना के नियम फल का वर्णन करके कर्म मार्ग में फल की अनियतता का वर्णन करते हैं **''कर्मणामिति''** एक विहितकर्म में हजारों निषिद्ध कर्म जाते हैं ऐसे ही एक निषिद्ध कर्म में बहुत विहित शुभ कर्म बन जाते हैं उन कर्मों में किसको फल होगा यह सबके ही हृदय में संदेह होता है।

क्योंकि कर्मरूपी भगवान् ईश्वर है, स्वतन्त्र अपनी इच्छा करके दुष्कर्म रूप से प्रकट होकर सुखरूप फलको देंगे यह बात जानी नहीं जाती है अतः कर्मफल नियत नहीं है अनेक प्रकार से कर्म की वृद्धि होती है वहां भी देह के अन्त समय में जो कर्म होता है वह ही फलदायक है वहां ईश्वरेच्छा से कैसे रूप से कर्म प्रकट होगा।

यह नहीं जान सकते हैं। यदि जो जीव पर कृपा हो तो शुभ पुण्य रूप से प्रकट हो क्रोध हो तो अशुभ पाप रूप से प्रकट हो यह निर्णय है।

उसका उपपादन करते हैं **''कृपयेति''** कर्म है वह अक्षर ब्रह्म का ही रूप है यह पूर्व में कह आये हैं वह कर्म रूपी भगवान् निषिद्ध कर्म करके अधमता को प्राप्त हुए भक्त को भी कृपा करके संसार से छुडा देता है। इस प्रकार निषिद्ध के अन्त में भी शुभ रूप से प्रकट होता है। ऐसे ही विहित शुभ कर्म के अन्त में निषिद्ध पापरूप से भी प्रकट हो जाता है, जैसे भगवान् की आज्ञा बिना जो तप कर रहे हैं उनके हृदय स्थित भगवान् को पीड़ा करके क्रोध होता है। तब **''मां चैवान्तः शरीरस्थम्''** इत्यादि वाक्यानुसार ईश्वर उनको हीन भाव से प्राप्त करता है अथवा नरक में ग्राम सिंहादियोनी को प्राप्त करता है। कभी भगवान् इच्छा से दुष्ट हो उसको भी मुक्त कर देते हैं। इसलिये ईश्वर के चरित्र विचार में नहीं आ सकते हैं। इसीलिये भगवान् ने अपना अभिप्राय कर्म मार्ग में निरूपण किया है **''कर्मणोह्यपीति''** विहित शुभकर्म से करने में भी विचार करना। भगवान् की इच्छा हो तो करना, इच्छा नहीं हो तो नहीं करना, ऐसे ही विकर्म जो कर्म से निवृत्त हैं उसका भी विचार करना,जैसे कलियुग में अग्नि होत्रादिक का करना नहीं लिखा है, उसका भी विचार करना, क्या ईश्वरेच्छा अग्नि होत्रादि करने में अथवा नहीं करने में है।

ऐसे ही निषिद्ध कर्म में भी विचार करना, ब्राह्मण को मारना चाहिये अथवा नहीं मारना चाहिये, भगवान् की वैसी ही इच्छा हो तो ब्राह्मण को मारना ही हितकारी है जैसे महाभारत में गुरु द्रोणाचार्य का मारना भगवान् की इच्छा के अनुसार था इसलिये हितकारी ही हुआ। इसीलिये कर्म की गहन गति है । कर्म का फल निरूपण करने में कठिनता से आता है इस कारण सुतराम् कर्म मार्ग दुरत्यय है।

अतोऽपि भजनं कार्यं भजने नहि तादृशम्।
अन्योन्यनाशकत्वंच कर्मणां भवति क्वचित्।।२८७।।

कर्ममार्गे फलं तस्मान्न निरूप्यं हि सर्वथा।
जायस्वेति म्रियस्वेति तृतीयो य उदाहृतः।।२८८।।

प्रकीर्णकानां सर्वेषां तत्फलं परिकीर्तितम्।
ईश्वरालंबनं योगो जनयित्वा तु तादृशम्।।२८९।।

बहुजन्म विपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम्।
सांख्येऽपि भगवच्चिते फलमेतन्नचान्यथा।।२९०।।

समर्प्पणात्कर्मणां च भक्तिर्भवति नैष्ठिकी।
योगेन तु निषिद्धेन यदि देहः प्रसिद्ध्यति।।२९१।।

तदा कल्पान्तपर्यन्तं भावनातस्तुसत्फलम्।
अन्यथा नरके पातो दृढभूमौ तु संस्मृतिः।।२९२।।

तब क्या करना चाहिये ऐसी आशंका हुई वहां आज्ञा करते हैं **''अतोपिभजनमिति''** इसलिये भगवान् की भक्ति करनी चाहिये। कर्म मार्ग के समान भक्ति में भी ईश्वरेच्छा का ज्ञान होना असंभव है, फिर कर्म से भक्ति में क्या अधिकता है **''भजने नहि तादृशम्''** कर्म मार्ग में भगवान् की इच्छा बिना कर्म किया जाय तो उसका अनिष्ट फल होता है। भक्तिमार्ग में भगवान् की ईच्छा बिना भक्तिकी जाय तो भक्ति में ही ऐसी बाधा आ जाती है इसलिये भक्ति का निर्वाह नहीं हो सकता है, परन्तु भक्तिमार्ग में अनिष्ट किंचित् भी नहीं होता है। कर्म मार्ग में कर्म के फल मिलने में ईश्वरेच्छा तो प्रतिबंधक है ही परन्तु और भी प्रतिबन्धक है जैसे गुरु पिता आदिकों का (अनवसर) समय देखे बिना नमस्कार करने से आधे पुण्य का नाश होता है तथा अजा, खर आदिकों का रज पूर्व जन्म के पुण्य का नाश करते हैं।

जैसे कर्म फल के नाश करने वाले बहुत कर्म हैं जैसे विद्धा एकादशी के उपवास करने से गान्धारी के सौ पुत्र नष्ट हो गये तथा अभ्यागत विमुख हो करके पुनः लौटता है तो गृहस्थ के पुण्य को ले जाता है, इत्यादि अनेक कर्म परस्पर नाश करने वाले हैं। इसलिये कर्म मार्ग में सर्वथा फल का निरूपण नहीं कर सकते हैं, अब उपासना मार्ग का फल कहते हैं **''जायस्वेति''** छान्दोग्य में अर्चिरादिमार्ग ज्ञानी का है। धूमादिमार्ग कर्म मार्गी का है, इनसे अन्य जीवों का तृतीय मार्ग है जिसमें बारम्बर भटकना पड़ता है तथा जन्म मरण को पाता है। वेद में ही तृतीय मार्ग का निरूपण है, कर्म मार्ग में भी देवता की प्रधानता में यही फल है। प्रसंग से योग सांख्य का फल लिखते हैं **''ईश्वरालंबन मिति''** भगवान् की इच्छा के अनुसार किये सांख्य योग तथा कर्मार्पण भक्ति को उत्पन्न करते हैं क्योंकि गीताजी में **''नैवं पापमवाप्स्यसि। कर्म बन्धं प्रहास्यसि। मोक्ष्यसे कर्म बन्धनैः''** इत्यादि वाक्यों में सांख्य योग कर्मार्पण का पाप नाश ही फल लिखा है। भगवत्प्राप्ति फल नहीं लिखा है **''नराणां क्षीण पापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते''** पाप नाश होने के पश्चात् कृष्ण में भक्ति होती है इसलिये ईश्वर का आलंबन जिसमें ऐसा योग तथा भगवान् में चित्त की एकाग्रता जिसमें ऐसा सांख्य ये दोनों बहुत जन्मों से पके हुए भक्ति के योग्य देह को प्रकट करके भक्ति को प्रकट करते हैं। यह फल नियत है। इस प्रकार भगवान् के अर्थ कर्मो के अर्पण करने से भी निश्चय कर के नैष्ठिकी भक्ति होती है। अब निषिद्धि योग मार्गादिकों का फल कहते हैं। कापालादिक तो योग है वह निषिद्ध योग है। महादेवजी ने कहा है उस योग की रीति से यदि देह सिद्ध हो जाय फिर कल्पान्त पर्यन्त भगवान् का ध्यान किया जाय तो श्रेष्ठ फल ही होता है। इस योग करने में जो आदि में अल्प निषिद्धता है उसका ध्यान से नाश हो जाता है यदि भगवान् के ध्यान बिना ही देह का नाश हो जाय तो इस योग के भस्मास्थि धारणादि निषिद्धाचरण से नरक पात होता है। दृढ हृदय में योगारम्भ सिद्ध होने से देह का त्याग हो जाय तो और जन्मों में पूर्व जन्म की वासना से

योगाभ्यास करने से मुक्त होता है इसलिये योगमार्ग एक पक्ष में नाशवाला है।

छलयोगस्तथा सांख्यं शाक्तो मार्गोभिधीयते।
सिद्धान्ताश्च तथा कौला लोकातीतविभेदतः।।२९३।।
सांख्ये भेदद्वयं तत्र द्वितीये नुग्रहादिकम्।
आद्ये लोकस्य सन्मानमंत्ये तुल्यन्त मस्तयोः।।२९४।।
लोके व्यामोहकं शास्त्रं सप्तानां बोधकः शिवः।
कलौ जनिष्यमाणानामसुराणां क्षयाय हि।।२९५।।
वामा शाक्ताश्च योगे तु प्रकटाप्रकटेभिदा।
प्रकृतिस्तत्र संराध्या साध्यो योगश्च तुष्टये।।२९६।।
शैवश्च वैष्णवश्चैव उपास्ये भेदकद्वयम्।
कर्मासक्तास्तु ये तत्र वैदिकाः समुदाहृताः।।२९७।।
सप्तापि सर्वथा त्याज्या भगवन्मार्गवर्तिभिः।
बौद्धाश्चतुर्विधाः पूर्वमंतरानंतमार्गिणः।।२९८।।
तेषां बृहस्पतिमुखाः कर्त्तारो हरिरद्यतु।
कृष्णसंगोपनार्थाय स्वयमेव जगादह।।२९९।।
वेदमार्ग विरोधेन येषां करणमण्वपि।
ते हि पाषंडिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः।।३००।।
सर्वेषां नरके वासस्तमोर्वाक्प्रति पादके।
नरकात्पुनरावृत्तिर्नानायोनिषु संभवः।।३०१।।

शाक्तमार्ग तो सर्वथा ही निषिद्ध है धर्म मार्ग का विरोध करके अपवित्र मांसादि भक्षण, सुरापानादि निषिद्ध आचरण करके पुष्ट हुए मिले हुए सांख्य योगों से शाक्तमार्ग कहे गये हैं। उस शाक्तमार्ग में सात भेद हैं। वैदिक, वैष्णव शैव, शाक्त, वाम, सिद्धान्त, कौल इनसे आगे फिर नहीं है यह उनका संग्रह है वहां सिद्धान्त और कौल इन दोनों का फल कहते हैं, सिद्धान्त आसुर है सब मिथ्या है। कर्म सर्वथा त्याग करना तथा भक्ति का सर्वथा त्याग करना, केवल वाणी की चतुराई से मनुष्य को मोह कराते हैं जो सांख्य वाले हैं उनके मत में लोक संग्रह नियामक है कौलों का तो लोक की अपेक्षा नहीं है यह भेद है। प्रचण्ड रण्डा स्त्री भी दीक्षा से पत्नी बन जाती है। चर्म के चिन्ह वाले दिगम्बंर सुरा मांसादि भक्षण में परायण रहते आये हैं। पापरूपी दुराचारी

कौल कहलाते हैं उन कौलों को (अनुग्रह निग्रह) शाप वरदानादिरूप लौकिक दृढ फल होता है। उनके मार्ग में दुष्ट तामसी शक्ति की सेवा से फलसिद्ध है। सिद्धान्त का तो लोक में सन्मान होना फल है। इन दोनों का अन्त में नरक फल है इन मतों से लोको का व्यामोह होता है इन सात मतों के मूलबोधक शिव हैं कलियुग में उत्पन्न होने वाले आसुर जीवों के क्षय करने के लिये इन मतों को बनाये हैं। इस लिये आसुरों की इसमें रूचि हो, इस कारण उनका ही क्षय हो इससे कोई अनुपपत्ति नहीं है। शाक्त तथा वाम् इनका वर्णन करते हैं इनमें से एक प्रकट है और एक अप्रकट है यह अन्तर वहां (प्रकृति) अर्थात् त्रिपुर सुन्दरी आदि शक्ति की सेवा करनी पड़ती है।

योग है वह साध्य है यह बुद्धि उनके मत में है इनमें अधिकार नहीं हो तो शैव वैष्णव मत में प्रवेश करना योग्य है। उनके मत शिव, विष्णु, रूद्र, ईश्वर, ब्रह्मा ये पांच प्रेत शक्ति के पाद मूल में स्थित हैं उनके मध्य में शिव, विष्णु नाम के प्रेत हैं उनके संबंधी मत शैव, वैष्णव कहलाते हैं उन प्रेतों के तथा इन शिव, विष्णु गुणावतारों के एक नाम मिलने से कुछ भी दोष प्राप्त नहीं होता है क्योंकि पदार्थ पृथक् पृथक् हैं इसलिये भूतादिकों के ही विष्णु, शिव आदि नाम धरकर उस प्रकार उपासना करते हैं यह निर्णय है लोक संग्रह के लिये तथा पूर्वोक्तों के सन्मान के लिये कर्म में आसक्तिं रखने वाले वैदिक कहलाते हैं। इनके सेवक वैसे ही होते हैं। इनके निरूपण का प्रयोजन कहते हैं **"सप्तापीति"** भगवत्मार्ग वर्ती जीवों को इन सात शाक्त मत के भेदों को सर्वथा त्याग करना, महापात की संसर्ग से भी महापातक होने का वर्णन किया है। निषिद्ध शाक्तों का निरूपण करके बौद्धों का निरूपण करते हैं। बौद्ध चार प्रकार के हैं माध्यमिक, सौत्रान्तिक विज्ञान वादी, चार्वाक इन चारों के हजारों भेद हैं उनके मूलभूत भेद कहते हैं।

उनके बृहस्पति आदि बनाने वाले हैं, लोकायत शास्त्र बृहस्पति प्रणीत हैं वैसे और देवता भी शुक्रमाया से मोहित हुए मोहकशास्त्रों को बनाते हुए अभी तो इस कलियुग में कृष्ण का स्वरूप गुप्त रखने के लिये हरि भगवान् ने ही बुद्ध रूप धारण करके (अवतीर्ण होकर) वेद निंदक मोहक शास्त्र किये।

अब सामान्य रीति से पाषण्ड मत का लक्षण कहते हैं। वेद मार्ग का विरोध करके जिनकी अणु मात्र भी क्रिया हो उनको पाखण्डी कहना वे मनुष्य अलौकिक वेशों का संपादन करके लोकों को मोह कराने के लिये स्थित रहे हैं। उन मत वाले सब मनुष्यों को नरक में वास होता है और उन मतों की प्रवृत्ति करने वालों को तम प्राप्त होता है। नरक में गये हुए पीछे आते हैं फिर वे सूकरादिकों की योनी में प्राप्त होते हैं। जिनने तम में प्रवेश किया है उनकी तो आवृत्ति नहीं होती है।

आनन्दस्य तिरोभावः सर्वथा दुःख मुच्यते।
तस्य स्थानं तु सर्वत्र यमलोके विशेषतः ।।३०२।।

शुद्धन्तमो दुःखरूपं सहजासुरसंश्रयम्।

सर्वत्र नरकश्चैव तमश्चेति त्रिधा तु तत्।।३०३।।

सर्वत्र स्वर्गलोकश्च वासुदेवस्त्रिधा सुखम्।

सुखं धर्मस्तथेच्छास्यात्किंचिदुद्रम एव सः।।३०४।।

सर्वथा ह्युद्रमः कामो धर्मिणस्तु सुखं स्मृतम्।

द्वेषं क्रोधस्तथा दुःखं पूर्ववद्दुःखधर्मतः।।३०५।।

लोभोऽपि किंचिदुद्भेदो धर्मयोः सुखदुःखयोः।

मोहस्तु द्विविधः प्रोक्तो धर्म वत्सुख दुःखयोः।।३०६।।

मदे सुखसमुद्भेदो मात्सर्ये ऽन्यस्य केवलः।

अन्येषां सर्वधर्माणां तद्धर्मोद्गमएव च।।३०७।।

विपाकः कर्मणां येषां प्राग्देहविनिपाततः।

प्राप्तस्तानीह भुज्यन्ते ततोन्यानि भवान्तरे।।३०८।।

एते सर्वे विशेषेण जीवसन्निधिमात्रतः।

स्फुरन्त्यन्यस्याभिमानाज्जीवो दुःखी निगद्यते।।३०९।।

अग्रपश्चाद्भावतश्च कर्मणा स्फुरितो हरिः।

अग्रोद्गमानुद्गमनैः सुखदुःखेतेनोति हि।।३१०।।

इतिफलप्रकरणम्

ऐसे निषिद्ध मतों का दुःख रूप फल बताकर दुःख किस को कहना ऐसी आकांक्षा हुई वहां कहते हैं **''आनंदस्येति''** आनन्द का **''ईषत्तिरोभाव''** अर्थात् कुछ छिपा हुआ स्वरूपात्मक आनंद का **''ईषत्तरो भाव''** अर्थात् छिपा हुआ स्वरूपात्मक आनंद **''दुःखाभाव रूप''** पदार्थान्तर है को और सर्वथा छिपे हुवे आनंद को दुःख कहते हैं अनिवृत्ति रूप है उसको अन्य सच्चिदानंद रूप से अतिरिक्त है ही नहीं आनंद को दुःख कहते हैं। अनिवृत्ति रूप है उसको अन्यथा सच्चिदानंद रूप से अतिरिक्त पदार्थ तो है ही नहीं फिर दुःख का वर्णन नहीं कर सकेंगे। आत्मा का प्रतिकूल ज्ञान जिसमें हो यह दुःख का लक्षण भी सर्वथा आनन्द के तिरोभाव में ही घटित होता है क्योंकि भगवान् से विमुखता ही आत्मा के प्रतिकूल है सर्वथा आनन्द के आविर्भाव को सुख कहते हैं। उस दुःख की स्थिति तो सर्वत्र ही है परन्तु यमराज के लोक में उसका विशेष करके निवास है।

जगत् में भगवान् तिरोहित रहता है। इसलिये सर्वत्र दुःख रहता है। यमलोक प्राणी के उपद्रव का स्थान है इस कारण वह सर्वात्मा परम दयालु भगवान् सर्वथा छिपे हुए रहते हैं। शुद्धतम में भी दैत्यों का निवास है इसलिये वहां भी सर्वथा छिपे हुए रहते हैं। इस कारण ये विशेष दुःख के स्थान हैं इस प्रकार दुःख तीन प्रकार का है। सर्व जगत् का दुःख, नरकात्मक दुःख, तमोरूप दुःख ये दुःख के तीन भेद हैं। सच्चिदानन्द भगवान् से सृष्टि का क्रम आवरण भंग में दिखाया है जैसे तेज दो प्रकार का है स्वरूपात्मक दीपरूप तेज तथा धर्मात्मक उसका प्रकाश रूपतेज ऐसे सत्चित् आनन्द दो प्रकार के हैं स्वरूपात्मक सत्, चित् आनन्द तथा धर्मात्मक सत् , चित्, आनन्द वहां दोनों प्रकार के सत् चित् आनंद अध्यात्म आधि भौतिक, आधि दैविक इन भेदों से एक एक तीन प्रकार के है वहां स्वरूपात्मक आधि दैविक सच्चिदानंद रूप भगवान् पुरुषोत्तम हैं, आध्यात्मिक स्वरूपात्मक सच्चिदानंद रूप प्रथम पुरुष क्षर ब्रह्म है, धर्मात्मक आधि दैविक सच्चिदानंद रूप गोलोकों का परिकर है, धर्मात्मक आध्यात्मिक सच्चिदानंद रूप वैकुंठादि परिकर है, धर्मात्मक सदंश रूप अष्टाविंशति तत्व हैं (२८) धर्मात्मक चिदंशरूप (२८) तत्व में स्थिर रहने वाला ज्ञान है, धर्मात्मक आनंदरूप तत्वों में स्थिर रहने वाला सुख है ऐसे ही यथा क्रम से इनका तिरोभाव समझ लेना स्वरूपात्मक आधिदैविक आध्यात्मिक आनंद का ईषत्तिरोभाव का दुःखाभाव कहते हैं उसी को सब लोग मोक्ष कहते हैं वेदोक्त यज्ञादि साधन का वही फ़ल है स्वरूपात्मक आनन्द का सर्वथा आविर्भाव सुख कहलाता है धर्मात्मक तत्वनिष्ठ आधिभौतिक आनंद का कुछ तिरोभाव लौकिक दुःखाभाव कहलाता है। धर्मात्मक तत्वनिष्ठ आधिभौतिक आनन्द का सर्वथा आविर्भाव लौकिक सुख कहलाता है। इच्छा कामादिकों के स्वरुप का वर्णन करते हैं **"सुख धर्म इति"** विषय की आशंसा रूप से कुछ प्रकट हुए सुख के आकार की इच्छा कही है उससे अधिक प्रकट हुए सुख आकार का काम कहते हैं। आशास्य विषय के अनुभव करते समय में अनुकूलता से प्रकट हुआ मानस आनंद सुख कहलाता है विषय की अनाशंसा रूप से कुछ प्रकट हुए दुःख के आकार का द्वेष कहा हैं उससे अधिक प्रकट हुए दुःख के आकार का क्रोध कहा है **"अनाशास्य विषय"** अर्थात् जिसके अनुभव करने की थोडी से भी इच्छा नहीं हो उस पदार्थ के अनुभव करते समय में प्रतिकूलता से प्रकट हुए मानस आनन्द के तिरोभाव को दुःख कहा है। पदार्थ की अत्यन्त अभिलाषा रूप से प्रकट हुए सुख के आकार की तथा अन्य जीव के लिये **"अनाशंसा रूप करके"** अर्थात् ओर को यह पदार्थ मत प्राप्त हो ऐसी इच्छा रूप से प्रकट हुए दुःख के आकार की एकता का नाम लोभ है जैसे किसी वृक्ष में एक मूल से दो पत्र उत्पन्न हों और वे अलग अलग घाट के हो ऐसे एक (राग) प्रीति से उत्पन्न हुआ मोह दो रूप वाला है। धर्म युक्त सुख का कुछ उद्भेद रूप मोह पुत्र के वात्सल्य में होता है धर्मरूप दुःख का किंचित् उद्भेद रूप मोह पुत्रादिकों में क्लेश हो तब होता है। चित्त की प्रसन्नता को हर्ष कहते हैं, हर्ष के अधिक होने को मद कहते हैं। दूसरे उत्कर्ष को नहीं सहन करने को मात्सर्य कहते है।, इस प्रकार राग, भय, लज्जा आदिकों को भी सुख दुःखों का यथा संभव उद्गम ही स्वरूप है, सूक्ष्म जो सुख की पूर्वावस्था उसको राग कहते हैं। दुःख की सूक्ष्म पूर्वास्था

भय कहलाता है। ऐसे औरों के स्वरूप भी आवरण भंग द्वारा समझ लेना योग्य है, जैसे धर्म करने से सुख होता है और अधर्म करने से दुःख हो ऐसे **(आभासमात्र)** अर्थात् पूर्ण धर्म नहीं करने से इच्छा काम आदिक होते हैं। आभास मात्र अधर्म करने क्रोध द्वेषादिक उत्पन्न होता है इसी के लिये इनका निरूपण किया है। ये फल धर्म अधर्म करने के पीछे कब हो ऐसी आकांक्षा हुई वहां कहते हैं **"विपाकः कर्मणामिति"** अल्प फल वाले सुकर्म कुकर्म बहुतकाल में पके हैं इसलिये प्रथम देह का पात होने के पश्चात् उनको फल मिलता है जैसे (उष्मा) गरमी के अधिक होने से वृक्ष के फलों के अवयव (उपचित) फूल जाते हैं। तब वे फल के पके फल कहलाते हैं ऐसे ही कर्मो का भी परिपाक जान लेना अत्यन्त उग्र पुण्य पाप तो इसी देह में फल देते हैं। जो पुण्य पाप अत्यन्त उग्र नहीं है वे अभी बिना पके हैं कालान्तर में पकेंगे तभी उनका फल मिलेगा। कर्म का स्वरूप नाश अर्थात् फल होने के अनुकूल आकार का नाश प्रायशः चान्द्रायणादिक प्रायश्चितों से भी होता है **"सर्वथा क्षयतो"** कर्मो के तिरोभाव को भोगने से होता है तथा **"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरूतेर्जुन। केचित्केवलयाभक्त्या"** इत्यादि वाक्य प्रमाण से भक्ति अथवा ज्ञान से होता है। सुख दुःखादिकों के भोक्ता का निरूपण करते हैं **"एते सर्व इति"** सुख दुःखादि पदार्थ अन्तः करण के धर्म हैं जीव के (संनिधान से) उनका स्फुरण होता है अर्थात् जीव के समीप रहने से स्फुरित हुए सुख दुःखादिक अंतः करण के अविवेक वाले जीव को प्राप्त होकर जीव धर्म कहलाते हैं। तब अन्तःकरण है वह मैं ही हूँ ऐसे मानने वाले जीव अन्तः करण के सुख दुःखादि धर्मों से यह सुख है यह दुःख है इस प्रकार लोक में व्यवहार गोचर होता है। वहां सुख दुःखादिकआत्मा के धर्म क्यों नहीं हो सकते हैं तथा ये अन्तः करण के ही धर्म हैं इसमें क्या प्रमाण है ऐसी शंका तो नहीं करनी क्योंकि अग्र पश्चाद्भाव से कर्मस्व रूपी भगवान् अन्तःकरण में ही प्रकट होते हैं आत्मा में नहीं प्रकट होते हैं।

जो सुख दुःखादिक आत्मा के धर्म हों तो शरीर आत्मा का भी सुख दुःख स्पर्श करेंगे तब तो **"अशरीरं वा वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः"** इस श्रुति में (प्रिय) सुख, (अप्रिय) दुःख शरीर रहित आत्मा का स्पर्श नहीं करता यह लिखा है इससे विरोध आयेगा, इसी से कर्म फल भोगने में मनोमात्र लिंग देह की अपेक्षा है इसी कारण सुख दुःखादिक अन्तः करण के ही धर्म कहे जाते हैं। कर्मस्वरूपी भगवान् विधि निषेध प्रकार से स्फुरित हो सके, पूर्वोक्त न्याय के अनुसार सुख दुःख का विस्तार करते हैं।

।। इति फल प्रकरणम्।।

ज्ञाने यर्हि मनोराज्यं शोकस्तेनापि नो भवेत्।
त्रिविधं दुःखमेतद्धि भवत्येव न संशयः।।३११।।
सर्वाध्यासनिवृत्तों हि सर्वथा न भवेद्वयथा।
सा च विद्योदये सा च न शब्दात्सुविचारितात्।।३१२।।
मर्यादाभंग एव स्यात् प्रमाणानां तथा सति।
गजानुमानं नैव स्यात्सांकर्यं वा तथा भवेत्।।३१३।।
दशमस्त्वमसीत्यादौ देहादिविषयत्वतः।
शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन्मतिः।।३१४।।
स्मारकत्वमतो वाक्ये संख्याज्ञानं पुरा यतः।
अध्यासस्यानिवृत्तत्त्वान्न विविक्तात्मदर्शनम्।।३१५।।
मनसा शक्यते कर्तुं नान्यथा सर्वथा भवेत्।
प्रत्यक्षेणापि विज्ञानं मायया ज्ञानकाशया।।३१६।।
स्वप्नप्रबोधरीत्या हि किमु शाब्दं निवारयेत्।
सर्वज्ञत्वं सर्वभावज्ञानं चापाततः फलम्।।३१७।।
सर्वोनब्रह्म सर्वं तु वामदेवस्तथा जगौ।
अवयुज्यागर्भवासी सूर्याद्यनुवदन् मुहुः।।३१८।।
ज्ञानदुर्बलवाक्यत्वात्पाषण्डवचनं. मतम्।
सत्ये युगेतिमहतां भवत्येतन्न चान्यथा।।३१९।।
स्वप्नो जागरणं चैव यथाह्यन्योन्यवैरिणौ।
विद्याविद्ये तथा स्यातां नतु सर्वात्मता लयः।।३२०।।

इस प्रकार फल का निरूपण करके साधन का निरूपण करने के लिये भगवान् की प्राप्ति में क्या साधन है ऐसी आकांक्षा हुई वहां लोक प्रसिद्धि से ज्ञान ही भगवत्प्राप्ति का साधन प्राप्त हुआ वेद के अनुसार विचार करने से तो **"तमेव विदित्वातिमृत्युमेति"** इस श्रुति से दुःख दूर होना ही ज्ञान का फल माना ज़ाता है। परमानंद का अनुभव तो भक्ति से ही होता है। यह आगे कहेंगे। इन दोनों साधनों का तरतमभाव से जैसे ये फल के देने वाले हैं वैसे निरूपण करते हैं, ज्ञान दुःख को दूर करता है यह तो निश्चय है परन्तु ज्ञान भी आपात से

ही दुःख दूर करता है। मूल से दुःख दूर तो भक्ति से ही होता है उसमें **"अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्ति योगमधोक्षजे"** इत्यादि भागवतादि वचन प्रमाण है इसलिये परम्परा से ज्ञान दुःख दूर करता है ऐसा कहना ठीक है अब जिस प्रणाली से ज्ञान दुःख को दूर करता है उस प्रणाली को कहते हैं जैसे अत्यन्त दरिद्री भी अपने मन में चक्रवर्ती राजापन की भावना करता है तब उस समय उसकी दरिद्रपने की चिंता मिट जाती है इसी प्रकार वेद पुराणादिकों के शब्दों से सुने हुए संसार अनित्य है। दुःख अदृष्ट तथा प्रारब्ध कर्म के अधीन है। जो अवश्य भावी होता है वह अवश्य ही होता है। इत्यादि जब ज्ञान की भावना मनुष्य करता है तब भी उसका शोक निवृत्त हो जाता है। इसलिये जैसा शात्रोक्त ज्ञान है वैसे भी **"अनाहार्य"** ज्ञान से लोक में उत्पन्न हुए अन्तः करण के क्लेश निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु रोगादिकों के क्लेश से निवृत्त नहीं होता है तथा नरक का दुःख भी नहीं छूटता है। सहज आसुर जीवों का तमो दुःख भी दूर नहीं होता है वही कहते हैं शास्त्र के ज्ञान की भावना करने वाले को भी त्रिविध दुःख तो होता ही है। त्रिविध दुःख की निवृत्ति का उपाय कहते हैं- **"सर्वाध्यासेति"** जब ब्रह्म ज्ञान से सब अध्यास की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् देह इन्द्रिय अन्तःकरण प्राण है वह मैं ही हूँ ऐसा अध्यास जब छूट जाता है तब भौतिक देह को हुए रोगादिकों से भी आत्मा को व्यथा नहीं होती है तथा यातना देह को होने पर भी नरकादिक उनसे भी पीडा आत्मा को नहीं होती है परन्तु अभी के शास्त्रों के अनुसार अभी के जीवों को सब अध्यास से निवृत्त करने वाला ज्ञान नहीं होता है। इस बात का निरूपण करते हैं **"साचेति"** देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, प्राण इनके अध्यास तथा स्वरूप विस्मृति ये अविद्या के पांच पर्व हैं इस पंच पर्वारूपा अविद्या की (विद्या) ज्ञान का उदय हो तब निवृत्ति होती है। ज्ञान है वह शब्द से नहीं होता है। लोक में सब मनुष्यों को देहादि संधात में स्थित आत्मा को सदा अनुभव होता है।

वेद है वह देहादिकों से आत्मा पृथक् है इस बात को बताने के लिये तथा जिसका अनुभव नहीं किया ऐसे ब्रह्मात्म भाव को अर्थात् ब्रह्म ही सभी की आत्मा है इस बात को बताते हैं परन्तु सदा अनुभव में आये हुए लौकिक ज्ञान से बाधित की हुई श्रुतिं दुर्बल हो जाती है इसलिये वैराग्यादि साधन सहित मनन निदिध्यासन सहित अभ्यास करके बल वाली हुई श्रुति **"ब्रह्माहमस्मि"** ब्रह्म मैं हूँ ऐसी वृत्ति को उत्पन्न करती है। तब अनुभव परम्परा से संघात सहित आत्म ज्ञान का बाध होता है।

उस ब्रह्मज्ञान में वेदादिक शब्द सहकारी है तथा वैराग्य मनन, निदिध्यासन सहित मन इन्द्रिय करण हैं कितने ही विद्यारण्य स्वामी आदि आत्मा के साक्षात्कार करने में शब्द को शब्द करण बताते हैं। (व्यापार वाले असाधारण कारण को करण कहते हैं) जैसे नेत्र रूपादि पदार्थ देखने में कारण है पदार्थ का तथा नेत्र का संयोग रूप व्यापार सहकारी है ऐसे आत्मा के ज्ञान होने में शब्द को कारण कहते हैं उनको भ्रम वाले समझना, क्योंकि आत्मा के स्वरूप ज्ञान में मन को छोड़कर और इन्द्रिय करण नहीं हो सकता है। बाहर के नेत्र, कर्ण आदि

इन्द्रियों के बाहर के रूप शब्द आदि ग्रहण करने में ही सामर्थ्य है। आत्मा का जो ब्रह्मत्व लक्षण जो धर्म है वह बाहर का नहीं है। जैसे दशमत्वादिक बाहर के धर्म हैं वहां यह शंका होती है किसी पुरुष ने और नौ पुरुषों को गिनकर किसी पुरुष से कहा तू दशम है, तब वह शब्द सुनकरके मैं दशम हूँ ऐसा उसको ज्ञान हुआ इस वाक्य में जैसे शब्दों से मैं दशम हूँ ऐसा ज्ञान होता है ऐसे **''तत्त्वमसि''** तू ब्रह्म है इस शब्द से भी मैं ब्रह्म हूँ यह ज्ञान हो जायगा?

उत्तर – दशमत्व देह धर्म है अपेक्षा बुद्धि से देह में उत्पन्न होता है। देह में अध्यास रखने वाला पुरुष अपने आत्मा को देह रूप मानकर जैसे मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ ऐसे कहते हैं वैसे तू दशम है इस शब्द से देहरूप आत्मा का ही मैं दशम हूँ ऐसे जानता हुआ भी ब्रह्माकार वृत्ति के अनुभव करने वाला नहीं होता है यहां यह सिद्धान्त है क्योंकि ब्रह्मत्व भीतर का धर्म है उससे ब्रह्मरूप आत्मा का साक्षात् अनुभव मन बिना पास रहने वाले और इन्द्रियों से भी नहीं होता है तब बाहर की इन्द्रियों से ग्रहण किया जाय ऐसे शब्द से ब्रह्मात्मानुभव होना कैसे घट सकता है **''किं च दशमोहम्''** यह जो चाक्षुष ज्ञान है युष्मत् शब्द के प्रयोग से हुआ है, यह बात भी नहीं बन सकती है क्योंकि शब्द है वह पद स्मारित पदार्थ का उल्लंघन करके वाक्यार्थ को उत्पन्न नहीं कर सकता है इसलिये युष्मत् शब्द के अस्मंत् शब्द करके स्मारित अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है **''दशमोऽहम्''** इत्यादि वाक्यों में जो युष्मत् शब्द से मैं दशम हूँ इत्यादि अस्मत् शब्दार्थ ज्ञान है वह नेत्र से अथवा मन से होता है यही अंगीकार करना चाहिये इसलिये अच्छी प्रकार से विचारा हुआ शब्द भी अपरोक्ष ज्ञान को नहीं करता है।

शब्द से साक्षात् ज्ञान होता है ऐसे मानने में फिर दूषण की आज्ञा करते हैं **''मर्यदा भंग इति''** प्रमाण के आधीन प्रेमय की सिद्धि है, लोक में ऐसी मर्यादा है शब्द से शब्द ज्ञान होता है, चक्षु आदिकों से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान मानोगे तो वह मर्यादा भंग होगा। आग्रह करके शब्द से भी प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हो तो उस घडे को ला शब्दों से इस वाक्यार्थ का प्रत्यक्ष ज्ञान होना चाहिये तथा हाथी के बिना देखे चीत्कार सुनने से हाथी का अनुभव भी नहीं होगा किंच प्रत्यक्षत्व तथा परोक्षत्व ये दोनों जाती हैं इनका ज्ञान मानोगे तो **''दशमस्त्वमसि''** इस वाक्य में प्रत्यक्षत्व परोक्षत्व इन दोनों जाती की संकरता होगी।

इसलिये शब्द से आत्मा का साक्षात् ज्ञान होता है यह बात सिद्ध करने के लिये **''दशमस्त्वमसि''** यह भ्रान्तों के मतों का दृष्टान्त है क्योंकि दशम तू है इस शब्द से जो श्रोता की दशम मैं हूँ यह ज्ञान होता है वह शब्द के साहचर्य से नेत्रों से देह से अभिन्न आत्मा का ज्ञान होता है। प्रकृत में तो वेद के शब्द से देहादिकों से भिन्न आत्मा का ज्ञान होता है यह मानते हो वह नहीं बन सकता है क्यों कि प्रतिबन्ध की निवृत्ति हो वैसे ही कार्य का उदय होता है। आत्मा को देहाभिन्न ब्रह्मरूप जानने में देह प्राणादि रूप मैं हूँ यह अध्यास प्रति

बन्धक है इसलिये **"तत्वमसि"** तू ब्रह्म है इत्यादि वेद शब्दों से मैं ब्रह्म हूँ ऐसे ज्ञान का उदय नहीं होता है केवल अभिमान (दंभ) से ही **"अहंब्रह्मास्मि"** मैं ब्रह्म हूं ऐसे मानकर सब साधन छोड देते हैं। ब्रह्मज्ञान तो बडे साधन से होते हैं। वैराग्य मनन निदिध्यासन नहीं किये जाय तो शब्द सहचारी मन से भी ब्रह्मात्म ज्ञान नहीं हो सकता है जो **"तत्वमसि"** कि तू ब्रह्म है इत्यादि गुरु मुख से शब्द सुनने से ही ब्रह्मज्ञान हो जाता हो तो वेद पुराणादिकों के लिय साधन व्यर्थ हो जायेंगे।

वस्तु तस्तु पक्षपात् छोड़कर विचार किया जाय तो वैराग्यादि साधन संयुक्त तथा श्रुति सह कृत मन से प्रकट हुआ मुख्यज्ञान भी अध्यास की सर्वथा निवृत्ति नहीं करते हैं जैसे जागना **"जागृदवस्था"** निद्रा की सर्वथा निवृत्ति नहीं करते हैं किंतु निद्रा को दबा देते हैं क्यों कि जागृत तथा निद्रा दोनों बुद्धि की वृत्ति है सत्व गुण की वृद्धि हो तब पुरुष जाग जाता है तमो गुण की वृत्ति हो तब निद्रा आ जाती है, जागृत वृत्ति दब जाती है ऐसे ही सत्व के उदय होने विद्या से अविद्या दब जाती है, तमोगुण उदय हो तब अविद्या से विद्या दब जाती है। सर्वथा निवृत्त नहीं होती है क्योंकि ये दोनों माया की शक्ति है तथा जीव प्रयत्न साध्य ज्ञान रूप मन का व्यापार कभी भी अविद्या नहीं होती है इस प्रकार अविद्या को निवृत्त नहीं कर सकती है क्योंकि जीव माया के आधीन है जैसे माया और नाना प्रकार की अध्रुव अवस्था करती है। जैसे अध्रुव ज्ञानावस्था को भी करती है। इसलिये जैसे सामग्री माया को निवृत्त करती है वह ही अविद्या को सर्वथा निवृत्त करती है। **"ज्ञानिनां मपि चेतांसि देव भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति"** इस वाक्य में ज्ञानियों के भी चित्त को माया मोह करा देती है यह लिखा है इसलिये जहां तक माया निवृत्त नहीं हो वहां तक अविद्या की भी निवृत्ति नहीं होती है वह माया भगवान् के अधीन है इसलिये भगवान् के शरण जाने से ही माया निवत्त होती है। किंच ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होने के पश्चात् ही ब्रह्मत्व से जान सकते है जैसे चांदी के जानने वाले को ही सीप में चांदी का भ्रम होता है। इसलिये आत्मा को ब्रह्मत्व रूप से जानने में प्रथम ब्रह्मज्ञान की अपेक्षा है ब्रह्म है वह सर्वात्मक है और एक है सब जीव उसके स्वरूप में है उसके ज्ञान से सर्व कार्य सिद्ध हो जाता है फिर आत्मज्ञान है जो आत्मा को ज्ञान होने के लिये ब्रह्मज्ञान का सहकारी मानते हो तो ब्रह्म के एक देश शरीर जीव का ही साक्षात्कार होता है उससे अनर्थ की ही निवृत्ति होती है **"तरतिशोक मात्मवित्"** इत्यादि श्रुति के अनुसार शोकमात्र दूर होता है **"ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्"** इस श्रुति का लिखा हुआ परब्रह्म पुरुषोत्तम की प्राप्ति रूप मुख्य फल नहीं होता है इसलिये प्रथम हुआ ब्रह्मज्ञान निष्फल ही होता है सर्वज्ञ हो जाना उस ब्रह्मज्ञान की अवान्तर फल है अतः सर्वज्ञता ब्रह्म ज्ञान का लक्षण है इसमें **"यस्मिन्विदिते सर्वमिदं विदितम्भवति"** इत्यादि श्रुति प्रमाण है अभी जीवों को तो भक्त्यादिसाधन रहित केवल अभीं के तत्वमस्यादि उपदेश करके सर्वज्ञता रुप अवान्तर फल भी सिद्ध नहीं होता है तब पर ब्रह्म पुरुषोत्तम प्राप्ति रूप मुख्य फल की क्या आशा यह भाव है।

कितने ही मन्द बुद्धि वाले आत्म ज्ञान को ही सर्व ज्ञान कहते हैं उसका निराकरण करते हैं **''सर्वो न ब्रह्मेति''** सब पदार्थ ब्रह्म रूप नहीं होते हैं किन्तु ब्रह्म सब पदार्थ रूप होता है इसी से **''सर्वमभवत्''** यह सर्वरूप होता हुआ इस श्रुति में सर्व शब्द से जगत् का ग्रहण होता है केवल शरीर आत्मा का ग्रहण नहीं होता है तथा अगर्भ स्थित वामदेव भी **''अहंमनुरभवम्''** इत्यादि श्रुति में मनु सूर्य आदि जगत् के पदार्थों के ज्ञान से ही सर्वज्ञान कहलाता है इसलिये आत्मज्ञान का नाम सर्वज्ञान नहीं है किन्तु **''प्रपंच''** जगत के सब पदार्थों के ज्ञान का नाम सर्वज्ञान है, इस कारण जीवात्मा के ज्ञानमात्र से सर्वज्ञान कहने वाले ज्ञान दुर्बलवादी समझना अभी के मनुष्यों को ब्रह्म ज्ञान नहीं होता है इस संदेह को निराकरण करने के लिये ज्ञान की दुर्बलता बताते हैं **''सत्ययुगेति''** सत्ययुग में भी श्रेष्ठ पुरुषों को ब्रह्मज्ञान होता है वैसा ज्ञान होने पर भी अज्ञान का बिलकुल लय नहीं होता है अर्थात् किसी काल में फिर अज्ञान हो जाता है जैसे स्वप्न जागरण परस्पर वैसे ही एक को एक दबा देता है परन्तु सर्वथा लय नहीं करता है इस कारण फिर हेतु पाकर कालान्तर में प्रकट हो जाता है ऐसे ही ज्ञान अज्ञान ये दोनों माया के बनाये हैं परस्पर वैसे ही हैं एक को एक दबा देता है परन्तु बिलकुल लय नहीं कर सकते हैं।

इदमेव विनिश्चित्य कृष्णो ह्यर्जुनमब्रवीत्।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतान्तरन्ति ते।।३२१।।

एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह हि।
ज्ञानादीनां हि सर्वेषां तदधीनत्वतः सदा।।३२२।।

विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद्बुधः।
न दृष्टः श्रुतपूर्वो वा भजन्कृष्णमनामयम्।।३२३।।

न मुक्त : सर्वथायस्मात् गोपागावस्तथा भवन्।
आपाततस्तु सर्वेषामुपायत्वंमयोदितम्।।३२४।।

विष्णुः कृपा विशिष्टानां तत्फलं नान्यथा भवेत्।
यन्न योगेन सांख्येन दानवृत्ततपोध्वरैः।।३२५।।

व्याख्यास्वाध्याय संन्यासैः प्राप्नुयाद्यत्नवानपि।
तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य नोदनां प्रतिनोदनाम्।।३२६।।

प्रवृत्तिञ्च निवृतिञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च।
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।।३२७।।

या हि सर्वात्मभावेन यास्यते ह्यकुतोभयम्।
इत्येकादशसर्वस्वं भगवान्स्वयमुक्तवान्।।३२८।।
आत्मानं हि स्वयं वेद तमादन्यवचोमृषा।।
कर्मयोगादयः सर्वे कृष्णोद्गमनहेतवः।।३२९।।
उदासीनतयोद्भेदान्नहि सर्वात्मना फलम्।
भक्तावत्यादरेणैव प्रकटो जायते हरिः ।।३३०।।
आत्मानं च ततो दद्यात्सुखे का परिदेवना।
सहनं खननं गंगातीरस्थितिवदेव तत्।।३३१।।
सांख्योयोगस्तथा भक्तिस्तत्रप्रेमातिसौख्यदम्।
पिताचरेद्यथा बाले सुखं भक्ते तथा हरिः।।३३२।।
प्रेम्णैव सेवितोऽत्यर्थं गोपीनां कामदो यतः।
अच्छिद्रसेवनाच्चैव निष्कामत्वात्स्वयोग्यतः।।३३३।।
दुष्टं शक्यो हरिः सर्वेर्नान्यथा तु कथंचन।
दयया सर्वभूतेषु संतुष्ट्या येन केन चित्।।३३४।।
सर्वेन्द्रियोपशांत्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः।

यह ही निश्चय करके श्रीकृष्ण ने अर्जुन से आज्ञा की है **"मामेव प्रपद्यन्ते माया मेतान्तरन्ति ते"** मेरी ही शरण जो आते है वे मनुष्य इस माया को तिरते है **"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतः"** ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है, इत्यादि ज्ञान प्रशंसा का वाक्य तो ज्ञान की अपेक्षा भी भक्ति की उत्तमता बतलाने के लिये है इसी से गीता के षष्ठाध्याय में **"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः"** इत्यादि श्लोकों में तपस्वी तथा ज्ञानी से अधिक योगी को बताकर योगी से भी अधिक भक्त को बताया है तथा गीता विस्तार रूप श्री भागवत में **"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शंकरः"** इस श्लोक में भगवान् ने अपने आत्मा की अपेक्षा भी भक्त को अधिक प्रिय बताया है यदि जो ज्ञान से भक्ति उत्तम नहीं होती तो गीता में ज्ञान का उपदेश देकर बाद में अठारवें अध्याय में सभी से अत्यन्त गुप्त उपदेश सुन ऐसे कहकर **"मन्मना भव मद्भक्तः मामेकं शरणं व्रज"** इत्यादि श्लोक से भक्ति का उपदेश नहीं करते **"मामेव ये प्रपद्यन्ते"** इस श्लोक में एव कार करके मेरे शरण आने को छोडकर और कोई उपाय नहीं है यह बताकर फलित कहते हैं **"ज्ञानादीना मिति"** अर्थात् वैराग्य, सांख्य, योग, तप भक्ति ये पांच ज्ञान के पर्व हैं इनमें से चार पर्व सिद्ध

होने के पश्चात् अभेद से भगवान् में प्रियता की स्फूर्ति होती है तब भक्तिरूप ज्ञान की चरम वृत्ति से साक्षात्कार हो तब भगवान् मुक्ति देते हैं इत्यादि क्रम में जितने साधन हैं वे सब भगवान् के आधीन हैं इसलिये बुध (समझदार) सब ओर से विश्वास छोडकर श्रीकृष्ण भगवान् का ही सेवन करे वहां आत्मा का संबंधी भी आत्मा से अधिक प्यारा नहीं होता है।

अतः भक्त को भी अन्त में ज्ञान होता है। ज्ञान से मोक्ष होता है इस कारण ज्ञान के लिये ही यत्न करना ऐसी शंका हो वहां आज्ञा करते हैं **''न दृष्ट इति''** कोई ऐसा जीव सुना भी नहीं है, देखा भी नहीं है, जो गुणातीत श्री कृष्णचन्द्र की सेवा करता हुआ सर्वथा मुक्त नहीं हुआ हो क्यों कि **''ब्रह्म मां परमं प्रापुः''** इत्यादि भागवत वचन में गोपी, गौ, पक्षी आदि कभी परब्रह्म रूप मेरे को प्राप्त हुए ऐसे श्रीकृष्ण आज्ञा करते हैं **''तमेवविदित्वा''** इत्यादि श्रुति में ज्ञान से ही मुक्ति लिखी है फिर आप केवल भक्ति करके मुक्ति कैसे बताते हो ऐसी शंका प्राप्त हुई वहां श्री वल्लभाचार्यजी आज्ञा करते हैं कि जो हमने ज्ञानादिक मुक्ति के उपाय बताये हैं वे आपात से लोकों में प्ररोचनार्थ बतायी है, तथापि वे उपाय सर्वथा असत्य नहीं है भगवान् की कृपा वाले जीवों को ज्ञानादिक भी फल देने वाले है स्वतः ज्ञानादिकों की प्रशंसा तो प्ररोचनार्थ है अर्थात् मनुष्यों की प्रवृत्ति होने के लिये की है यथार्थ बात तो यह ही है कि भगवान् की प्राप्ति होने में भगवान् की कृपा ही साधन है **''तमेव विदित्वा''** इस श्रुति के एव कार की जीव के ऊपर घटित करके विपरीत व्याख्या नहीं करना अर्थात् भगवत्कृपा से भगवान् के स्वरूप को जानकर मोक्ष को प्राप्त होता है ऐसा ही अर्थ करना उससे शरीर स्थित जीवात्मा का ज्ञान मुख्य साधन नहीं है **''आत्मलाभान्न परं विद्यते तरति शोकमात्मवित्''** इत्यादि श्रुति में आत्मा नाम भगवान् का ही समझना, जीव का ग्रहण नहीं करना क्यों कि जीव प्रकरण में यह श्रुति नहीं है ब्रह्म प्रकरण में ही यह श्रुति लिखी है **''योऽन्यां देवता मुपासते''** इत्यादि श्रुति में अभेदोपासना की स्तुति की है। उन श्रुतियों की भेदोपासना की निंदा में तात्पर्य नहीं है जैसे **''ना सोमयाजी सन्नयेत्''** इत्यादि श्रुतियों में जैसे नित्यानुवाद नहीं है किन्तु विकल्प है। ऐसे भेद निंदा भी विकल्प पर्यव सायिनी है अर्थात् अभेद से अथवा भेद करके उपासना करना ठीक है। इस विषय में **''एकत्वेन पृथक्त्वेनबहुधा विश्वतो मुखम्''** ये गीता वाक्य प्रमाण है। एकत्व मानकर अथवा बहुत्व पृथक्त्व से अर्थात् भेदकर अथवा अभेद से बहुत प्रकार से सब ओर मुख वाला मैं हूँ, उसकी उपासना करे, इत्यादि वाक्य प्रमाण है इसलिये मूल ज्ञान है वह अभेद ज्ञानरूप होकर मोक्ष का साधन नहीं है किन्तु साक्षात्कार रूप होकर के मोक्ष का साधन है, साक्षात्कार होना तो **''यमेवैष वृणुते''** इत्यादि श्रुति में (वरण) अंगीकार करके आधीन लिखा है, अंगीकार करना भगवान् के आधीन है, भगवान् प्रेम के आधीन है इसलिये भगवान् के प्रकट होने में प्रेम ही साधन है, यह निश्चय हुआ प्रेम बिना और कोई भगवान् की प्राप्ति में साधन नहीं हो सकता है इस विषय में श्रीकृष्ण के प्रमाणभूत वाक्यों का वर्णन करते हैं **''मत्त योगेनेति''** योग करके सांख्य के ज्ञान से दान, वृत्त, यज्ञ इनको

करके तथा व्याख्या वेदाध्ययन संन्यास इन साधनों से जिसकी प्राप्ति नहीं उस मुख्य फल की प्रेम भक्ति से प्राप्ति होती है। इसलिये हे उद्धव! सब प्रश्नों को छोड़कर तथा जितने सुनने योग्य पदार्थ हैं, जितने सुने हुए पदार्थ हैं उनको छोडकर सर्वात्मभाव करके मेरे ही शरण आ अकुतो भय को (मोक्ष को) प्राप्त होगा, इस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी से सर्वस्व मुख्यत्व आज्ञा की है। सब जीव भगवान् की प्राप्ति चाहते हैं इसलिये भगवान् ही फल है वे भगवान् ही अपने मुख से योग, दान, यज्ञादिक मेरी प्राप्ति के उपाय नहीं है, इस प्रकार निषेध करते हैं तब यज्ञादिक भगवान् की प्राप्ति के उपाय नहीं है, इस प्रकार का और पुरुष का वचन वृथा समझना। तात्पर्य यह है योगादिक सब साधन भक्ति भगवत्प्राप्ति के साधन हैं वहां योग, ज्ञान, भक्ति आदिकों में से कोई साधन किया जाय तो मोक्ष होता है इस प्रकार का विकल्प तो नहीं बन सकता है, क्योंकि दोनों वाक्य समान बल वाले हो वहां विकल्प होता है। यहां तो यह भगवान् का वाक्य सब से प्रबल है **"मत्तः परतरंनान्यत्"** भगवान् आज्ञा करते हैं मेरे से अधिक कोई श्रेष्ठ नहीं है इत्यादिक श्रीमुख के वाक्यों से भगवान् ही फल है यह निश्चय होता है। इसलिये ज्ञानादिक मोक्ष के साधन नहीं है,

शंका – वेद भी भगवान् का वाक्य है, श्रुति स्मृतियों में परस्पर विरोध हो वहां श्रुति बलवान् होती है, तब श्रुति के बताये ज्ञान से मोक्ष का साधन क्यों नहीं हो सकता है?

उत्तर – भगवान् अपना वेद वाक्य सत्य करने के लिये कर्म ज्ञान योग आदि साधन से भी प्रकट होते हैं परन्तु निर्बन्ध से प्रकट होते हैं जैसे लोक में कोई पुरुष चक्रवर्ती राजा को अपने गृह में राजनीति के अनुसार पधराना चाहे तब तो उसी रीति से यथा योग्य सांगोपांग सब साहित्य किया जाय तब चक्रवर्ती राजा भी अपने किये हुए राजनीति के क्रम के अनुसार ही उस पुरुष के गृह पधारते हैं और जितने समय गृह में बिराजते हैं और राज क्रमानुसार जितना फल नियत है उतना ही फल उसको देते हैं। उससे अधिक फल नहीं देते हैं। इसी प्रकार यज्ञ ज्ञानादिक करके भगवान् प्रकट होते हैं। तब उनके अनुसार ही फल देते हैं उससे अधिक मुख्य फल नहीं देते हैं क्योंकि इच्छा है नहीं तो उदासीन होकर के वेद मर्यादा की रक्षा करने के लिये पधारकर उतना सा फल देते हैं इस कथन से प्रमाण बल विचार करके ही ज्ञान साधक हैं तो भी प्रमेय बल विचार कर साधक नहीं हो सकता है यह बात बतलाई है भक्तिमार्ग में विशेषता का वर्णन करते हैं जैसे चक्रवर्ती राजा अधिक प्रेम देखकर किसी पुरुष के गृह पधारते हैं तब तो अपनी इच्छा अनुसार जितना फल देना चाहे उतना देते हैं। स्नेह के वश होकर राज्य भी दे देते हैं ऐसे ही (भक्ति) मानसिक प्रेम प्रवाह से तो बडे आदर से भगवान् प्रकट होते हैं **"स्मरतः पादयुगलमात्मानमपि यच्छति"** इत्यादि वाक्यानुसार अपने वियोग से जो भक्त को दुःख हो उसको नहीं सहते हुए करूणा करके अपने आत्मा को भी भक्त के अर्थ (लिये) दे देते हैं तब स्वरूपानंद देने में क्या परिवेदना है। दृष्टान्त भी ज्ञान, योग, भक्ति इनका तारतम्य दिखाते हैं। जैसे जल की तृषा बाधा

करती हो तब उसको सहन करके उसकी निवृत्ति की जाय ऐसे ज्ञानमार्ग में ज्ञानी को दुःख प्राप्त होता है तब दुःख देहादिकों को होता है आत्मा तो निर्विकार है उसको दुःख नहीं है इत्यादि ज्ञान से दुःख सह लेना ही ज्ञान मार्ग में दुःख दूर होने का उपाय है। जैसे जब तृषा (प्यास) लगे तब कुवा खोदना प्रारंभ किया जाय ऐसे योग मार्ग में जब दुःख हो तब योगी योग के साधन करना प्रारम्भ करता है जब साधन संपूर्ण हो तब भगवान् प्रकट होकर के दुःख निवृत्ति करते हैं। जैसे जो पुरुष श्री गंगाजी के तटपर जल के समीप बैठा है उसकी प्यास की निवृत्ति जल पीने से शीघ्र ही हो जाती है इस प्रकार भक्तिमार्ग में तो दुःख दूर करने वाले भगवान् सदा प्रकट ही रहते हैं। दुःख होते ही दूर कर देते हैं, जैसे अत्यन्त प्रेम हो तो श्री गंगाजी स्वयं देवी रूप धर के जल पिलाती है वैसे भगवान् भी प्रेम वाले भक्त के दुःख दूर करके सुख देते हैं वहां भगवान् फलरूप हैं सबसे बडे हैं भक्त को सुख देने के लिये हीन भाव को क्यों प्राप्त होते हैं जैसे अर्जुन के दुःख दूर करने के लिये सारथी भाव को प्राप्त हुए ऐसी शंका तो नहीं करना क्योंकि जैसे पिता जिस प्रकार बालक को सुख हो वैसे ही आचरण करते हैं भक्त को सुख हो ऐसे ही चरित करते है इस प्रेम के मार्ग में हीनाभाव दोषाकारी नहीं है इसलिये सारथी होना तथा दूताभाव का ग्रहण करना अपने हीन भाव को नहीं विचारते हैं, ऐसे भगवान् के भक्त वत्सलता करूणा आदि गुण बतलाने वाला है या हीनभाव के आश्रय के लौकिक पर नहीं मानना इससे भगवान् प्रेम करके गोपियों को अदेय अर्थात् नहीं देने योग्य ऐसे काम को देते हुए लौकिक पुरुष जैसे काम के वश होकर स्त्रियों में प्रवृत्त होते हैं इस प्रकार भगवान् प्रवृत्त नहीं हुए हैं क्योंकि आप तो पूर्णकाम हैं प्रेम से सेवित भगवान् गोपियों को काम के देने वाले हैं लौकिक पुरुष की यह सामर्थ्य नहीं है कि स्वयं इच्छारहित होकर के काम को दे सके वहां यह शंका होती है देखे हुए पदार्थों में प्रेम होता है भगवान् को तो कभी देखे नहीं हैं उनमें प्रेम कैसे हो इस शंका को दूर करने के लिये भगवान् के दर्शन का उपाप वर्णन करते हैं। सब कामना छोड़कर अपनी योग्यता के अनुसार निरन्तर सेवा करने से भगवद् दर्शन होते हैं। सेवा के विषय में अल्पता तथा अधिकता प्रयोजक नहीं है, बाहर के साधन का वर्णन करते हैं संपूर्ण भूतों में दया करने से धर्म के अनुसार जितना प्राप्त हो उतने में ही संतोष कर लेने से तथा सब इन्द्रियों की शांति करके जनार्दन भगवान् शीघ्र ही संतुष्ट होते हैं।

श्रृण्वन्ति गायन्ति गृणंत्यभीक्ष्णशः स्मरन्ति, नन्दन्ति तवेहितंजनाः।
त एव पश्यन्त्य चिरेणतावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्।।३३५।।

अन्तर्बहिः साधनयोः स्वरूपं परिकीर्तितम्।
प्रकारश्चाप्ययं प्रोक्तो दर्शने नान्यथा तु तत्।।३३६।।

सर्वापेक्षा परित्यागात् पौरूषस्य सभाजनम्।
आसक्त्या भगवत्युक्तं परं दर्शनसाधनम्।।३३७।।

कपिलादिर्महायोगी पूर्वं येनोपलब्धवान्।
तं प्रकारमिहोवाच पाक्षिकं तद्धिसाधनम्।।३३८।।
राजवत्कुत्र चित्कृष्णः कस्य चित्केन चित्फलम्।
ददाति तावता नित्यं सर्वत्रेति न निश्चयः।।३३९।।
प्रेम्णा सेवा तु सर्वत्र सेव्यवश्यत्वसाधनम्।
किंचिद्भक्तियुतश्चेत्स्याद्योगादिः साधनं क्वचित्।।३४०।।
सर्वं ब्रह्मात्मकं जानन्कर्म चापि चरन् तथा।
पंचकर्म विधानेन षोढापि प्रकटः सदा।।३४१।।
निर्बंधेन फलत्येष नच भक्त्या यथा तथा।
कणाददिमुनिश्रेष्ठाः शुक्रमोहितबुद्धयः।।३४२।।
वृथा शास्त्रकलापं हि जगुस्तेन न चान्यथा।
प्रेम्णान्यत्साधनं लोके नास्ति मुख्यं परं महत्।।३४३।।
श्रीभागवतमेवात्र परं तस्य हि साधनम्।
अधिकारमभिप्रायं ज्ञात्वा भक्तमुखेन हि।।३४४।।
सकृच्छ्रवण मात्रेण कृष्णे प्रेम भवेद् ध्रुवम्।
विरक्तो विपरीतादिभावानारहितः सहृत्।।३४५।।
लीलामात्रश्रुतौ तस्य भवेत्प्रेमाखिले किमु।
श्रीभागवत तत्वार्थमतो वक्ष्ये सुनिश्चितम्।।३४६।।
यज्ज्ञानात्परमा प्रीतिः कृष्णं शीघ्रं फलिष्यति।।३४७।।

इति श्रीवेदव्यास विष्णु स्वामि मतवर्ति वल्लभ दीक्षित विरचिते भागवत तत्वदीपे सर्वनिर्णय कथनन्नाम

द्वितीयम्प्रकरणम्।।२।।

भगवान् के दर्शन होने के विशेष उपाय का वर्णन करते हैं। कुन्ती ने भगवान् की स्तुति की है जो मनुष्य आपके चरित्र को सुनते है तथा गाते है परस्पर वर्णन करते है, बारम्बार स्मरण करते हैं तथा चरित्रों की प्रशंसा करते हैं वे भक्तशीघ्र ही संसार प्रवाह के मिटाने वाले चरणारविन्द के दर्शन करते हैं ऐसे बाहर भीतर के साधन का

स्वरूप दिखाया है इस प्रकार भगवान् के दर्शन का वर्णन किया है इसके बिना ओर प्रकार से भगवद् दर्शन नहीं होते हैं। इसमें भी दर्शन का उत्तम उपाय वर्णन करते हैं। सब प्रकार की उपेक्षा छोड़कर भगवान् के चरित्रों का (सभाजन) प्रशंसा पूर्वक गद्गद कण्ठ होकर वर्णन करते हैं वे भक्त प्रसन्न हास सहित नेत्र वाले मुखारविन्दों के दर्शन करते हैं तथा भगवान् के साथ मनोहर वार्ता भी करते हैं। यह उपाय तृतीय स्कंध में **''ये ऽन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य''** इस श्लोक में वर्णन किया है।

भगवान् के कपिल अवतार में जिस सांख्य का निरूपण किया है वह उपाय क्यों नहीं है? वहां कहते हैं - कपिलादि महायोगी ने जिस उपाय को करके भगवान् को प्राप्त किया उस प्रकार का यहां वर्णन किया है परन्तु वह प्रकार भी पाक्षिक साधन है नित्य नहीं है क्योंकि कपिल देवजी ने आठ अध्यायों में आठ मत का वर्णन किया आगे देवहूती की मुक्ति का वर्णन किया। अब यहां मालुम नहीं पड़ सकता है इन आठ उपायों में से किस निमित्त से देवहूती को मुक्ति दी है।

पुष्टिमार्ग के प्रकारों में देवहूती की मुक्ति का भी प्रवेश है।

वहां कैसे पुष्टिमार्ग है ऐसी आकांक्षा हुई वहां निरूपण करते हैं जैसे चक्रवर्ती राजा अपनी इच्छानुसार किसी पुरुष को कोई साधन फल देता है, ऐसे परमस्वतंत्र श्री कृष्ण की जिस साधन से मुक्ति देने की इच्छा हो उस साधन से ही मुक्ति देते हैं। राजा सेवक से भी कभी अपनी रानी को ताडना दिलवाता है इसलिये और बडे पुरुष रानी का धर्षणा (ताडना) नहीं दे सकते है।

प्रेम तो राजभार्या के तुल्य और साधन से पीडित नहीं हो सकते हैं क्योंकि लोक में तथा वेद में प्रेम करके सेवा करने से सेव्य स्वामी अवश्य प्रसन्न होते हैं। वेद में माहात्म्य का पूर्व कांड में निरूपण करके **तत्त्वमसीत्यादि** महावाक्य में अभेद का प्रतिपादन करके निरूपाधी प्रेम में ही अभिप्राय बताया है इस बात की ही **''भगवान् ब्रह्मकार्त्स्न्येन''** इसमें निरूपण किया है इस कारण और साधन जैसे पाक्षिक है अर्थात् भगवान् इच्छा हो उस साधन से मुक्ति देते हैं, इच्छा हो उसको नहीं देते हैं ऐसे प्रेम पाक्षिक साधन नहीं है अर्थात् प्रेम से उस को तो अवश्य भगवान् प्राप्त होते ही है। योगादिक भी प्रेम सहित ही फल देते हैं।

संपूर्ण वेदमार्ग से भी यह नहीं होता है यह बताने के लिये दोनों कांडो के अर्थ का अनुवाद करते हैं। **''सर्वंब्रह्मात्मकमिति''** सब जगत् को ब्रह्मात्मक जानकर वेदोक्त कर्म को मरणपर्यन्त करता रहे तब पंचकर्म के विधान से अग्नि होत्रादि षट् प्रकार से प्रकट हुए भगवान् बडा हठकर के फलदायक होते हैं। वेद वाक्य के अनुसार से यह भी निश्चय होता है इस वाक्य में लोक नियामक है न्याय शास्त्र में षट् पदार्थ के ज्ञान से मोक्ष होता है तथा षोडश पदार्थ के ज्ञान से मोक्ष होता है इत्यादि ऋषियों के वाक्य की क्या गति है? वहां उत्तर देते हैं **''काणादादिमुनि श्रेष्ठा इति''** दैत्यों को सन्मार्ग से विमुख करने के लिये शुक्राचार्य जी ने

काणादादि ऋषियों को मोह कराया तब शुक्र मोहित ऋषियों ने मोहदशा में न्याय शास्त्रादिक बनाये उससे भ्रान्तों के बनाये वेद विरूद्ध न्यायादिक शास्त्र प्रमाण नहीं है, इस प्रकार सब पदार्थ का निरूपण करके भक्ति मार्ग का उपसंहार करते हैं **''प्रेम्णोन्यदिति''** लोक में प्रेम से बड़ा मुख्य और साधन नहीं है। मन की रूचि से हुआ प्रेम दोष देखने से निवृत्त हो जाता है। भगवान् के विषय में शास्त्र सुने पढे बिना लोक दृष्टि से दोषों की संभावना होती है इसलिये उस दोष दृष्टि दूर करने के लिये शास्त्र श्रवण पठन करना वहां सर्व शास्त्रों को निर्द्धार करने वाला भगवान् के सर्व माहात्म्य को बताने वाला प्रेम को प्रकट करने वाला श्रीमद्भागवत शास्त्र है **''यस्यां वै श्रूयमाणायाम्'' 'लोकस्या जानतो विद्वान्'** इत्यादि वाक्यों में भागवत श्रवण से भक्ति उत्पन्न होना स्पष्ट लिखा है अभी लोक में भागवत सुनने वालों के हृदय में प्रेम प्रकट होता नहीं देखकर भागवत श्रवण प्रेम का साधन नहीं है।

ऐसी **शंका** हो उसका उत्तर देते हुए भागवत श्रवण की विशेष रीति दिखाते है **''अधिकार मिति''** भागवत सुनने के तीन अंग है भागवत के तात्पर्य का अच्छी रीति से ज्ञान होना चाहिये, भक्तमुख से श्रवण होना चाहिये सुनने वाले के हृदय में वैराग्य होना चाहिये। पूर्वोक्त अधिकारी से भी उत्तम अधिकारी को तो भागवत के एकदेश के सुनने से ही भक्ति हो जाती है। लोको में सर्वथा जो बिरक्त हो, असंभावना, विपरीत भावना से रहित होकर सर्वजगत् का सुहृदय हो। तीर्थादिक सेवन से शुद्ध जिसका अन्तःकरण हो, जैसे विदुर तुल्य हो अथवा उससे भी अधिक उद्धव तुल्य हो वैसे भक्तको लीला मात्र के श्रवण से भक्ति उत्पन्न होने में कोई संदेह नहीं है। वहां श्रीभागवत का अर्थ नहीं जानने से अथवा विपरीत अर्थ जानने से अधिकार हो तथा श्रवण से भी भक्ति नहीं हो इस कारण श्री भागवत के तात्पर्य का विवेचन तीसरे भागवत रूप प्रकरण में किया जायगा। जिसके जानने से सर्वथा भक्ति उत्पन्न होती है फिर उत्पन्न हुई भक्ति वैसी ही स्थिर नहीं रहती है किन्तु प्रतिदिन बढती हुई शीघ्र ही श्रीकृष्ण रूप फल को प्राप्त कर देती है इसलिये भक्ति की इच्छा हो तो सर्वथा श्रीभागवत रूप प्रकरण को सर्वदा अनुसंधान करते रहना योग्य है। इतने कथन से तृतीय प्रकरण का आरम्भ का समर्थन किया है।

सर्व निर्णय प्रकरणं द्वितीय संपूर्णम्।

॥ श्री कृष्णाय नमः॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्योनमः ॥

श्रीवल्लभाचार्य द्वारा विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत भागवतार्थ प्रकरण

प्रथमस्कंध

श्रीआचार्य चरण श्रीभागवत की व्याख्या करने से पूर्व प्रतिपाद्य रूप भगवान् की वस्तु मंगल संकीर्तन रूप में स्तुति करते हैं-

कारिका - श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा।
सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः॥१॥

समस्त भक्तजनों के उद्धार करने में संलग्न दश प्रकार की लीलाओं युक्त परमानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण को नमन (प्रणाम) करते हैं।

यहां पर कृष्णपद को अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तु के रूप में कहा है। उन्हीं श्रीकृष्ण ने अपने सौन्दर्य को प्रकट करने की इच्छा से साकार रूप से प्रादुर्भूत हुए (वेद में कहा है कि - सः एकाकी नारयमत स द्वितीय मैच्छत्) उन्हें ही श्री कृष्ण कहते हैं। कृष्ण विभूति रूप नहीं है किन्तु परमानन्द होने के कारण फलस्वरूप है। साधन उनका श्रवण है श्रवण का विषय क्या है? इसके लिये भगवान् की दशविध लीलाओं का निर्देश किया गया है। प्रभु के अवतार का उद्देश्य तो समस्त भक्तों का उद्धार करना ही है। यहां यदि कोई कहे कि उनके अलावा भी कोई उद्धार करने वाला होगा। इस पर कहा है कि सर्वोत्कृष्ट (पर) हैं यहां पर प्रभु को नंमन करने का यह कारण है कि अवतार दशा में उनको स्तुति अच्छी लगती है। इसलिये नमन किया गया है।

यहां पर शंका होती है कि भागवत जब विद्यमान है तब फिर आपको क्या कहना है? इस शंका के समाधान के लिये अपने ग्रन्थ के विषय में कहते है-

कारिका - शास्त्रेस्कन्धे प्रकरणेऽध्याये वाक्ये पदेऽक्षरे।
एकार्थं सप्तधा जानन्नविरोधेन मुच्यते॥२॥

शास्त्र, स्कंध, प्रकरण, अध्याय वाक्य, पद तथा अक्षर इन सातों में बिना विरोध एक ही अर्थ को जानने वाला किसी विरोध के बिना ही मुक्त होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि भागवत के अर्थ का इस प्रकार प्रतिपादन करना कि जो अर्थ बारह स्कंधों में निरन्तर मिला हुआ (अनुस्यूत) हो सभी एक ही प्रकार का अर्थ हो, भिन्न भिन्न अर्थ नहीं हो, यदि कहीं संदेह हो कि अक्षरों का अर्थ क्या होगा तो उसका समाधान यह है कि जो

प्रत्यक्षरूप अक्षर है उनका अर्थ होता ही है। पूर्व में यह बता चुके हैं कि अर्थ एक ही होना चाहिये इसका आशय यह है कि शास्त्र स्कंधादि का यदि पृथक् पृथक् अर्थ होगा तो उस अर्थ में कृत्रिमता आ जायेगी। जिस प्रकार ऐश्वर्यादि छः प्रकार के धर्मों युक्त जो धर्मी (प्रभु) सात प्रकार के हैं। यह भागवतार्थ भी स्कंध आदि अर्थों से उसी प्रकार युक्त है। ज्ञान का अवान्तर फल संसार से मुक्त होना है। भक्ति के लिये अपेक्षित है। भागवत का अर्थ शास्त्र स्कंधादि में क्या है इस को ''आनन्दस्य हरेर्लीला'' इन कारिकाओं से कहते हैं-

कारिका - आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो दशधा हि सा।
''अत्रसर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।।३।।
मन्वतरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः।''
अधिकारी साधनानि द्वादशार्थास्ततोऽत्रहि।।४।।
निरूप्य संङ्ख्या स्कन्धा हि द्वादशैव न चान्यथा।
तृतीयादिदशस्कन्धैर्लीला दशविधोदिता।।५।।
श्रोतुवक्तश्च लक्ष्माद्ये द्वितीये त्वंगनिर्णयः।
इतीदं द्वादशस्कंधं पुराणं हरिरेव सः।।६।।

आनन्द स्वरुप प्रभु की आनन्द युक्तदशविध लीला ही शास्त्रार्थ है, हरि की ही ये लीलाएं है। प्रभु की ये लीलाएं सभी प्रकार के दुःखों का हरण करने वाली है इस कारण दुःखाभाव सुखरूप होने से ये लीलाएं स्वतः पुरुषार्थ रूप है भागवत का यही अर्थ है। अब स्कंधादि के अर्थ को बताने के लिये उनका दस प्रकार विभाग किया गया है। लीलाओं के विभाग में ''अत्र सर्गो विसर्गश्च'' भागवत का वचन ही प्रमाण है। जिन लीलाओं का भागवत में वर्णन है वे तो दश है और भागवत में द्वादश स्कन्ध हैं उनका अर्थ कहते हैं।

प्रथम स्कंध में अधिकार लीला है तथा द्वितीय स्कंध में साधना लीला है। अधिकार को भी लीला माना है क्यों कि अधिकार का उत्कृष्ट रूप से लीला में उपयोग होता है। ज्ञान सर्व प्रकार अंगरूप है उसको कहने के लिये साधनानि ऐसा बहुवचन का प्रयोग किया है। इस कारण श्रवण आदि स्वरूपा भक्ति के सभी अंग है।

यहां पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि भागवत में तो बारह स्कन्ध है तब बारह भेद हैं फिर एकता कैसे होगी, शास्त्रार्थता उसमें कैसे होगी इसका समाधान करते हैं कि पुराण शब्द तथा अर्थ से भगवद् रूप है ''निम्नगानां यथा गंगा'' यहां कहा जायेगा।

भागवत के हरिरूप होने पर भी द्वादशता कैसे है। भागवत के प्रथम एवं द्वितीय स्कन्ध में श्रोता तथा वक्ता के लक्षण बताये गये है और द्वितीय में अंगो का निरूपण किया गया है। तृतीय स्कन्ध से द्वादश स्कन्ध तक दश प्रकार की लीला का वर्णन किया है। इस तरह बारह स्कंधों वाला यह पुराण साक्षात् द्वादश अंग हरि ही है।

कारिका - पुरुषे द्वादशत्वं हि सक्थौ बाहू शिरोऽन्तरम्।
हस्तौ पादौ स्तनौ चैव पूर्वं पादौ करौ ततः।।७।।
सक्थौ हस्तस्ततश्चैको द्वादशश्चापरः स्मृतः।
उत्क्षिप्तहस्तः पुरुषो भक्तमाकारयत्युत।।८।।
स्तनौ मध्यं शिरश्चैव द्वादशांङ्तनुर्हरिः।
पादौ सक्थौ कटिगुह्यं उदरं हृदयं करौ।।९।।
मुखं ललाटो मूर्धा च केचिदेवं हरिं जगुः।
एतद्धारणमात्रेण कृष्णो भवति वै धृतः।।१०।।
अर्थतस्तु परिज्ञाते ज्ञातो भक्ति प्रयच्छति।

"द्वादशो वै पुरुषः" इस श्रुति के अनुसार द्वादश अवयव ये हैं - जांघे २ भुजाएं २ सिर १ मध्यभाग, हाथ २ पैर २ स्तन २ इस प्रकार पुरुष (भगवान्) के द्वादश अंग है। भागवत में द्वादश स्कन्धों का इन अवयवों में किस प्रकार सन्निवेश है? वह बताते हैं - अधिकार तथा ज्ञान स्कंध ये दो भगवान् के चरण हैं। दोनों बाहें सर्ग और विसर्ग हैं। स्थान एवं पोषण ये दोनों जांघे हैं पहले जो कर शब्द दिया है उसका अर्थ बाहू है। सप्तम स्कंध एक हाथ है एवं द्वादश स्कंध द्वितीय हस्त है। इस प्रकार से तो भागवत का रूप विकृत जैसा हो जायगा। इस प्रकार की आशंका पर दृष्टान्त द्वारा प्रकृतोपयोगी रूप **"उत्क्षिप्त हस्तः"** से बताया है अष्टमस्कन्ध एवं नवम स्कंध ये दोनों स्तन हैं इसके पश्चात् दशम स्कंध मध्यभाग है। एकादश स्कंध मस्तक है द्वादश स्कंध का वर्णन तो पूर्व में आ ही गया है। भागवत रूप भगवान् जिस प्रकार से हुए हैं उसी प्रकार यहां वर्णन किया गया है। कुछ उपासकों का यहां इस प्रकार कहना है कि क्रमानुसार ही उपासना करनी चाहिये। वही उपर्युक्त है। इसलिये वे यहां क्रम भेद बताते हैं। पंचम स्कंध को कटि (कमर) कहते हैं। स्थानीय नरक मलद्वार एवं गुहा स्थान षष्ठ स्कन्ध है। सप्तम उदर (पेट) अष्टम हृदय को कहा है। दोनों कर नवम है। दशम मुख को माना है, ललाट को एकादश मस्तक द्वादश। उपासना में यह भी ठीक हो इस भांति कथन का अन्य उद्देश्य भी है। इस प्रकार की धारणा से अर्थात् पाठतः धारणा से भागवत के भगवद् रूप होने के कारण उस रूप से वह भगवान् की ही धारणा से भागवत के भगवद् रूप होने के कारण उस रूप से वह भगवान् की ही धारणा है। हृदय स्थित प्रभु जिस कार्य को करेंगे उस कार्य को भागवत भी करेगा। पाठ मात्र से केवल भगवान् धारण किये जाते हैं, अर्थतः परितः यदि ज्ञान हो जाय तब फिर इद मित्थं रूप से ज्ञान जिनका है वह ज्ञान भक्ति का अंग हो जायगा तब वह ज्ञान भक्ति को देगा।

ज्ञान प्राप्ति के लिये भागवत के इस स्वरूप को बताते हैं -

कारिका - **एषा समाधिभाषा हि व्यासस्यामित तेजसः।।११।।**
लौकिकी चान्यभाषा च समाधे पौषिके तु ते।
ते प्रमाणमभिप्रायात् सर्वथा पूर्ववन्न हि।।१२।।
न तद्विरोधो दोषाय ते वक्ष्येऽवसरे स्वके।

श्रीमद्भागवत अमित तेजस्वी व्यासजी की समाधिभाषा है। लौकिक एवं परमत दोनों ही समाधिभाषा का पोषण करती हैं। वक्ता के अभिप्राय से उन दोनों भाषाओं का प्रामाण्य है ये समाधि भाषा की तरह प्रामाण्य नहीं है। इस कारण यदि उनमें परस्पर विरोध आता है तब भी उनको दोष जनक नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य है कि लौकिक प्रिय परमत भाषा का निरूपण जहां जहां अवसर होगा वहां पर किया जायेगा। समाधि में व्यासजी ने जो देखा उसका वर्णन किया उसको समाधिभाषा कहते हैं। भागवत के किसी स्थल पर ज्ञान की प्रशंसा है कहीं कथाओं में पूर्वोत्तर में विरोध भी है कही पर पुनरुक्ति आदि दोष भी हैं उनके निराकरण के लिये ही व्यास जी ने स्वयं कहा है इसमें तीन प्रकार की भाषा है **''भाषास्तु त्रिविधा प्रोक्ताः''** समाधिभाषा संमत अर्थ जहां पर नहीं है वह मतान्तर भाषा है और लोक सिद्धभाषा है वह लौकिकी भाषा है। परमत भाषा तो जिससे उसे कहा है उसके अभिप्राय के विषय में प्रमाण है। स्वतंत्र रूप से प्रमाण नहीं है। जिस प्रकार समाधि भाषा प्रमाण है उस प्रकार नहीं है, इसलिये यदि समाधि भाषा के साथ दोनों भाषाओं में विरोध है तो वहां पर इनको प्रमाण नहीं माना जायगा। जहां शुकदेवजी **''मैं दूसरों की बात कर रहा हूँ''** ऐसा जहां पर कहा है वहां पर परमत भाषा है जैसे - **''स्तनैस्तनान् कुङ्कुमांक स्वाषितान्''** यह लौकिक भाषा है। इसका विरोध व्यास जी ने जान बूझकर रखा है इस कारण से दोष कारक नहीं है। निचोड़ यहां पर यह है कि तीनों ही भाषाओं के प्रकार से स्वतंत्र पुरुषार्थ रूप श्रीकृष्णलीला भागवतार्थ है। श्रोता तथा वक्ता का अधिकार प्रथम स्कंध का अर्थ है तथा वह स्वरूप का निर्वाहक है अधिकार के बिना स्वरूप ज्ञान, अर्थ ज्ञान एवं अभिप्राय का ज्ञान नहीं हो सकेगा।

अधिकार सामान्य प्रकार से तीन प्रकार का है और वहीं सूक्ष्मरूप से उन्नीस तरह का है। इनमें तीन भेद है- साधारण, असाधारण तथा गुणातीत।

साधारण भी नौ प्रकार है तथा असाधारण भी नौ तरह का है। एक प्रकार का निर्गुण है। इस भांति अधिकार अध्यायों का तात्पर्य समझना चाहिये। श्रवण जिज्ञासु सभी अधिकारी है स्कन्ध का यह अर्थ है

अब प्रकरणार्थ के तीन भेदों का वर्णन करते हैं-

कारिका - **भेदत्रयं तथा चाद्ये हीनमध्योत्तमत्वतः।।१३।।**
तल्लक्षणोऽधिकारी हि वक्तुं श्रोतुमिहार्हति।

आद्येऽध्यायत्रयं मध्ये तथा चान्ते त्रयोदश।।१४।।

एवमेकोनविंशत्या प्रथमस्कन्ध ईरितः।।

भागवत के प्रथम स्कन्ध में हीन, मध्यम तथा उत्तम इस प्रकार तीन भेद बताये हैं उन लक्षणों वाला अधिकारी वक्ता तथा श्रोता यहां पर कहने एवं सुनने के योग्य हैं। हीन अधिकार में पहले से तीसरा अध्याय उसी प्रकार मध्यम अधिकार के हैं, प्रथम स्कन्ध में उन्नीस अध्याय हैं जिनका इस प्रकार विभाग किया गया है। ऐसे ही अन्य निबन्धों में भी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार यहां भी ऐसा ही निरूपण है। अस्वारस्यका इसमें बीज यह दूसरे निबन्धकार देश तथा काल की अपेक्षा से प्रकरण का विभाग इस प्रकार बताते हैं कि प्रकरण देश काल की अपेक्षा रखने से असमर्थ हो जाता है इस काल में तो देश एवं काल दोनों ही शुद्ध नहीं है। इस कारण श्रवण की सिद्धि नहीं होगी इसलिये प्रकरण का ऐसा लक्षण भी आचार्य चरण का सम्मत नहीं है। श्रवणभाव में तो पुराण का बनाना तथा उसका प्रचार दोनों ही निरर्थक हो जायेंगे। अथ अध्याय के अर्थ विचार से प्रकरण विभाग ही ठीक है। भागवत की तब साप्ति हुई उस समय **''कस्मैयेन विभासितोऽयमतुलोज्ञान प्रदो यःपुरा''** श्लोक में **'अयम्'** पद आया है उससे संपूर्ण बारह स्कन्धों का परामर्श है। व्यास जी से शुकदेवजी ने संपूर्ण भागवत का अध्ययन किया था यह ज्ञात होता है। सूत तथा शौनक की तो उस समय उत्पत्ति भी नहीं थी। इस कारण उनका संवाद भी नहीं हुआ फिर **''नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे''** आदि से जो प्रथम स्कन्ध में सूत तथा शौनक के संवाद से भागवत प्रवृत्ति है यह संगति असंगत है इस पर बताते हैं–

कथामात्रं शुको राज्ञे कथयिष्यति यद्धि वै।।१५।।

तत्रोत्तराणि प्रश्नाश्च तच्छ्रुत्वा सूत आह यत्।

शौनकेभ्यः प्रश्नपूर्वं तत् सर्वं भावि हृदगतम्।।१६।।

अनागतकथारूपं श्लोकरूपेण वै हरिः।

व्यासरूपोऽवतीर्याद्य मंगलादिपुरःसरम्।।१७।।

प्रसंगपूर्वकं चाह समाधावुपलभ्य हि।।

राजा परीक्षित के लिये शुकदेव कथामात्र कहेंगे उसमें जो प्रश्नोत्तर उनको सुनकर सूत जी ने शौनकादि से कहा यह सभी पूर्व में ही व्यास के रूप में अवतार लेकर भगवान् मंगलाचरण तथा सप्रसंग सभी प्रसंगों को जान लिया था। हृदगत अनागत सभी को श्लोक रूप से व्यास जी ने कहा इस कारण संगति असंगत नहीं है। वह भी व्यासोक्त ही है। यहां पर आशंका उपस्थित होती है कि भागवत समाधि भाषा होने से प्रामाणिक है तब फिर परंपरा तथा उपदेश तो बेकार ही है इस शंका के निवारणार्थ परंपरा एवं उपदेश ये दोनों ही उपुर्यक्त हैं इसलिये समाधि का निरूपण करते हुए तथा उपदेशं का वर्णन करते हैं–

कारिका - साकारं ब्रह्म शुद्धं हि माया तच्छक्ति रुत्तमा।।१८।।

तथा सर्वत्र संमोह साक्षाद्भक्तिश्च मोचिका।

इममर्थं हरिश्चाह ब्रह्मणे नारदाय सः।।१९।।

साकार ब्रह्म शुद्ध है तथा माया उसकी उत्तम शक्ति है उस माया से ही सभी जगह संमोह होता है। भक्ति उस माया के संमोह से छुडाने वाली है। इसके लिये हरि ने ब्रह्माजी से कहा ब्रह्मा ने नारद के लिये कहा और नारदजी ने व्यासजी से कहा। कहने का आशय यह है कि अशेष विशेष रूप होने के कारण प्रमाण है परम्परा सर्व विशेषों की ज्ञापिका नहीं होने से गौण है।

समाधि की मुख्यता में और भी कारण है उसको बताते हैं-

कारिका - कृष्णो मोहं समुत्पाद्य साधनानां निराकृतिम्।

व्यासे प्रोवाच धर्मज्ञे यद्वाक्यं सकले प्रमा।।२०।।

अभिमानान्नारदोक्त न सम्यगवभाति हि।

अतस्तदुक्तमेमार्थं समाधावुपलभ्य हि।।२१।।

वैलक्षण्यं क्षमस्तेभ्यो ज्ञात्वा पश्चादिदं जगौ।

धर्म को ही व्यास जी परम कल्याण करने वाला जानते हैं व्यासजी ने वेद का विभाग भी किया, परम शास्त्रों के ज्ञाता भी थे महाभारत जैसा पंचम वेद का सृजन किया, व्यास जी को साधनों पर पूरा भरोसा था किन्तु भगवान् कृष्ण ने स्वयं उनके हृदय में मोह पैदा किया तथा उनके विषय में जो वचन कहे वे सभी स्थान पर प्रमाण हैं अभिमान के कारण व्यास जी ने नारद जी की वाणी को भली भांति नहीं जाना इस कारण नारद जी से कही गई बात की परीक्षा के लिये समाधि लगाई तथा समाधि में सबसे भिन्नता जानकर पीछे भागवत को कहा यहां पर व्यास जी का अभिमान हो गया था। इस कारण परम्परा की प्रधानता नहीं रही समाधि प्रधान रही।

यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि ऐसा होने से मध्यम अधिकार के लिये ही होगा इसके लिये कहते है-

कारिका - रीत्या यदन्यया प्राह ह्यधिकारास्ततो मताः।।२२।।

प्रसंग साधनफलान्याह प्रकरणे त्रये।

अन्ते मध्ये तथा चादौ

भगवान् ने श्रीमद् भागवत को कहा ब्रह्मा जी ने भी कहा परन्तु सूत जी एवं नारद जी ने वैसा नहीं कहा क्योंकि उन्होंने जैसा समझा वैसा कहा इसलिये भागवत का अर्थ अपने अधिकारानुसार समझ में आता है। यदि भागवत का सर्व अर्थ जानना है तो उसके लिये मुख्यतया अधिकार की आवश्यकता है इसके लिये प्रथम स्कन्ध को देखा जा सकता है।

इन तीनों प्रकरणों का अन्य उद्देश्य भी है प्रसंग, साधन एवं फल। भागवत का प्रसंग सभी जगह नहीं करना चाहिये। जहां पर अनेक महापुरुष विद्यमान हों तथा वे भी शुद्ध तथा तीर्थ में रहने वाले हों तथा भागवत सुनने की प्रार्थना करे वहां भागवत का प्रसंग सुनाना चाहिये। उनकी संभावना तथा श्रवण के लिये प्रार्थना करें तब भागवत का प्रसंग सुनाना चाहिये। अन्यथा प्रसंग का कहना ठीक नहीं होगा। जो ज्ञान के अहंकारी होते हैं वे सिद्धान्त को बिना ही जाने अपने को ज्ञानी समझ लेते हैं। ऐसे को नहीं समझाना चाहिये। ऐसे व्यक्ति बिना जाने उप पदार्थ को विपरीत समझ लेते हैं जिस कारण महापुरुषों के ज्ञान को भी अपने ज्ञान से मिला देते हैं। इस कारण ऐसे को कभी ज्ञान नहीं देना चाहिये।

व्यासजी तथा नारद जी के संवाद में साधनों का निरूपण है। भगवान् में साक्षात् प्रवेश सभी प्रकार की शंकाओं से रहित होना भगवान् की कृपा प्राप्त करना सभी जगह नीडर होना तथा अत्यन्त प्रेम होना ये सभी फल भागवत के फल परीक्षित एवं शुकदेवजी के समागम से निरूपित हुए हैं।

इस कारण भागवत का प्रसंग प्रथम स्कन्ध के अन्त में और साधन का कथन और इतर निराकरण बीच में और तीसरे प्रकरण में पहले ही भागवत की उत्पत्ति, प्रवृत्ति तथा भक्ति को कहा गया है।

प्रथम अधिकार में सुनने वाला किस प्रकार का होना चाहिये इस आकांक्षा से उसके विशेषण बताते हैं-

कारिका - तीर्थ यज्ञैर्महान् शुचिः।।२३।।
कृष्णं पृच्छति यत्नेन कृपासत्संगसंभवे।।

जो व्यक्ति तीर्थ भ्रमण आदि से और यज्ञ आदि से महान् पवित्र है तथा भगवान् के अनुग्रह से सत्संग हो जाने पर प्रयत्न से भगवान् कृष्ण की कथा के विषय में पूछता है वही प्रथमाधिकारी है।

प्रथमाधिकारी श्रोता भले ही प्राप्त हो जाय किन्तु उसे सहज में ही भागवत नहीं कहना चाहिये। पूर्व में उसके हृदय के अन्तर्भाव को देखना चाहिये; उसके लिये व्यासजी ने वक्ता को शिक्षा देने के लिये जिस भांति बताया है उसे स्पष्ट करते हैं।

कारिका - सामान्यतो बुभुत्सां हि वक्ता वारयति स्वयम्।।२४।।
उत्कंठा चेत्ततोऽपि स्यात् कथाप्रक्षेपणं ततः।
ततो विशेषप्रश्नश्चेद्वाच्यं रीतिरियं सदा।।२५।।

पूर्व में वक्ता को यह देखना चाहिये कि यदि किसी श्रोता की सामान्य रूप से जानने की इच्छा हो तो उसको जैसे सूतजी ने प्रथम स्कन्ध के दूसरे अध्याय में जिज्ञासा शांत की उसी प्रकार उसकी भी निवृत्ति कर दे किन्तु यदि उसकी लालसा और अधिक सुनने की हो तो तब फिर कथा का प्रारम्भ करे, उससे भी अधिक जिज्ञासा हो तथा कथा के विषय में प्रश्न भी करे तब उसे सदा कथा कहना चाहिये यह रीति है। आगे वक्ता का प्रथमाधिकार कहते हैं-

कारिका - वक्ताधिकारी सर्वज्ञः संप्रदायेन सन्मुखात्।
श्रुतभागवतो भक्तो ह्यविरक्तस्तथादिमः।।२६।।

जो सभी का ज्ञाता तो जिसने संप्रदाय पुरः सर सन्त के मुख से कथा का श्रवण किया हो भक्त हो एवं अविरक्त हो इस भांति गुण चतुष्टय से युक्त वक्ता को प्रथमाधिकारी कहा गया है। यहां यह शंका की संभावना है कि वक्ता के अधिकार का उपयोग कहां होगा? केवल श्रोता के अधिकार से कार्य की सिद्धि हो जायगी इस शंका का समाधान यह है कि वक्ता का अधिकार ही मुख्य है यदि वक्ता महान् हो तो श्रोता कैसा भी हो महान् हो जाता है। बात यदि ऐसी है तो सूतजी ने श्री शुकदेवजी से भागवत का श्रवण किया था तब फिर सूत जी को फल की सिद्धि क्यों नहीं हुई इस विषय में कहते हैं-

कारिका - सूतत्वाद् वृत्तिरेषा हि तस्मान्न फलितं तथा।
यद्यप्येषा न विक्रीता नामविक्रयणात्तथा।।२७।।

यद्यपि सूतजी ने श्री शुकदेवजी से कथा श्रवण की परन्तु सूत जी की लोगों को कथा सुनाने की वृत्ति है इस कारण सूतजी में उत्तमता नहीं आई। इस कारण से वक्ता के अधिकार में किसी प्रकार की हीनता पैदा नहीं हुई। भागवत नामात्मक भगवान् का रूप है इसका जो विक्रय करता है उसको विक्रय से ज्यादा फल की प्राप्ति नहीं होती है कहने का तात्पर्य यह है कि विक्रय में जितना लाभ होता है उतने की ही प्राप्ति होगी। उससे ज्यादा लाभ नहीं होगा। सूत जी इसी कारण प्रथम अधिकारी है।

यह कथन तो समझ में आया कि सूत जी ने भागवत का प्रयोग वृत्ति के लिये किया इस कारण से वे प्रथम अधिकारी हुए किन्तु ब्रह्माजी ने नारद जी से भागवत का श्रवण किया किन्तु नारदजी में उत्तमता किस कारण से नहीं आई उस पर कहते हैं

कारिका - नारदस्याधिकारित्वात् कार्या वेशात्तु सर्वतः।
न वैरायं दृढं जातं तेन मध्यम इर्यते।।२८।।

यद्यपि नारदजी उत्तम अधिकारी थे किन्तु सर्वत्र उनमें कार्य का आवेश रहता था इस कारण से वैराग्य दृढ़ नहीं हुआ, इसलिये उनको उत्तम अधिकारी नहीं कहा, यद्यपि उनमें ज्ञान तो पूरा था, परन्तु वैराग्य का अभाव था, इस कारण से मध्यम अधिकारी कहलाये।

भागवत के तीन वक्ता है उनमें सूत जी को केवल शाब्दिक ज्ञान था किन्तु नारदजी को भागवत का ज्ञान अर्थतः था और श्रीशुकदेव जी को वैराग्य सहित भागवत का ज्ञान था।

श्री शुकदेवजी में ही भगवान् का आवेश था इस कारण उनमें वैराग्य था। यदि वैराग्य नहीं होता तो श्रीशुकदेवजी ज्ञान के कारण विक्षिप्त चित्त हो जाते। प्रमेय बल प्रमाण बल से ज्यादा होता है, इसलिये भगवान्

की कृपा से नारदजी में वैराग्य उत्पन्न नहीं हुआ। भागवत अपनी उत्पत्ति में कहे गये फल से ज्यादा फल सिद्ध नहीं करता है। इस कारण से अधिकार से पृथक् रूप से वैराग्य कहा। परीक्षित में वैराग्य की उत्पत्ति हो इसीलिये सातवें अध्याय से लेकर अठारह अध्याय तक कुल बारह अध्यायों में निरूपण किया हैं इसीलिये परीक्षित अधिकारी हुए। इस कारण से नारदादिका प्रवेश भी श्रोताओं में ही माना है। इस का आशय यह हुआ कि वैराग्य धारण कर ही भागवत सुननी चाहिये तभी अधिकार सफल होगा। वैराग्य में जो कारण (हेतु) दोष दर्शन है। उसके विद्यमान रहने पर भी नाम विक्रय और अधिकार ये दो वैराग्य में बाधा डालने वाले हैं।

जब नाम विक्रय एवं अधिकार में ये दो बाधक नहीं होंगे और श्रवण की आवृत्ति की जायेगी तब वैराग्य भी हो जाएगा। इस विषय में कहते हैं-

कारिका - **शुके पूर्वोक्त द्वितयं नास्ति तेनोत्तमः स्मृतः।**
दृढ भक्तौ शीघ्रलये कथैव प्रतिबन्धिका ।।२९।।

नाम विक्रय एवं अधिकार ये दोनों ही शुकदेवजी में नहीं थे इस कारण वे उत्तम माने गये हैं। यहाँ पर शंका हो कि शुकदेवजी यदि उत्तम अधिकारी थे तो व्यासजी से जब भागवत का श्रवण किया उसके पश्चात् परमभक्ति होने के कारण शीघ्र ही भगवान् में प्रवेश क्यों नहीं कर गये? इस पर बताते हैं कि भक्तों की मृत्यु में भगवान् की कथा ही बाधा डालने वाली है। भागवत के द्वारा सद्य (शीघ्र) मुक्ति होने में और भी प्रतिबंध है उसको कहने के लिये कहते हैं-

कारिका - **यागादिकरणासक्त्या शिष्याणां चैवसंग्रहात्।**
वक्तः स्वस्योत्तमज्ञानात् फलं सर्वं न शौनके ।।३०।।
दृढज्ञानात् कर्मणा तु भक्त्या युक्तन मोक्ष्यते।
स्वतस्तर्कपरिज्ञानादवताराच्च मध्यमः।।३१।।
नानासाधनविज्ञानात् संवादान्नारद प्रमा।
शुकोक्तिमात्रतस्तस्य निःसन्देहात् फलं भवेत् ।।३२।।
तस्योत्तमत्वं तत्रैव वक्ष्ये प्रकरणोत्तमे।

भागवत सुनने के पश्चात् भी शौनक जी को वैराग्य आदि नहीं हुए उसमें तीन कारण हैं। शौनकजी की यज्ञों के करने में आसक्ति थी, शिष्यों को इकट्ठा करते थे, तृतीय कारण यह था कि सूतजी से मैं अधिक हूं ऐसा ज्ञान था उनका ऐसा मानना था। तब फिर शौनक जी का भागवत सुनना व्यर्थ रहा?

इस शंका का समाधान करते हैं - शास्त्रीय ज्ञान उनका दृढ था ही उस ज्ञान से ही भगवान् में परम साध्य रूप भक्ति हो गई थी। इसके पश्चात् भगवान् के अनुग्रह से भक्ति युक्त कर्म के द्वारा ही मुक्त हो जायेंगे। यहां पर

शंका होती है कि व्यासजी में वैराग्य तो नहीं था इस प्रकार नारदजी में नहीं था तब फिर व्यास जी को प्रथम अधिकारी में गणना क्यों नहीं की गई?

इसका समाधान यह है कि व्यासजी में वैराग्य नहीं होने पर भी प्रथम अधिकारी से दो बात ज्यादा थी। प्रथम तो व्यासजी को तर्क के द्वारा स्वतः ही परिज्ञान था तथा मूल्य में वे भगवान् के ज्ञान के अवतार थे। इस कारण व्यास जी की गिनती मध्यम में की गई है। उत्तम तो वे इस कारण नहीं थे उन्हें अनेक साधनों का विज्ञान दृढ था इस कारण नारदजी का उपदेश उनके लिये दुर्बल था। जब समाधि के द्वारा नारदजी की बताई बात सही निकली तब उसको प्रमाण माना इस कारण मध्यमता हुई। परीक्षित में इस प्रकार के कोई दोष नहीं थे। शुकदेवजी के केवल उपदेश के श्रवण मात्र से ही उनके संदेह की निवृत्ति हो गयी तथा भगवान् श्रवण के फल की प्राप्ति हो गयी। परीक्षित का वैराग्य आदि यहां पर स्पष्ट नहीं हुआ है। अतः उसको उत्तम अधिकारी के प्रकरण में कहेंगे। यहां पर शंका होती है कि सूतजी ने तो संपूर्ण भागवत का वर्णन किया है परन्तु तीन ही अध्याय में प्रकरण की समाप्ति कैसे हो गयी इस पर कहते हैं–

कारिका – **स्वाधिकार निरूपार्थं सामान्येनोत्तरं स्मृतम्।।३३।।**
कथाक्षेपस्तु मुख्यार्थः प्रथमं तेन पूरितम्।।

सूतजी ने दो बातों का उल्लेख किया स्वतंत्र रूप से दो अध्यायों का वर्णन किया उसमें उन्होंने अपने अधिकार का ज्ञान करा दिया तथा शेष का कथन तो भागवत के रूप में उन्होंने वर्णन किया। उन्होंने उसमें विशेष रूप से कथा क्षेप का वर्णन किया। उससे उन्होंने पहला प्रकरण पूरा कर दिया। कथा की समाप्ति नहीं की उनका अधिकार तीन अध्यायों में संपूर्ण हुआ।

कारिका– **अधिकारस्तु संपन्नः कथा पश्चाद् भविष्यति।।३४।।**
निष्पत्तिश्च प्रवृत्तिश्च हेतुपूर्वमुदीरिते।
सूतेन नाधिकारेण दिरूपत्वमतस्तयोः।।३५।।

तीन अध्यायों में सूतजी का अधिकार पूर्ण हो गया कथा तो पश्चात् होगी। भागवत की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार को हेतु पूर्व कहा है। सूत जी ने जो कहा वह अधिकार पूर्वक नहीं कहा इस कारण उसमें द्विरूपता है। शंका होती है कि सूत जी ने जैसे अपने अधिकार के प्रकरण की कथा को कहा उसी प्रकार मध्यम प्रकरण में भी सूत जी ही वक्ता थे एवं उत्तम में भी वे ही वक्ता थे। सूत जी में मध्यमता और उत्तमता क्यों नहीं हुई? दूसरे प्रकरण में हेतु का निरूपण तथा उत्तम में निष्पत्ति और प्रवृत्ति दोनों का निरूपण है। सूत जी ने इसका वर्णन किया है वह भागवत का अंग होने के कारण किया है। अधिकार से उन्होंने निरूपण नहीं किया है। इस प्रकरण से उत्तमता तथा मध्यमता सूत जी में नहीं आती है। यहां पर यह प्रश्न पैदा होता है कि इस प्रकार से तो नारद जी में मध्यमता तथा शुकदेवजी में उत्तमता नहीं होगी? इसका उत्तर यह है कि उनमें द्विरूपता

थी जब दूसरे की बात करते हैं उस समय वे अनाधिकारी तथा स्वयं जब कहते हैं तब तो उनमें अधिकारिता सिद्ध है। इस कारण सूतजी के कहने में तथा नारदजी के कहने में मध्यम और उत्तम प्रकरण में द्विरूपता है। मध्यम प्रकरण में तीन अध्याय ही क्यों है? उस पर कहते हैं –

कारिका – **मध्यमे स्वाधिकारित्वं हेतूक्त्यैव निरूपितम्।**
अनिष्पत्तेराद्यवच्च प्रश्नोत्तरनिरूपणम्।।३६।।

व्यास जी को भागवत समझाने के लिये नारदजी नहीं आये थे क्योंकि वे जानते थे कि व्यासजी मेरे से उत्तम हैं परन्तु व्यासजी ने जिस प्रकार भागवत का वर्णन किया उसके लिये हेतु कहते हैं भागवत से उन्होंने जिस अर्थ का प्रतिपादन किया उससे ही उनका अधिकार जाना जाता है। फिर भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि प्रथम अधिकार की तरह उसके भी तीन अध्याय किस तरह से हैं?

इसका समाधान यह है कि अभी तो भागवत की निष्पत्ति नहीं हुई है जब व्यासजी के मुख से भागवत होगी तब ही अधिकार निरूपण हो सकता है। अब तक भागवत की उत्पत्ति नहीं हुई इस कारण पूर्व की भांति ही मध्यम प्रकरण के तीन ही अध्याय है। विभाग भी इसमें पहले की भांति ही है। इन तीन अध्यायों में प्रश्न–उत्तर हैं प्रथम अध्याय में प्रश्न है तथा द्वितीय अध्याय में उत्तर है किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि प्रथम अध्याय में प्रश्न का हेतु है तथा दूसरे के शुरू में प्रश्न है।

कारिका – **उत्तमे प्रश्न एवाद्ये स्कन्धे श्रोत्राधिकार कृत्।**
स्पष्टत्वान्न विशेषेण वक्तरूक्ताधिकारिता।।३७।।
सामान्य मंगकथनमेकोक्त्यैवोक्तवान् शुकः।
सामान्यश्च विशेषश्च प्रश्न आद्येद्विधामतः।।३८।।
अतोऽध्यायद्वयं प्रोक्तमुत्तरे सूचितं परम्।
संपूर्णेनैव सर्वेषामुत्तरं संभविष्यति।।३९।।

प्रथम स्कन्ध में उत्तम अधिकार में प्रश्न सुनने वाले के अधिकार को करने वाला है। विशेष रूप से स्पष्ट होने के कारण बोलने वाले के अधिकार को नहीं कहा है। एक साथ सामान्य अंग का कथन शुकदेवजी ने कर दिया है। प्रथम स्कन्ध में सामान्य तथा विशेष इस भेद से प्रश्न दो प्रकार के कहे गये हैं। सभी का उत्तर पूरा ही होता है शुकदेवजी का जब आगमन हुआ तब नारदजी एवं व्यास जी आदि सभी उठ खड़े हो गए। इसका कारण बिना ही उत्तर दिये वक्ता का उत्तम अधिकार प्रमाणित हो गया। अतः कहने की आवश्यकता नहीं रही। इस कारण दूसरे स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय में मंगलाचरण है। उत्तम वक्ता का अधिकार भी भगवान् के चरित्र के अनुसार है अतः वह भी भागवत के तुल्य है। इस कारण से उसका वर्णन प्रथम स्कंध नहीं किया गया है

क्योंकि सुनने वाले का ही अधिकार प्रधान रूप से अधिकार शब्द से वर्णन करना चाहिये। व्यावहारिक अधिकार तो स्पष्ट ही है। अतः उसका वर्णन करना आवश्यक नहीं है, तब फिर विशेष अधिकार की क्या गति होगी? इस शंका का निराकरण करते हुए शुकदेवजी ने उत्तर रूप से भागवत का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम एक स्कन्ध में अंगों का वर्णन किया उस अँगता में स्वयं के अधिकार का समावेश भी हो गया है इस कारण उसको दो अध्यायों में कहा। दो अध्यायों में कथन का कारण तो सामान्य तथा बाकी प्रश्न ही हैं। यहाँ पर शंका होती है कि भागवत को तब यहीं पर संपूर्ण कर देना चाहिये था। उतने ज्ञान से ही उत्तमता प्रमाणित हो जायेगी फिर विस्तार करने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर इस प्रकार है कि प्रश्नों के उत्तर में पूर्ण भागवत होगी। आपने यह कैसे समझ लिया कि पहले स्कन्ध के प्रश्नों का ही उत्तर संपूर्ण भागवत में है? इसके लिए कहते हैं-

कारिका - अतएव समस्तस्य प्रश्नाध्यायोऽयमीरितः।
भगवान् प्रतिपाद्योऽत्र षडर्था भगशब्दगाः ।।४०।।
तस्मात् षडेव सम्प्रश्ना अभिनंदस्तथैव यत् ।
ज्ञानवैराग्यधर्माणामैश्वर्ययशसोः श्रियः ।।४१।।
समूहो भगशब्दार्थः कृष्णस्तद्वानिहोच्यते।
चतुर्णां प्रथमेऽध्याये द्वयोः कृष्णेन चापरैः ।।४२।।
ऐश्वर्यधर्मयोः रूपमन्येषां प्रथमे जगौ ।।४२ १/२।।

इस भागवत में सभी जगह प्रथम अध्याय में प्रश्न अध्याय है तथा संपूर्ण भागवत उसका उत्तर है। भगवान् ही इस भागवत का प्रतिपाद्य विषय है। ज्ञान, वैराग्य,धर्म और ऐश्वर्य, वीर्य, यश एवं श्री ये भगशब्द के छः अर्थ हैं। इन छः के समुदाय को भग कहते हैं। ये ही छः अर्थ भगवान् कृष्ण में विद्यमान हैं। तथा भागवत में भी ये ही छः अर्थ है यदि ये छः नहीं होते हैं तो भगवान् की प्रवृत्ति निरर्थक हो जाती है। छः प्रश्न प्रथम अध्याय में स्पष्ट हैं। इस कारण उसका अभिनन्दन किया गया है। चार को पहले अध्याय में एवं दो को द्वितीय अध्याय में ऐश्वर्य एवं धर्म का कथन अन्यों को पहले अध्याय में कहा है। सब प्रश्नों में कृष्ण के संबन्ध में ही प्रश्न हैं। वहीं कृष्ण की लीला के रूप में सभी स्थान पर वर्णन किया है। ग्रन्थ की संगति का इसमें निरूपण भी हो गया है। भागवत में द्वादश स्कन्ध है तथा ऐश्वर्यादि छः है इस कारण दो दो स्कन्ध में एक-एक का वर्णन किया गया है।

पहले एवं दूसरे स्कन्ध में ज्ञान का वर्णन है सर्ग एवं विसर्ग तीसरे एवं चौथे स्कन्ध में वैराग्य का वर्णन है। दो तरह के धर्म का स्थान (५) तथा पोषण भेद का (३) स्कन्ध में वर्णन है। ऐश्वर्य प्रल्हाद तथा मनु आदि से सात एवं आठ में सूचित किया है। नवें तथा दशवें स्कन्ध में यश का प्रतिपादनं किया है एवं श्री का वर्णन एकादश तथा द्वादश स्कन्ध में किया है। भगवान् का वहां पर स्वरूप से रमण सिद्ध है। इन दो-दो स्कन्धों

में ऐश्वर्यादि का जिस प्रकार क्रम है **''ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञान वैराग्योश्चापि षणां भग इतीरणा''** इस प्रकार से उपपादन करना ऐसा करने पर सूतजी ने अपने अधिकार की सिद्धि के लिये जिस प्रकार से उत्तर दिया उस प्रकार का विभाग कहते हैं। पहले अध्याय में चार प्रश्नों का उत्तर सूतजी ने दिया है। अथवा समान रूप से तीन का जिसका टीका में वर्णन है। कृष्ण के साथ दो प्रश्नों का उत्तर दूसरे अध्याय में दिया है। इससे यह प्रमाणित हुआ कि प्रत्येक प्रश्न का और सभी प्रश्नों का उत्तर देना चाहिये। यह ज्ञात हुआ। अर्थ समूह अध्याय का होता है। सभी स्थान पर इस बात को बताने के लिये वाक्य के अर्थों का संग्रह करते हैं।

कारिका – **मंगलं प्रकृतोत्कर्षः प्रसंगः सूतसंतुति ।।४३।।**
प्रश्नः साधारणो हेतुः प्रश्नो ज्ञानपरः परः।
कृष्णे चतुर्धा वेदे तु द्वयं तेन द्विधा मतम् ।।४४।।
प्रयोजनक्रियारूपै विंद्यमानविमोचकः ।
श्रवणादरमध्यास्ते त्रयः प्रश्नाः क्रमात् कृताः ।।४५।।
अग्रे केन विमोचेत तदर्थं स्वयोग्यताम् ।
पूर्वमाह ततः प्रश्नं प्रथमाध्याय संग्रहः ।।४६।।

पहला श्लोक मंगल अर्थ परक है, दो श्लोकों से भागवत का उत्कर्ष तथा प्रसंग, तीन श्लोकों द्वारा सूत की स्तुति की है एक श्लोक से पहला प्रश्न ढाई श्लोक से हेतु प्रश्न है, प्रथम प्रश्न धर्मपरक तथा द्वितीय ज्ञानपरक प्रश्न है। कृष्ण के विषय में चार तरह के प्रश्न हैं। इस प्रकार धर्मपरक प्रश्न एवं ज्ञान परक प्रश्न कृष्ण के विषय वाले नहीं होंगे। इसकी पुष्टि के लिये कहते हैं कि इसमें केवल मार्ग भेद हैं अर्थ भेद नहीं है। कृष्ण से संबन्धित चार तरह के प्रश्न और वेद परक दो प्रश्न हैं। भगवान् कृष्ण चतुर्मूति हैं तथा भेद के काण्ड द्वयार्थ रूप भी इसके कारण दो तरह के हैं इसलिए छ भेद ऐश्वर्यादि गुणों के पर्याय हैं वे यहां पर पूछने योग्य है। इनको जानने से सब जाना जाता है। कृष्णविषयक चार प्रश्न हैं उनके भी दो रूप हैं। प्रयोजन क्रिया रूप, तथा विद्यमान विमोचक कृष्ण के जन्म के प्रयोजन का प्रश्न तथा क्रिया विषयक प्रश्न और रूपों का प्रश्न इन तीनों का एक ही प्रश्न क्यों किया? उसका कारण (हेतु) दिखलाते हैं। विद्यमान विमोचक भगवान् ने अवतार योगियों, ज्ञानियों तथा भक्तों को मुक्त किया। भगवान् का अवतार तो वास्तव में भक्तों को ही मुक्त करने के लिये ही है। इस कारण पहले तो सृष्ट्यादि क्रिया से ज्ञानियों को मुक्त किया तथा रूप से योगियों को मुक्त किया एवं अन्दर भीतर जो अविहित भक्त है उनकी मुक्ति की है। चौथा जो प्रश्न **''ब्रूहि योगेश्वरे कृष्णे ब्रह्मण्ये धर्मवर्मणि। स्वकाष्ठा मधुनोपेतेधर्मः कं शरणं गतः।''** भिन्न है वह भी समान बल वाला ही है। इसलिये कहा है कि आगे मुक्ति किसकी होगी। उसमें अधिकार बताना चाहिये। इसलिये अपना अधिकार बताते हुए अपनी योग्यता को दिखाते हुए प्रश्न किया। इस प्रकार यह प्रश्न अध्याय का संग्रह है।

प्रथम अध्याय संपूर्ण

द्वितीय अध्याय का संग्रह बताते हैं-

कारिका - उत्साह संगति प्रह्वः शास्त्रारंभोपदेशनम्।
प्रश्नाभिप्राय कथनेनाभिनन्दनमुक्तवान् ।।४७।।
पंचभिः पूर्वनिर्धारो द्वितीये द्वादश स्मृताः।
एवं वेदार्थ निर्धारे श्लोकाः सप्तदश स्मृताः।। ४८।।
धर्मज्ञानार्थ निर्धारच्छ्रवणादिभिरादरात्।
प्रेमोत्पत्तौ हरिः प्रीतस्तेन सर्वं भवेदिति ।।४९।।
जन्मकारणलीले च सप्तभिः पंचभिः र्व्यधात्।
भक्तोद्धारो भक्ति सिद्धिः क्रमादेव तयोः फलम् ।।५०।।
सत्वनिर्धारणे पंच गुणातीते द्वयं स्मृतम्।
विशेषभक्ति सिद्ध्यर्थं विचारोऽत्र निरूपितः ।।५१।।
सामान्यतोऽस्य मूलत्वकथनायविशेषतः।
नोक्त स्वरूपा विज्ञानात् फलवाक्यं मृषाभवेत् ।।५२।।
अतस्तदुक्त्वा पश्चान्तु कुन्तीवाक्ये वदिष्यति।
उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोग रक्षणे ।।५३।।
पूर्वं पंचविधा लीला द्वितीयस्तेन पूरितः ।।५३ १/२।।

पहले स्कन्ध के दूसरे अध्याय का संग्रह को कह रहे हैं उसमें प्रथम श्लोक द्वारा सूत का उत्साह और कथा कहने का उद्देश्य बताया है। उसके पश्चात् दो श्लोकों द्वारा शुकदेवजी को नमस्कार, तदन्तर एक श्लोक से शास्त्र के आरम्भ का उपदेश है। तदन्तर अभिनन्दन किया है। इसके पश्चात् स्वयं ही श्लोक के विभागों का वर्णन है। पांच श्लोक से पहले का निर्धार कहा है क्योंकि कर्म पाँच भांति के हैं। इस के द्वारा वेद में पूर्व काण्ड का कथन किया है। इसके पश्चात् द्वादश श्लोकों से वर्णन किया है। पुरुष को वेद में बारह तरह का बताया है। **"पुरुषो द्वादशविधः"** अर्थात् तत्व विचार में द्वादश ही प्रकार हैं इतना ही वेद का अर्थ है। श्रुति में बताया है **"सप्तदशो वै प्रजापति"** सत्रह श्लोक वेदार्थ में परिनिष्ठित हैं। वेद में इससे ज्यादा गति नहीं है। यह इससे सूचित होता है। इस प्रकार वेद के द्वारा तो कर्म के ज्ञान को बताया है उसका निमित्त यह है कि इनके द्वारा ज्ञान तथा धर्म निर्धार हो जाने से प्रजापति मात्रत्व अर्थात् यज्ञात्मकता हो जाती है। भागवत का तभी श्रवण आदि होता है। भगवान् के श्रवणार्थ ही प्रथम वेद के उन दोनों काण्डों का वर्णन किया गया है।

तभी आदर के साथ श्रवण आदि करने से प्रेम पैदा होता है। प्रेम उत्पन्न होने के पश्चात् भगवान् प्रसन्न होते हैं उसके पश्चात् भगवान् के अवतार आदि होते हैं। जन्म कारण निर्धार में सात श्लोक हैं तथा लीला के पांच श्लोक हैं। इनका उद्देश्य यह है कि जन्म के द्वारा भक्तों का उद्धार होता है तथा लीला से भक्ति कि सिद्धि होती है। जन्म कारण निर्धार के श्लोकों में दो तरह के भेद हैं। उसमें पांच श्लोक विचार के हैं, विचार का उपयोग है विशेष भक्ति का होना, यहां अन्य प्रयोजन भी बतलाते हैं **''सामान्यतोऽस्य मूलत्व कथनाय विशेषतः''** यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि शौनकजी ने तो कृष्ण अवतार में प्रयोजन पूछा तब फिर सूतजी ने सामान्य अवतार के उद्देश्य उत्तर क्यों दिया, उसके विषय में कहा कि विशेष से उत्तर नहीं दिया। उसका कारण यह था कि शौनकजी कृष्ण स्वरूप से अनभिज्ञ थे। स्वरूप जब जाने तभी उसके जन्म के कारण को कहना चाहिये। स्वरूप का यदि ज्ञान रहित के लिये जन्म का उद्देश्य बताया जाय तो बिना हेतु के जैसे फल व्यर्थ है उसी प्रकार से फल वाक्य भी उसके लिये निरर्थक है। इसलिये प्रथम तो स्वरूप का वर्णन किया पीछे वह स्वरूप को जाना या नहीं इसका निश्चय होने पर फिर श्रद्धा के अतिशय से उसकी जानकारी प्राप्त की तत् पश्चात् कुंती के वाक्य से उसे **''केचिदाहु रजंजातम्''** इत्यादि से बताया। लीला पांच प्रकार की कही है उसको स्वरूप करते हैं **''उत्पादनं प्रवेशश्च नानात्वं भोग रक्षणे''** अवतार के पहले स्वरूप में स्थित भगवान् की लीला पांच प्रकार की है। उत्पादन १ प्रवेश २, नानात्व ३, भोग ४, रक्षण ५ अवतार लेने के पश्चात् तो अनेक विध लीलाएं हैं उनको आगे अध्याय में कहेंगे। इतना द्वितीय अध्याय का अर्थ है। इससे सिद्ध होता है कि श्रोता तो मात्सर्य रहित हैं तथा वक्ता चतुर हैं। यह प्रमाणित होता है।

''द्वितीय अध्याय संपूर्ण''

तृतीय अध्याय के अर्थ को कहते हैं-

कारिका - **आविर्भावोऽवतारश्च तुल्यसत्त्व शरीरगः ।।५४।।**
अशुद्धशुद्धभेदेन निर्गुणः कृष्ण एव हि।
ज्ञानशक्त्या क्रियाशक्त्या चावतारं करोत्यजः ।।५५।।
वाराहादिस्वरूपेण बलकार्यं जनार्दनः ।
दत्तव्यासादि रूपेण ज्ञानकार्यं तथा विभुः ।।५३।।

नारदादि को मध्य में आवेशावतार कहा गया इस कारण उसमें तथा आविर्भाव में किसी प्रकार का अन्तर होगा ऐसा नहीं है। कहने का आशय यह है कि आविर्भाव एवं अवतार में समानता ही है जिस प्रकार महाराज अपने देश में भ्रमण करता हुआ अपने लिये बनाये हुए घरों में निवास करता है कभी अपने घर में निवास करता है जब तक अपने लिये बनाये गये घर में राजा निवास करता है तब तक वह घर भी राजगृह कहा जाता है।

अतः अपने लिये बनाये घर में निवास करने या अपने घर में रहने में किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहता है उसी भांति आवेश तथा अवतार में किसी प्रकार का भेद नहीं है। शरीर शुद्ध हो या अशुद्ध हो उसमें रहने वाले निर्गुण कृष्ण ही हैं। स्पष्ट प्रतीति के लिये विभाग करते हुए अवतार के दो भेद बताये गये हैं। प्रथम तो ज्ञान शक्तिसे अवतार ग्रहण है तथा द्वितीय से क्रिया शक्तिसे है। क्रिया शक्तिसे गृहीत अवतार बाहर के दुःखों को दूर करता है तथा ज्ञान शक्ति से गृहीत अवतार आन्तरिक (भीतर के) दुःखों के निवारण के लिये है। वाराह, कूर्म नृसिंहादि भगवान् के क्रिया के स्थान और दत्तात्रेय व्यास, कपिल भगवान् के ये ज्ञान स्थान हैं कहने का आशय है कि बलकारी जब करना होता है तब वाराह - कूर्म, नृसिंह रूप से अवतार ग्रहण करते हैं तथा ज्ञान कार्य जब करना होता तब दत्तात्रेय, व्यास, कपिलादि रूपों में अवतार लेते हैं।

आगे अवतारों को साढे तीन श्लोकों में गणना करते हैं।

कारिका - मत्स्यः कूर्मो वराहश्चसिंह वामनभार्गवाः।
मन्वन्तरावताराश्च व्यास बुद्धौ च राघवः ।।५७।।
कपिलो दत्त ऋषभः शिशुमारो रूचेः सुतः ।
नारायणो हरिः कृष्णस्तापसो मनुरेव च ।।५८।।
महिदासस्तथा हंसः स्त्रीरूपो हयशीर्षवान् ।
तथैव वडवावक्त्रः कल्किर्धन्वन्तरिः प्रभुः ।।५९।।
इत्याद्याः केवलः कृष्णः शुद्धसत्त्वेन केवलः।

मत्स्य, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, मन्वन्तरावतार व्यास, बुद्ध, रामचन्द्र, कपिल, दत्तात्रेय, ऋषभ, शिशुमार, रूचि पुत्रस, हंस, मोहिनी, हयग्रीव, वडवावक्त्र, कल्कि, धन्वन्तरि आदि केवल अवतार हैं तथा कृष्ण शुद्ध सत्व से केवल अवतार हैं। इनमें से जिन अवतारों को भागवत में वर्णन नहीं किया है परन्तु आदि आगमों में वर्णन किया है उनको भी यहां पर प्राकृतोपयोगी होने के कारण गणना की है। आगे साढे चार श्लोकों द्वारा जिनमें भगवान् का आदेश है उन आवेशियों का निरूपण करते हैं।

कारिका - श्रीब्रह्मरूद्रशेषाश्चं वीन्द्रेन्द्रौ काम एव च ।।६०।।
कामपुत्रोऽनिरूद्धश्च सूर्यश्चन्द्रो बृहस्पतिः।
धर्म एषां तथा भार्या दक्षाद्या मनवस्तथा ।।६१।।
मनुपुत्राश्च ऋषयो नारदः पर्वतस्तथा ।
कश्यपः सनकाद्याश्च वह्नयाद्याश्चैव देवता ।।६२।।
भरतः कार्तवीर्यश्च वैन्याद्याश्चक्रवर्तिनः।

गयश्चलक्ष्मणाद्याश्च त्रयोरोहिणिनन्दनः ।।६३।।

प्रद्युम्नो रौक्मिणेयश्च तत्पुत्रश्चानिरुद्धकः ।

नरः फाल्गुन इत्याद्या विशेषावेशिनो हरेः ।।६४।।

ब्रह्मा, रूद्र, शेष, गरुड, इन्द्र तथा कामपुत्र अनिरूद्ध, सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति, धर्म और इनकी भार्या दक्षादि, मनु, मनुपुत्र ऋषिनारद, पर्वत, कश्यप सनकादि, अग्नि आदि देवता, भरत, कार्त्तवीर्य, पृथु आदि चक्रवर्ती राजा गय, लक्ष्मणादि, तीन बलभद्र, प्रद्युम्न, रूक्मिजी पुत्र और उनका पुत्र अनिरुद्ध, नर अर्जुन ये भगवान् के आवेशावतार वाले हैं।

साधारण रूप में वर्णित कृष्ण विशेषता को बताते हैं भगवान् कृष्ण ज्ञान एवं क्रिया इन दोनों से संयुक्त हैं।

कारिका - ज्ञान क्रियोभय युतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

ज्ञान तथा क्रिया इन दोनों से युक्त कृष्ण तो स्वयं भगवान् है। सामान्य प्रयोजन की उक्तिसे लेकर भागवत की उक्ति से पूर्व चार प्रकार के अर्थों का प्रतिपादन किया था उसका उद्देश्य बताते हैं।

कारिका - माहात्म्यज्ञापने मुक्तिस्तदर्थं बन्धनिर्णयः ।।६५।।

नित्यमुक्तत्वकथनं दुर्ज्ञेयत्वं च वै हरेः।

विवृत्तिस्तस्य पूर्वहिं कृता येनादिमध्ययोः ।।६६।।

भक्तिः सिध्यति तत्क्षेपः प्रतिज्ञा चात्र पूरणम्।

माहात्म्य को उसमें बताया है तथा भागवत के श्रवण माहात्म्य का वर्णन किया है। मुक्ति स्वरूप की सिद्धि के लिये बंध का निर्णय किया गया है। भजन की सिद्धि के लिये ही भगवान् की नित्यता तथा दुर्ज्ञेयता वर्णित की गई है। भगवान् की नित्यता एवं दुर्ज्ञेयता का विकरण रूप ही भागवत है। वह उत्तम है। उनके लिये भागवत को संक्षिप्त रूप से कहा जाय तब भी भक्ति हो जायेगी परन्तु आदि तथा मध्यम की भक्ति नहीं होगी इस कारण से विवरण है। तत्क्षेप का तात्पर्य है उसका हम वर्णन करेंगे यह प्रतिज्ञा है।

तृतीय अधिकार गुह्य वक्ता का है सादर उसमें द्वितीय अधिकार है। यहां पर अध्यांय तथा प्रकरण की पूर्ति हो गयी है। आगे साढे तेरह कारिकाओं द्वारा दूसरे प्रकरण के अर्थ को बताते हुए पाँच कारिकाओं द्वारा इस प्रकरण का उपोद्घात है उसे सूत की उक्ति से समर्थित करते हैं। पहले पक्ष का कथन दूसरे प्रकरण का हेतु भूत है इस कारण विरोधिता के अभाव के लिये हर्ष का भी कथन करना चाहिये उसको बताते हैं।

कारिका - पूर्वसंभावनामात्रात् पृष्टे दत्वोत्तरं स्वतः ।।६७।।

गन्थोऽप्यस्तीति तच्छुत्वा शौनको हर्षसंप्लुतः।

स्वरूपोत्पत्तिहेतूनां [illegible] ।।६८।।

अयुक्त त्वात्तु सम्प्रश्नो ह्यर्थस्यालौकिकत्वतः।
श्रौतुः सर्वपरित्यागात् श्रवणे किं प्रयोजनम् ।।६९।।
स्वत एवोत्तमत्वाच्च कृष्णानुग्रहणादपि।
अतस्तज्जन्म सम्प्रश्नः कृष्णभक्त्या प्रसंगतः।। ७०।।
प्रश्नत्रयेऽथ संपन्ने हेतुपूर्वं द्विधोत्तरम् ।
उपोद्धातो हेतुरूपस्त्रयाणां रूपमेव च ।।७१।।
मध्यमोऽयमुपोद्धातः फलपर्यव सानतः।

भगवान् कृष्ण जब स्वधाम पधार गये थे उस समय धर्म का रक्षक कौन रहा ऐसा प्रश्न संभावना मात्र से ही शौनक जी ने पूछा था। परन्तु इसके लिये भागवत ऐसा ग्रन्थ है यह जब सुना तो उन्हें प्रसन्नता हुई जैसे जगत् के लोग अपनी इच्छानुसार किसी काम में प्रवृत्त होते हैं यदि उसका समर्थक शास्त्र मिल जाय तब उन्हें प्रसन्नता होती है तात्पर्य यह है कि मैंने जो किया वह रूचि के अनुसार था परन्तु यह तो शास्त्र से प्रमाणित है ऐसा जानने पर प्रसन्नता होती है। सर्वतः पहले **'सूत सूतमहाभाग'** यह स्वरूप विषयक प्रश्न है और **'कस्मिन्युगेप्रवृत्तेयम्'** इस द्वारा भागवत की उत्पत्ति के विषय का प्रश्न है तथा **''केन संचोदितः''** इसमें हेतु विषयक प्रश्न है। इस भांति इन तीन प्रश्नों के पश्चात् फिर तीन प्रश्न हैं। भागवत को शुकदेवजी ने कैसे पढा तथा व्यास जी ने उसको किस प्रकार बढाया और परीक्षित के प्रायोपवेश का क्या कारण था। परीक्षित के संबंध में जो पूर्व में जाना था वह है या नहीं इस प्रकार संदेह कर के परीक्षित के प्रश्न तथा कर्म के संबंध का प्रश्न इस प्रकार से ये चार प्रश्न हो जाते हैं।

यहां पर शंका होती है कि भागवत को ही पूछना चाहिये, अन्य प्रश्न तो उपयुक्त नहीं है। इस पर बताते हैं कि उत्पत्ति एवं प्रवृत्ति में जो युक्ति से विरूद्ध होगा तब उसका श्रवण करने पर स्वयं को भी उस प्रकार का फल प्राप्त नहीं होगा इसलिये प्रश्न है। यदि इस प्रकार स्वीकार कर लें कि जैसा फल होने का है वैसी कल्पना कर ली जाय, इसके लिये बताते हैं कि अर्थ है वह लौकिक है इस कारण अलौकिक की भांति अपनी इच्छा से इसकी कल्पना नहीं की जा सकती है। राजा परीक्षित भागवत के श्रोता हैं सर्वस्व का जब परित्याग कर दिया तब उनको भागवत श्रवण करने की आवश्यकता क्यों रही? क्यों कि वे स्वयं उत्तम है। भगवान् श्री कृष्ण का उनके ऊपर अनुग्रह है। श्रोता परीक्षित आत्मा को ही फलरूप में मानते हैं तथा उस फल में विषय बाधक है। उस विषय का तो उन्होंने पूर्व में ही परित्याग कर दिया था वे यह जानते थे कि सर्व शास्त्रों का कथन यही है कि विषय आत्मज्ञान रूप फल में बाधक है। इस प्रकार वक्ता श्री शुकदेवजी स्वतः विषयों से निवृत्त है उनको भागवत के पढने की क्यों आवश्यकता हुई? और भागवत के कहने की तो सर्वथा आवश्यकता नहीं थी। यदि कहें कि भगवान् के उपदेश करने में उसमें उत्कर्ष होगा वह भी नहीं है। शुकदेवजी तो स्वयं उत्तम है।

वे तो पूर्वजन्म में भी सर्वोत्तम पूर्ण ज्ञानवान् थे इस कारण आपको यज्ञोपवीत संस्कार की भी आवयकता नहीं थी। इस प्रकार वक्ता के लिये भागवत से क्या होगा?

भगवान् का अनुग्रह ही उनके लिये स्वतः था अर्थात् श्रोता एवं वत्त दोनों ही उत्तम कोटि के एवं भगवदनुग्रह प्राप्त थे। परीक्षित के ऊपर भगवान् का अनुग्रह था इसको बताने के लिये उसके जन्म के विषय में प्रश्न किया। भगवत्कृपा भक्तों के ऊपर रहती है यह प्रसिद्ध है। प्रधानरूप से भागवत के विषय में स्वरूपोत्पत्ति तथा हेतु ये तीन प्रश्न हैं। दूसरे प्रश्न तो उसके ज्ञात कर लेने पर ज्ञात हो जायेंगे। इसलिये तीन ही प्रश्न सिद्ध हैं।

पहले प्रश्न का उत्तर दूसरे स्कन्ध में होगा। यहां पर **'कस्मिनयुगे प्रवृत्तेयम्'** इसका तथा **'कृत संचोदितः'** इसका उत्तर बताया जाता है। उसके भीतर तृतीय का निरूपण अभी किया जायेगा, प्रवृत्ति का प्रकरण आगे वर्णन करेंगे। एक-एक उत्तर एक-एक प्रकरण ग्रहण करता है। यह उत्तर किस की प्रेरणा से है। **''नारदजी की प्रेरणा से उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की''** क्योंकि इस का प्रतिपादन एक अध्याय में है। उसके पश्चात् युक्ति तत्पश्चात् प्रेरणा हेतु रूप उपोद्घात रूप से प्रतिपादन करते हैं। इस कारण हेतु का भी विचार करना है। नारद के बोधन में कौन सा प्रसंग है? क्या उसका प्रयोजन है ? नारद कौन है। इन तीन का वर्णन करना चाहिये। यहाँ पर शंका करते हैं कि भागवत में इसका उपयोग परंपरा से होता है इस कारण यह प्रथम अधिकार ही क्यों नहीं है? इसका उत्तर देते हैं कि यह मध्यम अधिकार का उपोद्घात है।

इस प्रकार पांच कारिकाओं से मध्यम प्रकरण के उपोद्घात का समर्थन किया। डेढ कारिका से अध्यायार्थ को बताते हुए मध्यम प्रकरण के पहले अध्याय के कथन का यह प्रेरणा का कारण है, इसको बताते हैं और नारद जी के कथन के प्रसंग का वर्णन करते हैं।

कारिका .- **यद्वाक्यात् सर्वविश्वासः फले तस्य विपर्ययः ।।७२।।**
कलौफलं तदुक्त किमित्यनिर्वृत्तिवर्णनम् ।
उत्तरं च कृतिश्चैकं नारदस्य फलं पृथक् ।।७३।।

चतुर्थाध्याय प्रश्न का अध्याय है तथा मध्यम प्रकरण का अंग है। प्रकरणादि में प्रश्न का होना अध्याय के अर्थ में बाधक नहीं है। नारदजी के कथन से व्यास जी को पूरा विश्वास हो गया। नारद जी ने जो कहा वह सर्व मैंने किया। विपरीतता फल में हुई है। कलियुग में नारदजी ने जैसा कहा है क्या उससे फल प्राप्त होता है। इसी कारण से व्यास जी ने असंतोष का वर्णन किया है। उत्तर तथा कृति ये पंचम अध्याय का अर्थ है। षष्ठ अध्याय में साधन सहित नारद का फल है। यहां पर शंका होती है कि ऐसा करने पर मध्यम प्रकरण में श्रोता तथा वक्ता का कौनसा अधिकार सिद्ध हुआ? इस आशंका के निवारण के लिये कहते हैं।

कारिका - **तदीयत्वं च तावं च मध्यमोत्तमयोः फले।**
सत्संगो ज्ञानविज्ञाने कर्मनिर्णय एव च ।।७४।।

उक्त स्यानुभवान्तत्वं वर्णितं नारदेन हि।
'शब्द ब्रह्मणि निष्णातो' न परस्नानतः पुरा ।।७५।।
फलं भवेदिति स्वस्य फलाध्यायनिरूपणम् ।
श्रोतुः फलं नावताराादवतारफलं फलम्।।७६।।
तदुक्तमन्यशेषत्वादुत्तरत्र न मध्यमे।

मध्यम अधिकार में भगवदीय होना फल है तथा उत्तम अधिकार में ज्ञान का फल तत्व है। व्यास जी को जब अंसतोष हुआ तब भागवत्कृपा रूप हेतु से व्यास जी में भगवदीयता आई। द्वितीय अध्याय में बताया है कि व्यासजी भगवदीय थे। उत्तम प्रकरण का फल तत्व है। शुकदेवजी भगवान् हैं तथा परीक्षित भी वैसे ही हो गये थे। दो तरह की भगवदीयता है। सबसे प्रथम भगवान् जब अपने लिये कुछ करते हैं वहां पर भगवदीय के लिये साधन की अपेक्षा नहीं रहती हैं। भगवान् अपने लिये जब नहीं करते हैं तब साधन के द्वारा भगवदीय होता है। भगवदीयता कैसे उत्पन्न होती है उस विषय में नारदजी अपना वृतान्त क्रमशः वर्णन करते हैं। नारदजी कहते हैं कि सबसे पहले मुझ को साधन रूप से सत्संग की प्राप्ति हुई। उस सत्संग द्वारा मुझे जीव के स्वरूप का तथा भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हुआ इसके पीछे भगवान् का अनुभव हुआ। अनुभव सिद्ध है इसके लिये कर्त्तव्य कुछ नहीं है। स्वयं के अनुभव में अनुभावना मात्र का ज्ञान होना मिथ्या है। भगवदीयता स्वयं में सिद्ध होने पर जैसे नारदजी को पश्चात् अनुभव हुआ कि मैं नारद हूँ। इस कार्य के लिये साधन की आवश्यकता है। भगवान् में कर्मों का समर्पण किया। भगवान् का समाधि में अनुभव हुआ इसके पश्चात् भगवान् के कथन से ही उनको ज्ञान हुआ। इन सबके अनुभव का प्रतिपादन नारदजी ने किया। यहां पर शंका होती है कि जब यही बात है तो ज्ञान विज्ञान के उपदेश में स्वतः फल तो हो ही जायगा फिर छटे अध्यायी की क्या आवश्यकता है इस शंका के निवारण के लिये कहते है कि शब्द ब्रह्म को जानने वाला होने पर भी जिसे परब्रह्म का ज्ञान नहीं है उसका परिश्रम व्यर्थ है। इस कारण से फल अध्याय का निरूपण किया है। यहां पर शंका होती है कि व्यासजी तो भगवान् के ज्ञानांश के अवतार माने गये हैं फिर उनमें तो भगवदीयता स्वतः ही है। सुनने से उनमें फिर भगवदीयता कैसे प्राप्त होती है? उसका समाधान इस प्रकार है कि व्यासजी में अवतार मात्र से ही भगवदीयता हो गयी परन्तु श्रोता होने का फल तो उन्हें सुनने के पश्चात् ही प्राप्त हुआ। अवतार के फल की प्राप्ति भी तभी हुई।

यहां शंका पैदा होती है कि भगवदीयत्व की प्राप्ति के लिये भागवत निर्माण को ही मध्य प्रकरण में कहना चाहिये उसके विषय में कहते है कि भागवत का निर्माण उत्तम अधिकारी के लिये भगवदीयता होना उसका प्रासंगिक फल है। वह तो प्राप्त हो ही जायेगा। इस कारण से भागवत का प्रतिपादन मध्यम प्रकरण में नहीं किया गया है। प्रासंगिक फल भगवदीयता की प्राप्ति नहीं होगी तब फिर मध्यमता किस प्रकार सिद्ध होगी उसके विषय में कहते हैं।

कारिका - प्रतिबन्ध निवृत्तिश्च साधनाचरणं तथा।।७७।।
रागाभावात् फलं कृष्णवाक्यान्मध्यममीरितम्।
दुःखाभावात् स्वतन्त्रत्वाद्भयाभावाच्च संसृतेः।।७८।।
फलत्वं स्फुरणं चापि सर्वदावान्तरं फलम्।

अन्य आसक्ति प्रतिबंधिका व्यास जी में नारदजी के कहने से उस प्रतिबन्ध की निवृत्ति जब हो गयी तब व्यास जी ने पूजनरूप साधन नारदजी का किया नारदजी ने साधुओं का पूजन किया। इस प्रकार व्यासजी में तो आग्रह का अभाव था एवं नारदजी में अभाव राग का था।

इस भांति व्यासजी और नारद जी में तीन बातों में भगवदीयता थी। व्यासजी ने यह जान लिया कि भगवान् की जैसी इच्छा है वैसा मैंने नहीं किया इसका दुःख है। द्वितीय कार्य में उन्होंने नारदजी जो वक्ता हैं उनकी पूजा की। तृतीय में आग्रह को छोड़ दिया। इन तीन कारणों से श्रोता (व्यासजी) में भगवदीयता उत्पन्न हुई। तीन कारणों से वक्ता नारदजी में भगवदीयता हुई वे तीन इस प्रकार से हैं - भगवदीयों के साथ में मैत्री, साधुओं की पूजा तथा कुटुम्ब जो माता आदि में प्रेम का अभाव इनसे विरक्तहोने के कारण नारद में भगवदीयता की सिद्धि हुई थी। कृष्ण वाक्य अर्थात् आकाशवाणी द्वारा नारदजी को मध्यम फल प्राप्त हुआ। यहां पर आशंका होती है कि नारदजी को जब पुनर्जन्म की आशंका थी तब उसमें निकृष्टता क्यों नहीं हुई मध्यमता क्यों हुई उसका समाधान यह है कि संसार कृत दुःख का उनमें अभाव था और परतन्त्रता नहीं थी विषय आदि से भी भय नहीं था इस कारण से उनमें नारदता (ज्ञान देना) फल हुआ। हमेशा भगवान् की स्फूर्ति होना यह फल अवान्तर है जो उनको प्राप्त हुआ। यहां पर शंका होती है कि मध्यमता की प्राप्ति के लिये जिस प्रकार नारदजी ने साधन (उपाय) किये उस प्रकार व्यासजी के लिये साधन क्यों नहीं बताये इसके लिये कहते हैं-

कारिका - नात्मवत्करणं युक्त बोधनं प्रीणनाद्धरेः।।७९।।
अविश्वासात् स्वकथनं वारितं नारदेन वै।
सत्यं तदिति विज्ञानात् स्तुतिस्तस्यात्र पूरणम्।।८०।।

सन्यासियों ने जिस प्रकार नारदजी को ज्ञान दिया था उस भांति ज्ञान देने वाले की भी व्यासजी को आवश्यकता नहीं थी तथा न निर्लज्जता पूर्वक भगवन्नामोच्चारण नारदजी ने किया उस तरह करने की आवश्यकता थी। व्यासजी के ऊपर तो भगवान् का स्वतः ही प्रेम था। प्रीति प्राप्त करने के लिये साधनों की आवश्यकता नहीं थी। यहां पर शंका होती है कि जिस प्रकार सूतजी ने परम्परा से भागवत को प्राप्त कर शौनकजी को कहा उस प्रकार नारदजी ने ऐसा क्यों नहीं कहा कि मैंने ब्रह्माजीं से भागवत को पढ़ा है उसको मैं तुम्हें कह रहा हूँ। यहां परम्परा नहीं बताने का उद्देश्य था कि लोक में परम्परा प्रचलित नहीं थी इस कारण नारदजी के कथन पर भी व्यासजी

को विश्वास नहीं होता। इस कारण से नारद जी से कह दिया कि **''समाधिनाऽनुस्मर तद्विचेष्टितम्''** भगवान् का समाधि द्वारा अनुस्मरण करो। इस प्रकार नारदजी का सामान्य वचन इस कारण था कि समाधि द्वारा इन्हें मेरे द्वारा कही गई बात सच्ची ज्ञात हो जायेगी। इसलिए परंपरा कथन की आवश्यकता नहीं है। व्यास जी ने जब **''अहो देवर्षिर्धन्यः''** इस प्रकार स्तुति की थी तब सभी को समझ में आ गया था कि नारद जी का कथन इनके समझ में आ गया है। इस स्तुति से ही मध्यम प्रकरण को पूरा किया है।

कारिका- **उपोद्घातो ग्रन्थमात्रे प्रश्न एकस्ततः कृतः।**
वक्तश्चापि पृथक् प्रश्नः फलसिद्धेस्तु पूर्ववत्।।८१।।
माहात्म्यं सर्वनिर्धारो यस्मादत्रैव वर्णितः।
श्रुतिमात्रात्ततो भक्तिरविश्वासान्न रागिणः।।८२।।
फलसिद्धेऽपि सेव्येयं विषयोत्कर्षतः कृतेः।
अत एवैष्यविज्ञानादात्मज्ञापन सूचनम्।।८३।।

दूसरे प्रकरण का हेतु भूत तीसरा प्रकरण है यही भागवत की उत्पत्ति का साधन है। किन्तु वह साधन तभी हो सकता है कि नारद जी जब गये उसके पीछे ही वह भागवत करते परन्तु कालान्तर में करने पर पहले कहा गया हेतु नहीं हो सकता है। इस कारण वह उपोद्घात है। उसके अर्थ का विचार रूप है। इस कारण ग्रन्थ के स्वरूप मात्र की निष्पत्ति के पूर्व एक प्रश्न किया गया। इसके पश्चात् ग्रन्थोत्पत्ति के कथन पर वक्ता शुकदेवजी के संबंध में द्वितीय प्रश्न है वह प्रश्न पूर्व की भांति अनुवाद रूप है। इसलिये यह आवश्यक है कि उसका फिर स्मरण कराया। शुकदेव जी में मुक्ति रूप फल सिद्ध था इस कारण शुकदेवजी श्रेष्ठ वक्ता कहलाये। इस भांति प्रश्न के अंभिप्राय को बताकर उसके उत्तर में **''यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परम पुरुषे''**। **''भक्तिरूत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा''** इसमें युक्ति का बाध नहीं हो इस कारण साधिका उपपत्ति के लिये भागवत में भगवान् का माहात्म्य तथा निःसंदेहता के लिये सर्ववस्तु निर्धार का कथन है। अतः भागवत के श्रवण मात्र से ही भगवान् में भक्ति पैदा हो जाती है। यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि आजकल के मनुष्यों में भागवत श्रवण करने पर भी भक्ति पैदा क्यों नहीं होती है। उसका उत्तर यह है कि आजकल लोगों में अविश्वास है। जब भागवत में कही बात पर पूरा भरोसा होगा तभी भगवान् में भक्ति उत्पन्न होगी अन्यथा नहीं होगी। व्यास जी के द्वारा वर्णित भागवत से उत्पन्न हुआ भी ज्ञान उसके प्रतिबन्ध करने वाले राग के कारण नहीं होता है। इस कारण बिना राग जीवन्मुक्त श्री शुकदेवजी को व्यास जी ने भागवत का अध्ययन कराया। **''शुक मध्यापयामास''** भक्ति के सहित भागवत ग्रंथ के फल को निर्धारण करने के लिये सूत शौनक का संवाद है। भागवत का फल यद्यपि मुक्ति है। तब भी फल की अपेक्षा भी साधन भागवत फल रूप ही है। इसका अनुभव बिनाराग वाले को ही होता है दूसरे को नहीं होता है। यह बात सूत के कथन से निर्धारित है। इस

सबका आशय यह है कि जो प्रवृत्ति में है उनमें भी जिस भांति भक्ति हो उसके लिये भागवत का प्रारम्भ किया है। विषयी है वे तो विषय के उत्कर्ष में ही प्रवृत्त होते हैं। उत्तम विषय की प्रगति लिये हीन विषय का त्यागकर देते हैं। इस कारण भागवत को मोक्ष का साधन नहीं कहकर मुक्ति की कल्पना को भी दूर करके मुक्त के लिये भी प्रवृत्ति कहते हैं। इसीलिये व्यासजी ने भागवत को प्रवृत्ति परक किया है। जिससे मनुष्य विषय की सुन्दरता से ही इसमें अग्रसर होते हैं तथा ऐसी कृति को आत्म ज्ञापक रूप से कहा गया है।

यहां पर आशंका होती है कि विषय की सुन्दरता से मनुष्य प्रवृत्त होंगे इसमें क्या प्रमाण है। अज्ञानी जन उत्कृष्ट विषय में भी अग्रसर नहीं होते हैं। इस का उत्तर देते हैं कि व्यास जी को तो कृति से भी भविष्य में होने वाली बात की जानकारी थी उसको भी यहां पर बताया है। नारद जी के कथन का पालन तभी होंगा। इस प्रकार नारद जी के वाक्य द्वारा भागवत का सफल प्रणयन व्यास जी ने किया यह अर्थ फलित हुआ।

इस प्रकार सातवें अध्याय के ग्यारह श्लोकों का अर्थ बताया इसके पीछे श्री शुकदेवजी ने परीक्षित को भागवत का श्रवण कराया। इस भांति भागवत के प्रचार को बताने के लिये परीक्षित के जन्मादि भी कहने चाहिये। जन्म की कथा तो द्वादश अध्याय में बतायेंगे। उस के मध्य में अश्वत्थामा, को जीतना, कुंती की स्तुति, भीष्ममुक्ति, भगवान् का परमधान गमन तथा द्वारका प्रवेश ये पांच अंग का वर्णन किया है। ये पांच अंग श्रोता परीक्षित के जन्म के अंग कैसे हैं? इस संदेह की निवृत्ति के लिये जो किन्हीं ने कहा है उसी मत का कारिका में अनुवाद कर दूषित करते हैं–

कारिका - स्वपरप्रतिबन्धोनं स्फीतं राज्यं जहौ नृपः।
इति वैराग्यदार्ढ्योक्त्यै प्रोक्ता द्रोणिजयादयः।।८४।।
इति केचिदिहप्राहुः -

दूसरे निबंधकारों के मतानुसार परीक्षित की उत्पत्ति तो द्वादश अध्याय में कही है परन्तु उसके मध्य जो पंचाध्यायी है वह वैराग्य का अंग है। स्व से युधिष्ठिरादि तथा पर से भीष्मादि ये दोनों ही जब परीक्षित ने प्रायो पवेश किया था उस समय तक विद्यमान रहते तो परीक्षित राजा को राज्यादि प्राप्ति होती ही नहीं। इस कारण उसके वैराग्य का औचित्य प्रमाणित नहीं होता। किंतु भगवदनुग्रह से उसको स्फीतत्व और परतत्व भी मिल गया। ऐसे समय में उसने राज्य का त्याग किया इस कारण उसके वैराग्य की दृढता के लिये अश्वत्थामा की विजय के पांच अध्याय प्रथम में कहे। परन्तु ऐसा कहना आचार्य चरण को अभिमत नहीं है इसलिये आप हेतु कहते हैं–

कारिका - नैतत्साधुतरंवचः
द्रोर्णेजये न सोऽस्त्येव न दातुः प्रतिबन्धता।।८५।।
न च कृष्ण कथा युक्ता स्तुतिमोर्हकथापि वा।

प्रतिबन्धस्तु सम्प्राप्ते तस्मादष्टकथा मुधा।।८६।।

इस भांति पंचाध्यायी को वैराग्य का अंग कहना उचित नहीं है। अश्वत्थामा की विजय से वैराग्य के साथ क्या संबंध है। राज्य के देने वाले युधिष्ठिर भी वैराग्य में प्रति बंधक नहीं है। भगवत्कथा में भी उसका कोई उपयोग नहीं है। भगवद् अनुग्रह त्याग में प्रतिबंधक है। कुंती स्तुति एवं मोहकथा भी वैराग्य में बाधक नहीं है। जन्माध्याय को छोड़कर सातवें से लेकर पन्द्रह अध्याय तक आठ अध्याय की कथा निरर्थक हो जायेगी।

इस प्रकार परमत को दूषितकर स्वमत में इन अध्यायों की पूर्वोन्तरांगता है इस उद्देश्य से बताते हैं-

कारिका - पुरुषत्रयशुद्धस्य जननेऽपि कृपावतः।

सर्वत्यागो सतां संगे विश्वासः सर्वथा भवेत्।।८७।।

इति तस्याधिकारित्वसिद्धयै पाण्डववर्णनम्।

अपृष्टं च प्रतिज्ञातं तस्मान्नास्त्यत्र दूषणम्।।८८।।

सप्त से लेकर एकादश तक के पांच अध्याय पंच अग्निन्याय से परीक्षित की उत्पत्ति में शुद्धि के कारणभूत हैं। पैदा होने पर उसकी मुक्तिमें किसी भांति बाधा नहीं हो, इसलिये अध्याय है पिता की मुक्ति को एक अध्याय बताता है। उसका कारण यह है कि जब एक पिता की मुक्ति नहीं होती है वहां तक पुत्र की मुक्ति नहीं हो सकती है। उसके पीछे दो अध्याय परीक्षित की मुक्तिसे काल बाधक नहीं है। इसको कहने वाले हैं। इसके पश्चात् अद्भुत कर्म करने वाले भगवद् ब्राह्मण पुत्र से शाप दिलाने अनुग्रह तथा उसके पीछे श्रोतापन इस प्रकार तीन पुरुष (पीढी) की शुद्धि के लिये अध्याय हैं। पांच अध्यायों से तीन पीढी की शुद्धि होती है उसको बहुत शीघ्र बतायेंगे द्वादश जन्म अध्याय का तात्पर्य है जन्म काल में स्वतः और काल के द्वारा भगवान् की कृपा। अग्रिम पांच अध्यायों में सभी के त्याग की सिद्धि होने का अर्थ है। इसके पश्चात् दो अध्यायों से सत्संग का वर्णन है। भागवत में विश्वास भागवत सुनने का अंग विश्वास ही है। तीन अंग विश्वास के हैं - सज्जनों का संग, सर्वत्याग, परमशुद्धि।

शुद्धि के छः अंग हैं - उसमें प्रधान तो भगवान् की कृपा ही है। शरीर का कारण बीज (रज, शुक्र) उसकी अशुद्धि पांच तरह से होती है।

दुष्ट परंपरा से, वह दुष्ट परंपरा पुरुष से अथवा स्त्री के द्वारा ये दो हुए। सप्तम अध्याय में अर्जुन के ऊपर अत्यन्त कृपा का वर्णन है। अष्टम अध्याय में कुंती पर भगवत्कृपा है। इसके पश्चात् पोषण करने वाले अन्न की शुद्धि के लिये भीष्म जी का उपदेश है। सत्ता से जीव में अन्न का दोष निश्चित रूप से आता है। इस कारण ज्ञानी जनों की ही शुद्धि होती है। भीष्म की मुक्ति से ज्ञान की शुद्धि है। यह तृतीय अंग है। बीज संबंधी सर्वसाधारण भगवत्परक यह चतुर्थ शुद्धि है। यह शुद्धि भगवान् के स्वधाम गमन से होती है। इस कारण उसको

कहा। भगवान् के स्वधान गमन पर विरह आत्मताप होता है उस ताप से भी शुद्धि होती है। या फिर निर्गम के कारण अत्यन्त भक्ति उत्पन्न होती है। उससे शुद्धि होती है। इसके पश्चात् आने वाले दोषों के अभाव के लिये भगवान् के कार्य की समाप्ति का कथन है। इस कारण आचार्य चरण आज्ञा करते हैं कि हमारे मत से सुनने का अधिकार तेरह अध्यायों में पूर्ण होता है। दूसरों के मत से नहीं होता है। शौनकजी के नहीं पूछने पर भी **''संस्थां च पाण्डु पुत्राणां वक्ष्य कृष्ण कथोदयम्''** इस प्रकार सूत की प्रतिज्ञा ठीक होती है **'च'** से उनपर भगवत् कृपा को ग्रहण किया है। भगवान् की कथा के उदय में शुद्धि ही कारण है इस कथन को कहने के लिय **'कृष्ण कथोदयम'** इस प्रकार कहा है इस कारण मूल में ही यह अर्थ बता दिया था इस कारण हमारे आचार्य चरण के मत में किसी प्रकार का दूषण नहीं है।

यहां शंका होती है कि ऐसा क्या आग्रह है जिससे परीक्षित को ही श्रवण करने वाला कहा गया है। शुद्ध सनकादि जो स्वतः विद्यमान हैं उनके विषय में तो किसी प्रकार की चर्चा नहीं है इस पर कहते हैं-

कारिका - **विद्यमाने समुद्धारस्तत्रत्यानां स्वयं कृतः।**
स्वाभावे तु कथैव स्यादित्यनन्तर उक्तवान् ।। ८९।।
ऐहिकेऽपि समस्तं हि येषां कृष्णानुभावितम्।।
तद्वंशेव्यवधानेन जातः श्रद्धात्र तस्यहि।।९०।।

यहां प्र केवल अधिकार मात्र का कहना उद्देश्य नहीं है परन्तु भागवत से ही सभी का उद्धार होता है इसका प्रतिपादन करना उद्देश्य है। इस कारण सनकादिकों को सुनने वाला नहीं कहकर राजा परीक्षित को श्रवण करने वाला कहा है। भूमण्डल पर जब तक भगवान् कृष्ण अवतार रूप से विद्यमान रहे तब तक उन्होंने अपने रूप से ही सब का उद्धार किया अर्थात् सब को मुक्त किया। तत्पश्चात् मुक्त करने वाला एकमात्र भागवत ही है। और कोई अन्य उपाय नहीं है। इसको जताने के लिये ही भगवान् के स्वधाम गमन पश्चात् ही परीक्षित पैदा हुआ था। परीक्षित भागवत से ही मुक्तहुआ था। ऐसा वर्णन किया गया है। तब फिर शुद्धि को ही कहना चाहिये पांडवों का तथा भगवान् का वर्णन क्यों क्रिया। इसका उत्तर यह है कि पांडवों के ऐहिक (इस लोक के) सर्वकार्य भगवान् के अनुग्रह से ही पूर्ण हुए थे। उन्हीं के वंश में परीक्षित का जन्म हुआ था। इसी कारण उनकी श्रद्धा भागवत में हुई थी।

यदि ऐसा है तब तो फिर सारी भागवत को भगवत्परक रूप से ही वर्णन करना चाहिये। इस आशंका पर बताते हैं-

कारिका - **यत्र पाण्डवसामर्थ्यं प्रतीत्यापि विभाव्यते।**
तत् त्यक्त्वा कृष्णसामर्थ्यं केवलं यत्र तत्कथा।।९१।।
अनन्य शरणत्वाय रक्षणाशक्तितः स्वतः।

पुत्र मारणमारभ्य मुक्त्यन्ता वर्ण्यते स्फुटाः।।९२।।

अश्वत्थामा को विजय करने में पांडवों के सामर्थ्य की प्रतीति होती है परन्तु वास्तव में उस विजय में भगवान् का ही प्रभाव है। पांडवों की विजय भगवान् कृष्ण के अनुभाव से है। इस कारण सौषुप्तिक कथा से लेकर स्वर्ग आरोहण तक की महाभारत की कथा कृष्ण से संबंधित ही है।

पांडवों की कथा कहने का उद्देश्य तो यह रहा है कि पांडवों की रक्षा करने वाले केवल भगवान् कृष्ण ही थे। पांडवों में स्वरक्षा का सामर्थ्य नहीं था। इसका कथन पुत्र के मारण से प्रारम्भ कर मुक्ति पर्यन्त से स्पष्ट किया है। यहाँ पर शंका होती है कि पाण्डवों के लिये मोक्ष का उपयोग कहां होगा? इस आशंका का समाधान बताते हैं–

कारिका – तेषाममुक्तो भोगार्थं प्रतिबन्धो भवेत्क्वचित्।
पितुः सम्मुखयुद्धे हि मृतत्वात् कृष्ण बान्धवात्।।९३।।
चन्द्रांशत्वाद्देवभावात् प्रतिबन्धो न विद्यते।

मुक्त जो नहीं होते हैं भोग उनके लिये आवश्यक है। अभिमन्यु मुक्त नहीं हुआ था इस कारण उसको मुक्ति में प्रतिबंध होगा। इस आशंका का समाधान करते हैं कि पिता के संमुख युद्ध में अभिमन्यु का निधन हुआ था। युद्ध में संमुख मुक्ति पर उसकी मृत्यु होती है स्मृति में ऐसा कहा है **"द्वाविमौ पुरुषौ लोके"** दूसरी बात यह थी कि भगवान् कृष्ण का कुटुम्बी माना जाता था तब उसकी मुक्ति क्यों नहीं हो। चन्द्र वंश में पैदा होने से उस अभिमन्यु में एक अंश चन्द्र का था। इस कारण उसने पुनः देवभाव को प्राप्त कर लिया। अभिमन्यु आध्यात्मिक रूप था तथा भगवत्संबंधी होने के कारण आधिदैविक रूप था।

इस प्रकार उस अभिमन्यु की मुक्ति में आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों ही मुक्ति में प्रतिबंधक नहीं हुए।

अब इसके आगे अध्याय के अर्थों के विभाग के लिये सप्तम, अष्टम, नवम अध्याय के अर्थ को डेढ से कारिका से प्रतिपादन करते हैं।

कारिका – पाण्डवानां द्विधा दुःखं भिन्ना भिन्नविभेदतः।।९४।।
अभिन्नं परतो ज्ञानाद्विधाज्ञानं द्विधा पुनः।
ब्रह्मजीव विभेदेन त्रिधा तद्धि फलिष्पति।।९५।।

पाण्डवों को दो तरह से दुःख प्राप्त हुआ, प्रथम शरीर के द्वारा तथा द्वितीय पुत्र के कारण। उससे पृथक् जो पुत्र आदि का दुःख है वह एक तरह का तथा अभिन्न दुःख दो तरह का है। एक दुःख अज्ञान के कारण है एवं द्वितीय शत्रु के कारण से है। अज्ञान भी दो प्रकार का बताया है उसमें प्रथम जीव विषयक है एवं द्वितीय ब्रह्म विषयक है इस भांति अभिन्न तीन प्रकार के हैं। भिन्न दुःख अभिन्न दुःख समाप्ति पर चला जाता है।

कारिका - अतोध्यायत्रयं तत्र प्रथमे स्वेष्ट पूरणात्।
दुःख हानिर्हरेरेव तदर्थं स्तोत्रमीरितम् ।।९६।।
दुःखे सुखे तथा मुक्तौ स्तोत्रं कुर्यादिति त्रिधा।
अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता तत्तदासक्ति वारिका ।।९७।।

सातवां, आठवां, नोवा तीन अध्याय ये पांडवों के दुःख को हरण करने वाले हैं सातवें अध्याय का तात्पर्य है स्वेष्ट पूर्ति दुःख का नाश भगवान् हरि से होता है। इसलिये इष्ट की पूर्ति भगवान् ही कर सकते हैं। इस कारण भगवान् की स्तुति है। अतः सात, आठ, नो इन तीनों अध्यायों में भगवान् की स्तुति को कहा तदर्थ का तात्पर्य सर्वत्र अर्थात् दुःख, सुख में मुक्ति के लिये सभी स्थान पर भगवान् की स्तुति की गई है। दुःख के आगमन पर अर्जुन ने तथा इष्ट सिद्धि होने पर कुन्ती ने स्तुति की है। मुक्ति प्राप्ति के लिये भीष्म ने स्तुति की है। इसलिये अष्टम अध्याय में ब्रह्म विषयक अज्ञान की निवृत्ति का वर्णन है। जीव के संबंधी अज्ञान की निवृत्ति नवम अध्याय में है। इसी कारण से अन्त में मुक्ति का वर्णन है। यहां पर शंका उपस्थित होती है कि अर्जुन आदि जब भगवदीय थे तो फिर उनकी दुःख निवृत्ति भगवान् कृष्ण आवश्यक रूप से करते ही फिर स्तुति करने की क्यों आवश्यकता हुई? इसके विषय में बताते हैं **''अधिकारे स्तुतिः प्रोक्ता''** यह स्तुति तो अधिकार के सिद्ध्यर्थ है। आसक्तिस्तुति के द्वारा ही दूर होती है। आधिदैविक प्रेरणा की निवृत्ति भगवान् करते हैं इस कारण से स्तुति है।

यहां शंका उत्पन्न होती है कि युधिष्ठिर के रहते अर्जुन ने पहले स्तुति क्यों की इसका समाधान करते हैं-

कारिका - अर्जुनः सर्वमुख्यत्वात् पृथा नैकटयतो वरा।
सर्वज्येष्ठस्तथा भीष्मः कर्तारः क्रमतोऽवरः।।९८।।
सर्वथा संस्तुवीतेति मुख्ये फलति सर्वदा।
सर्वत्र भक्तरक्षा हि सामान्येन विशेषतः।।९९।।
अत्यासक्त्यापि तद्रक्षा भजनोत्साहवर्धिका।

नरांश के कारण पांडवों में अर्जुन श्रेष्ठ था तथा पृथा कुंती भगवान् के पिता की बहिन होने से भगवत्संबंध के कारण उत्कृष्ट थी। भीष्म जी सबसे ज्येष्ठ थे इस कारण उनमें लौकिक उत्कर्ष था। इन तीनों ही में सबसे श्रेष्ठ अर्जुन थे। द्वितीय कुंती तथा तृतीय भीष्म जी हैं। पाक्षिक स्तुति नहीं है वह तो आवश्यक है। यहां पर यदि शंका हो कि भगवदीयों में भगवान् की स्तुति से विशेषता क्या होगी इसका समाधान करते हैं कि स्तुति से भगवान् अति आसक्ति (प्रेम) से रक्षा करते हैं। बिना स्तुति किये भी रक्षा तो करते ही हैं परन्तु आसक्ति को नहीं छुडाते हैं। भगवान् यदि ऐसा करते हैं तब फिर साधारण मनुष्य में और भगवान् में क्या अन्तर है।

इस शंका का समाधान यह है कि आसक्तिसे रक्षा करने पर भजन में उत्साह की अभिवृद्धि होती है। जिसके कारण अन्य जनों में भी भजन की सिद्धि होती है।

द्रौपदी भगवान् की भक्तथी तो फिर उसने पुत्रों के मरण पर रूदन क्यों किया? इस शंका का समाधान करते हैं-

कारिका - सुतानां निधनं विप्रादयुद्ध इति रोदनम्।।१००।।
सान्त्वनं च प्रियार्थं हि न सत्यवचनं मतम्।
भक्तष्टपूरणात् कृष्णो न वारयति दोषवित्।।१०१।।
समर्थत्वात् प्रेमसिद्धयै दैत्यांशत्वात्तथा वचः।
भीमस्यासन्यावतारात् सहजद्वेषभावतः।।१०२।।
संहारशक्त द्रोपद्या उभयोः समता हरेः।
उभयात्मकत्व कथनं सर्वप्रिय हिताय हि।।१०३।।
अर्जुनस्य तु विज्ञानमावेशित्वान्न चान्यथा।
आतुरत्वं विलापश्च पूर्ववत् सुप्त मारणात्।।१०४।।

यद्यपि द्रौपदी भगवान् की भक्त थी किन्तु पुत्रों के मरण पर रोना उसे इस कारण से आया कि ये मेरे पुत्र बिना युद्ध किये ही ब्राह्मण के द्वारा मार डाले गये हैं। इसलिये ये नरक में जायेंगे। **"ब्राह्मणान्निधनं प्राप्य नारकी भवति ध्रुवम्"** ब्राह्मण के हाथ से मरने वाला अवश्य ही नरकगामी होता है और वह बिना युद्ध किये मरण को प्राप्त होता है वह अवश्य ही नरकगामी होता है। भगवान् की अत्यन्त कृपा हो तो कर्मफल का अतिक्रमण हो सकता है। इस कारण भगवान् की कृपा को प्राप्त करने के लिये द्रौपदी ने रूदन किया था। द्रौपदी को अर्जुन का सांत्वना (ढाढस) देना भी उचित नहीं है इसका कारण यह है कि द्रौपदी उसकी पत्नी थी इस कारण वह सांत्वना असत्य थी। क्योंकि बताया गया है- **"स्त्रीषु नर्म विवाहे च ननृतं स्याज्जुगुप्सितम्"** स्त्रियों के संमुख असत्य संभाषण निन्दित नहीं है। अर्जुन को भगवान् ने इस कारण मना नहीं किया कि भगवान् भक्तों का हित ही करते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि भगवान् अर्जुन को मना कर देते कि तुम्हें अश्वत्थामा को मारने के लिये नहीं जाना चाहिये इससे द्रौपदी का दुःख शान्त नहीं होता एवं अर्जुन को भी यह बात ठीक नहीं लगती इस कारण से नहीं रोका। इससे यह बात ज्ञात होती है कि भगवान् के भक्तों को शास्त्र के द्वारा कर्त्तव्य का ज्ञान करने के पीछे कर्त्तव्य करना चाहिये। इस कारण ब्राह्मण के मारने में दोष को जानते हुए भी भगवान् ने अर्जुन को मना नहीं किया। यदि इस प्रकार नहीं होता तो फिर संसार के अनर्थ रूप होने से सबके लिये भगवान् भजनीय नहीं होते। यहां पर यह शंका होती है कि भगवदीय को दोष से भगवान् को रोकना चाहिये फिर उसको

क्यों नहीं रोका? इसका समाधान इस प्रकार से करते हैं कि भगवान् रक्षा करने में समर्थ हैं इसलिये यदि अनर्थ भी हो गया तो भगवान् रक्षा कर लेंगे। इस कारण मना नहीं किया। अनर्थ में प्रेम सिद्ध होता है तब भी अर्जुन ने ऐसा क्यों कहा कि मैं अश्वत्थामा को मारूंगा। अश्वत्थामा दैत्य का अंश था। इस कारण से उसके लिये अर्जुन ने ऐसा कहा अथवा भगवान् ने जो यह कहा कि इस अश्वत्थामा को मार डालो ऐसा कथन अश्वत्थामा के दैत्य अंश के कारण कहा था। अश्वत्थामा हनन में वेद का विरोध नहीं है इसी कारण भीमसेन का भी उसको मारने के लिये उद्यम था इसका निरूपण है। आसन्यप्राण का अवतार भीम होने से वेदात्मा है। इसलिये प्रमाण रूप भीम के और प्रमेय रूप भगवान् के अभिप्राय को नहीं करने से व्यसन हुआ। अर्जुन युद्ध शास्त्र को जानने के कारण लौकिक था तथा द्रौपदी स्त्री होने के कारण लौकिक थी। इसीलिये लोक एवं वेद से भी अश्वत्थामा का वध नहीं हुआ। वेद में वर्णन है **"तस्माद् ब्रह्माणय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहित कुर्यात्"** इस कारण से अर्जुन ने तथा द्रौपदी ने अश्वत्थामा को छोड़ दिया। अर्जुन का यद्यपि वेद का ज्ञान था इस कारण से उसको छोड़ा किन्तु द्रौपदी ने उसे कैसे छोड़ दिया? द्रौपदी संहार की शक्ति थी अतः उस को यह ज्ञात था कि दैत्य संहार शक्ति के अनुगुण है इसलिये द्रौपदी ने भी उस को मुक्तकर दिया। सर्व आत्मा भगवान् है इस कारण वे तो सभी के लिये समान हैं। भगवान् यह जानते हैं कि भले ही अश्वत्थामा मुक्त हो जाय परीक्षित की रक्षा तो मैं अन्य प्रकार से भी कर सकता हूँ। वह करूँगा। सातवें अध्याय का अर्थ यह ठीक ही है। अश्वत्थामा के शिर का मुंडन कर देना चाहिये ऐसा भगवान् के अभिप्राय को अर्जुन ने आवेशावतार होने के कारण जान लिया इस कारण पहले कथन से विरोध नहीं हुआ। भगवान् ने ही यह सर्वकार्य अर्जुन में आविष्ट होकर किया था। अन्यथा द्रौपदी तो संहार की शक्ति थी। भीम आदि का वह संहार कर देती रत्नयक्षोपाख्यान में ऐसा उपाख्यान प्रसिद्ध है। द्रौपदी का जब क्रोध आवेश दूर हो गया तब यह रूदन (विलाप) करने लगी जिस प्रकार में अपने पुत्रों के लिये विलाप कर रही हूँ उसी प्रकार पति ही जिसके देवता हैं ऐसी गौतमी (द्रोण पत्नी) अश्वत्थामा की मां दुःख नहीं करे।

अश्वत्थामा की इस प्रकार की बुद्धि भगवान् ने क्यों पैदा की इस आशंका पर बताते हैं–

कारिका – **"पुनरस्त्र समुत्क्षेपो गर्वाभावाय कारितः"**

प्रथम ब्रह्मास्त्र को धारण कर दिया था इस कारण अभिमान उत्पन्न हो गया था अतः अभिमान को मिटाने के लिये पुनः ब्रह्मास्त्र को चलाया। फिर ब्रह्मास्त्र चलाया तो उस का समाधान भी पहले की भांति हो जायगा। उस पर कहते हैं

कारिका – **अनिवर्त्यं निवर्त्य च ब्रह्मास्त्रं द्विविधं मतम्।।१०५।।**
अनिवर्त्य समुत्क्षेपो नास्त्येव मरणेऽपि हि।
शास्त्राद्देवास्तयोः सिद्धिस्तेजस्तेन महद्भवेत्।।१०६।।
सर्वोपायपरिभ्रष्टो मृतकल्पो गुरुः सुतः।

अत्युपासनया प्राप्तं ब्रह्मास्त्रं क्षिप्तवान् पितुः।।१०७।।

दो प्रकार का ब्रह्मास्त्र माना गया है। एक तो अनिवर्त्य है जिसे लौटाया नहीं जा सके तथा द्वितीय निवर्त्य है जिसको लौटाया जा सकता है। अनिवर्त्य ब्रह्मास्त्र को नहीं चलाया जाता है यहाँ तक की मृत्यु सामने उपस्थित है तब भी नहीं चलाते हैं। इन दोनों ही ब्रह्मास्त्र की सिद्धि शास्त्र एवं देवता द्वारा होती है इस कारण इनका तेज महान् होता है। जब अश्वत्थामा के पास अन्य कोई बचने का साधन नहीं रहा तथा मृत्यु की घड़ी आ पहुंची तब गुरु पुत्र अश्वत्थामा ने पिता की अत्यन्त उपासना से प्राप्त ब्रह्मास्त्र को चलाया।

जिस भांति अभिमान का निवारण किया उसी प्रकार अभिमान का जो वंश है उसको नष्ट क्यों नहीं किया इस पर बताते हैं–

कारिका – उत्तरा परमा भक्ता रोहिण्यंशा हरेः सुहृत्।
शरणागमनं कृष्णस्तुति पूर्वं च दर्शनम्।।१०८।।
उत्तरायास्तु भक्तत्वज्ञापनायावनं तथा।
कृष्ण दूरत्वतः पूर्वं प्रविष्टस्य तथावनम्।।१०९।।
परीक्षिज्ज्ञानसिद्ध्यर्थं बहुकालस्थिति हरेः।
अन्यतेजोलयः स्वस्मिन् प्रकारा कथनं तथा।।११०।।
आसक्तिर्गर्वाभावेन भजनार्थं यतः स्तुतिः।
प्रतिभातः कृतेश्चापि ज्ञातः कृष्णो विशेषतः।।१११।।

भगवान् कृष्ण की उत्तरा अतिभक्त थी वह सर्वश्रेष्ठ थी। भक्त होने से उसमें भौतिक उत्कर्ष था तथा वह रोहिणी की अंश रूप में थी। इस कारण उसमें आध्यात्मिक उत्कर्ष था और हरि की मित्र होने से आधिदैविक उत्कर्ष भी था। इस प्रकार उत्तर में तीन प्रकार का उत्कर्ष होने के कारण उसका अभीष्ट करने के लिये भगवान् ने उसके गर्भ की रक्षा की। भक्त होने के कारण वह भगवान् के शरण में गई तथा देवता रूप होने से उसने भगवान् की स्तुति की तथा भगवदीय होने से सबसे पहले उसको ब्रह्मास्त्र का दर्शन हुआ। उत्तराभक्त थी इस कारण इसको दिखाने के लिये भगवान् ने उसके उद्र में प्रविष्ट होकर गर्भ की रक्षा की। यहां पर यदि शंका हो कि भगवान् की भक्त उत्तरा थी तब ब्रह्मास्त्र का उसके उदर में प्रवेश किस प्रकार हुआ? उसका समाधान करते हैं कि – **''कृष्णदूरत्यतः''** भगवान् कृष्ण के समीप नहीं होने से वह ब्रह्मास्त्र उत्तरा के उदर में प्रविष्ट हुआ। ब्रह्मास्त्र जब तक गर्भ में प्रवेश नहीं करे तब तक रक्षा किस प्रकार हो। जब ब्रह्मास्त्र गर्भ में प्रवेश कर गया तब उसकी रक्षा हुई। परीक्षित को अपना ज्ञान कराने के लिये भगवान् बहुत समय तक गर्भ में रहे। भागवत के मूल में तो यह बताया है कि सुदर्शन तथा माया के द्वारा गर्भ की रक्षा ब्रह्मास्त्र के नित्य होने के कारण उसके लय का वर्णन नहीं है। **''वैष्णव तेज आसाद्य सम शाम्यद् भृगुद्वह''** इससे क्रूरता धर्म की निवृत्ति कही

है। धर्मी की निवृत्ति नहीं बताई गई है। **''अस्त्र तेजः स्व गदया''** इसका भी पहले के अनुरोध से शमन ही अर्थ करना चाहिये। धर्मी अस्त्र का लय तब किस में हुआ। इस पर बताते हैं **''अन्य तेजो लयः''** ब्रह्मास्त्र दुर्बल होने के कारण वह भगवान् में लय हो गया। कारण यह है कि वह वहीं से उत्पन्न हुआ था। इस कारण से उन्हीं में लय हो गया। इसी से उसका कोई प्रकार नहीं कहा गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि जहां-जहां पर विशेष वर्णन नहीं किया गया हो वहां-वहां पर उसका किसी प्रकार का वर्णन नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि जहां-जहां विशेष वर्णन नहीं हो वहां-वहां उसका लय कारण में ही मानना चाहिये। यहां पर आशंका होती है कि भगवान् के निर्गमन में स्तुति क्यों नहीं की गई है। पीछे स्तुति में प्रवृत्ति क्यों हुई। इसका समाधान यह है कि अभिमान (अहंकार) था इस कारण से आसक्तिनहीं हुई। आसक्ति जिसकी होती है वही उसका मनन करता है। भजन के लिये ही सन्देह धारिका स्तुति है। आसक्तियदि हो भी जाय किन्तु ज्ञान साधना भाव होने से स्तुति किस प्रकार होगी? भगवान् में आसक्तिहोने के पश्चात् उसमें प्रतिभा पैदा हो गयी इस कारणा स्तुति का द्वितीय कारण भी बन गया भगवान् ने प्रथम उसकी रक्षा नहीं की थी इस कारण अन्तः करण में भासमान रहते हुए भी अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। **''अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव''** इस न्याय से अंतर (भीतर) की संभावना से नहीं जाता। इस काल में तो विशेष रक्षा कीर्ति से अन्तर निवृत्त हो गया इस कारण भगवत्कृति के कारण से विशेष रूप से भगवान् कृष्ण को जाना।

यहां पर आशंका होती है कि जब इस प्रकार है तब युधिष्ठिर के बाद में मोह पैदा नहीं होना चाहिये इसका समाधान करते हैं-

कारिका - सर्वनिर्णयपूर्वं हि यावन्न गुरुणोदितः।
तावन्मोहस्थितिर्जीव इति मोहस्य वर्णनम्।।११२।।

प्रतिभात अथवा दर्शन से प्राप्त होने वाला ज्ञान वह मोह को दूर नहीं करता है। शब्द तथा दोष के सुनने से मोह पैदा होता है। शास्त्र द्वारा प्रतिपन्न भ्रम से उसको मोह होता है। शास्त्र प्रकार से ही उसकी निवृत्ति ठीक है। भीष्म जी युधिष्ठिर को जब तक नहीं बतायेंगे तब तक मोह की स्थिति बनी रहेगी। इस कारण यह भीष्म अध्याय जीव के स्वरूप को जानने के लिये हैं। इस नोवे अध्याय में वाक्य विभाग इस प्रकार है। चौबीस श्लोकों से भीष्मजी के समीप जाने का कथन है तथा भीष्म के वाक्यों का निरूपण है। सात श्लोकों द्वारा वहां के वृतान्त का कथन है। ग्यारह श्लोकों द्वारा भीष्मजी की स्तुति का वर्णन है। तीन श्लोकों से मुक्ति और चार श्लोकों से उनके समाधान का वर्णन है।

यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि यहां पर भीष्मजी की स्तुति असंगत है इसका समाधान करते हैं-

कारिका - उक्तःस्वचारतो दाढर्यज्ञापनायां ततः स्तुतिः।
मुक्तिश्चानुपदं तस्य सर्व सन्देहवारिका।।११३।।

भीष्म जी ने प्रथम तत्वोपदेश किया था। कहने का तात्पर्य यह है कि जीव की कृतार्थता भगवद भजन में ही है। अपने आचार से उस को दृष्ट करते हैं इस कारण स्तुति है। साधन तथा फल इन्हें प्रत्यक्ष दिखाते हैं। स्तुति द्वारा साधन के संदेह का निवारण किया है। फल के विषय में जो संदेह है उसे अपनी मुक्ति के द्वारा निवारण किया इस भांति तीन सातवां, आठवां, नोवां तीन अध्यायों का उपपादन करके अन्त में उपसंहार करते हैं।

भागवतार्थ प्रकरण-

प्रथम स्कन्ध अध्याय १० से १९ तक

कारिका - दुःखहानिस्त्रिभिः प्रोक्ता सुखं चापि तथा त्रिभिः।
स्वस्य सामान्यतः पूर्वं कृष्णप्रेमपुरः सरम् ।।११४।।
तदुद्रेको वियोगे स्यात्तदर्थं कृष्णनिर्गमः।
कृष्णसौख्ये हि तत्सौख्यमिति मूलेसुखाभिधाः।।११५।।
पश्चाच्च पुत्रसम्पत्त्या विशेषेणोपवर्ण्यते।
मुक्ति स्त्रिभिस्तथा प्रोक्ता बीजकार्यफलैः स्फुटाः।।११६।।

सातवां, आठवां, नवां इन अध्यायों में दुःख के नाश का वर्णन किया गया है। तथा दसवां, ग्यारवां तथा बारहवां इन अध्यायों द्वारा सुख निरूपण है। मोक्ष का वर्णन तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें में है। तीन अध्याय दसवां, ग्यारहवां, बारहवें में जिस सुख को युधिष्ठिर को कहा है वह पूर्व में साधारण रूप से कृष्ण प्रेम पुरसर ही था। किन्तु कृष्ण का जब बिछोह हुआ उससे प्रेम में और विशेषता (अधिकता हो गई) इसी कारण भगवान् के निर्गमन का कथन है। पांडवों का सुख कृष्ण के सुख में ही निहित था। मूल में सुख का वर्णन किया। पुत्र प्राप्ति होने के पश्चात् उस सुख (आनंद) का विशेषता से निरूपण किया है। तदन्तर १३,१४,१५ में बीज कार्य एवं फल से मुक्ति का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया गया है।

(प्रकाश) दुःख का नाश, सुख प्राप्ति तथा मोक्ष इनका तीन-तीन अध्यायों में निरूपण है। इस से यह प्रमाणित होता है कि पांडवों का सब कुछ कृष्ण के ही अधीन था। यहां पर आशंका होती है कि युधिष्ठिर के सुख के कथन में भगवत्कथा का उपयोग किस स्थान पर होता है इस पर बताया है कि **''कृष्ण सौख्ये हि तत्सौख्यम्''** कृष्ण के सुख में ही युधिष्ठिर का सुख निहित है। इस कारण दो अध्यायों में सुख का वर्णन किया है। पुत्र प्राप्ति में एक अध्याय से युधिष्ठिर सुख (आनंद) का कथन किया है। भगवान् कृष्ण जिस उद्देश्य को लेकर आये उस को पूर्ण कर आनंद प्राप्त करते हैं। भगवान् कृष्ण भक्तजनों के उद्धारार्थ प्रकट हुए थे अतः स्वकीय तथा परकीय दोनों को ही प्रपंच से मुक्त करा दियां इसका कथन दो अध्याय में किया है। यहां पर तीन अध्याय में जो प्रमेय है वह कुलिष्ट (विचाराधीन प्रत्येक वाक्य ज्ञान को पैदा करने वाला है।)

उसका तात्पर्य श्री सुबोधिनी टीका से ही स्पष्ट होगा। इस कारण से उसको यहां नहीं बताया गया है अग्रिम तीन अध्याय के विषय में कहते हैं – **''मुक्तिस्त्रिभिः''** एक अध्याय में धृतराष्ट्र (बीज) की मुक्ति बतायी है। घर से प्रस्थान कर जाना ही घृतराष्ट्र की मुक्ति का बीज है। घर से यदि वह प्रस्थान कर गया तथा मुक्त हो गया तो अन्यों को भी अपनी मुक्ति में भरोसा हो गया। इस कारण बीज रूप मुक्ति प्रथम अध्याय का तात्पर्य है। घृतराष्ट्र के चरित्र को नारदजी ने वर्णन किया उसका उद्देश्य यही था कि घृतराष्ट्र की मुक्ति बीज रूप है। बीज मुक्ति से जो काम युधिष्ठिरादि का घर से गमन करना तथा वैराग्य का प्रादुर्भाव यह दूसरे अध्याय का तात्पर्य है। पांडवों की मुक्तिफलस्वरूप कही गई है। यहां पर आशंका होती है कि पांडवों की मुक्ति का उपयोग कहां पर हुआ है उस विषय में कहते हैं।

कारिका – पूर्वजानां तथा मुक्तिः स्वस्य त्यागे हि साधनम्।
त्यागे कृष्णलयश्चैव सर्वेषामुदितः स्फुटः।।११७।।
तत्रत्यानां तदङ्गत्वं टीकायामेववर्णितम्।।११७ १/२।।

पूर्वजो को (घृतराष्ट्र) उस तरह की मुक्तियुधिष्ठिरादि के त्याग में साधन रूप हुई एवं कृष्ण का लय सभी के त्याग में साधन बना। अर्जुन के स्वरूप का निरूपण उसी का अंग होने से उस का प्रतिपादन किया।

'प्रकाश' जब तक पूर्वजों की मुक्तिनहीं होती है तब तक उनके पीछे वालों की भी मुक्ति नहीं होती है। इसका वर्णन पूर्व में किया गया है। दृष्टान्त की तरह भी यह ठीक है। इस स्थान पर श्री पुरुषोत्तम जी ने अभेद प्रतिभक्ति ऐसा वर्णन किया है। मर्यादा से जहां मुक्ति करते हैं वहां पर ही यह नियम है कि पूर्वजों की मुक्ति हुए बिना पीछे मरण वालों की मुक्ति नहीं होती है। यदि इस प्रकार का ही सभी जगह नियम हो तो पांडु की मुक्ति नहीं हुई तब फिर पांडवों की मुक्तिकिस प्रकार हो गई। इस कारण महाप्रभुजी ने इसको दृष्टान्त के रूप में ग्रहण किया है अर्थात् जिस भांति अपने पिता पितामह मार्गानुसरण करते आये वैसा ही आचरण उनकी संताने भी करती हैं। जिस भांति पूर्वजों ने त्याग किया उसी भांति हमको भी त्याग का अनुसरण करना चाहिये तथा जैसे हमारे पूर्वज मुक्त हुए उसी भांति हमको भी मुक्तहोना चाहिये **''येनास्य पितरोयाता येन याताःपितामहाः''** इस प्रकार नीति में बताया है। यहां पर यह आशंका उत्पन्न होती है कि अर्जुन के स्वरूप का प्रतिपादन करने का क्या उद्देश्य है। इसका वर्णन यहां पर निबंध में नहीं किया है। परन्तु इस निबन्ध के करने के पूर्व ही भागवत की सूक्ष्म टीका की थी। उसमें इसकी संगति का प्रतिपादन किया जा चुका था। अध्यायार्थ तो इतना ही है। इस कारण यहां पर उस संगति का प्रतिपादन नहीं किया है। इस भांति तीसरे प्रकरण में गुणरूप नो अध्याय हैं उनके प्रतिबंध के अभाव के लिये वर्णन किया गया है। तथा बीजादि की शुद्धि से उसका उपयोग होता है यह भी बतलाया गया है।

(आ.) परीक्षित के फल मुखसाधन का चार अध्याय में वर्णन उसके अधिकार के लिये है।

कारिका - परीक्षितस्तथाध्यायचतुष्टयमुदीर्यते।।११८।।

राज्य त्यागविभेदेन राज्ये द्वैविध्यमेव च।

सामर्थ्यस्य द्विरूपत्वाल्लौकिकालौकिकत्वतः।।११९।।

सर्वपृथ्वीजयः पूर्वः कलेश्चापि तथा परः।

धरणी धर्मसंवादस्तयोर्भीतत्वसूचकः।।१२०।।

चार अध्याय परीक्षित के संबंध में कहे गये हैं। राज्य एवं त्याग के भेद से राज्य में द्विविधता है। लौकिक तथा अलौकिक ये भेद सामर्थ्य की द्विविधता से है। प्रथमाध्याय में समस्त धरती के विजय का निरूपण है। द्वितीयाध्याय में कलियुग को जय करने का वर्णन है। पीछे पृथ्वी तथा धर्म के संवाद का निरूपण है वह उनके भय को बताने वाला है।

(प्रकाश) अध्याय के अर्थ के विभाग को **''राज्य त्याग विदेन''** से बताते हैं दो अध्यायों में राज्य का वर्णन किया गया है। तथा दो से ही उसके छोड़ने (त्याग) का कथन हैं सामर्थ्य की द्विविधता में राज्य की द्विविधता कारण है। संपूर्ण पृथ्वी को जीतना लौकिक सामर्थ्य तथा काल को जय करना यह अलौकिक सामर्थ्य है। पृथ्वी एवं धर्म की बातचीत उत्तर का अंगभूत है। इसको कहने के लिये **''भीतत्व सूचकः''** ऐसा बताया है। भय का हेतु कलियुग है कलियुग के भय को मिटाना आगे के अध्याय का अर्थ है। अथवा सर्वत्र आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक धर्मों को स्थापित किया है यह बतलाया गया है। आगे आध्यात्मिक धर्म को स्थापित करना है राजा उसके भय को दूर करता है। यही उत्कर्ष है।

(आ.) इस प्रकरण की दूसरे प्रकरण से भी माहात्म्य बोधकता है इस उद्देश्य से कहते हैं-

कारिका - तत्स्थास्तेन कृतार्थाश्च सुतरां कलिना हताः।

यो रक्षकस्तयोः पश्चात्कलिनिग्रहतो महान्।।१२१।।

तस्यापि कृष्णकथया गतिरन्यकथा तु का।

जो धरती पर निवास करते हैं वे सब धर्म से कृतार्थ होते हैं। कलियुग ने उनको अत्यन्त समाप्त कर दिया है। धरती पर निवास करने वालों की जो रक्षा करने वाला है उससे एवं कलियुग के निग्रह से वह बड़ा हुआ। कृष्ण कथा से जब उसकी गति (मुक्ति) हुई तब फिर दूसरों की गति कृष्ण कथा से हो तो इसमें क्या विशेषता है।

(प्रकाश) अभी धरती एवं धर्म का विषय चल रहा है पृथ्वी पर बसने वाले वे धर्म से ही कृतार्थ होते हैं। इस भांति के मनुष्यों को भी कलियुग ने अत्यन्त नष्ट कर दिया है। भगवान् के प्रमाण पश्चात् कलि का निग्रह करने से उनकी रक्षा करता है। वही महान् कहा जाता है। इसी कारण से यहां अर्थ दो अध्यायों का है। इस भांति से निरूपण का उपयोग यह कहा है कि इस भांति के महान राजा परीक्षित की मुक्ति कृष्ण कथा से हुई।

इससे यह ज्ञात होता है कि इस समय धरती के देवता किया जाने वाला धर्म कृष्ण कथा के तुल्य नहीं है। जिसने काल को जय किया है उसने मृत्यु को भी जीत लिया है। उनको भी भगवान् या भागवत ही मुक्ति दे सकते हैं दूसरा कोई नहीं दे सकता है।

(आभास) यहां पर आशंका होती है कि जिनके ऊपर भगवान् की कृपा दृष्टि थी वे पांडव कलियुग का निग्रह नहीं कर सके। परीक्षित में स्वयं ही कोई विशेषता रही होगी, उसके लिये भागवत का श्रवण करना भगवान् की प्रतिष्ठा बढाने के लिये होगा। इसी कारण से श्री शुकदेवजी ने उस भागवत का श्रवण कराया इस पर बताते हैं–

कारिका – **कृष्णासक्त्या पांडवानां नोत्साहः कलिनिग्रहे।।१२२।।**

कलिदोषाभिभूतानां न श्रद्धा हरिवर्णने ।।१२२ १/२।।

कृष्णासक्ति होने से पांडवों का कलि निग्रह में उत्साह ही नहीं हुआ, श्रीशुकदेवजी ने परीक्षित को भागवत का श्रवण इसलिये कराया कि जो मनुष्य कलि के दोषों में दब गया है उनकी श्रद्धा भगवान् की लीला श्रवण में होती ही नहीं है परीक्षित उसका अधिकारी था अतः उसे ही श्रवण करवायी। (प्र.) पांडवों की आसक्ति भगवान् में थी। भगवान् जब पधार गये जो समर्थ वाले थे फिर भी चले गये। परीक्षित में किसी प्रकार सहज सामर्थ्य नहीं था यहां शंका होती है किं यदि भागवत में सामर्थ्य है तो श्रीशुकदेवजी जिस किसी को श्रवण कराते उसको मोक्ष दे देते फिर क्या कारण है कि उस भागवत को परीक्षित ही को श्रवण कराया। उसका समाधान इस प्रकार है कि भागवत के संबंध में अधिकारी की आवश्यकता नहीं है परन्तु श्रद्धा के संबंध में अधिकारी की आवश्यकता है। अन्यथा "**प्रवृत्त मानस्य गुणारनात्मन**" यह विरूद्ध हो जायगा। इसका जिसकी अच्छी भांति श्रद्धा है वही भागवत श्रवण का अधिकारी है। परीक्षित ने कलियुग को भयभीत कर दिया था इस कारण वह भगवद् भावों को कष्ट नहीं देता है।

(आ.) यहां पर आशंका होती है कि कलियुग ने परीक्षित की दुर्बुद्धि कर उसको कष्ट दिया तब फिर कलियुग अन्यों को मुक्त किस प्रकार होने देगा।

कारिका – **ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न दाहो लौकिको मतः।।१२३।।**

अतः शापमिषेणेशस्तक्षकाग्निमवासृजत्।

कलेः स्थानप्रदानाद्धि ब्राह्मणातिक्रमे मतिः।।१२४।।

युगाभिमानिदेवस्य स्वाधिकारपरिच्युतिः।

निग्रहो रूपरक्षार्थं स्थानदानं प्रकीर्तितम्।।१२५।।

देशकालानुसारेण शुद्ध्यशुद्धी प्रकीर्तिते।

कलौ षण्णां तथापेक्षा नास्ति धर्मोन्नतिस्ततः।।१२६।।

असिद्धत्वात्तामसत्वात्तामसं फलमस्य तु।
चित्तशुद्धिर्न चैव स्यात्पंकिलोदकपूरवत्।।१२७।।
मालिन्यं मलिने लोके न सम्गुपजायते।
दुःखं च तामसं तस्य मूढं सह्यमलौकिकम्।।१२८।।

जो शरीर ज्ञान की अग्नि से जलता है उसको लौकिक दाह नहीं माना गया है। इस कारण शाप के बहाने से ऋषि ने तक्षक अग्नि की सृष्टि की। कलियुग को रहने का स्थान परीक्षित ने दे दिया इस कारण ब्राह्मण का अपमान करने की उसकी बुद्धि हो गयी। युग के अहंकारी देवता (कलियुग) को अपने अधिकार से परिच्युत किया और उसका निग्रह किया एवं उसे अपने स्वरूप की रक्षा के लिये स्थान भी दे दिया इसका कथन है। देश एवं कालानुसार शुद्धि एवं अशुद्धि का वर्णन किया। छः की शुद्धि की कलियुग में आवश्यकता नहीं है। कलियुग के स्वरूप की रक्षा से ही धर्म की उन्नति हुई।

कलियुग के असिद्ध एवं तामस होने के कारण उसका तामस फल होता है। कलुषित जल से जिस प्रकार शुद्धि नहीं होती है। उसी भांति कलियुग के धर्मों से चित्त (मन) की शुद्धि नहीं होती है। मलिन लोक से मलिनता ही पैदा होती है। इससे उत्पन्न होने वाला दुःख तामस कहलाता है। इस कारण मूढता रूप सहन करने योग्य नहीं होता है। तथा अलौकिक है

(प्र.) ब्राह्मण का अपमान परीक्षित ने किया वह कलियुग द्वारा नहीं हुआ वह तो भगवान् ने ही कराया था। यहां पर यदि यह शंका हो कि भगवान् ने परीक्षित को अपमान करने की मति क्यों दी उसका समाधान कर कहते हैं कि उसने दुष्ट कलियुग को स्थान दिया था इस कारण उसका तामस के काम में आग्रह हो गया था। इससे यह प्रमाणित होता है कि अधर्म को स्थान देने के कारण ही उसकी मति उस प्रकार की हो गई थी। आशंका होती है कि कलि तो कालस्वरुप है उसकी कोई मूर्ति नहीं होती है तो यह निरन्तर वर्तमान समय उसका निग्रह है तथा उसको स्थान प्रदान करना किस प्रकार हो सकता है। इसका समाधान करते हैं कि कलि जो कालस्वरूप है उसका देवता अहंकारी है। उसी निग्रह तथा उसी को स्थान दिया। कहने का आशय यह है कि परीक्षित के राज्य समय में कलियुग के धर्मों की प्रवृत्ति नहीं हुई थी केवल उसका निग्रह था। कलियुग के स्वरूप की रक्षा करना यही उसके स्थान का दान था। यहां पर शंका होती है कि अधर्म को निवास के लिये स्थान दिया तथा उसके द्वारा होने वाले ब्राह्मण के अपमान का अन्त मोक्ष किस प्रकार हो गया। उसका समाधान इस प्रकार है कि देश काल के अनुसार शुद्धि बतलाई गई है। कलि अति दुष्ट नहीं है जिस भांति अन्त समय में रोग होता है उसी प्रकार कलियुग के अन्त समय में भगवान् का स्मरण होने से उसकी शुद्धि हो जाती है। इस कारण यह कलिकाल शुद्ध है कलियुग बिना किसी सहायता के ही हुए हैं इसलिये इसके स्वरूप की रक्षा करने से धर्म की उन्नति हुई। कलि में किये तामस कर्मों से कभी मुक्ति हो जाती है। इससे

यह जान पड़ता है कि कलियुग महान् है। महान् को बचाना सात्विक कार्य है। ब्राह्मण के अपमान करने की मति परीक्षित में क्यों हुई तथा क्यों उसकी सर्प के डसने से मृत्यु हुई। इसका उत्तर यह है कि कलि में यदि धर्म होता तो कलियुग के असहाय वीर होने से उसको बचाने से सात्विक कर्म होता किन्तु उसमें तो धर्म ही प्रामाणिक नहीं है। इस कारण उसकी रक्षा करने का ऐसा फल परीक्षित को प्राप्त हुआ। कलियुग तामस सत्य युग सात्विक, त्रेता राजस तथा सात्विक है। द्वापर राजस और तामस है तथा कलियुग तो केवल तामस है। इस कारण तामस युग को बचाना भी तामस है तथा उसका फल भी उसी तरह को होता है। इस कलि में धर्मों से चित्त की शुद्धि नहीं होती है परन्तु स्वर्गादि ही होते हैं। कलियुग में अदृष्ट फल प्राप्त होती है। प्रत्यक्ष (दृष्ट) फल प्राप्ति नहीं है। इसमें गंदले जल के प्रवाह का उदाहरण दिया है। पापाभाव में भी ऐसा ही मानना चाहिये। इसको लौकिक न्याय बताया है। **"मालिन्यं मलिने लोके"** बुरे भाग्य (अदृष्ट) को दुर्दृष्ट बताया है। उससे नरक की प्राप्ति तो नहीं होती है परन्तु पाप से ऐहिक कष्ट ही मिलता है। उस दुःख को तामस बताया है। तीव्र पीड़ा रूप नहीं होता है परन्तु मोहस्वरूप होता है। इस कारण वह सह्य होता है तथा दुःख अलौकिक कहा है। इस कारण उसकी लोकनिन्दा भी नहीं होती है। इस प्रकार कलियुग की महत्ता का वर्णन किया गया है।

(आ.) भगवान् कृष्ण कीर्तन से कलियुग के बंधन से मुक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। कलियुग की यही मुख्य विशेषता है यहां कहते हैं कि उसका प्रतिपादन क्यों नहीं किया? उसका समाधान करते हैं-

कारिका - भागवता प्रवृत्तेर्हि कीर्तनाद्यादरो न हि।
अग्रे तस्य कथा वाच्चा सारोयमिति बुध्यताम्।।१२९।।
कल्पभेदाद्धारतादि कथाया विरूध्य ते।
सर्वज्ञत्वादृषीणां हि श्रवणार्थं तथा गतिः ।।१३०।।

भागवत पुराण में प्रवृत्ति होने से भगवान् के कीर्तन आदि में आदर उत्पन्न हुआ। कीर्तन का यदि आदर नहीं करेंगे तो कार्य पूरा नहीं होगा। द्वादश स्कन्ध में इसकी परीक्षित कथा का वर्णन किया जायगा। इस युग संक्षेप (सार) है यह जानना चाहिये। परीक्षित की कथा का महाभारत में उत्तमत्व का प्रतिपादन नहीं किया है किन्तु कल्प भेद से उसको विरूद्ध नहीं जानना। परीक्षित के यहां ऋषियों का आगमन दया से नहीं था परन्तु ऋषि सर्वज्ञाता थे। इस कारण भागवत श्रवणार्थ वहां पर आये।

(आ.) व्यासजी तथा नारद जी ये मध्य वक्ता थे ये किसी कारण से नहीं आये होंगे। इस प्रकार की शंका करके उनके वहां पर नहीं आने का कोई अन्य ही उद्देश्य था उसका वर्णन करते हैं।

कारिका - व्यास नारदयोश्चैय तत्प्रवृत्तिदिदृक्षया।
अविरक्तमध्यमत्वाद्रामस्य क्रियया गतिः।।१३१।।

वैराग्याभाव से व्यास एवं नारद में मध्यमता थी इस कारण से उस प्रवृत्ति को देखने की इच्छा से नहीं आये थे। परन्तु वहां परशुरामजी आये कारण कि वे क्रिया शक्ति के अवतार थे तथा भागवत उस क्रिया शक्ति का विशेष रूप से वर्णन करता है। उनका आगमन इसलिये ठीक ही था। यहां पर शंका होती है कि सर्वश्रेष्ठ तो भगवान् है इस कारण यहां पर अलौकिक धर्म द्वारा उत्कर्ष एवं अपकर्ष का विचार क्यों किया। सब भगवान् के अंश हैं तथा शुकदेवजी की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं इस शंका पर बताते हैं–

कारिका – शुकः शिवस्ततोऽप्येवमीश्वराज्ज्ञानसंस्थितिः।
एतदर्थं हि भगवानवतीर्णो वृषध्वजः।।१३२।।
द्वात्रिंशल्लक्षणैर्युक्तो भक्तानां सुरपादपः।
तत्र प्रश्नद्वयंलोके सर्वदोपमृर्ति क्रमात्।। १३३।।

श्री शुकदेवजी शिव के अवतार तथा ब्रह्मज्ञानी होने के कारण अलौकिक श्रेष्ठता भी थी। ईश्वर द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान ही स्थिर रहना है। इस कारण वृष ध्वज भगवान् शिव ने ही शुकदेव के रूप में अवतार ग्रहण किया था। बत्तीस लक्षणों से युक्त श्री शुकदेवजी थे तथा भक्तों के लिये तो वे कल्प वृक्ष के समान थे। श्री शुकदेवजी से उस राजा ने दो प्रश्न पूछे। लोक (संसार) में हमेशा क्या करना चाहिये तथा मृत्यु के समीप होने पर उस समय क्या करना चाहिये।

(प्र.) गुणों के अवतार होने के कारण श्री शुकदेवजी भी श्रेष्ठ थे। ब्रह्मज्ञानी होने से लौकिक में भी उनकी श्रेष्ठता थी। इसके अलावा अन्य कारण बताते हैं। ईश्वर से दिया हुआ ज्ञान भली प्रकार से स्थिर होता है। वह ज्ञान मायादि से छिपता नहीं है। जिस भांति नीरोग के लिये सूर्य देव से कामना की जाती है उसी भांति ज्ञान शिव से प्राप्त करना चाहिये। ऐसी ही व्यवस्था चारों के लिये प्रधान है यह बताया गया है। यहां शंका होती है। कि भगवान् शिव को शुकदेव के रूप में अवतार ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी इसका समाधान इस प्रकार से है कि भगवान् कृष्ण ने सभी की मुक्तिहेतु अवतार ग्रहण किया था परन्तु जब स्वधाम गमन का समय आया उस समय शिवजी को अपने स्थान पर स्थापित कर गये थे। इस कारण भागवत में प्रवृत्ति हेतु शिवजी (शुकदेवजी) का अवतार है। यहां पर शंका होती है कि शिवजी काशी में रहकर ज्ञानोपदेश कर ही रहे थे तब फिर उनको अवतार ग्रहण करने की क्या आवश्यकता हुई। शिव को वृषध्वज भी बताया गया है। वृष धर्म को सूचित करता है। यद्यपि शुकदेवजी को कर्मपुराण में शिव अवतार कहा है किन्तु महापुरुषों में बत्तीस गुण कहे गये हैं उससे उनकी महापुरुषता प्रमाणित होती है। श्री शुकदेवजी के आगमन पर राजापरीक्षित ने जो किया उसको बताते हैं। परीक्षित ने यह प्रश्न किया कि हमेशा क्या करना चाहिये और मृत्यु को प्राप्त करने वाले को क्या करना चाहिये।

तत्वदीपनिबन्ध श्रीमद्भागवतार्थप्रकरण प्रथमस्कंध भाषानुवाद संपूर्ण।

भागवतार्थ प्रकरण

द्वितीयस्कंध प्रथम से दश तक अध्याय

दूसरे स्कन्ध में स्कन्धार्थ, प्रकरणार्थ एवं अध्यायार्थ को बताने के लिये संगति के हेतु पहले स्कन्ध में सिद्ध का अनुवाद करते हैं–

कारिका – **उत्तमे चोत्तमश्रोतुः प्रश्न आद्ये निरूपितः।**
अध्यायदशकैस्तत्र सांगं श्रवणमीर्यते।।१।।

अर्थ – उत्तम वक्ता श्री शुकदेवजी ने उत्तम श्रोता परीक्षित के प्रश्न का पहले स्कन्ध में वर्णन किया है। अंग के साथ उस प्रश्न के उत्तर में श्रवण का वर्णन करते हैं उस समय परीक्षित ने पूछा कि मेरे लिये अब क्या कर्त्तव्य है, तब श्री शुकदेवजी ने कहा कि अब तुम्हें साग सहित सुनना चाहिये। दस अंग श्रवण के बताये गये हैं दूसरे स्कन्ध के दस अध्याय में उनका प्रतिपादन किया गया है। दूसरे स्कन्ध का अर्थ इसीलिये श्रवणांग है।

सारी भागवत श्रवण विधि का अंग है। दस स्कन्ध विषय रूप हैं। पहला स्कंध आधिकारार्थ है तथा दूसरा स्कन्ध अंग प्रतिपादन के लिये है। इस तरह के भाव से भागवत श्रवण ही महावाक्य का अर्थ है तथा वह श्रवण क्या है। इस आकांक्षा के समाधान में बताते हैं।

कारिका – **शक्तितात्पर्यनिर्धारः श्रवणं पदवाक्योः।**
तत्त्वध्यानं हृत्प्रसादो मननं चांगमुच्यते।।२।।
श्रोतव्यविषयत्वेन लीला दशविधा पुनः।
वक्तव्या वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृतिः।।३।।
शक्तितात्पर्यनिर्धारः सामान्येन पदादिः।
अंगोक्त्यैव सुसंसिद्धौ द्वितीयोऽङ्गविनिश्चये।।४।।
कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धारः पदवाक्ययोः।
गुणातीत स्वरूपत्वे निर्गुणश्रुतिनिर्णयः।।५।।

अर्थ – पद में शक्ति का निर्धार और वाक्य में तात्पर्य का निर्धार श्रवण है पद में शक्ति तात्पर्य का निर्धार और वाक्यों में शक्ति तात्पर्य का निर्धार श्रवण है। श्रवण के तीन अंग है १ तत्त्व ध्यान २ हृत्प्रसाद, ३ मनन। तत्त्व के स्वरूप का चिंतन तत्त्वध्यान बताया गया है। चित्त शुद्धि को हृत प्रसाद कहा जाता है। तीनों अंगों के कथन से प्रकरण विभाग का प्रतिपादन हो जाता है। दशविध लीला भगवान् वासुदेव ही श्रवण योग्य है। इसके पहले स्कन्धार्थ नाम की गणना भी कर दी है। यहां पर यदि यह शंका हो कि धर्मी का श्रवण किसी भी

धर्म के साथ किया जा सकता है। ऐसा कोई प्रावधान नहीं है कि दश विध लीला से संयुक्त का ही श्रवण करना चाहिए इसके लिये **''तदथपराकृति''** यह उत्तर है। यदि इस तरह की लीला ही सुनने योग्य है (श्रोतव्य) ऐसा नहीं होता तो आगे के दश स्कंधों में प्रतिपादन की जाने वाली लीला निरर्थक हो ज़ाती है इसलिये अपराकृति दशविध लीलाओं की कृति से वेही श्रोतव्य हैं। साधारण रूप से शक्ति तात्पर्य का निर्धार पद तथा वाक्य से ही होता है। अंगों के प्रतिपादन से ही अंगी का प्रतिपादन प्रमाणित हो जाता है। आशय यह है कि जब सभी अंगों का वर्णन कर देंगे तब अंगी उससे पृथक् किस प्रकार होगा। दूसरा स्कंध अंगों के निश्चयार्थ है। शक्ति का आशय निर्धार दूसरे स्कंध में स्पष्ट नहीं किया गया है अतः उसे स्पष्ट बताने के लिये **''कृष्णस्य सर्वरूप त्वे''** इस प्रकार बताया है। कहने का आशय यह है कि भगवान् कृष्ण सर्वरूप है इसलिये जितने भी पद तथा वाक्य हैं वे सभी भगवद् वाचक हैं। शक्ति संकोच पक्ष रखेंगे तब जिस पद में शक्ति होगी वही उसका कहने वाला होगा। भगवद् वाचक नहीं होगा। यदि इस प्रकार की आशंका हो कि दशविध लीला श्रवण कहा गया है तथा वेदो में **''आत्मा श्रोतव्या''** इस प्रकार कहा गया है इस कारण विरोध आयेगा इसका समाधान यह हैकि दो रूप भगवान् के हैं प्रथम गुण से अतीत तथा द्वितीय सगुण है। गुणातीत को वेद में श्रोतव्य कहा गया है तथा पुराण में सगुण को श्रोतव्य कहा गया है। इसलिये वेद जब निर्णय से निर्णय करेंगे वहां पर गुणातीत श्रोतव्य होगा। कारण कि श्रुतियां निर्गुण कही गयी हैं। भगवान् को पुराण में तो सगुण बताया है। इस कारण दश विध लीला से संयुक्तभगवान् ही सुनने का विषय है।

श्रोतुर्वक्तस्तथा श्रद्धा कारिका से द्वितीय अंग को प्रमाणित करते हैं-

कारिका - **श्रोतुर्वक्तस्तथा श्रद्धा सान्यसेवा बहिर्मुखा।**

श्रोतुर्वक्तुः समुत्साहो नमनाद्यादरात्स्फुटः।।६।।

अर्थ - श्रद्धा के बिना सुनना नहीं होता है इसलिये सुनने वाला तथा बोलने वाले (वक्ता) में श्रद्धा होनी चाहिये। कहने का आशय यह है कि पहले प्रकरण की भांति श्रद्धा भी अंतरंग है। जिस प्रकार दशविध लीला युक्त भगवान् से पृथक् का श्रवण नहीं होता है उसी भांति दशविध लीला से प्रतिपाद्य रूप से पृथक् रूप में श्रद्धा नहीं होती है। सुनने वाले की दूसरे स्थान पर श्रद्धा होगी तब उसका सुनना निरर्थक रहेगा। इस कारण सुनने वाले में आदर होना परमावश्यक है। वक्ता श्रद्धा तो नमनादि की श्रद्धा से स्पष्ट हो जाती है।

इस भांति मध्यम प्रकरण के अर्थ को स्पष्ट कर तीसरे प्रकरण में अवान्तर अन्तर है इसलिये उसका वर्णन करते हैं-

कारिका - **उत्पत्त्याः चोपपतया च सर्वस्वं तस्य चिन्त्यते।**

तथा च व्यतिरिक्तत्वं फलतस्त्वस्य निर्णयः।।७।।

अर्थ - उत्पत्ति तथा उपपत्ति के द्वारा सर्वभगवान् हैं इस प्रकार का विचार किया जाता है। 'च' का तात्पर्य

है उत्पत्ति में उत्पत्ति तथा उत्पत्ति में उत्पत्ति आवश्यक है। सर्व उत्पत्ति भगवान् से ही होती है इस कारण सभी भगवान् हैं यदि इस प्रकार प्रतिपादन करेंगे तब उसमें यह आशंका उत्पन्न होगी। कि **"वृक्ष बीजन्याय"** से भगवान् ही यदि सभी हो जाते हैं तथा पृथक् नहीं रहते हैं तब उत्पत्ति ही घटित नहीं होती है इसलिये उत्पत्ति एवं उत्पत्ति में भगवान् की भिन्न स्थिति जाननी होगी। इसका समाधान यह है कि इसका निर्णय तो फल द्वारा ही हो जायेगा।

इस भांति अंगों का निर्णय करने के पश्चात् उसी के द्वारा अंगी सिद्धि को बताते हैं।

कारिका - **ततो लीलाः सदा वाच्या श्रोतव्याः श्रवणेन हि।**
म्रियमाणे विशेषेण योगो ह्यष्टांग इर्यते।।८।।
अन्ते मतिर्गतित्वं हि मनश्चलमस्थिरम्।
पाक्षिकोऽपि हि दोषोऽत्रपरिहार्यः सुसात्त्विकैः।।९।।

अर्थ - भगवान् के निर्णय पश्चात् भगवान् की लीलाओं का संकीर्तन करना चाहिये। नहीं तो उनमें लीला पना विद्यमान नहीं रहेगा। कानो से लीलाओं का श्रवण करना चाहिये इसके साथ ही स्मरण भी होना चाहिये अष्टांगयोग म्रियमाण के लिये करना चाहिये। उसमें कारण यह है कि मन चलायमान है अस्थिर है इस कारण अन्तसमय में जैसी बुद्धि होती है उसी तरह की गति होती है। इस कारण पाक्षिक दोष दूर करने के लिये सात्विकों को अष्टांगयोग करना चाहिये।

अन्तकाल में अच्छी बुद्धि रहे उसके लिये साधनों का प्रतिपादन करते हैं-

कारिका - **गृहत्यागस्तीर्थवासो योगाभ्यसनमेव च।**
अन्तकाले त्ववश्यं हि यथा चित्तं न भिद्यते।।१०।।

अर्थ - अन्त समय में शुद्धमति रहे इसके लिये गृहत्याग, तीर्थवास, योगाभ्यास से तीन प्रकार के साधन कहे हैं। श्रवण अथवा योग इन दोनों में से किसी एक को किया जाय ऐसा विमर्श है। सभी करने चाहिये ऐसा भी किन्हीं का कथन है। किन्हीं के कथनानुसार अधिकार के अनुसार करने चाहिये। यह व्यवस्था बर्हिमुख एवं अन्तर्मुख है ऐसा किन्हीं का मंतव्य है। शुकदेवजी ने पहले के जन्म में उस तरह किया था। इस कारण उनका ऐसा अनुभव था। श्रवण को तो शुकदेवजी ने पहले के जन्म में वैसा किया था। इस कारण उनका इस प्रकार का अनुभव था। शुकदेवजी ने श्रवण व्यास जी से किया था। अतः अन्त समय में श्रवण अवश्य मेव करना चाहिये जिससे भगवान् से मन पृथक् नहीं हो।

ज्ञानमार्ग को छोड़कर भक्तियोग किस लिये स्वीकार करते हैं-

कारिका - **श्रुतात्मब्रह्मभावस्य नानन्दानुभवः सदा।**
मनसश्चंचलत्वाद्धि स्थिरे योगेन साधिते।।११।।

सगुणं मानसीं मूर्तिं हरेः कृत्वाण्डरूपिणीम्।
अन्तर्यामिस्वरूपां वा ध्याने सत्त्वमये हृदि।।१२।।
प्रकटः परमानन्दस्तत्र स्थित्वा सुखी भवेत्।
गुणानां प्रेरकत्वेहि स्थिरता साधनेमताः।।१३।।

अर्थ- ''तत्त्वमसि'' इत्यादि श्रुति वाक्यों से जिसने अपने ब्रह्म को जान लिया है उसके लिये दूसरा कोई कर्त्तव्य तो बाकी नहीं रहता उसे केवलानंद का अनुभव करना है। उसे वह आनन्द की प्राप्ति नहीं है इसलिये उसको कोई दूसरा साधन खोजना होगा। कहने का आशय यह है कि जिन साधनों का फल निर्धारित है उसमें श्रुति द्वारा कही गई बात नहीं मिलती है। तब फिर साधनों का ही उपदेश करना चाहिये। जीव साक्षात् ब्रह्म है यह नहीं अपितु जीव में ब्रह्म का व्यपदेश (ब्रह्म सदृश) जानना चाहिये। जिस प्रकार प्रतिभा में विष्णु बुद्धि व्यपदेश पक्ष से जानते हैं। इस कारण मन की चपलता को योग करके उसको स्थिर करना चाहिये। इसके पश्चात् भगवान् हरि की सगुण मानसी मूर्ति का विराट् स्वरूप में या अन्तर्यामीरूप में सत्वमय हृदय में ध्यान धरना चाहिये। परम आनंद तब प्रकट होगा। उस परमानन्द में स्थित होकर सुखी हो जाय। सत्त्वादि गुणों द्वारा यदि चंचलता आ जाय उस समय साधन द्वारा मन में स्थिरता करनी चाहिये। यह आसन्न मृत्यु (निकट है मृत्यु जिसकी) वाले के लिये नहीं कहा है परन्तु जो मृत्यु को चाहता है उसके लिये बताया है।

कारिका - आमृतेस्तत्र तिष्ठेत् बुद्धया वा तनुमुत्सृजेत्।
लिङ्गं च तत्र त्यक्तव्यमग्रे गत्वाथ वा त्यजेत्।।१४।।
धर्मस्य वासनाशेषाद्यदीच्छा पारलौकिके।
स्थूलस्य भावनायां हि यदि मृत्युस्तदा भवेत्।।१५।।
चतुर्मुखत्वं सूक्ष्मे तु प्रधानफलमेव हि।
मनोमय्या अपि यतो मुक्तिदातृत्वमुच्यते।।१६।।
स्थूलेन भाविते चित्ते भक्तिः सूक्ष्मे तदा मनः।
भक्त्यभावे तथा रागे न सूक्ष्मे विशते मतः।।१७।।

अर्थ - योग से आयु के बढने पर जो शरीर का त्याग करता है अथवा मति पूर्वक जो देह छोड़ता है वहां पर भी दो प्रकार के मत हैं। सभी तरह की इच्छा के बिना शरीर को छोड़ने के समय में ही लिंग का परित्याग करना चाहिये। तभी शीघ्र मुक्ति होती है। क्रम से या अंश से परित्याग किया जाता है तब क्रम मुक्ति कही है। जब शीघ्र मुक्ति हो जाती है तब फिर क्रम मुक्ति पक्ष किस लिये है। उसका कारण कहते हैं कि स्वर्गादि के साधक जो धर्म पूर्व में किये थे वे धर्म योग साधना के द्वारा निवृत्त हो जाते हैं। परन्तु फल के विषय में वासना के

बच जाने से वे धर्म रह जाते हैं तब परलोक की कामना होती है। ध्येय भेद से भी फल भेद होता है। इसलिये यदि विराट (स्थूल) की भावना कहते हुए मरण हो जाता है। तब लोक व्यवहार रूप चतुर्मुखता उसको मिलती है और सूक्ष्म ध्येय यदि विषय होता है। तब उसे फल शीघ्रमुक्ति या क्रममुक्ति मिलती है। इस बात से यह मानलें कि योग से ही मुक्ति होती है तथा भक्ति से नहीं होती है। तब फिर पहले बताया गया श्रवण आदि मार्ग निरर्थक हो जायगा। इसका समाधान यह है कि अष्टांग योग में ध्यान से मनोमयी मूर्ति भी तब मुक्ति देने वाली होती है तब श्रवण आदि के द्वारा स्वाभाविक भगवान् जब प्रकट हो जाते हैं उस योग से भी श्रवण आदि की बड़ी विशेषता है। ऐसी यदि यहां शंका हो कि इस कल्पना में प्रमाण क्या है? इसका समाधान यह है कि स्थूल तथा सूक्ष्म भेद से ध्येय दो तरह का है। इसलिये स्थूल ध्येय से जब मन भावित होता है तब भक्ति पैदा होती है। इस कारण स्थूल ध्यान भक्ति का अंग हुआ तथा भक्ति साध्य सूक्ष्म ज्ञान फल का साधक होता है। भक्त यदि नहीं हो अथवा राग हो तब सूक्ष्म में मन प्रविष्ट नहीं हो सकता है।

नियामक इसमें ओर भी है उनको कहते हैं-

कारिका - सर्वस्य भक्तिशेषत्वं तद्धेतुः श्रवणादिकम्।
निर्वाहकं तदन्योन्यं तेन त्रयमुदीर्यते।।१८।।

अर्थ - श्रवण, कीर्तन, तथा मनन, तीनों ही हरेक भक्ति के अंग कहे हैं। ये भक्ति के साधक हैं तथापि श्रवण बिना कीर्तन कैसे संभव है तथा बिना कीर्तन के श्रवण कैसे संभव है। बिना श्रवण मनन संभव नहीं है ये तीनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। इस कारण तीनों का यहां वर्णन किया गया है। यहां पर आशंका पैदा होती है कि जब श्रवण या योग इन दोनों में से कोई एक साधन करना चाहिये फिर हमेशा श्रवण की क्या आवश्यकता है। योग की साधना जब करनी है तब अन्त में थोड़े समय में साध्य योगी की ही साधना करनी चाहिये। श्रवण की क्या आवश्यकता है। अन्त में योग की ही साधना करनी चाहिये इस पर बताते हैं

कारिका - बहुकाल विलम्बे तु सुगमं त्वेतदेव हि।
अन्यथा पापसंवृद्धौ न त्यागे विशते मनः।।१९।।
अत्यागेऽपि हरिः प्रीतः स्वयं वा साधयेत्फलम्।
एवं श्रीकृष्ण भजनमध्याद्वितयेन हि।।२०।।
श्रवणादिभिरुक्तं हि नित्यमेतन्न चेतरत्।

अर्थ- अन्त समय जब निश्चित (सन्दिग्ध) नहीं है फिर यदि योग में प्रवृत्ति करना है काल विलम्ब के कारण दुःख को प्राप्त करता है। श्रवण तो सुख की प्राप्ति ही करता है। इस कारण सुगम होने से श्रवण ही करना चाहिये। बिना श्रवण के पाप की अभिवृद्धि ही होगी। त्याग के बिना योग में चित्त प्रविष्ठ नहीं होगा और श्रवण में

तो त्याग बिना भी भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे तथा स्वयं फलदान करेंगें। श्रीकृष्ण का भजन दो अध्यायों में वर्णन ह। उनका भजन श्रवण से कहा गया है। इस कारण श्रवण आदि नित्य है। योग पाक्षिक (पन्द्रह दिन) का है। हमेशा का नहीं है।

इस भांति दो अध्यायों के अर्थ का विचार कर तृतीय अध्याय के अर्थ का विचार करते हैं।

कारिका - कामेन त्वन्यभजनमस्मिन् कामोऽपि सिध्यति।।२१।।
सर्वेन्दियाणां वैफल्यमसेवायां भविष्यति।
निषिद्धार्थत्व साम्येंन द्वयमेकत्र चोदितम्।।२२।।
श्रोतुरुत्साहकथने सन्देहाच्छौनके कृतम्।
भजने बाधनिर्धारो द्वयमेकत्र सिद्धयति।।२३।।
यावत्प्रभोः स्वरूपं च गुणाः कर्मादयस्तथा।
न सम्यगवगम्यन्ते तावद्भजनसंशयः।।२४।।

अर्थ - यद्यपि आशयकता बिना तथा बाधक के बिना भगवान् के सिवाय दूसरे देवताओं के भजन की आवश्यकता नहीं रहती है। परन्तु यदि इच्छा हो तो उन उन संबंधित देवताओं के भजन की आवश्यकता होती है। परन्तु उन देवताओं का भजन नहीं कर भगवान् का ही भजन किया जाय तो इच्छा की पूर्ति भी हो जाती है। तथा भगवान् का भजन नहीं करने से सभी इन्द्रियों की निरर्थकता हो जायेगी। कामना बिना भी इन्द्रियों की सफलता के लिये भगवान् का भजन करना चाहिये। यदि इन्द्रियों को सफल नहीं किया गया तो उन इन्द्रियाभिमानी देवता भगवान् का संबंध नहीं होने से दुःखी होंगे। इस कारण मोक्ष को पाने में या ज्ञान प्राप्ति में बाधक होने से दुःखी होंगे। इस कारण मोक्ष को पाने में या ज्ञान प्राप्ति में बाधक हो जायेंगे। तृतीय अध्याय में दूसरे देवताओं के भजन करने को मना किया गया है। उसी प्रकार भगवान् के भजन का भी निषेध किया गया है। यह कैसे? इसका समाधान करते हैं कि निषिद्धता की समानता होने से दोनों का निषेध एक स्थान पर बता दिया गया है। तृतीय अध्याय में सुनने वाले की श्रद्धा का वर्णन है। परीक्षित तो उत्तम अधिकारी है इसलिये उसमें तो श्रद्धा निश्चित रूप से है परन्तु शौनक की श्रद्धा में संदेह की संभावना है। इसलिये श्रोता के उत्साह की वृद्धि करना शौनक के लिये ही है। भजन में रूकावट का निर्धार तो दूसरे देवताओं के भजन के लिये है परन्तु वह साधारण है। ज़ब भगवान् का दूसरे रूप में भजन किया जाता है तो उससे दूसरे देवताओं के भजन का तथा इन्द्रियों का बोध हो जाएगा। इसलिये भगवान् के अलावा भजन में इन्द्रिय दोष कारण है शौनकजी को जब यह मालुम था तब फिर उन्होंने प्रश्न क्यों किया? उसका समाधान यह है कि जब तक प्रभु का स्वरूप, गुण कर्मादि भली भांति समझ में नहीं आते तब तक भजन में संदेह होता ही है। इसलिये प्रश्न करना उपयुक्त ही है।

इस भांति तृतीय अध्याय में शौनक जी के उत्साह का वर्णन करके चौथे अध्याय में राजा परीक्षित में इन्द्रिय दोष कारण है शौनकजी को जब यह मालुम था फिर उन्होंने प्रश्न के उत्साह का प्रतिपादन करते हैं-

कारिका - भजनार्थं समुत्साहो ममतानाशपूर्वकः।
त्यक्तोऽपि विषयोऽन्तःस्थो ज्ञानादेवनिवर्तते ः।।२५।।
तत्त्यागपूर्वकः प्रश्नः कृतः स्वोत्साहबोधकः।
नमने नैव निर्धारं सामान्येन शुकोजगौ।।२६।।

अर्थ - राजा परीक्षित के भजन हेतु श्री शुकदेवजी ने उत्साह की वृद्धि की। उसके पूर्व उस की ममता नष्ट करने के लिये वर्णन किया। ममता को नष्ट करने के लिये सामान्यरूप से श्रद्धा का प्रतिपादन करने वाला है। यहां पर यदि आशंका हो कि जब परीक्षित ने प्रायोपवेश कर लिया था इस कारण उसकी राज्यादि में तो उसकी ममता पूर्व ही समाप्त हो चुकी थी तब फिर ममता के संबंध में बताना निरर्थक है उस पर कहते हैं कि विषयों को छोड़ भी दिया जाय परन्तु अन्तस्थ होकर विषय रहता है। उसकी निवृत्ति तो ज्ञान द्वारा ही होती है। समस्त ममता को ज्ञान द्वारा ही छोड़ा जा सकता है। इसलिये परीक्षित ने ममता त्यागपूर्वक उत्साह के संबंध में प्रश्न किया। शुकदेवजी का उत्साह भगवान् को प्रणाम तथा प्रार्थना द्वारा ही सिद्ध होता है। इस प्रकार समाधान किया।

कारिका - एवमुत्साहसंसिद्धिर्विश्वासार्थं कथावचः।
एतज्ज्ञानं भागवतश्रवणादेव नान्यथा।।२७।।
इति नारदसन्देहो ब्रह्मवाक्यं तथोच्यता।
विमर्शोऽपि ततः सिध्ये दुत्पत्त्या सा त्रिधा मता।।२८।।

अर्थ- दो कारिकाओं द्वारा पूर्व कथित प्रकरण का उपसंहार करते हैं। शुकदेवजी के किये गये नमन एवं प्रार्थना से सब में उत्साह की वृद्धि हुई। श्री शुकदेवजी ने स्वतः प्रमेय वर्णन का त्यागकर विश्वास हेतु ब्रह्मा एवं नारदजी के संवाद को बताया। नारदजी का प्रश्न भी उसमें यह जताता है कि यह ज्ञान भागवत के सुनने से ही होता है। दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता है। इस कारण सर्वज्ञाता नारदजी ने प्रश्न पूछा तथा ब्रह्माजी ने भी समाधान किया नारदजी यदि जानते हुए प्रश्न करते तब ब्रह्माजी उनके प्रश्न की ओर ध्यान नहीं देते इस प्रकार नारदजी एवं ब्रह्माजी के वचनं तथा अनुवचन से ही विमर्श सिद्धि बताई है। वह विद्या उत्पत्ति से तीन तरह की कही है उसका यहां निरूपण करते हैं।

कारिका - अनित्ये जननं नित्येऽपरिच्छिन्ने समागमः।
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं सत्त्वतः स्वतः।।२९।।
सूक्तार्थकथनं मध्ये भजनार्थं हि सर्वथा।

अर्थ – शरीर की उत्पत्ति अनित्य होती है तथा नित्य एवं अपरिच्छिन्न शरीर में समागम है। नित्य और अपरिच्छिन्न शरीर में प्रकट दो प्रकार से होता है। पहला आवेश स्वरूप से तथा दूसरा अवतार रूप से होता है। लोक में वस्तु की उत्पत्ति निर्धारण से भजन का निर्धारण होता है। जैसे किसी के द्वारा निर्मित की हुई मूर्ति होती है जिसमें प्राण प्रतिष्ठादि कर आवाहन किया जाता है। वह दूसरी मूर्ति है तथा तृतीय मूर्ति वह है जो अपने आप (स्वतः) ही प्रकट होती है। जिस प्रकार वेंकटेश आदि की मूर्ति है। जो स्वतः प्रकट होती है। उसमें भगवान् की नित्य स्थिति कही है। उसको अवतार कहते हैं परिमित समय तक जिसमें भगवान् की स्थिति विद्यमान् रहती है उसको आवेश कहते हैं। पहले प्रकार की मूर्ति का भजन लौकिक दूसरी तरह की मूर्ति का भजन वैदिक बताया है और तीसरी प्रकार की मूर्ति का भजन आन्तरानुभव सिद्ध है।

कारिका – तन्मूलत्वाद्धि सर्वस्य तज्जे तद्रूप एव च।।३०।।
मूलभक्त्यैव भजनमतः प्राकट्यसंकथा।
तस्यापि मूलं कृष्णस्तु विमर्शे तस्य साधनम्।।३१।।
माहात्म्यं च स्वरूपं च द्वयं तत्रैव रूपितम्।
अनेन फलसिद्धिर्हि बहूनामिति कीर्तितम्।।३२।।
तावन्मात्रत्वकथनमन्येषां वारयत्यपि।

अर्थ – इस प्रकार पांचवे और छठे अध्याय का अर्थ बतलाकर अब सातवें अध्याय के अर्थ को बताते हैं। मध्यम भजन भी दो रूप में है। प्रथम तो वेद कथित प्रकार से और द्वितीय ब्रह्मानुभव रूप का यज्ञ रूप में यज्ञ रूप भजन को **'तज्ज'** कहते हैं। भक्तिमार्ग से जो भजन किय जाता है मूलभक्ति ही से होता है। इस कारण पुरुषोत्तम की भक्ति की प्राप्ति के लिये अवतारों में अब प्राकटय की कथा का वर्णन है। अवतारों का भी मूल कृष्ण है। इसलिये विमर्श प्रकरण में कृष्ण की पुरुषोत्तमता प्रमाणित करते हैं। कृष्ण की पुरुषोत्तम प्रमाणित नहीं होती है तब साधन अनुपपन्न हो जाते हैं और दूसरे अवतारों की भांति भगवान् कृष्ण के चरित्र ही को बताया जाता है। परन्तु कृष्ण माहात्म्य और स्वरूप का प्रतिपादन किया है।

''इतरथार्जुनयोर्न भाव्यम्'' इस द्वारा स्वरूप का वर्णन है। कारिका के **'द्वय'** पद से माहात्म्य और स्वरूप का ही वर्णन है कथा का प्रतिपादन नहीं है। यहां पर यदि आशंका हो कि **'ये च प्रलम्ब'** इत्यादि में थोड़े में कथा का कथन है। उसका समाधान यह है कि यह कथा नहीं है परन्तु बहुतों को फल की प्राप्ति हुई। उसका प्रतिपादन है अर्थात् मोक्ष भगवान् कृष्ण ही दे सकते हैं। तथा **'येच प्रलम्ब'** में जिनकी गिनती की गई है उन्हीं को मुक्तिप्राप्त हुई है। दूसरों को नहीं मिली है।

इस भांति पांच से सात अध्यायों में उत्पत्ति द्वारा विचार बताकर अब आठ से दस तक अध्यायों में मुक्ति से विचार करते है।

कारिका – उपपत्त्या विचारोऽपित्रिधा शंकोत्तरे फलम्।।३३।।
ब्रह्मणोऽपि हरिर्मूलमुत्पत्तिः कथागता।
प्रदर्श्य कथनात्तस्य न मूलान्वेषणं मतम्।।३४।।
उक्तेऽर्थेऽनुऽपपत्तिश्च शिष्टप्रश्नस्तथैव च।
आक्षेपस्य समाधानमन्यत्स्थूलेऽपि दिश्यते।।३५।।
तस्मात्स्थूलश्रुतिः सिद्धा तत्स्वरूपमतः फलम्।

अर्थ – प्रथम छः कारिकाओं द्वारा उत्पत्तिका विवरण करके आगे साढे सात कारिकाओं से उपपत्ति के द्वारा विचार करते हैं उपपत्ति के द्वारा भी विचार तीन प्रकार से करते हैं। १ शंका २ उत्तर ३ फल अष्टम अध्याय में शंका नवें अध्याय में उत्तर दसवें में फल। आठवां अध्याय आक्षेप मुक्ति वाला होने से उसका उपपत्ति (मुक्ति) में प्रवेश है। नवां सिद्धान्त युक्ति वाला होने से उपपत्ति प्रकरण में प्रवेश है। इसी भांति दसवां फलाख्य मुक्ति वाला होने के कारण उपपत्ति प्रकरण में प्रवेश है। तात्पर्य का निर्णायक होने के कारण फल में भी युक्तित्व है। ब्रह्मा के उत्पत्ति स्थान (मूल) हरि है भगवान् ही ब्रह्मा के उपादान कारण है। इसमें कथागत युक्ति ही मूल है। यह समस्त विश्व भगवद् रूप है भगवान् स्वयं ही आगे बतायेंगे मैं ही सबसे प्रथम था **"अहमेवा समेमाग्रे"** यहां पर यदि कोई इस प्रकार आशंका करे कि भगवान् का भी कोई कारण होगा। उसका अन्वेषण करना चाहिये। इसका समाधान यह है कि भगवान् ने अपने स्वरूप को बताकर पीछे अपने स्वरूप का निरूपण किया। इस कारण किसी प्रकार का संदेह नहीं पैदा होता हैं तथा नहीं दूसरे किसी मूल को खोजने की अपेक्षा होती है। यह प्रकरण है इसको प्रमाणित करने हेतु **"उक्तेर्थेऽनुपपत्तिश्च"** ऐसा कारण दिया है अर्थात् जिस अर्थ की पूर्व उत्पत्ति से वर्णन किया था उसी को यहां प्रथम पक्ष रखा गया है तथा उसकी सिद्धि के लिये दूसरी बाते पूछी गई हैं। वक्ता केवल आक्षेप का निराकरण करता है। बातों का उत्तर नहीं देता है। नहीं तो फिर कथापक्ष ही हो जायेगा। आक्षेप के अलावा भी परंपरा का उपयोग है। इसलिये स्थूल भागवत में उसका समाधान है यह बात दूसरे स्थूल से बतायी है। इससे उपपत्ति द्वारा जो प्रमाणित है उसका ही प्रतिपादन किया गया है। अतः सर्ग विसर्गादि दस लक्षण जिसमें विद्यमान हैं उस भागवत का श्रवण करना चाहिये। इस कारण फल अध्याय में भागवत के स्वरूप का प्रतिपादन है। हमेशा अथवा मरण वाले को भागवत का श्रवण कराना चाहिये इस प्रकार के कथन से भागवत की फलवत्ता प्रमाणित होती है। इस कारण फल अध्याय के रूप से तथा अर्थ से भागवत के स्वरूप का प्रतिपादन है। दशविध की लीलाओं के लक्षण को बताना यही तो भागवत का स्वरूप है। आध्यात्मिक भेदादिक के कारण तीन प्रकार का अर्थ है। जब अर्थ तथा स्वरूप से वर्णन कर दिया गया है फिर स्थूल भागवत का श्रवण करने की क्या आवश्यकता है। इस शंका के निवारणार्थ बताते हैं कि आध्यात्मिक आदि तीन भेदों में विशेष अनन्त है। उनका प्रतिपादन यहां पर नहीं है। स्थूल भागवत

में ही उसका वर्णन विशेष रूप से है। इसलिये लक्षण रूप से निरूपण यहां पर किया गया है तथा विशेष रूप से ज्ञान स्थूल भागवत में ही विद्यमान है। दसवें अध्याय में प्रमाणित अर्थ का अनुवाद अब तीन कारिकाओं द्वारा बताते हैं।

कारिका – सार्थकं च सुरुपं च तस्माच्छ्रोतव्यता स्थिता।
तस्यांशश्रवणे चापि निःसंदेहफलं च तत्।।३८।।
तादृशार्थस्य संप्रश्नः कथाक्षेपार्थ मुच्यते।
विघ्नसन्देहतः शीघ्रं स्वकृतार्थत्वसिद्धये।।३९।।
शौनकस्य हि संप्रश्नः शुकोक्तिश्चापि तादृशी।
अतः सर्वोत्तममिदमितिवक्तुं तथा वचः।।४०।।

अर्थ – भागवत सार्थक और सरूप है इस कारण वह श्रवण करने योग्य है। भागवत के किसी अंश के सुनने से भी निःसंदेह उस फल की प्राप्ति होती है। विदुरजी ने केवल दो लीलाओं को ही सुना था इतने मात्र से ही उनको समस्त फल की सिद्धि हो गयी थी। इसी कारण शौनकजी ने विदुरजी को कथा पूछी थी। शीघ्र फल की प्राप्ति हो उसे बताइये अर्थात् शौनकजी का कथा विशेष के लिये ही प्रश्न है। शुकदेवजी भी उसी को बताने के लिये प्रवृत्त हुए। इसी कारण सूत जी जल्दी बताने लगे। नहीं तो देरी हो जाने से शौनकजी कुछ और प्रश्न नहीं कर लें तो अपना अभिप्रेत सिद्ध नहीं हो यहां पर आशंका होती है कि शौनकजी ने किस अभिप्राय से इस प्रकार प्रश्न किया उसका समाधान यह है कि शौनकजी अपनी कृतार्थता चाहते हैं इसलिये प्रश्न किया। कदाचित् सर्व लीलाओं का श्रवण संभव हो सके अथवा नहीं हो सके। ऐसा ही उद्देश्य श्री शुकदेवजी का भी था। सात दिन के मध्य में ही राजा परीक्षित को उद्वेग हो जाय या फिर श्री शुकदेवजी के लिये कोई निमित्तान्तर की आपत्ति हो जाये तो फिंर कार्य सिद्ध नहीं होगा। इस कारण सर्वोत्तम अंश के आक्षेप हेतु ही उन्होंने कहा। अतः कहा जाने वाला भागवत ही सबसे उत्तम है। यह बात चरितार्थ होती है।

"तत्त्व दीपनिबन्ध श्री भागवतार्थ प्रकरण द्वितीय स्कन्ध संपूर्ण"

भागवतार्थ प्रकरण

तृतीय स्कन्ध

अध्याय १ से २ तक

कारिका - अधिकारिषु सांगं हि श्रवणं सुनिरूपितम्।
स्कन्धद्वयेन शेषेशु क्रियते विषयाभिधा।।१।।

अर्थ - पीछे के स्कन्धों में संगति करते हुए बताया है कि पहले स्कंध में अधिकार (बोलने वाले और श्रवण के हीन, मध्यम उत्तम अधिकार) एवं द्वितीय में भागवत के सुनने में अंग के साथ विधि का अच्छी तरह से वर्णन किया गया है। अब बाकी दस स्कन्धों में (तीसरे से बारहवें तक) जो सुनने का विषय है उसका अब वर्णन किया जाता है।

कारिका - त्रयत्रिंशदथाध्यायास्तृतीये सर्गवर्णने।
स्वाभिप्रेते सविशेषे स्वोपयुक्तार्थ संयुते।।२।।

अर्थ - तृतीय स्कन्ध में ३३ अध्यायों में सर्ग सृष्टि को कहा गया है। **"कारणों की उत्पत्ति को सर्ग"** कहा गया है। इसलिये सभी ३३ अध्यायों में कारणोत्पत्ति का निरूपण है। सर्ग दो तरह का बताया है। लौकिक तथा अलौकिक। अठाईस तत्त्व लौकिक सर्ग में, प्राणियों के चार बीज तथा काल इस तरह तेंतीस अध्यायों में सर्ग है तथा अलौकिक में तेंतीस देवता है। एकादश रूद्र, द्वादश आदित्य, आठवसु, इन्द्र एवं प्रजापति। इस कारणं लौकिक तथा अलौकिक दोनों तरह से तेंतीस सर्ग कहे हैं इसलिये लीला में से तीस अध्याय हैं। तीन विशेषण सर्ग के कारिका में कहे हैं-स्वाभिप्रेत सविशेष तथा स्वोपयुक्तार्थ संयुत। स्वाभिप्रेत का तात्पर्य **'अपना इच्छित'** जो लौकिक तथा अलौकिक भेद से युक्त हैं। सविशेष इस कारण से है कि इसका विशेष गुण यह है कि इस सर्ग भेदों में भेद होने पर भी इस सर्ग में बनाये गये सब पदार्थ भगवद् रूप हैं। स्वोपयुक्तार्थ संयुत इस कारण है कि यह सर्ग स्वोपयोगी होना चाहिये। मोक्षफलदायक हो जिस प्रकार गृहस्थी कर्दम तथा देवहुती को हुआ। भगवान् के संतोष से मोक्ष की प्राप्ति होती है। आज्ञा पालन से भगवत् संतोष भक्ति, ज्ञान, योग तथा आज्ञापालन से मिलता है। यह सर्व सर्ग में विद्यमान है इसी कारण स्वोपयुत्तार्थ है।

कारिका - लोके सर्गविसर्गौ हि यादृशौ तौ मतौ।
किन्तु तौ सार्थकौ वाच्यौ तेन स्कंधद्वयं मतम्।।३।।

अर्थ - अन्य पुराणों में सर्ग तथा विसर्ग को एक ही मानकर मुक्ति की सामर्थ्य वाला माना गया है। इस कारण भागवत में भी दोनों को एक ही मानना चाहिये। किन्तु भागवत के तीसरे स्कन्ध में सर्ग तथा चौथे में विसर्ग का कथन है। यह लोक प्रसिद्ध प्रतिकूल है। इस आशंका के उत्तर में बताते हैं कि जैसा सर्ग तथा विसर्ग लोकों

में प्रसिद्ध है उस प्रकार यहां नहीं है। कारण कि भागवत में सर्ग तथा विसर्ग दोनों को ही पुरुषार्थ प्राप्त करने वाले कहे गये हैं। ये दोनों ही लीलाएं स्वतंत्र बताई है। इस कारण अलग-अलग एक-एक स्कंध में बतायी है।

कारिका - **लीलाद्वयस्य श्रवणात्सिद्धः क्षताऽधिकारतः।**

किं पुनः सकल श्रोतेत्यतस्तस्य कथा तता।।४।।

अर्थ- सर्ग तथा विसर्ग इन दोनों लीलाओं में मैत्रैय एवं विदुर संवाद है। विदुर सुनने का अधिकारी था। इस कारण दोनों लीलाओं के सुनने से मोक्ष प्राप्त हो गया। तब फिर संपूर्ण भागवत दक्षलीलाओं के सुनने से मोक्ष प्राप्ति हो जाय तो इसमें संदेह ही क्या है।

कारिका - **तत्र सर्गो रजोभाजो लीला कारणजन्मदा।**

देवस्यतु द्विरूपत्वात्कारणानां त्रिरूपतः।।५।।

पंचधा सा स्वतो द्वेधा बन्धमोक्षविभागतः।।५ १/२।।

अर्थ - भागवत के द्वितीय स्कन्ध में दसवें अध्याय के तृतीय अध्याय में सर्ग की व्याख्या इस प्रकार की गई है - **''भूतमात्रेन्द्रियां जन्म सर्गउदाहृतः'' ''ब्रह्मणो गुणवैषभ्यात्''** अर्थात् ब्रह्म (परमात्मा) के गुणों में विषमता होने से पंच महाभूत, पंच तन्मात्रा दस इन्द्रियां तथा बुद्धि का जन्म होता है इसी को सर्ग कहा गया है। सृष्टि के बनाने वाला रजो गुण होता है। अर्थात् सृष्टि रचनां रजोगुण से होती है। रजोगुण के कारण गुणों में विषमता होती है। भगवान् द्वारा कारणरूप और कर्मरूप दो तरह की सर्ग लीला हुई है। प्राणियों के शरीरों में पंचमहाभूतादि होते हैं वे कार्यरूप होते हैं तथा कारणरूप महाभूत आदि ही हैं। इसलिये सर्ग लीला का तात्पर्य हुआ रजोगुण वाले भगवान् से जगत के कारणों को जन्म देने वाली लीला कारण जन्मदा का आशय हुआ कारणों अर्थात् जीवों के जन्म का नाश करने वाली अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाली भी एक तरह की सर्ग लीला कही है।

प्रकरणों का विभाग इस प्रकार से है- देवता दो तरह के गुणातीत तथा सगुण एवं कारण जीवों के तीन प्रकार के भेद हैं। इस कारण सृष्टि पांच तरह की है। हरेक सृष्टि बन्ध तथा मोक्ष भरोसे दो तरह की होती है। अतः सृष्टि के दस प्रकार हुए।

कारिका - **गुणातीतात्सृष्टिरेका सगुणाद् ब्रह्मणोऽपरा।।६।।**

कालोजीवस्तथा नाम तत्राऽपीशेच्छया भवः।।६ १/२।।

अर्थ - गुणातीत सृष्टि एक देव से होती है (अ.५.६.) द्वितीय सृष्टि सगुण ब्रह्म से होती है। (अ. ७-९) तृतीय सृष्टि कालकी (अ. १०-११) चतुर्थ सृष्टि जीवों की (अ.१२ मुक्त जीवों की सृष्टि) पंचम सृष्टि का नाम सृष्टि है। पहली दो सृष्टि की रचना करने में देव परतंत्र नहीं है। किन्तु तृतीय चतुर्थ एवं पंचम सृष्टि

(काल, जीव तथा नाम) परतंन्त्र है। ये तीनों सृष्टि भगवान् की इच्छा से ही होती है।

कारिका - सर्वाधारस्वरूपा या तदर्थं भुवि उद्धृतिः।।७।।

मुक्तोऽपि जायते जीव इति शापकथा तता।।७ १/२।।

अर्थ - पृथ्वी के उद्धार की कथा अध्याय १८ से १९ में है। भगवान् ने वाराह अवतार ग्रहण कर हिरण्याक्ष को मारकर पृथ्वी का उद्धार किया अपसर्ग संबंधी कथा है। क्योंकि पृथ्वी का उद्धार सभी तरह से सृष्टि में महत्वपूर्ण है। क्योंकि वह सभी सृष्टि का आधार रूप है।

मुक्त जीवों का जन्म होता है ऐसा दिखाने के लिये जय विजय को सनकादि द्वारा शाप देने की कथा का वर्णन है। (अध्याय १५ में) भगवान् के भक्त वास्तव में वैकुण्ठ में वास करने वाले जय-विजय मुक्त ही थे किन्तु भगवान् की इच्छा के कारण ही उनका जन्म संसार में हुआ था।

कारिका - उपपत्तिरनेनोक्ता फलार्थं प्रक्रियान्तरम्।।८।।

मतान्तरेण हि फलं राजसत्वान्निरूप्यते।।८ १/२।।

अर्थ - इस तरह मुक्तजीवों की उत्पत्ति कही गई है। किन्तु इस भांति की उत्पत्ति भगवान् की इच्छित नहीं है इस कारण उन जीवों के फल (मोक्ष) के लिये द्वितीय प्रकरण अर्थात् सांख्य प्रकरण का वर्णन किया। जय-विजय को असुरभाव शाप के कारण हुआ फिर क्रोध से ही भगवान् को प्राप्त हुए। इस भांति राजस भाव से उनको मतान्तरानुसार फल मोक्ष प्राप्त हुआ।

कारिका - फले हि नास्ति वैषम्यमितीशस्योद्भवाभिधा।।९।।

उपपत्तौ फले चैव तेनावतरणद्वयम्।

क्रियाज्ञानविभेदन कर्माधीनाऽन्यथा भवेत्।।१०।।

अर्थ- मुक्त जीवों के मुक्ति प्राप्त करने योग्य जीवों के फल में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसा समझाने के लिये ही सांख्य प्रकरण में दो जगह पर भगवान् के अवतार का कथन है। भगवान् अवतार ग्रहण कर ही दोनों का फल देते हैं। क्रिया शक्ति वाला भगवान् का अवतार 'वाराहरूप' में हुआ तथा ज्ञान शक्ति के रूप में कपिल का अवतार है। सर्ग (सृष्टि) प्रकरण में यदि भगवान् का अवतार नहीं होतो यह जान लिया जावे कि जीवों का जन्म-मरण कर्मों के आधीन है। किन्तु वास्तविकता यह है कि भगवान् की इच्छा से ही सृष्टि होती है।

कारिका - मुक्तऽपि यदि नोत्पत्ति रूत्पन्ने मुक्तिरेव वा।

तदा कृष्णेच्छया सृष्टिरित्यर्थो हि विरूध्यते।।११।।

अर्थ - मुक्त जीवों की उत्पत्ति नहीं हो अथवा पैदा होने वाले जीवों की मुक्ति नहीं हो "भगवान् की इच्छा

से सृष्टि होती है'' यह बात असत्य हो जाय, तब तो फिर ईश्वर का ईश्वर पना ही नहीं रहे। सृष्टि ईश्वर की इच्छा के अधीन है यह दिखाने के लिये ही मुक्त जीवों की उत्पत्ति तथा उत्पन्न जीवों की मुक्ति का निरूपण इस लीला में हुआ है।

कारिका - स्त्रीपुंसमुक्तिकथनात्तदर्थं सृष्टिकृद्‌हरिः।
ऐहिकामुष्मिकफलं मोक्षं प्रीतः प्रयच्छति।।१२।।
तस्मात्सृष्टयवतीर्णस्तु भवेत् हरि मादरात्।।१२ १/२।।

अर्थ - इससर्ग में देवहुति (स्त्री) तथा कर्दम (पुरुष) की मुक्ति का वर्णन किया गया है, स्त्री तथा पुरुष दोनों को मुक्ति मिले इस कारण भगवान् ने सृष्टि की रचना की है। भगवान् जब प्रसन्न हो तब इहलोक का फल धन, पुत्रादि परलोक फल स्वर्गादि और मोक्ष भी देते हैं। अतः भगवान् द्वारा निर्मित सृष्टि में जो पैदा हो उसको प्रेम से भगवान् का भजन करना चाहिये।

कारिका - सांख्येन मुक्ति कथनात्सृष्टिः सामान्यतो दिता।।१३।।
तामसी राजसी चैव सात्विकीति क्रमात्त्रिधा।
गुणसृष्टेस्तन्मतत्वाद्गौणत्वान्न विरूध्यते।।१४।।

अर्थ - सामान्यतः उदिता की सन्धि सामान्यो दिता इस तरह की संधि पाणिनी व्याकरणानुसार नहीं है किन्तु ऋषि वाक्य होने के कारण दोष नहीं है। सामान्यतया सृष्टि का निरूपण होना चाहिये किन्तु सांख्य मतानुसार सृष्टि का निरूपण किया जाय तो तदनुसार मुक्ति का कथन नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि यहां पर सृष्टि का प्रतिपादन किया उसमें तामसी राजसी और सात्विकी तीन तरह की सृष्टि का कथन है तथा सांख्य मत में भी गुणों से सृष्टि बताई है इसलिये यहां बताई गई सृष्टि गुणों के द्वारा होने वाली कही गई है। इस कारण यह गौण होते हुए भी सांख्यमत के विरूद्ध नहीं है।

कारिका - ज्ञानस्यपूर्वसिद्धत्वान्मुक्तिर्भोगादिसंयुता।
उपदेशेन च परा चतुर्भिर्नवभिः क्रमात्।।१५।।

अर्थ - पूर्व से ही कर्दम जी को ज्ञान सिद्ध हुआ इस कारण भोगादि से मुक्त होते हुए भी उनको मुक्ति मिल गई किन्तु देवहुति को कपिल देवजी द्वारा ज्ञान का उपदेश होने के कारण मुक्ति की प्राप्ति हो गई। २१-२४ अध्याय में कर्दमजी का निरूपण है और २५-३३ तक नौ अध्यायों में देवहूति का वर्णन है।

कारिका - चतुः प्रकरणी स्थौल्ये सौक्ष्म्ये तु दशधा मता।
अधिकारस्तथा सृष्टिरूपपत्तिः फलं तथा।।१६।।

अर्थ - इस स्कन्ध में स्थूल रूप से चार प्रकरण है तथा सूक्ष्म रूप से दस हैं। स्थूल रूप से चार प्रकरण ये

हैं – अधिकार, सृष्टि, उत्पत्ति तथा फल अर्थात् मोक्ष। सूक्ष्म रूप से जो दस प्रकरण कहें हैं उनका निरूपण पांचवें श्लोक में ऊपर किया जा चुका है तथा आगे १७वें श्लोक में पुनः होगा। वास्तव में इन चार के भीतर से ही १० सूक्ष्म प्रकरण होते हैं।

कारिका – पंचधा सृष्टिरुक्ता हि तृतीया तु द्विधा मता।
चतुर्थी तु त्रिधा प्रोक्ता दशैते सृष्टि संगताः।।१७।।
अधिकारस्ततो भिन्नः स्कंधद्वययुतः परः।।१७ १/२।।

अर्थ – सृष्टि पांच तरह की बताई गई है तथा तृतीय (उत्पत्ति) दो तरह की कही गई है। चतुर्थ मुक्ति तीन तरह की है इस भांति सृष्टि की उत्पत्ति एवं मुक्तिदस प्रकार की होती है। अधिकार प्रकरण पृथक् प्रकरण है क्योंकि यह तृतीय चतुर्थ स्कन्ध में उपयोगी है क्योंकि ये दोनों स्कंध एकं प्रकरण जैसे है। तृतीय स्कन्ध के ३३ अध्याय तथा चौथे स्कन्ध के ३१ अध्याय कुल ६४ अध्याय होते हैं। ६४ अध्याय से भगवान् की ६४ कलाओं का वर्णन होता है।

कारिका – प्रतिबन्धागृहासक्तिः शुद्धिस्तीर्थाटनं मता।।१८।।
बाह्या हरिकथाश्रुत्या तथा चाऽऽभ्यन्तरी मता।
कृष्णप्रसादयुक्तश्चेदधिकारी परः स्मृतः।।१९।।

अर्थ – इस स्कन्ध के पहले चार अध्यायों में अधिकार का कथन है। मोक्ष का अधिकारी होने के लिये चार बाते होना आवश्यक है। पहले तो प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये तथा ब्रह्म शुद्धि होनी चाहिये, इसके पीछे आभ्यन्तरी शुद्धि होनी चाहिये। भगवान् कृष्ण का अनुग्रह चाहिये, गृहासक्ति बहुत बड़ा प्रतिबन्ध है। इस कारण विदुर जी ने गृहत्याग कर दिया। बाह्यशुद्धि तीर्थाटन करके विदुरजी ने प्राप्त कर ली थी। हरिकथा श्रवण कर आभ्यन्तरी शुद्धि प्राप्त कर ली थी तथा अन्त में इन तीनों के कारण विदुरजी पर भगवान् का अनुग्रह हो गया। इस भांति पहले चार अध्यायों के क्रम से इन चारों का निरूपण किया गया है। इन्हीं चार गुणों के प्रभाव से विदुर जी अत्यन्त उत्तम अधिकारी बन गये।

कारिका – शतं वर्षाणि शूद्रत्वं पश्चाद्राजन्यताऽस्य हि।।
तावत्क्षत्ता ततो मंत्री तस्मात्कृष्णसभोज्यता।।२०।।
अतोऽधिकारस्तस्याऽत्र यथायुक्त तु जीवनम्।।२० १/२।।

अर्थ– सौ वर्षो तक शूद्र रहने का यमराज को शाप था किन्तु आयु उसकी ज्यादा हुई। उम्र में वह धृतराष्ट्र के तुल्य था। धृतराष्ट्र के बडे पुत्र दुर्योधन के तुल्य उम्र वाला भीमसेन था। अर्जुन भीम से छोटा उसका अनुज था। उसकी उम्र कृष्ण के समान थी। श्री कृष्ण पृथ्वी पर १२५ वर्षों तक बिराजे तथा श्रीकृष्ण के परधाम गमन

के कुछ समय पीछे विदुरजी जीवित रहे। विदुरजी की आयु अनुमान से डेढ सौ वर्षों की हुई थी उसमें सौ वर्षों तक वे शूद्र होकर रहे। ब्रह्मबीज (वेद व्यासजी के बीज) होने से वे मुख्य शूद्र नहीं थे। इस कारण सौ वर्षों की आयु पूर्ण करने के पीछे वे क्षत्रिय बनकर रहे। धृतराष्ट्र ने इसीलिये उनसे परामर्श की तथा वे भगवान् श्री कृष्ण के साथ अपने घर पर भोजन करने लगे। महाभारत के उद्योग पर्व के अध्याय तिराणवें अध्याय में वर्णन है। इसी कारण वे भागवत के सुनने तथा तथा मोक्ष के अधिकारी हुए। विदुरजी का समय तर्क द्वारा प्रमाणित है कि सौ वर्ष से ज्यादा था।

कारिका - अपमानाद्धि निर्विण्णो विशुद्धस्तीर्थसेवया।।२१।।

क्षत्ता सत्संगतः प्रीतः प्रश्नत्रितयकृद्धरेः।

सामान्येन विशेषेण कुशलं चरितं तथा।।२२।।

आगे प्रथमाध्याय का अर्थ है-

अर्थ - धृतराष्ट्र ने विदुर को परामर्श के हेतु बुलवाया तब दुर्योधन ने विदुर का अपमान किया इस कारण विदुर को वैराग्य हो गया कदाचित् स्वयं को वैराग्य हो तो पुनः घर मे आ जावे। वैराग्य पैदा होने पर अन्य स्थान पर जाय तो कदाचित् संसार में पुनः आसक्ति हो इस कारण विदुरजी तीर्थों में गये। देवमति होकर तीर्थ का सेवन लाभदायक होता है। विदुरजी तीर्थों में देवबुद्धि होकर रहे। वे कामना बिना शुद्ध मति वाले हो गये थे। इन्द्रियों पर विदुर जी ने पूर्व में ही विजय प्राप्त कर ली थी। तीर्थों में भी उद्धवजी को सत्संग मिल गया था। इस कारण उनको बहुत प्रसन्नता हुई। वहां पर पुनः उन्होंने उद्धवजी से तीन प्रश्न पूछे। भगवान् का विशेष कुशल प्रश्न सभी के कुशल के मिष से भगवान् का सामान्य कुशल प्रश्न तथा भगवान् के चरित्र के विषय में प्रश्न किये।

कारिका - अन्तिमं मध्यतः कृत्वा द्वयोः सम्बन्धकारणात्।

मारणे प्राप्तदोषस्य भक्तोद्धारेण वारणम्।।२३।।

अर्थ - तीनों प्रश्नों का उत्तर विदुरजी ने क्रमशः नहीं दिया है किन्तु भगवान् के विशेष कुशल संबंधी प्रश्न का निराकरण कर मध्य में भगवान् के चरित्र संबंधी आरवीरी तृतीय प्रश्न का समापन किया है क्योंकि भगवान् के चरित्र का अन्य दो प्रश्नों के साथ संबंध है। कारण यह है कि भगवान् के चरित्र का निरूपण किये बिना अन्य दो प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया जा सकता है। भगवान् के चरित्र निरूपण में उनके भक्त तथा कुटुम्बीजनों के मारने की चर्चा है। ऐसे निरूपण से तो दोष प्राप्त होता है। इस तरह की आशंका का समाधान इस भांति है कि कृष्ण तो ईश्वर हैं इस कारण भक्त तथा बंधुजनों को मरवाने में उनको दोष नहीं प्राप्त हो सकता है फिर वध करवाने से लोक सृष्टि से दोष माना जा सकता है तो कहना होगा कि भक्तों का संसार में से उद्धार कराया इस कारण दोष की विवृत्ति हो जाती है।

कारिका - सेवनात् कृष्णदेवस्य तदाज्ञाकरणादपि।
माहात्म्यस्य श्रुतत्वाच्च श्रेष्ठ उत्तमतो ह्ययम्।।२४।।
अतस्तस्य कथा प्रोक्ता कृष्णविश्वासदायिनी।।२४ १/२।।

अर्थ - उत्तमअधिकारी परीक्षित है किन्तु परीक्षित से विदुरजी को श्रेष्ठ बताया गया द्वितीय कारण यह है कि भगवान् की आज्ञा से विदुरजी ने पांडवों की रक्षा की थी तथा तृतीय कारण यह है कि भगवान् का माहात्म्य विदुरजी ने बहुत श्रवण किया था। ये तीनों ही गुण परीक्षित में नहीं थे इस कारण विदुरजी राजा परीक्षित से श्रेष्ठ थे। परीक्षित से भी विदुरजी के श्रेष्ठ होने से यहां पर क्या आशय है। यह कहने के लिये बताया है कि श्रीकृष्ण में भरोसा कराने वाली विदुरजी की कथा का यहां पर वर्णन है क्योंकि श्रीकृष्ण में भरोसा रखकर निःशंक होकर विदुरजी ने तीर्थ यात्रा की थी।

द्वितीय अध्याय के अर्थ का निरूपण

कारिका - द्वितीये तु तथाऽध्याये सामान्योत्तरमुच्यते।।२५।।
तदर्थं हरिमाहात्म्यमार्थिकं कृतमेव च।।२५ १/२।।

अर्थ - द्वितीय अध्याय में साधारण प्रश्न के उत्तर का वर्णन किया गया है। उसमें भगवान् का स्वयं ही माहात्म्य बताया गया है। यदि यह जाना जाय कि यह सब सभी का सामान्य कुशल जीव संबंधी प्रश्न था फिर भगवान् का माहात्म्य भी साधारण माहात्म्य हो जाय कारण कि और जनों का कुशल तो उनका नाम लेकर पूछा गया था तब तो भगवान् को अन्य के अधीन मानना पडेगा। भगवान् में भरोसा हो इस कारण विदुरजी को उद्धवजी ने प्रारम्भ में ही भगवान् का माहात्म्य कहा गया है। उसके पीछे भगवान् के चरित्र को बताया गया है।

कारिका - कृतं यद्यप्युत्तरांग साम्यात्संबंधतोऽपितत्।।२६।।
अत्रोक्त फल सिद्धयर्थमुद्धवप्रेम चोच्यते।।२६ १/२।।

अर्थ - भगवान् के किये गये काम का अर्थात् चरित्र का यद्यपि निरूपण तृतीय अध्याय में चरित्र का है किन्तु इस द्वितीय अध्याय में बताया हुआ चरित्र इस तृतीय अध्याय में बताये गये चरित्र के सदृश हो वैसा ही है तथा उससे संबंध वाला भी है। इस कारण यहां बताया गया है। विदुरजी को भरोसा हो जाय इस कारण पूतना आदि को प्राप्त कराये गये फल का निरूपण किया गया है। उद्धव में भगवान् की भक्ति का भी प्रतिपादन इस अध्याय में किया गया है। यदि भक्त नहीं हो तो उसके द्वारा कीं गई कथा में भरोसा नहीं होता है।

तृतीय अध्याय के अर्थ का निरूपण

कारिका - षड्भिस्तथैकेन पुनर्दशयुक् सप्तभिस्तथा।।२७।।
दशमिश्च क्रमादत्र चत्वारोऽर्थानिरूपिताः।
तृतीयेऽष्टाविंशतिभिश्चरितं केवलं कृतम्।।२८।।

अर्थ- तृतीय अध्याय के अठाइस श्लोकों के द्वारा चार विषयों का वर्णन किया गया है। वह इस भांति से है श्लोक संख्या एक से छः तक में उद्धव का भगवान् के लिये प्रेम का वर्णन है। केवल श्लोक सात से कुशल विषयक साधारण प्रश्न का समाधान है। दस तथा सात तक, श्लोक संख्या आठ से २४ तक में भगवान् के माहात्म्य का कथन है। श्लोक संख्या पच्चीस से चौंतीस दस श्लोकों में भगवान् के चरित्र का कथन है।

कारिका- विशेषस्योत्तरं तुर्ये श्लोकाम्यां विंशति पुनः।
भक्तोद्धारेऽविद्यमाने चत्वार्येकं वियोजकम्।।२९।।
द्वयोराज्ञाप्रसिद्धयर्थं पंच संदेहवारणे।
चतुर्भिः संगमश्चेति षडर्थाः क्रमतोदिताः।।३०।।

अर्थ - चतुर्थ अध्याय के पहले दो श्लोकों से विदुर ने विशेष प्रश्न यादवों का नाम लेकर पूछे गये कुशल प्रश्न का उत्तर दिया। इसका तीन से बाइस श्लोकों तक कुल बीस श्लोक में भक्त तथा बांधवों का संहार कराने के दोषों को दूर कराते हुए भक्तोद्धार करने का निरूपण किया गया है। उस समय भक्त जो नहीं था उस विदुर का उद्धार करने के विषय में चार श्लोकों में वर्णन किया है। इसके पश्चात् एक श्लोक से भगवान् की आज्ञा को प्रसिद्ध करने हेतु विदुर एवं उद्धव का बिछोह बताया गया है। पीछे पांच श्लोकों द्वारा परीक्षित राजा के संशय (ब्राह्मणों के शाप से समस्त यदुकुल नष्ट हो गया उसमें उद्धव उस नाश से कैसे बच गये उसका निराकरण बताया गया है। आगे के ४ श्लोकों में विदुर तथा मैत्रेय के साथ का निरूपण है। इस भांति चतुर्थ अध्याय में क्रमशः ६ विषयों का प्रतिपादन किया गया है।)

कारिका - मैत्रेयस्यापि वक्तृत्वं श्रवणाज्ज्ञापनान्मतम्।
अत एव हरिस्तस्य संगं चक्रे स्वसिद्धये।।३१।।

अर्थ - विदुर के सुनने का अधिकार यहां तक कहा गया है। आगे यह कहा जाता है कि भगवान् की लीलाओं का वर्णन विदुर के लिये मैत्रेय को किस प्रकार मिला उद्धव को भगवान् ने जो उपदेश किया था उसका श्रवण मैत्रेयने भी किया था तथा भगवान् की आज्ञा से ही मैत्रेय ने विदुर को उपदेश का श्रवण कराया था। उपदेश करते समय मैत्रेय को भगवान् ने कार्य की सफलता के लिये समीप में रखा था कि वह अतिभक्त विदुर को वह उपदेश श्रवण करा दे। इसका आशय यह है कि भगवान् ने मैत्रेय पर अनुग्रह कर उपदेश के समय अपने

समीप रखा हो यह बात नहीं है। विदुर पर कृपा कर मैत्रेय को अपने साथ रखा कारण कि नियम यह है कि भगवान् के मार्ग में भक्तही उत्तम होता है अन्य कोई नहीं होता है। इस भांति चार अध्यायों से अधिकार का वर्णन कहा गया है। अब आगे पांच व छ अध्यायों का कथन है।

कारिका - अधिकारेऽथ संसिद्धे द्वाभ्यां सृष्टिर्निरूप्यते।
तत्त्वकार्य विभेदेन गुणातीता द्विधा हि सा।।३२।।

अर्थ - अधिकार प्रमाणित हो जाने के पश्चात् दो अध्यायों से सृष्टि का वर्णन किया जाता है गुणातीत सृष्टि दो तरह की होती है प्रथम तो तत्व और द्वितीय कार्य पंचम अध्याय में तत्व का तथा षष्ठ में कार्य पुरुष के शरीर की उत्पत्ति का निरूपण है।

कारिका - समष्टेःकारणत्वं हि कर्माणि प्रति वर्णिनाम् ।।३२ १/२।।

अर्थ - तत्वों से जगत् पैदा होता है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है किन्तु समष्टि पुरुष (जीव मात्र के स्थान रूप) का स्वरूप भी जगत् का कारण है क्योंकि वर्णों के कर्म उससे ही पैदा होते हैं।

कारिका - प्रश्नत्रयं तृतीये तु दैविध्यं प्रथमे पुनः।।३३।।
षड्भेदा नाऽवतारे हि साधनेनोपसंहृतिः।
द्वयोरपि विभेदेन प्रकटे ह्येक एव तु
जन्मादयः प्रवेशश्च प्रकारद्वयमेव तु।।३४ १/२।।

अर्थ - पंचम अध्याय में मैत्रेयी जी से विदुर ने तीन प्रश्न किये। पहला प्रश्न यह है कि मनुष्य को कर्म क्या करना चाहिये। भगवान् में प्रेम हो ऐसा भगवद् भजन करना चाहिये। भगवान् के चरित्र के विषय में तृतीय प्रश्न में दो भांति के हैं प्रथम तो भगवान् अवतार ग्रहण कर चरित्र करे तथा द्वितीय यह कि भगवान् बिना अवतार लिये चरित्र करें। अवतार के संबंध में एक कर्म है तथा अनवतार संबंध में छः कर्म के भेद हैं वे इस तरह हैं उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, नानात्म, (विचित्रपना) अलग-अलग तत्त्वं से निर्मित भिन्न-भिन्न कार्य तथा सर्व कार्यों में अलग-अलग भांति करने का हेतु इस भांति अवतार सहित सात प्रश्न हुए। इतना होने पर भी तीन प्रश्न रहते हैं प्रथम प्राणियों को क्या करना चाहिये। द्वितीय भगवद् भजन भी कर्म है वह इस प्रकार करना चाहिये जिससे भगवान् में प्रेम पैदा हो तथा अवतार चरित्र।

कारिका- हेतूक्त्या शास्त्रनिर्धारो भक्तत्व ज्ञापनाय हि।।३५।।
स्वरूचिश्चापि तत्रैव षट्सु सर्वं प्रतिष्ठितम्।।३५ १/२।।

अर्थ - भगवान् के कर्मों का प्रश्न (अवतार चरित्र) का प्रश्न पूछ लेने पर पहले दो प्रश्नों का कर्म करना चाहिये तथा उसका किस तरह करना चाहिए के समाधान की अब आवश्यकता नहीं है इस कारण विदुरजी

ने स्वयं हेतु होकर समाधान कर दिया। स्वयं का प्रश्न तथा स्वयं द्वारा समाधान स्वयं का भक्तपना दिखाने के लिये दिया कारण की भक्तजन कर्मो की निस्सारता जानकर भगवद् धर्मों में रमण करते हैं अतः भक्त के द्वारा कर्मो के संबंध में प्रश्न ठीक नहीं है किन्तु विदुरजी ने अपनी इच्छा यह कह कर दिखलाई कि मेरे लिये भगवान् के कर्म बताओ। यहां पर शंका होती है कि यहां पर अवतार चरित्र भी तो उत्तर में नहीं कहा है इसका तात्पर्य यह है कि अनवतार की स्थिति के जो छः प्रश्न किये गये थे उनके समाधान में अवतार दशा में किये गये कर्मो का समावेश हो जाता है।

कारिका - **इष्टे प्रसिद्धान्यहेतोर्भगवत्प्रीणनेऽपिच।।३६।।**

उत्तमे पथि संप्रश्न आद्यावेतौ यथोत्तरम्।।३६ १/२।।

अर्थ- संसार में दो बाते महत्वपूर्ण है जिनको चाहा जाता है- प्रथम सुख का होना तथा द्वितीय से दुःख का नहीं होना उनको पाने के लिये तथा भगवान् को प्रसन्न करने हेतु कोई उद्देश्य स्पष्ट नहीं होने से कोई अन्य प्रयोजन खोजना चाहिये। इस कारण इस अध्याय के अन्त में २ श्लोक तथा चौथे श्लोक में जो प्रश्न किये गये हैं लोको का हित करना तथा अपने अपने स्वार्थ हेतु उद्यम करना (यह मनुष्य मात्र में सामान्य है। तथा जो उत्तम मार्ग-भक्ति मार्ग में करने योग्य हैं उन्हीं प्रश्नों को विदुरजी ने लोक के उपकार हेतु ये प्रश्न ठीक ही किये हैं तथा उनको उसी प्रकार से उत्तर प्राप्त होगा।

कारिका - **उत्तरत्वेन कथनादुत्तरं कर्मणि स्थितम्।।३७।।**

अतः सभाजनं तस्य तेनैवोत्तरमाद्ययोः।।३७.५।।

अर्थ - विदुरजी की प्रशंसा करते हुए मैत्रेयजी ने उत्तर देना शुरु किया तथा यह कहा कि आपने लोकों पर अनुग्रह करके ही ये प्रश्न किये हैं। तृतीय प्रश्न के उत्तर में ही पहले दो प्रश्नों का उत्तर आ जाता है। प्रश्नोत्तर मे मैत्रेयजी ने विदुरजी को भगवान् का चरित्र बताया कारण कि भगवान् की कथा श्रवण से ही सुख की प्राप्ति होती है। तथा दुःख का नाश होता है तथा इससे ही भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

कारिका - **कार्यसृष्टौ स्वतंत्रत्वं तेषां वारयितुं स्तुतिः।।३८।।**

विशेषतस्तु कथनं ब्रह्मणोपि सुदुष्करम्।

श्रवणादिप्रसिद्ध्यर्थं किंचिदुक्तमिति स्थितिः।।३९।।

अर्थ - जिस भांति पौत्र को पैदा करने में पुत्र स्वतंत्र है उसी तरह सृष्टि सृजन में तत्व स्वतंत्र नहीं है इस कारण पांचवे अध्याय के श्लोक ३८-५० तक में तत्वों ने भगवान् से प्रार्थना की है। भगवान् जिससे तत्वों को सृष्टि सृजन की शक्ति प्रदान करें।

साधारणतया यह माना गया है कि तत्व ही जगत को पैदा करते हैं एवं महाभारत आदि ग्रंथों में भी ऐसा ही

वर्णन किया गया है। उससे ज्यादा विस्तार से बताने में ब्रह्मादि भी समर्थ नहीं होते हैं तत्वों के द्वारा सृष्टि रचना बताने का उद्देश्य तो यह है कि यह बात इस प्रसंग में उपयोग वाली है। भगवान् के गुणों को याद करना एवं कीर्तन करने में उपयोगी है। इस कारण यह बात कही गई है।

छठा अध्याय

कारिका- सर्वावतार बीजत्वात्पुरुषेणैव तत्कथा।
गुणातीतात्सृष्टिलीला द्वयेनैवं निरूपिता।।४०।।

अर्थ - सभी अवतारों का बीज यही पुरुष है। पुरुष में से ही सभी अवतार हुए हैं। छठे अध्याय में पुरुष का वर्णन होने से सर्व अवतारों के कर्मों की कथा इसमें आ गई है। इस भांति पंचम एवं षष्ठ अध्याय में गुणातीत भगवान् के द्वारा की गई सृष्टि की लीला बताई गई है।

कारिका - सगुणांतु त्रयेणाऽऽपूर्वपक्षाधिकत्वतः।
ततःकारणसंभूतिः स्तुतिस्तस्य फलावधिः।।४१।।
एतद्विभूतिरूपत्वादन्येषां न विसर्गता।।
साधारण्येन कथनं प्रकृते नोपयुज्यते।।४२।।
अतो विभूति रूपेण सर्वेषां विनिरूपणम्।
यादृशो हि विसर्गोऽत्र स चतुर्थे विविच्यते।।४३।।

अर्थ - सप्तम से नवम अध्यायपर्यन्त तीन अध्यायों में सगुण से पैदा हुई सृष्टि का वर्णन किया गया है। देखा जाय तो इन अध्यायों में सगुण सृष्टि का उपोद्धात ही किया है। दश अध्याय से सगुण सृष्टि का वर्णन प्रारंभ करेंगे। अष्टम अध्याय के उपोद्घात में किंचित् तेरह से पंद्रह श्लोकों में सृष्टि का प्रतिपादन है। पंचम एवं षष्ट अध्याय में गुणातीत सृष्टि के विषय में बताया गया है। सगुण सृष्टि तीन अध्यायों में कही है। कारण कि सगुण सृष्टि में सृष्टि तथा भगवान् में गुणों की सत्ता कहने की है। प्रसिद्ध गुणों का प्रतिपादन पूर्वपक्ष के रूप में मतांतर भाषा से सप्तम अध्याय में कहा गया है। इसके पीछे कारणोत्पत्ति तथा कार्योत्पत्ति अष्टम एवं नवम अध्याय में बताई गई है। ब्रह्मा कारण तथा समस्त जगत् कार्य है। इस कार्य का कथन काल के अंग के रूप में (दशम अध्याय से प्रारम्भ कर) प्रारंभ करने का होने से नवम अध्याय में ब्रह्मा ने भगवान् (ब्रह्म) की स्तुति बताई गई है। यह स्तुति सफल हुई कारण कि इस प्रार्थना से ब्रह्मा को जगत् रचने का उपाय बताया तथा वे जगत् की रचना कर सके सप्तम से लेकर नवम तक कुल तीन अध्यायों का साधारण अर्थ की उत्पत्ति एवं कार्योत्पत्ति है।

अष्टम अध्याय में पहली सृष्टि का स्वरूप जिसमें हुआ है उस पुरुष के स्वरूप का निरूपण किया गया है।

सगुण ब्रह्मा स्वरूप इसके अनन्तर ब्रह्मादि जिनकी उत्पत्ति बताई गई है वे इस स्वरूप की विभूति है तथा ब्रह्मादि का विसर्ग में भी (अन्य पुराणों में) गिनती की है। दूसरे पुराणों में साधारण रीति से विसर्ग का वर्णन है। उसको श्रीमद् भागवत् में निरूपण नहीं किया है श्री मद्भागवत सब पुराणों का निचोड़ निंकालकर वर्णन किया गया है। उत्तर अधिकार वाले के लिये यह कहा गया है। दूसरे पुराणों की भांति विसर्ग निरूपण नहीं किया है परन्तु श्रीमद् भागवत में विसर्ग के संबंध में कथन चतुर्थ सर्ग में वर्णन करेंगे। वह विभूति रूप होना संभव नहीं है।

कारिका - कृष्णोक्त तु पुराणं हि श्रीभागवतमुच्यते।
अयमर्थ स्त्वन्यमुखान्नोद्भविष्यति कर्हिचित्।।४४।।

अर्थ - सभी पुराण भगवान् कृष्ण द्वारा वर्णित हैं इसी कारण इसे भागवत कहा गया है। दूसरे के मुख से ऐसा अर्थ कभी भी प्रकट नहीं हो सकता है। भगवान् द्वारा जो निरूपित है उसको भागवत कहते हैं। गीतादि भी यद्यपि भागवत ही है कारण कि गीता का उपदेश भी भगवान् कृष्ण द्वारा ही किया गया है। किन्तु उसमें पुराणता नहीं है। **'अयमर्थः'** का तात्पर्य यह है कि भगवान् की लीला को दूसरा कोई भी नहीं जान सकता है इस कारण भगवान् को ही स्वयं निरूपित करना पड़ता है यहां पर शंका होती है कि परम्परानुसार भी पाराशरजी से मैत्रेयीजी ने पढा था। इस प्रकार का वर्णन विष्णु पुराण में आता है यह प्रसिद्ध भी है।

इस कारण इसको भगवान् द्वारा नहीं कहने से भागवत नहीं कहा जा सकता है इस शंका का उत्तर वैष्णवादि पुराणानि कारिका से स्पष्ट करते हैं-

कारिका - वैष्णवादिपुराणानि तच्छेषाणीति निश्चितम्।
सर्वतोमुखमेतद्धि तदर्थं शेषतः कथा।।४५।।
अर्थमात्रप्रधानत्वान्न दूषणमिहाऽण्वपि।।४५ १/२।।

अर्थ - इस भागवत के वैष्णवादि पुराण अंग है यह निश्चित है। यह सर्वतो मुख है इसी कारण से शेष जी ने भागवत का प्रतिपादन किया है। इसमें अर्थ मात्रता की मुख्यता है इस कारण इसमें लेशमात्र भी दोष नहीं है। विष्णु पुराण की श्लोक संख्या २३ हजार है। विष्णु पुराण भागवत से पृथक् ही है। उसको भी व्यास जी ने बनाया है। अठारह पुराण व्यास जी की कृति है। पराशर संहिता से यह पृथक् ही है। भागवत का श्रवणकर पाराशर जी ने मैत्रेयजी को उसका उपदेश किया। यदि उसको भागवत कह दिया जाय तब भी किसी तरह का विरोध नहीं है। यहां पर शंका होती है कि पृथक् परंपरा होने के कारण इस को भागवत किस प्रकार कह सकते हैं। इसका समाधान करते हैं कि **'सर्वतो मुखम्'** भगवान् को ही भगवान् का स्वरूप भागवत में बताना चाहिये इसी कारण कभी स्वयं भगवान् बताते हैं कभी **'तत्वमतः परस्य'** से श्री संकर्षण वासुदेव का ही तत्व बताते हैं। यहां पर शंका होती है कि भगवान् स्वयं जो बतायेंगे तथा संकर्षण जो वर्णन करेंगे उस कथन में आपस में समानता होगी, नहीं तो फिर इनकी समानता किस प्रकार होगी? इसके समाधान में अर्थ मात्र

प्रधानत्वात् से कहा है। कहने का आशय यह है कि आपस में भले ही पृथक्-पृथक् हैं परन्तु उनका अर्थ तो समान ही होगा। सर्गादि जिस भांति भागवत में बताये हैं वे ही पाराशर की भांति कृष्ण में भी हैं इसी कारण किसी प्रकार की कोई शंका नहीं है।

कुछ लोगों का कथन है कि भगवान् तथा ब्रह्माजी के संवाद का परंपरा से आगत भागवत दूसरे स्कंध मात्र ही सूक्ष्म भागवत है तथा दसवें स्कंध तक जो भागवत मिलती है वह तो स्थूल भागवत है इस पक्ष को स्थूल सूक्ष्म इस श्लोक से दूषित करते हैं।

कारिका - **स्थूलसूक्ष्मविभेदेन केचिदाहुर्मृषैव तत्।।४६।।**
पंचमादन्यवत्कृत्वा तथा शास्त्र विरोधतः।।४६ १/२।।

अर्थ - कुछ लोगों ने (बोपदेवादिने) स्थूल सूक्ष्म भागवत में भेद किया है वह असत्य है उसी प्रकार पांचवें स्कंध से आगे भागवत है उसको मुख्य नहीं मानना शास्त्र विरोधी है। पांचवें स्कंध में जितना भी भागवत् है उसे नहीं तो पाराशरजी ने कहा है और न व्यासजी से श्रवण कर पांचवें स्कन्धादि को कहा है यदि यह मान लेते हैं तो **"कस्मै येन पुरेति"** इस श्लोक द्वारा समाप्ति कही गई है वह परंपरा के विरूद्ध होगी इसी मध्य में मैत्रेयी जी का प्रवेश भी निरर्थक हो जायेगा इसलिये भगवान् सर्वतो मुख है। इस बात की प्रसिद्धि हेतु बाकी कथा का वर्णन किया गया है यह बात निश्चित है। इस भांति दूषण का उत्तर कहकर (गुणातीतात् कारिका) से प्रकरण की संगति बताते हैं।

कारिका - **गुणातीतात्सृष्टिकथा उक्ताऽतिगोप्यतः।।४७।।**
कृष्णाज्ञया तन्मुखतः श्रुतत्वान्न स्वतन्त्रता।।४७ १/२।।

उत्तर -सृष्टि गुणातीत से ही होती है यह गोप्य है। इसलिये इस कथा को भगवान् ने स्वयं ही निरूपण किया है। पाराशर जी के मुख से मैत्रेयी जी ने कथा का श्रवण किया है वह भगवान् कृष्ण की आज्ञा से ही श्रवण किया है। कृष्ण ही कथा के उपदेशक पाराशर जी उसके स्वतंत्र कहने वाले नहीं है।

पाराशर के मुख से मैत्रेय ने इस भागवत का श्रवण नहीं किया है इसमें प्रमाण क्या है? उत्तर है **"कृष्णाज्ञयातन्मुखात्"** कृष्ण की आज्ञा से ही पाराशर के मुख से भागवत का श्रवण किया। इससे यह स्पष्ट है कि मैत्रेयजी ने कृष्ण के मुख से भागवत श्रवण किया आदिरूप से भगवान् ने भागवत को ब्रह्माजी से कहा तथा अवतार ग्रहण कर मैत्रेयजी एवं उद्धवजी को कहा। उद्धवजी के आगे की परंपरा ज्ञात नहीं है। विदुरजी ने मैत्रेयजी से कहा। अत्यन्त शुद्ध मन वाले को ही यह भागवत सफल होती है। विदुरजी अत्यन्त शुद्ध मन नहीं थे यह अत्यन्त शुद्ध चित्तस्य इस कारिका से वर्णन करते हैं-

कारिका- **अत्यन्तशुद्धचित्तस्य युक्तिर्नाऽपेक्ष्यते क्वचित्।।४८।।**
इति वक्तर्न संदेहः श्रोतुरस्त्यस्तीति संशयः।।४८ १/२।।

अर्थ – जो अतिशुद्ध चित्त वाला होता है उसके लिये कहीं पर भी मुक्ति की उपेक्षा नहीं होती है। इस कारण वक्ता (मैत्रेयजी) को तो कोई संशय नहीं है परन्तु श्रवण करने वाले (विदुरजी को तो संदेह है)

इस कथन से यह ज्ञात होता है कि भागवत अनेक हैं कोई भी भगवदीय भगवान् के द्वारा वर्णित को निरूपित करता है ऐसा भागवत का साधारण लक्षण है। युक्ति द्वारा पदार्थ का निश्चय होता है वह लौकिक है परन्तु भागवत तो अलौकिक है इस कारण उसका निर्णय युक्ति द्वारा नहीं किया जा सकता है। किन्तु अधिकार बिना वह अर्थ नहीं जाना जा सकता है। संशय जब हो तब उसका निराकरण करना आवश्यक है। इसलिये वहां जिस भांति जो जानता है उसके लिये उसी भांति वर्णन करना चाहिये। मैत्रेयजी विदुरजी के अनुसार ही उसका उत्तर देते हैं। उसमें पूर्व पक्ष तथा सिद्धान्त को **''गुणातीतात्''** कारिका से बताते हैं–

कारिका – **गुणातीतात्सृष्टिकथा सर्वथा नोपपद्यते।।४९।।**

कार्यकारणवैजात्याल्लौकहेतोरभावतः।

निरूपाधिकरूपे हि संदेहद्वयमीरितम्।।५०।।

अर्थ – सृष्टि का कार्य गुणातीत से है ऐसा कहना किसी भी प्रकार से ठीक नहीं है। कारण कि गुणातीत अर्थात् निर्गुण कारण से सगुण कार्य विजातीय होने के कारण कैसे होगा? इस तरह के कार्य कारणों में लौकिक युक्ति नहीं है। इसलिये निरूपाधिक रूप से दो संशय बताये गये हैं।

पुरुष का उत्पत्ति निषेक (वीर्याधान) से होता है उसको बालक नहीं जानता है। बालक तो केवल भोजन एवं मलमूत्र करने को ही देखता है तथा उसको ही पुरुष की उत्पत्ति का कारण जानता है किन्तु जब वह विचार करता है तब उसको भोजन एवं मल–मूत्र करने से ही पुरुष के उत्पन्न में संदेह पैदा होता है तब उस को कहने वाला जिस भांति बतलाता है परन्तु ऐसा जानना वास्तविक नहीं होता है परन्तु **''भगवान नेक आसेदम्''** इस श्लोक द्वारा भगवान् द्वारा सृष्टि होती है ऐसा निरूपित है यह ही वास्तविक सिद्धान्त है। विदुरजी को संशय किस कारण हुआ? कारण कार्य कारण वैजात्यात् है। कहने का आशय यह है कि सृष्टि का कारण भगवान् है वह तो बिना गुण का है तथा सृष्टि है वह सगुण। इस प्रकार की कारण कार्य की विजातीयता नहीं देखी गई है। लौकिक में सृष्टि कारण काम है। इस तरह गुणातीत में दो प्रकार के संदेह उत्पन्न होते हैं।

गुणातीत ब्रह्म के द्वारा सृष्टि मानने पर जो संशय होता है उनको दूर करने हेतु यदि ब्रह्म को सोपाधिक मान लें तथा सोपाधिक ब्रह्म ही जगत् को करने वाला है ऐसा वर्णन करेंगे तब पूर्व उक्ति दोष का निराकरण हो जायगा। किन्तु उस प्रकार हो नहीं सकता है। कारण कि ब्रह्म जो पूर्ण ज्ञान वाला है उसका विशेषण सोपाधिक किस प्रकार होगा? इस कारण तृतीय दोष ब्रह्म में आजायेगा उसका 'सोपाधित्वे' कारिका से बताते हैं–

कारिका – **सोपाधित्वे परीहारस्तदेव न भवेदिति।**

तृतीयो ब्रह्मणः सिद्धो जीवेऽप्येवमभेदतः।।५१।।

अर्थ – सोपाधिक ब्रह्म को मानकर उससे जगत् की सृष्टि होती है ऐसा मानने पर भी दोष का निवारण नहीं होगा तथा सोपाधिकत्व तीसरा दोष ब्रह्म में प्रमाणित हो जायेगा एवं जीव ब्रह्म में भेद नहीं होने का कारण जीव में भी दोष आ जायेगा।

सोपाधिक मानने से दोष की निवृत्ति नहीं होगी इसके विपरीत तृतीय दोष और भी हो जायेगा वह दोष ब्रह्म में आयेगा तथा ये ही दोष जीव भावापन्न ब्रह्म में भी होगा।

माया तथा ब्रह्म का संबंध है ऐसा प्रतिपादन करेंगे तो ब्रह्म में दुर्भगत्वादि दोषों का भी संभव होगा। इस भांति कार्यकारण समाधान करेंगे। जिस प्रकार माया का संबंध कारण में निहित है उसी भांति कार्य में भी संबंध का वर्णन करना पड़ेगा।

कारिका – **माया संबंधकार्ये हि परिहार्ये तयोः क्रमात्।**
प्रथमस्य परिहारः षष्ठया नित्यतयोदितः ।।५२।।

अर्थ – इस भांति जीव स्वरूप तथा ब्रह्मस्वरूप में जो संशय है उनका ब्रह्म में माया का संशय क्रम के कार्य जीव में उक्तदोषों का निराकरण होना चाहिये उसमें पहला जो ब्रह्म है उसमें तो माया का संबंध षष्ठी के द्वारा हमेशा बताया गया है।

इस भांति एक आशंका ब्रह्म के संबंध में और द्वितीय आशंका जीव के संबंध में उत्पन्न होती है। इस तरह पूर्व पक्ष का वर्णन कर सिद्धान्त पक्ष का प्रथम स्वपरिहार से बताते हैं। भगवान् का संबंध माया से हमेशा है यह **"सेयंभगवतो माया यन्न येन विरूद्धयेत"** भगवतः यहां पर इन षष्ठों से प्रतिपादन किया गया है। आशंका होती है कि माया के विषय के संबंध से भगवान् सृष्टि की रचना कर सकते हैं इससे तो भगवत्व की ही हानि होगी इस आशंका का उत्तर **भगवत्व विरोधित्व** इस कारिका द्वारा करते हैं–

कारिका – **भगवत्त्वाविरोधित्वं प्रकृत्यैव च सूचितम्।**
असमासात् प्रधानत्वं तेन नोपाधिसंभवः।।५३।।

अर्थ – **'भगवान्'** इस पद से ही गुणातीत के साथ किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है तथा संबंध षष्ठी तो प्रशंसा परक है। **'भगवतो माया'** इस तरह बिना समास रखा गया है। उससे ब्रह्म की मुख्यता मालुम होती है। ब्रह्म के संग माया का संबंध उसी भांति है जिस तरह नभ में सुदूर रहने वाले सूर्य का संबंध अनेक रंग के काच और जल के संग होता है। इसलिये ब्रह्म के संग शुद्ध है उसमें उपाधि का संभव नहीं है।

आशंका होती है कि मुख्य पक्ष से भी भगवत्व का अविरोध युक्ति से संगत हो सकता है उसका समाधान करते हैं कि **"भगवती माया"** इस तरह से असमस्त पद से ही भागवत का अविरोध हो जायेगा। असमस्त (भिन्नाभिन्न) होने के कारण एकार्थता नहीं होगी। इसी कारण माया विशिष्ट भगवान् नहीं है परन्तु माया

भगवान् से पृथक् है तथा वह नौकरानी (दासी) की भांति आज्ञा को मानने वाली बनकर रहती है।

इस भांति भगवान् में दोष का निराकरण बतांकर जीव में दोष निराकरण दूसरी कारिका से करते हैं-

कारिका - द्वितीयस्य परिहारे विरोधात्कार्यबाधनम्।
विरोधमात्रमाहोस्विदाद्ये सेयं दृशिर्यतः।।५४।।

अर्थ - भगवान् में माया के संबंध के दोष का निराकरण करने के पश्चात् दूसरे अर्थात् जीव में जब विरोध का निराकरण किया जायेगा। उस समय दो तरह के विकल्प होते हैं कामना से ही कर्त्तव्य आता है ब्रह्म तो गुणातीत है तब उससे कामना बिना ब्रह्म से कार्य (जगत्) की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। द्वितीय विकल्प यह भी हो सकता है कि कार्य तो दृश्यमान है तब कार्य बिना कर्ता संभव नहीं है। इसलिये उसका कर्ता अवश्य है कर्ता जब विद्यमान है उसे कार्य करने की इच्छा (कामना) अवश्य ही होनी चाहिये। कर्त्तव्य तो ब्रह्म में मानते हैं परन्तु कामना का नहीं होना भी मानते हैं ये दोनों संग कैसे रह सकते हैं। उसमें पहले विकल्प का समाधान **'सेयं दृशिर्यतः'** से दिया है। आशय यह है कि कार्य (जगत्) जब प्रत्यक्ष दिखाई देता है तब नियम के बल से कर्त्तव्य प्राप्त हो जायेगा। फिर कामना का अभाव किस प्रकार रहा उसका समाधान यह है कि यह कर्त्तृता इस प्रकार की है जिसमें कामना बिना भी कर्तृता होती है।

'भगवतो माया' इन दो पदों के पृथक्-पृथक् होने से पहले (ब्रह्म के दोष का तो) निराकरण हो गया। अब दूसरे (जगत्) पक्ष में दो विकल्प होते हैं प्रथम विरोध होने के कारण कार्य का नहीं होना या कार्य में विरोध मात्र कहना। पहले विकल्प का उत्तर तो **'सेयं दृशिर्यतः'** से किया जाता है। संसार असिद्ध होने के कारण कार्य ज्ञान तो नहीं कर सकते हैं। यदि यह कहा जाय कि संसार असिद्ध क्यों है? उसका कारण यह है कि भगवान् की माया से ही वह उत्पन्न होता है। तब भी युक्ति से विरोध आयेगा इस कारण दूसरे पक्ष में द्वितीये भूषण इस कारिका द्वारा उत्तर देते हैं-

कारिका - द्वितीये भूषणं तस्या विरोधो न तुं दूषणम्।
विरूद्धकार्यसंबंधस्तत्कृतस्तेन वर्ण्यते।।५५।।

अर्थ - कर्तव्य के रहते हुए भी कामना बिना इनकी साथ की स्थिति जिसको दूषण कहा गया था वह तो वास्तव में भूषण है इससे स्वभाव का उत्कर्ष एवं सामर्थ्य का ज्ञान होता है। माया के विपरीत कार्य करने वाली माया के विपरीत कार्य का संबंध जीव में निरूपित है।

ऐसा कहना भूषण किस प्रकार है? उसका समाधान विशेष कार्य संबंध से देते हैं। माया के विपरीत कार्य देखे जाते हैं जिस प्रकार शिरच्छेन पर भी जीवित रहता है। आंत को निकाल देने पर भी स्वरूप विद्यमान रहता है। यहां पर आशंका होती है कि इसमें युक्ति क्या है इसका समाधान **"विरोधोऽपि प्रतीत्यैव"** आदि कारिका से करते हैं-

कारिका - विरोधोपि प्रतीत्यैव न वस्तुनि यतो बृहत्।
दर्शनं ज्ञानिनोय्येवं जीवे सर्वस्य नेश्वरे।।५६।।
इति दृष्टान्तंतस्तस्य सत्ये भेदो निरूपितः।
तन्निवृति प्रतीकारो दुर्लभस्तेन तत्कथा।।५४।।

अर्थ - विरोध जो दृष्टि गोचर होता है वह भी प्रतीति मात्र से ही है। वस्तु में नहीं है। कारण कि जीव तो ब्रह्म ही है। जो ज्ञानी जीव में जीव के स्वरूप को जानता है। जीव का स्वरूप सर्व अवस्था में दिखाई पड़ता है। केवल ईश्वर का स्वरूप भासित नहीं होता है। स्वप्न के उदाहरण से सत्य जो भगवत्स्वरुप है उस से देह की भिन्नता वर्णित है। इस अनर्थ की निवृत्ति दुर्लभ है। इसलिये उसका उपाय बताया जा रहा है। जिस भांति ब्रह्मसर्व रूप हो सकता है। भगवान् का रुप माया है। वह भी सब रूप में हो सकती है। यह आत्म विपर्यय कार्पण्य आदि ईश्वर के स्वरूप को ही जान लेने पर नहीं होगे इस शंका लिये **'दर्शनं ज्ञानिनोऽप्येवम्'** यह जो बताया है वह ज्ञानी जीव में जीव के स्वरूप का अनभिज्ञ (अनजान) है उसके लिये जीव का स्वरूप सर्व अवस्था में प्रकाशित होता ही है। केवल ईश्वर का स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता है। इस कारण स्वप्न के देखने वाले (दृष्टा) भगवान् ही हैं। उन भगवान् के संग अपना अभेद ज्ञान है इस कारण स्वशिर श्छेद स्वप्न में दिखाई देता है। जीव के स्वप्न में शरीर का शिरच्छेदन वास्तव में ईश्वर को दिखायी देता है परन्तु ईश्वर के संग अभेद् होने से खुद को भी वह शिर का छेदन दिखता है। सुषुप्ति तथा उत्क्रांति में ही भेद दिखाई पड़ता है। शरीर प्राज्ञ आत्मा से मिला है। इस कारण उनका भेद वर्णित है। ब्रह्म ज्ञानी को भी वहां पर भेद का अनुभव होता है। ब्रह्मवेत्ता के अलावा उसका भेदज्ञान नहीं होता है। स्वप्न के दृष्टान्त से सत्य भगवत्स्वरूप में देह के भेद का प्रतिपादन किया है। वहां पर दृष्टान्तभगवान् ही हैं। सिर जीव का है इसमें क्या प्रमाण है वहां पर दूसरा उदाहरण (दृष्टान्त) जल में चन्द्रमा को देते हैं। जैसे जल में चलायमान चन्द्र बिम्ब दिखाई पड़ता है वह चलायमानपना नभ में स्थित चन्द्रमा में नहीं है परन्तु कंपन जल में हैं उसी भांति यह अहंता देहादिरूप संसार में है ब्रह्म के संग जीव का अभेद होने पर भी वह मस्तक जीव का ही है। इस अनर्थ की निवृत्ति अपने आप तो हो नहीं सकती इस कारण उसकी निवृत्ति का उपाय तन्निवृत्ति प्रतिकार इस पद से कहा है।

भक्तिमार्ग एवं ज्ञानमार्ग इन दोनों से अनर्थ की निवृत्ति होती है। मैत्रेयजी का अभिप्राय यह है कि भक्तिमार्ग से अनर्थ का तिरोभाव धीरे-धीरे होता है सभी का तिरोभाव भगवत्साक्षात्कार से होता है। उस काल में स्वप्न नहीं दिखाई देता है। जाग्रत अवस्था में भी देहादि में आत्मा बुद्धि नहीं होती है परन्तु सुषुप्ति की भांति हमेशा ब्रह्मानंद का अनुभव होता है।

कारिका - निदर्शनं सुलभं साधनं च गूढा सूक्तिस्तेन वै तत्प्रकाशः।
तदुक्त वै दर्शनं यन्न भेद्यं सेवाहेतुः शास्त्रनिष्ठेयमाद्याः।।५८।।

अर्थ – **'अशेषज्ञक्लेशमविद्याते गुणानुवाद श्रवणं मुरारेः'.** मैत्रेय जी को इस श्लोक द्वारा भक्तिमार्ग में मुक्ति का वर्णन करना चाहिये **केमुत्तिकन्याय** से बताते है। इसमें दृष्टान्त भी सुलभ है तथा साधन भी सुलभ है। सभी के अनर्थ की निवृत्ति इस कारण से नहीं होती है कि भगवद् चरित्र का निरूपण गुप्त है। इसी कारण भगवान् सभी के लिये प्रकट नहीं है। इसीलिये सभी की मुक्ति नहीं होती हैं ज्ञानमार्ग इस कारण से कहा कि भक्तिमार्ग दुर्लभ है। किंतु आत्मा का भेद ज्ञानमार्ग से भी नहीं जाना जा सका। इसी कारण से दोनों मार्गों में सेवा को ही कारण कहा गया है। वह सेवा भी पंचरात्र (शास्त्र) से कही गई है प्रथम करना चाहिये।

पहले पक्ष में मुक्ति का निरूपण करना चाहिये। अतः मैत्रेय जी ने **'कैमुत्तिक्रन्याय'** से **'अशेष संकलेशशमम्'** इस श्लोक से उस को कहा गया है। इसमें दृष्टान्त सुलभ है भगवद् गुणानुवाद में सर्व को परम आनन्द अनुभव होता है साधन भी सुलभ है उसमें कारण यह है कि सभी स्थान पर भगवद् भक्त भगवान् का कीर्तन करते ही हैं। इसमें किसी स्थान या देश विशेष की आवश्यकता नहीं है। जब साधन उपलब्ध है तब फिर सभी के अनर्थों की निवृत्ति क्यों नहीं होती है? उसमें कारण यह है कि भगवद् चरित्र का कथन श्रेष्ठ है किन्तु वह गुप्त है तथा भगवद् चरित्रोक्ति से ही भगवान् प्रकट में आते हैं परन्तु भगवद् चरित्रोक्ति के गूढ होने से सभी की मुक्ति कठिन है। इस कारण से भक्तिमार्ग दुर्लभ है। ऐसा बताया गया है। ज्ञानमार्ग बताया है किन्तु उसमें भी आत्मा का भेद जान नहीं सकते हैं। इस भांति दोनों ही मार्गों में सेवा को ही कारण (हेतु) कहा गया है। भगवद् सेवा से दोनों की ही प्राप्ति होती है। सेवा भी पंचरात्र (शास्त्र) में कही गई विधि से करना चाहिये। स्वेच्छा से जैसे तैसे नहीं करनी चाहिये। सर्वप्रथम सेवा ही करनी चाहिये उसके पीछे जब भगवान् की प्रसन्नता होगी तब भगवान् के द्वारा दिखाये हुए प्रकार से स्वेच्छा से भी सेवा हो सकती है।

यह सिद्धान्त जानना चाहिये इस प्रकार विचार कर ही सभी प्रश्न किये हैं

कारिका – **तदर्थमेव सकलं पृष्टं दुर्लभसंगतः।**
अतोऽपि न विसर्गत्व मन्यशेषाद्यवीयसाम्।।५९।।

अर्थ – सर्ग के लिये ही पूछा था कारण कि इस प्रकार का सर्ग बहुत दुर्लभ है। इसमें ब्रह्मादि से विसर्गता नहीं है कारण कि भगवान् के विभूतिरूप ब्रह्मादि है। इस कहने से तो सर्ग लीला का निरूपण है विसर्ग का नहीं हैं। ब्रह्मादि तो सृष्टि के करने वाले भगवान् की विभूति शेष हैं। इस भांति प्रथम पक्ष के अध्याय में भागवत् से ही विभूतिज्ञान होता है। उसकी प्रस्तावना श्री भागवत मेवात्र इस कारिका से है–

कारिका- **श्रीभागवतमेवाऽत्र श्रोतव्यं नान्यदस्ति हि।**
स्वज्ञानख्यापनार्थं हि तदुपाख्यसानमीरितम्।।६०।।

अर्थ – विभूति को जानने के लिये दूसरा कोई सुनने योग्य नहीं है। भागवत का ही श्रवण करना चाहिये। अपने ज्ञान के कथन के लिये उसके उपाख्यान को यहां निरूपण किया गया है। पुराण के अन्तरों से विभूति को नहीं

जाना जा सकता है। अतः उनका श्रवण नहीं करना चाहिये। **ब्रह्माविभूति** रूप कैसे है इस शंका के उत्तर हेतु **"तदुद्भवस्तदाज्ञप्तः"** कारिका से बताया है।

कारिका - **तदुद्भवस्तदाऽऽज्ञप्तस्तपसा तोषिते हरौ।**
स्तुते संप्रार्थिते चैवं बौधितः सर्वमेवा हि।।६१।।
चतुर्मुखश्चकारेदं यथापूर्वं तदाज्ञया।
इति दर्शयितुं पृष्ठ उपोद्घातं त्रिभिर्जगौ।।६२।।

अर्थ - चारवदन (मुख) ब्रह्मा की उत्पत्ति भगवान् से है। ब्रह्माने तपस्या से भगवान् को प्रसन्न किया तब भगवान् ब्रह्मा को सृष्टि करने के लिये आज्ञा की। भगवान् की स्तुति एवं प्रार्थना करने पर भगवान् ने ब्रह्माजी को सब ज्ञान कराया। चतुर्मुख ब्रह्मा ने भगवान् की आज्ञा से तब पूर्व की भांति सृष्टि की रचना की । इसको बताने के लिये पूछा था उसका उपोद्घात तीन अध्यायों में कहा है। सात तरह से जो भगवत्संबंधी होता है तथा भगवान् की विभूति होती है। कोई कहते हैं कि सात तरह से भगवत्संबंधी होता है वह आवेशी होता है। सृष्टि प्रकरण में इसे गुणातीत सृष्टि कहा है। आगे सगुण से सृष्टि का निरूपण किया जायगा। **"विरिञ्चोपितथा चक्रे"** ३.१०.४ ब्रह्मा ने भी उसी प्रकार की सृष्टि की। उसको दशम अध्याय में कहा जायगा। मध्य में सगुण की सृष्टि किस प्रकार हुई इस प्रकार की शंका की। उसके प्रतिपादन में तीन अध्यायों में उपोद्घात किया। इससे यह ज्ञात होता है कि ब्रह्मा विभूति स्वरूप है। इसका वर्णन विस्तार से किया है। ब्रह्मा द्वारा होने वाली सृष्टि का प्रतिपादन आठवें अध्याय में केवल दो श्लोकों से ही किया है।

पद्मकल्प का मुख्यरूप से जो निरूपण है उसमें हेतु क्या है? यह पद्मकल्प इस कारिका से बताते हैं-

कारिका - **पद्मकल्पः सात्विकानां श्रेष्ठस्तं तत उक्तवान्।**
पूर्वस्य प्रलयं शिष्टं हेतुं चाह विशुद्धये।।६३।।

अर्थ- पद्मकल्प सात्विकों का है इस कारण उत्तम होने के कारण उससे कहा। पद्म कल्प से पहले का कल्प था। उस प्रलय तथा उसमें अवशिष्ट शेष शायी भगवान् ने उनको आगे (पाद्म) कल्प का कारण कहा। इससे पद्मकल्प अतिशुद्ध है ऐसा प्रमाणित होता है।

पद्मकल्प से प्रथम कल्परूप तामस हो सकता है। इस कारण उसके प्रलय का वर्णन है। उस कल्प में बचे हुए शेष शायी भगवान् वे ही आगे के कल्प के कारण हैं। इसलिये उनका वर्णन है। अतः पद्म कल्प अतिशुद्ध है। यहां पर कल्प भेदों में पदार्थों से जो अन्यथात्व है वह दोषवाला नहीं है। इसे कहने के लिये **'जघनाब्ज पृथग्रूपैः'** इस कारिका से पृथ्वी के तीन रूप बताये हैं।

कारिका - जघनाब्ज पृथग्रूपैस्त्रिधा भूमेर्निरूपणम्।
ब्राह्मे पाद्मे वराहे च तेन नाऽन्योन्यदूषणम्।।६४।।

अर्थ - ब्रह्म कल्प में भूमिका निरूपण जघन रूप से पद्म कल्प में नाभि पद्म रूप से तथा वाराह कल्प में प्रथम रूप से किया है। इस कारण इनके अलग-अलग होने पर भी कल्प भेद के कारण किसी प्रकार का दोष नहीं है। ब्रह्म कल्प में पृथ्वी विराट प्रभु के जघन रूप थी। उसी विराट प्रभु के पद्मकल्प में नाभि पद्मरूप थी तथा वाराह कल्प में उस विराट् प्रभु से भिन्न रूप में थी वहां पर भी आदि वाराह कल्प में ब्रह्म के अतलादि पांच लोकों का हाथ से उद्धार किया तथा कमल के पत्ते पर स्थापित किया था। वह पृथ्वी पुनः पानी में डूब गयी थी उस पृथ्वी का वाराह कल्प में भगवान् ने उद्धार किया था। यह श्वेत वाराह कल्प है यह उससे भिन्न है अतः इसमें कोई दृष्ट अथवा श्रुत है उसमें विरोध नहीं मानना चाहिये।

यहां पर आशंका होती है कि जब बहुत कल्पों के विद्यमान रहते हुए भी भगवान् में इन केवल तीन कल्पों का ही निरूपण क्यों है उसका उत्तर **'प्राकृतं त्रय मेतत्'** इस कारिका द्वारा करते हैं।

कारिका - प्राकृतं त्रयमेतत्स्यादन्येष्वेकं यथो चितम्।
अतस्त्रिधा भागवतो भुवो रूप निरूपणम्।।६५।।

अर्थ - ब्राह्म, पाद्म तथा वाराह कल्प में तीन ही प्राकृत (प्रधान) है दूसरे कल्पों में पृथ्वी का रूप इन्हीं तीन कल्पों में निरूपित में से कोई भी हो जाता है। इसी कारण भागवत में पृथ्वी के तीन तरह के रूपों का वर्णन किया है। दूसरे कल्प इन तीनों कल्पों के विकार स्वरूप है। अतः कल्पों में इनमें से कोई एक रूप पृथ्वी आदि का होता है। इसी बात को कहने के लिये **''अतस्त्रिधा भागवते''** ऐसा कहा गया है अर्थात् भागवत में इन तीन रूपों का ही निरूपण है। उन कल्पों में दूसरे धर्मों का वर्णन **'पुरुषावयवे'** इस कारिका से कर रहे हैं-

कारिका - पुरुषावयवैः सर्वं यदा तस्य पृथङ्नहि।
पृथ्वी वा समुद्रा वा परिखामध्यवत्पुरम्।।६६।।
तदा सर्वं हरिर्मानी न मानीत्यपरे विदुः।।६६ १/२।।

अर्थ - ब्राह्म कल्प में विराट पुरुष के अवयव से सभी की उत्पत्ति बताई गई है इसलिये पृथिव्यादि पृथक् नहीं रहते हैं। यह पृथ्वी, समुद्र जैसे रवाई (परिख) मध्य जैसे नगर होता है उस भांति से रहते है। उस काल में सभी भगवत् रूप ही होता है। दूसरे विद्वान् ऐसा मानते हैं कि ये भगवान् के अवयव रूप नहीं है। ब्रह्म कल्प की यह व्यवस्था है। उस समय भगवान् से पृथिव्यादि पृथक् नहीं रहते हैं। ब्राह्मकल्प में केवल अकेला ही विराट् रूप आवरण जल के बीच में रवाई के मध्य में स्थित नगर की भांति रहता है। उस ब्राह्म कल्प में सब कुछ भगवत् शरीर रूप होने से हरि ही विद्यमान रहते हैं ऐसा मानते हैं। अन्य कथन है कि विराट् शरीर का

भगवान् नारायण ने लीलार्थ करण के रूप में ग्रहण किया था। उस पक्ष में यह विश्व भगवान् का क्रीडा भाण्ड का भगवत् स्वरूप नहीं था। ब्रह्म समवाय संबंध से कारण होते हुए भी कामधेनु आदि के दृष्टान्तो से वहां आत्म स्फूर्ति नहीं मानते हैं परन्तु वास्तव में तो यह विश्व आत्मीयत्व रूप से ही स्फुरित होता है। ब्रह्मकल्प में विराट् व्यवस्था को बताकर अब दूसरे पक्ष (पद्मकल्प की व्यवस्था) का प्रतिपादन करते हैं।

कारिका - **यदा पद्मात्सर्वमिदं तदा पूर्वकथा न हि।।६७।।**

जलं च मध्यतः सृष्टमथवाऽण्डस्य मध्यगम्।।६७ १/२।।

अर्थ - जिस काल में पद्मकल्प में सृष्टि की गई थी उस समय यह सब कुछ नहीं था। कहने का आशय यह है कि प्रलयकाल का जल भी नहीं था। जल की सृष्टि भी कमल के बीच में की या अण्ड के बीच में की। पद्म कल्प में प्रलय का जल भी नहीं था परन्तु तिरोहित नारायण थे तथा स्थल कमल की भांति केवल मात्र नाभि कमल ही विद्यमान था। जल की भी उस कमल के बीच में पीछे सृष्टि की या अण्ड के बीच में सृष्टि के विराट् तो तिरोहित थे तथा केवल कमल मात्र ही प्रकट था। उस काल में कमल द्वारा ही सृष्टि हुई उस कल्प में सभी भगवान् के अंश थे एवं भगवान् की माया से युक्त थे।

कदाचिज्जलद्भूमिः इस कारिका द्वारा तीसरे कल्प का प्रतिपादन करते हैं-

कारिका - **कदाचिज्जलवद्भूमिः पृथगेव विनिर्मिता।।६८।।**

कटाहमूले गमनं तदा तस्या निरूप्यते।

न समुद्रास्तया सप्त न तथा विस्मृता च भूः।।६९।।

अर्थ - जिस प्रकार जल का निर्माण पद्मकल्प में किया था उसी भांति वाराह कल्प में पृथ्वी का पृथक् से निर्माण किया था। वह पृथ्वी कटाह मूल (रसातल) में चली गई थी उस का वर्णन है। उस काल में सात समुद्र नहीं थे तथा उस समय पृथ्वी भी इस प्रकार फैली हुई नहीं थी।

जिस प्रकार पद्म कल्प में जल का निर्माण किया था उसी भांति वाराह कल्प में पृथ्वी का निर्माण किया। कटाह मूल का आशय यहां पर रसातल है। उस काल में सात समुद्र थे इसका कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह पृथ्वी पचास करोड़ के विस्तार वाली थी यह कहना प्रामाणिक नहीं है। ज्योतिष शास्त्र से इसमें विरोध आता है।

'न शेते' इस कारिका द्वारा वाराह कल्प में और भी विलक्षणता है उसको बताते हैं।

कारिका - **न शेते प्रथमे कल्पे तिरोभावस्तु तस्य हि।**

द्वितीय शयनं तस्य तृतीयेपि क्वचिद्भवेत्।।७०।।

अर्थ - प्रथम जो ब्रह्म कल्प था उसमें विराट शयन का निरूपण नहीं है कारण कि उस समय भूगोल ऊपर था इस कारण उस काल में नारायण के तिरोभाव का ही वर्णन है। दूसरा जो पद्म कल्प है उसमें नारायण के

शयन का निरूपण है तथा तीसरे वाराह कल्प में भी कहीं शयन होता है।

ब्राह्मकल्प के अलावा कल्पों में यह समस्त जगत् भग्नमूलक किस प्रकार था इसका समाधान **''तदुद्धारात्त''** कारिका से करते हैं।

कारिका – **तदुद्धारात्तदाधारात्तन्मूलं सर्वमत्र हि।**

अयं नारायणः शेते पूर्वसृष्टं निपीय तु।।७१।।

अर्थ – उस पृथ्वी का उद्धार नारायण द्वारा हुआ तथा पृथ्वी का आधार भी वे ही है। कहने का आशय यह है कि पृथिव्यादि का सब कुछ में मूल भगवान् ही हैं तथा ये नारायण पहले की सृष्टि (जल) का पान कर शयन करते हैं पृथ्वी का उद्धार भगवान् ने ही किया है। पद्म कल्प में पद्म का आधार वे ही भगवान् है। इस कारण इसके मूल में वे ही हैं। इस भांति कल्प भेद के विरोध का निराकरण कर **''उदप्लुतं विश्वमिदम्''** इससे किसी के सोने का वर्णन है वहां प्रथम पक्ष के निराकरण के लिये नारायण शयन करते हैं ऐसा बताया है। विराट् का सोना कैसा हो सकता है। इस शंका का उत्तर यह है कि उस समय गोल, टेढा था इस (वाराह) कल्प से पूर्व पाद्म कल्प ही था कारण कि **''अनेन लोकान् प्राग्लीनान्''** इससे यह स्पष्ट हो जाता है। **''स्वधारे''** इस कारिका द्वारा सोने के स्थान को बताया है।

कारिका – **स्वाधारेऽण्डकटाहे वा जलमध्ये तु तत्स्थितिः।**

उदरस्थं जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते।।७२।।

अर्थ – भगवान् की उस काल में स्वयं के आधार में स्थिति थी या अण्ड–कटाह में अथवा जल के बीच में स्थिति थी तथा रजरूप से समस्त जगत् उनके पेट (उदर) में स्थित था।

स्वयं के ही भीतर जल की कल्पना कर उसमें आप सोते हैं दैनंदिन प्रलय वैसा ही होता है नहीं तो नारायण का सोना संभव नहीं हो सकता है या जैसा श्रवण किया है उसी के अनुरोध (प्रार्थना) से पाक्षन्तर की कल्पना कर लेनी चाहिये। आशय यह है कि अंड कटाह में उन्होंने शयन किया था उस काल में तीनों लोकों का प्रलय हुआ था वह निद्रा के कारण हुआ था। उस काल में नारायण तो केवल देखने वाले थे तथा वे उस काल में पृथक् ही थे। अथवा वे पहले कहे गये पुरुष से अलग थे या अन्तर्यामी रूप से थे। दोनों स्थिति में जल के बीच में ही स्थिति थी। जितना जिनका संभव है उन सर्व पदार्थों का नाश तथा उत्पत्ति करनी है इसमें विरोध की शंका करके पुनः **'उदरस्थ' 'जगत्सर्व'** इससे इस शंका का उत्तर देते हैं। पूर्व में यह वर्णन किया कि यह संपूर्ण जगत् जल निमग्न हुआ था इसका प्रतिपादन कर पुनः **'अन्तः शरीरेऽर्पित भूतसूक्ष्म'** इससे पुनः अन्तः जगत् का वर्णन किया है। उसमें आधिभौतिक तो समाप्त हो गया तथा अध्यात्मिक को अन्तः प्रविष्ट कर दिये ऐसी व्यवस्था की उसी को 'जगत्सर्वं रजोरूपेण वर्तते' से बताया है। न मूढं न प्रकाश इस कारिका से राजस तत्व में हेतु देते हैं।

कारिका – न मूढं न प्रकाशं च कृष्ण दृष्टया तदुद्गमः।
संकोचश्च विकासश्च नाऽन्यथेति तथोद्गमः।।७३।।

अर्थ – भगवान् के उदर स्थित जगत् विद्यमान था वह तामस या सात्विक नहीं था। उस जगत् का उद्गम भगवान् के विचार से हुआ। राजस तत्व ही उद्गम का कारण है अन्यथा इस जगत् का संकोच या विकास नहीं होता। जगत् के निर्गमन में कृष्ण दृष्टि भगवद् विचार को ही कारण माना है। विचारात्मक दृष्टि में भी संकोच विकास कारण है। अन्यथा संकोच विकास संभव नहीं था। इस कल्प में तत्वों का नियम नहीं है इसको कहने के लिये विश्व की जिससे अभिव्यक्ति होती है उसकी उत्पत्ति को बताते हैं–

कारिका – प्रथमे तु महत्तत्वं यथा पद्मं तथाऽपरे।
परिपालक रूपेण प्रविष्टो वेदरूपतः।।७४।।
ब्रह्मा स्वयमभूद द्वेधा स्वयमर्थोन्तरः पृथक्।
अनन्तर्दृष्टितो भ्रान्तस्तद्दृष्टया तस्य दर्शनम्।।७५।।

अर्थ –.पूर्व कल्प में जिस तरह महत्तत्व था उसी भांति इस कल्प में पद्म था। भगवान् ने वेद रूप से परिपालक रूप से ब्रह्मा में प्रविष्ट हुए तथा ब्रह्मा ने अपने रूप के दो विभाग किये उसमें एक तो अर्थ रूप स्वयं चार मुख वाले हुए तथा दूसरे शब्द ब्रह्म रूप हुए। अन्तर्दृष्टि के अभाव से ब्रह्माजी को संदेह हुआ तथा जब उनकी अन्तर्दृष्टि हो गई। तब उनको भगवान् के दर्शन हो गये। इस कल्प में महत्तत्व की जगह में पद्म था वही पद्म जगत् का आधार था। इस पद्म द्वारा ब्रह्मा की उत्पत्ति किस भांति हुई ऐसी शंका करके उसका उत्तर देते हैं कि भगवान् ही वहां प्रविष्ट हुए तथा ब्रह्म के रूप में पैदा हुए। किन्तु ब्रह्मा में भगवान् शब्द (वेद) रूप से प्रविष्ट हुए इसी कारण ब्रह्मा के पुरुष स्थानीय होते हुए भी इनको भगवान् से न्यून (थोड़ा) रूप वाला कहा है।

पद्म कल्प ये ब्रह्मा ही विराट् के स्थानापन्न है। ब्रह्माजी शब्द ब्रह्मात्मक हैं। उनके दो कार्यों की सफलता के लिये दो रूप में हो गये। उनमें एक अर्थ रूप था वह स्वयं चारमुख वाला हुआ जिसे यह रूप प्रपंच (जगत्) उत्पन्न होता है। द्वितीय शब्द ब्रह्म रूप हुआ उससे वेदोत्पत्ति हुई। दोनों यद्यपि एक ही हैं। किन्तु अर्थ से शब्दात्मक पृथक् है। कमल से पैदा होने वाले ब्रह्माजी तो महान् हैं तब भी उन्हें अपना कारण ढूंढने में संदेह क्यों हुआ। उसका उत्तर देते हैं कि ब्रह्माजी की तब अन्तर्दृष्टि नहीं थी उस काल में उनको संदेह हुआ था। जब उनकी अन्तर्दृष्टि हो गयी तो इन्हें अपने कारण का प्रत्यक्ष हो गया। ब्रह्माजी ने अन्तर्दृष्टि से जिस भांति देखा था। ब्रह्मस्वरूप वैसा ही है उसको बताते हैं।

कारिका – साकारमेव तद् ब्रह्म कारणं च तदेव हि।
इति तद्वर्णनं स्तोत्रं तद्ब्रह्मत्वाय वर्ण्यते।।७६।।

अर्थ – ब्रह्माजी ने अन्तर्दृष्टि से देखा तब उन्हें साकार ब्रह्म के दर्शन हुए वह साकार ब्रह्म ही सभी का कारण है। ब्रह्माजी ने उसी ब्रह्म का प्रतिपादन किया और उस ब्रह्म की स्तुति की उसमें ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। इस कल्प में कमल और ब्रह्मा ही थे इससे भिन्न और कोई नहीं था। इसका जो कारण है वह यदि साकार होता है तो वह ब्रह्म ही है। कारण का अन्वेषण करने वाले को कारण ही दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण वह ही कारण है। ऐसा जान कर भगवान् का निरूपण तथा स्तुति की। इस प्रार्थना में भगवान् के स्वरूप का निर्णय है।

अष्टम अध्याय संपूर्ण

नवम अध्याय प्रारम्भ

ब्रह्मत्व के निर्णय के हेतु स्तोत्र की पच्चीस कारिकायें हैं–

कारिका – **एकविंशतिभिर्नित्यं भजनं जन्मनः फलम्।**
चतुर्भिः प्रार्थ्यते तावत्संसारे तद्धि दुर्लभम्।।७७।।

अर्थ – इक्कीसकारिकाओं द्वारा प्रतिपादन भजन करना चाहिये इस का निरूपण है तथा चार कारिकाओं द्वारा फल प्राप्ति की प्रार्थना है वह संसार में कठिन (दुर्लभ) है। इक्कीसवां पुरुष माना गया है। दस उसके कर की अंगुलियां है तथा दश पैर की एवं आत्मा यह इक्कीसवां, इससे क्या सिद्ध होता है जिसकी आकांक्षा होगी उसका समाधान है प्रतिदिन भजन तथा वही जन्म का फल, उस फल के हेतु चार कारिकाओं द्वारा स्तुति है। वैसे देखा जाय तो भगवान् की प्रसन्नता ही प्रार्थनीय है। उस प्रसन्नता का भी यह कारण है। इसी कारण प्रार्थना की जाती है। यह संसार में दुर्लभ है। भजन की सिद्धि हेतु उसमें चार अर्थो की प्रार्थना की है। उसी के भजन की सिद्धि प्राप्त होती है।

वे ही चार प्रकार के प्रयोजनों को गिनाते हैं–

कारिका – **सात्विकगुणं गुणासक्तिर्वाचकाविस्मृतिस्तथा।**
अनुद्वेगश्च सर्वत्र कृष्णतस्तद्धि नाऽन्यथा।।७८।।

अर्थ – सात्विकता, गुणासक्ति, वाचकाविस्मृति, सर्वत्र अनुद्वेग ये चारों प्रयोजन कृष्ण के द्वारा ही मिल सकते हैं। दूसरी तरह से नहीं। यहां पर आशंका हो सकती है कि ये चार साधन प्रमाण से ही करने चाहिये, उसका समाधान है कि नहीं, ये कृष्ण द्वारा होते हैं। आशंका उत्पन्न होती है कि जब प्रार्थना की तब सिद्ध की भांति फल क्यों नहीं दे दिया? साधनोपदेश क्यों किया उसका समाधान करते हैं।

कारिका - प्रेम्णा न सेवनं यस्मादुपदेशस्ततः कृतः।

आद्ये तपस्ततो ज्ञानं तेनाऽन्यस्तत्फलं ततः।।७९।।

द्विरूपं हृदयोत्साहस्तेनैवाऽविस्मृतिस्ततः।।७९ १/२।।

अर्थ - ब्रह्माजी ने प्रेमपूर्वक सेवा नहीं की थी इसी कारण उपदेश किया था। सात्विकता की प्राप्ति हेतु तप आवश्यक है तथा उसके द्वारा उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई एवं उस ज्ञान द्वारा भगवद् गुणों में आसक्ति हुई तथा उसके द्वारा वेदों का स्मरण और उसके पश्चात् उसका फल अनुद्वेग की सिद्धि होती है। भगवद् लीला का परिज्ञान यह अन्य फल भी इसके द्वारा मिलता है। इनकी जब सिद्धि होगी हृदय में प्रसन्नता तथा वेद का अविस्मरण ये दोनों ही सिद्ध होंगे। भगवान् ने स्तुति के अनुरूप तो उत्तर नहीं दिया परन्तु **'तुम फिर तप करो'** इस तरह का अलग ही उपदेश दिया इसका क्या कारण है? इस शंका का समाधान **''आधेतप''** से दिया है। साधन का ही उपदेश दिया जाता है। सात्विकत्व तप से ही प्राप्त होता है। भगवद् गुणों में आसक्ति ज्ञान द्वारा होती है। ज्ञान के द्वारा ही **'वाचका स्मृति'** (वेदों का अविस्मरण) होता है। इन तीनों के प्राप्त होने पर उनका फल अनुद्वेग सिद्ध होगा। अन्य भी फल जैसे भगवद् लीला का परिज्ञान यह भी सिद्ध होता है उसकी सिद्धि मिलने पर हृदय में उत्साह वेदों की अविस्मृति भी भली भांति सिद्ध हो जायेगी।

अनुद्वेग में अन्य हेतु भी बताते हैं-

कारिका - कृष्णसक्त्या त्वनुद्वेगः प्रीतो भक्ते हरिः सदा।।८०।।

अतोऽष्टभिर्वचस्तेन तिरोभावाच्च नित्यता।। ८०१/२।।

अर्थ - कृष्णासक्ति जब होती है तब भगवान् भक्ति से प्रसन्न हो जाते हैं तथा अनुद्वेग प्रसन्नता होती है इसको आठ श्लोकों से कहा है और उसी रूप से भगवान् का तिरोभाव होने के कारण नित्यता भी है। भगवान् में आसक्ति होने और यदि उनकी प्राप्ति नहीं तो उद्वेग होगा तब उद्वेग की निवृत्ति किस प्रकार होगी इसके विषय में बताया है कि भगवान् भक्तिसे हमेशा प्रसन्न रहते हैं तो फिर उनकी अप्राप्ति कोई कारण नहीं है। अतः प्रीतियुक्त भक्ति से प्रसन्न होकर प्रसन्नता (अनुद्वेग) को प्रदान करते हैं। इसी बात को कहने के लिये आठ श्लोकों द्वारा भगवान् के वचन का प्रतिपादन है तथा उसी रूप से तिरोहित होने की उनकी नित्यता भी है। इसी भांति नवमें अध्याय में ब्रह्मा के पिता की ब्रह्मरूपता सिद्ध की है।

यहां पर आशंका होती है कि नवम अध्याय में ही सृष्टि बतानी चाहिये तथा उसका प्रश्न भी करना चाहिये। तब फिर इस नवम् अध्याय में नहीं बताकर कमल प्रकरण दसवें अध्याय में इसका प्रश्न एवं उत्तर क्यों बताया है।

कारिका - चरित्रपरचित्तत्वादग्रे पृष्टं न पूर्वतः।

अत एव गुरुः प्रीतः क्रमेणैवाऽऽह नाऽन्यथा।।८१ १/२।।

अर्थ- चरित्र में लीन (तन्मय) होने के कारण उस चरित्र के संपूर्ण नहीं होने तक किसी भी प्रकार का प्रश्न नहीं किया। उसके पूर्ण होने के अनन्तर ही आगे प्रश्न किया इस कारण गुरु को प्रसन्नता हुई तथा उन्होंने क्रमशः समाधान किया प्रश्न की अपेक्षा से समाधान नहीं किया।

उपोद्घात रूप से भगवद् चरित्र के मध्य प्रस्तुत किया था। परन्तु भगवद् चरित्र में लीन हो जाने से जब तक उसकी पूर्ति नहीं हुई तब तक कुछ भी प्रश्न नहीं किया। जब प्रश्न किया ही नहीं तो उत्तर भी कैसे दिया जा सकता है। आगे बताया जायगा वह भी पहले का ही अंग हो जायेगा यही इसका तात्पर्य है। इससे यह ज्ञात होता है कि भगवद् भक्तों के लिये प्रसंग से भी भगवद् कथा (वार्ता) का प्रतिपादन हो जाय तो अपने भवन उपक्रम के विषय में वे उदासीन हो जाते हैं तभी तो उनमें भक्तिउत्पन्न होती है। इसकी परीक्षा हेतु ही गुरु ने **'प्रीतः प्रत्याह'** इस वाक्य से वैसा ही कहा है। भगवद् चरित्र के पीछे प्रश्न करने से गुरु को प्रसन्नता हुई इसको गुरु शब्द से बताया, प्रसन्नता की पहचान क्रम से कहना है। पहले संबंध रूप से ही प्रश्न का उत्तर बताया अलग रूप से नहीं बताया। प्रसन्नता यदि नहीं होती तो पहले से ही संबंध बिना प्रश्न का समाधान नहीं करते।

पद्मकल्प यदि एक ही होता तो **'अनेन लोकान् प्राग्लीनान्'** इस प्रकार का वाक्य कैसे बताते। इसलिये उसके समर्थन के लिये बताते हैं।

कारिका - **पद्मकल्पाश्च बहवस्तेन ज्ञानं तथोदितम्।**
पद्मतः सर्वसम्भेदं ब्रह्मभेदं तथोक्तवान्।।८२ १/२।।

अर्थ - पद्मकल्प अनेक हैं अतः वैसा ज्ञान कहा गया है। सर्वकार्य में कमल का मिश्रण है। जिस भांति पद्मकल्प अनेक हैं उसी प्रकार ब्रह्म का भी भेद है। पद्म कल्प अनेक हैं। इससे क्या प्रमाणित होता है उसका समाधान यह है कि **''पद्मत सर्व संभेदम्''** सर्वकार्य में पद्म का मिश्रण है। यदि कुछ शंका हो कि **''तस्यैवचान्ऽतेकल्पोऽभूत''** उसके अन्त में ही कल्प (पद्मकल्प) हुआ यह वर्णन विरूद्ध होगा। पद्मकल्प यदि अनेक होते तो **'कल्पोऽभूत'** कल्ष में एक वचन का प्रयोग क्यों किया ? बहुवचन का प्रयोग करना चाहिये। इसका समाधान **''ब्रह्मभेद तथोक्तवान्''** से बताते हैं द्वितीय ब्रह्मा में ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड से अलग है इस कारण **'पूर्वार्ध'** और **'परार्ध'** पक्ष में दोष नहीं होता है तथा ब्रह्मा का भेद भी इससे ज्ञान होता है।

अथवा **'तस्यै वर्षाऽन्ते'** का अन्त शब्द वर्ष के आशय के बताया है। उस समय तीन सौ साठ ब्रह्मकल्प होते हैं इसी को बताते हैं-

कारिका - **सामान्यतो विभागोयं सर्वेषामुक्तमेव हि।**
सृष्टिर्द्धिधापि संपूर्णा कारणानामतः कथा।।८३ १/२।।

अर्थ - इस प्रकार सामान्य रूप से सभी का विभाग बताया है। सृष्टि दोनों ही तरह की अब पूरी होती है। अब यहां के कारणों के विषय में बताया जा रहा है। अन्त का तात्पर्य अन्तिम दिन नहीं है इससे दूसरे कल्पों

का विभाग ज्ञात होता है वह जानना चाहिये, या सगुण ब्रह्म से सृष्टि विशेष तरह से क्यों नहीं बताई? इस शंका के समाधान हेतु। **'सामान्यतः'** ऐसा कहा है अर्थात् सामान्य रूप से सर्व विभाग कहा यही समस्त जीव लोक है। **'अब' 'सृष्टि द्विधापि'** इससे उपसंहार करते हैं। यहां सृष्टि में विभूति मुख्य है अब काल के द्वारा सृष्टि बताई जाती है इसको **'कारण नामतः'** कथा से निरूपण करते हैं।

कारिका - **कालोजीवश्च वै रूपे नाम्नि वैदिकमुच्यते।।८४।।**

कालस्य कार्यतो जन्म तदुपाधिवशादपि।।८४.५।।

अर्थ - सर्ग के लक्षण में यद्यपि भूतादि पदों के तत्व ही बताये हैं तब फिर कारण संभूति में भी उन्हीं का ग्रहण होना चाहिये तो फिर काल सृष्टि और जीव सृष्टि के बताने का आशय क्या है? उसका समाधान यह है कि काल और जीव के नाम में तथा रूप में वैदिक बताये गये हैं। काल का जन्म कार्य से होता है या कार्योपाधिवश से भी कभी उसका (कालका) जन्म होता है। काल के अव्यक्त होने से एवं उसमें कृष्णभाव होने के कारण उसकी कोई उत्पत्ति नहीं है। तब भी काल का कारणत्व अनुभव में होता है। इसलिये उसके विषय का प्रश्न एवं समाधान दोनों ठीक है।

दो अध्यायों में वहां पर काल वर्णन है। यह बताते हुए भेद को बताते हैं कि काल की कार्य से उत्पत्ति होती है। स्वभाव से उसका जन्म इस कारण नहीं होता है कि काल अव्यक्तहै। **'जनिप्रादुर्भावे'** इस धातु से जन्म शब्द की उत्पत्ति है। वह अर्थ यहां पर नहीं है तथा द्वितीयकारण यह है कि काल भगवदावतार रूप है इस कारण उसमें तीन तरह की उत्पत्ति नहीं है अर्थात् अव्यक्त होने के कारण प्राकट्य रूपा उत्पत्ति नहीं है तथा भगवत्व होने से समागमन रूपा उत्पत्ति भी नहीं है और अवतारता होने से उत्पत्ति भी नहीं है तब फिर सृष्टि में उसके विषय में क्यों कहा इसका समाधान यह है कि काल के कारणत्व अनुभव प्रमाणित है जिसके डर से वायु चलती है जिसके डर से सूर्य तपता है। इसलिये उसका प्रश्न तथा उत्तर ठीक ही है।

कारिका - **अव्यक्तत्वात्कृष्णभावान्नोत्पत्तिः कापि तस्य तत् ।।८५।।**

तथापि कारणात्वाद्धि प्रश्नो युक्त तथोत्तरम्।

लक्षणं च स्वरूपं च तस्य कारणताऽपि च।

सर्वस्य ब्रह्म रूपत्वात्परिच्छेदकरः स्वयम्।।८६ १/२।।

अर्थ - काल का लक्षण एवं स्वरूप और उसकी कारणता भी तथा सभी के ब्रह्म रूप होने से वह काल स्वयं ही परिच्छेद बताये गये अर्थात् काल से ही परिच्छिन्न है। काल ही कारण है उसमें निमित्त है उसको 'सर्वस्य ब्रह्मरूपत्वात्' से बताया है। काल ही से परिच्छिन्न है तथा काल ही से किया जाता है अर्थात् काल ही उपादान कारण है कर्तृ क्रिया व्याप्त समवायी कारण ही उपादान कारण कहा जाता है। काल की सामर्थ्य ऐसी क्यों है, काल का स्वरूप इसलिये कहा गया है।

कारिका - इदं कालस्य कालत्व भाविर्भावादिकं स्वतः।।८७।।
कार्यतः कालकथनात्सामान्येन निरूपणम्।।८७ १/२।।

अर्थ – कालका कालत्व यही है कि काल के आविर्भाव आदि अपने आप ही होते हैं। कार्य के निरूपण से ही साधारण रूप से कारण का प्रतिपादन है। इसका अभिनय करने वाला नर जिस प्रकार केवल हाथ द्वारा ही सब पदार्थों को चेष्टा विशेष से प्रदर्शन करता है। इस कारण काल ही ब्रह्म के सर्वभाव से आविर्भाव परिच्छेद का हेतु है। कुछ लोग काल को भगवान् के आविर्भाव का कारण कहते हैं परन्तु ऐसा नहीं है। आविर्भाव तो अपने आप ही होताहैं परन्तु काल उसका परिच्छेद होता है। अब काल का वर्णन सामान्य तथा विशेष तरह से दो अध्यायों से निरूपण किया जा रहा है। आशंका हो सकती है कि कार्य के वर्णन का उपयोग नहीं होगा उसके विषय में बताते हैं कि कार्य निरूपण से सामान्य रूप से काल का वर्णन हो जाता है। आशंका करते हैं कि इस भांति की गिनती किस कारण से की? साधारण रूप से काल का कार्य होने से संपूर्ण जगत् का निरूपण करना चाहिये इसका उत्तर देते हैं–

कारिका- कञ्चित्प्रकारमाश्रित्य बुद्धिसौकर्यसिद्धये।।८८।।
खगानां गणना प्रोक्ता भल्लूके लोमपक्षताः।
पक्षिजाति विशेषोवा तच्छब्देन तथोदितः।।८९।।

अर्थ – इस भांति की गिनती यदि नहीं करते तो समस्त कार्य मालुम नहीं हो सकता था। अतः बुद्धि की सुकरता की सिद्धि हेतु गिनती की गई है। पक्षियों की गिनती से भालू की गिनती भी की है। इसका कारण यह है कि उसकी शक्ति पंख के स्थान पर मान लिये या यह भल्लूक कोई विशेष जाति का पक्षी हो सकता है इसी कारण से उसे पक्षी कहा गया है।

गिनती करने से ही सर्व कार्य ज्ञान हो सकता है। अतः बुद्धि की सुकरता के लिये गिनती की गई है। उस गिनती में भल्लूक (रींछ) की पक्षियों में गिनती की है। किन्तु वह तो मृग विशेष है तथा लोक में प्रसिद्ध है और वह जांबवान् की जाति का है। इस कारण उसकी गिनती पक्षियों में करना ठीक नहीं है उसका उत्तर **'लोकपक्षता'** से किया है उसके बाल पंख की भांति मान लिये गये हैं या कोई पक्षी जाति विशेष हो सकती है।

आशंका होती है कि **'अर्वाक स्त्रोतस्तूनवयः'** से मनुष्यों की सृष्टि एक ही तरह की कही है परन्तु मनुष्यों में तो श्रेष्ठ, मध्यमाद्दि भेद गिने गये हैं। यह बात **''मध्यमा मानुष ये तु''** आदि वाक्यों से स्पष्ट है उसका उत्तर देते हैं–

कारिका - अकृत्रिमनराणां च त्रैविध्यं गुणतोपि हिं।
ते जायस्व म्रियस्वेति मार्गगा एवं कीर्तिताः।।९०।।

अर्थ – कार्यरूप में काल के कृत्रिम मनुष्यों की गिनती है। अकृत्रिम मनुष्य तो गुणों से तीन तरह के होते हैं। यहां पर तो **'जायस्व'** जन्मो तथा म्रियस्व मरो इस मार्ग के मनुष्यों का वर्णन है। कार्यरूप काल के कृत्रिम मनुष्यों की यहां पर गिनती की गई है। अकृत्रिम अर्थात् सहज जो कि तीन तरह के है। सात्विक उत्तम है, वैज्ञानिक अथवा भक्तियुक्त होते हैं। दूसरों को भी इसी प्रकार जानना चाहिये। वे कर्म के आधीन हैं उन्हीं को यहां पर **'जायस्व म्रियस्व'** बताया है। कहने का तात्पर्य यह है कि कर्माधीन होते हैं वे तो जन्ममरण के चक्कर से मुक्त होते ही नहीं है। भगवान् स्वयं (आत्मा) सृष्टि करते हैं। इसका अभिप्राय कहते हैं–

कारिका – **अनेकविधसृष्टिश्चेद्वैषम्यादि हरेर्भवेत्।**

आत्मानं हि स्वयं चक्रे तेन नाऽत्रोक्त दूषणम्।।९१।।

अर्थ – अनेक तरह की सृष्टि दृष्टिगोचर होती है अर्थात् कोई सुखी है कोई दुःखी है ऐसा भेद दिखाई देता है इससे भगवान् में विषमता दोष आयेगा अर्थात् भगवान् ऐसी असमान (विषम) सृष्टि की रचना करते हैं तो भगवान् में विषमता है ऐसा दोष आ सकता है। परन्तु जब स्वयं भगवान् ही बहुत तरह के हो गये हैं तब फिर वैषम्य कैसा ? यदि भगवान् ही चोर रूप में हो, तथा भगवान् ही दण्ड देने वाले हो तब फिर विषमता (ऊंच नीच) कैसी? मस्तक भी हमारा है हाथ भी हमारा है, यदि हम अपने हस्त को तकिया बना कर शयन करते हैं तो क्या हमारे में विषमता हो जायेगी।

क्या इस भांति हमेशा काल से पैदा होते हैं या एक ही बार पैदा होते हैं ऐसी आशंका करके भी एक ही बार कारणता से उत्पन्न हुए हैं इस कथन को कारिका द्वारा कहते हैं।

कारिका – **तत्तदुत्पत्तिहेतुत्वाद्भेदानां तत्कथा तथा।**

कार्यनाशोऽणुपर्यन्तं परमस्तेन स स्मृतः।।९२।।

अर्थ – उन उनके पैदा होने में हेतु के कारण होने से भेदों में काल का वर्णन है। जब अणु पर्यन्त कार्य नष्ट हो जाता है तब जो परम अणु विद्यमान रहता है। वही परमाणु होता है।

तत्कथा का आशय काल की कथा परमाणु पद का निर्वचन करते हैं **'कार्यनाशाऽणु पर्यन्तम्'** स्थूलता के बिना जो सूक्ष्मता है उस सूक्ष्मता का अन्त (समाप्ति) जहां होती है अर्थात् जिसमें कोई सूक्ष्म नहीं हो उसे परमाणु बताते हैं।

कारिका – **मानसोत्तरभूमेस्तु सोंशः सूर्यरथेन हि।**

यावता क्रम्यते काल परमाणुः स उच्यते।।९३।।

सर्व नभो मण्डलं हि यावता क्रम्यते स तु।।९३ १/२।।

अर्थ – मानस की उत्तर भूमि का वह हिस्सा (अंश) जो सूर्य के रथ द्वारा जितने समय में पार किया जाता है वह परमाणु काल कहा जाता है तथा संपूर्ण नभ मंडल को जितने समय में पार किया जाता है वह संवत्सर

कहा जाता है। उस संवत्सर की आवृत्ति होती है तो उसके साठ भेद होते हैं। बृहस्पति का बारह आरावाला कालचक्र बारह वर्ष में भ्रमण करता है। साठ वर्ष में पांच बार भ्रमण करता है। इस कारण उसको पंचात्मा कहा गया है।

काल की परमाणुता में युक्ति देते हैं-

कारिका - संवत्सरः परः प्रोक्त स्तदावृत्तिरतः परम्।
षष्टिभेदा द्वादशात्मा तेन पंचात्मकः स्मृतः।।९४ १/२।।

अर्थ - अब संवत्सर परिवत्सरादि पांच भेदों की उपपत्ति बताते हैं। **''सृष्टिभेदाः''** बार्हस्पत्यमान के प्रभव विभवादि साठ भेद प्रसिद्ध हैं। बृहस्पति में द्वादश अंश वाला कालचक्र द्वादश वर्षों में भ्रमण करता है उसी की साठ वर्षों में पांच बार पुनरावृत्ति हो जाती है इसी कारण संवत्सर परिवत्सरादि होते हैं। संख्या तो पराधर्म पर्यन्त ही है उससे ज्यादा नहीं है। इस कारण संवत्सर गिनती से ब्रह्म को दिवस की गणना कठिन है। इसलिये युग की कल्पना की है। इसको कहते हैं-

कारिका - यत्राऽऽवृत्तिर्न चैवास्ति परार्धानधिकत्वतः।
सङ्ख्यायास्तेन गणना युगादिभिरूदीर्यते।।९५ १/२।।

अर्थ - वर्षों की आवृत्ति इस कारण से नहीं की है कि संख्या परार्ध से ज्यादा नहीं है। अतः संख्या की गिनती के लिये युगादि बताये गये हैं।

जहां पर धर्म का नियम किया जाता है उस का वर्णन काल प्रतिपादन में निरर्थक है। इस शंका के निवारण के लिये बताते हैं-

कारिका - उत्पद्यमानसन्देहे धर्ममाह विभेदतः।
दिनरात्रिव्यवस्थायां कार्याकार्ये तु सर्वतः।।९६ १/२।।

अर्थ - युगों से जो संशय पैदा होता है उसकी निवृत्ति हेतु पृथक्-पृथक् युगों के पृथक्-पृथक् धर्म कहे गये हैं दिन तथा रात्रि की व्यवस्था भी की है। कार्य तथा अकार्य से बताया है अर्थात् कार्य दिन में होता है। रात में कार्य नहीं होता है प्रजा के हेतु कृत युग में किसी प्रकार का कर्त्तव्य नहीं हो तथा अर्थात् प्रजा उस समय कृत कृत (धन्य) होती है। इस भांति युगों के धर्म कहने के लिये उन युगों के जनों का भी निरूपण करना चाहिये। बहुत से धर्म का भेद धर्म ही हो सकता है। इस कारण धर्म का वर्णन किया है। यहां पर आशंका होती है कि सत्य युगादि में दिन तथा रात्रि में धर्म की प्रवृत्ति होगी।

उनके लिये **''दिन रात्रि व्यवस्थायाम्''** से उसका वर्णन किया है। अहोरात्र के धर्म तो सब युगों में एक समान ही होते हैं दिन में कार्य होता है रात्रि में नहीं होता है।

कारिका - **तत्राऽपि कार्यभेदान् हि वक्तुं धर्मादिवर्णनम्।**

तत्सिद्धयै षड्विधत्वं हि ते हि भिन्ना यतः पृथक्।।९७ १/२।।

अर्थ - जिस भांति ऊपर युग विशेष की व्यवस्था धर्मकृत कही गई थी अब कल्प विशेष व्यवस्था को कहते हैं। कल्पों में भी कार्य भेद का निरूपण करने हेतु धर्म आदि का प्रतिपादन किया उन कल्पों में भेद सिद्ध करने हेतु उनमें षड्विधता कही गई है। अतः ये पृथक्-पृथक् हैं।

रात तथा दिन में कार्यों के भेद प्रत्येक कल्प में अलग हैं। इसलिये उन के धर्मों का निरूपण करना चाहिये। धर्म आदि की सिद्धि के लिये मन्वन्तर का वर्णन है। छः अंगों के वर्णन करने हेतु ही मन्वन्तर छः तरह के के हैं। कारण कि छहों मन्वन्तर भिन्न भिन्न हैं। क्योंकि उनके देशादि पृथक् रूप में स्थित हैं। इस कारण छ के योग से धर्म होता है। यह प्रमाणित हुआ।

कारिका - **सर्वेषां स्थितिसिद्ध्यर्थं भगवत्कृतिवर्णनम्।।९८।।**

तन्मूल एव प्रलयः शयने सर्वनिवृत्तिः।

अर्थ - परस्पर पृथक् होने से उनका नाश नहीं हो इसलिये उनकी स्थिति की सिद्धि के लिये भगवत्कृति का निरूपण है। अर्थात् भगवान् उसकी रक्षा करते हैं तथा भगवान् ही प्रलय करते हैं कारण कि प्रलय से शयन में सभी को सुख की प्राप्ति होती है।

जैसे-तैसे पैदा हो गये किन्तु विरूद्ध गुण वाले होने के कारण वे नाश को प्राप्त हो जायेंगे। ऐसी आशंका नहीं हो इसके लिये भगवान् से इसका पालन बताया गया अर्थात् भगवान् इसका पालन करते हैं। इसलिये नाश नहीं होता है। भगवान् यदि पालन करते हैं तब तो प्रलय होगा ही नहीं इस शंका को दूर करने के लिये बताते हैं कि प्रलय भी भगवान् द्वारा ही किया जाता है। भगवान् तो अत्यन्त कृपालु हैं तब फिर प्रलय में सभी का संहार क्यों करते हैं इस शंका का समाधान करते हैं **''शयने सर्व निर्वृत्ति''** निरन्तर उत्पत्ति तथा प्रलय से जीव दुःखी हो जाते हैं तब फिर भगवान् के शयन करने पर उन जीवों को संतोष मिल जाता है। पद्मकल्प में ही भगवान् शयन करते हैं तथापि **''तस्यैवचान्ते''** इस उपसंहार से ब्रह्म कल्प के समीप होने से जल में शयन नहीं कहा है। इस कारण पद्मकल्प में ही शयन होता है-

कारिका - **पद्मानुसारिशयनं ब्रह्मा चाण्डवपुः स्मृतः।।९९।।**

भोक्तृत्वं कर्तृता चैव तस्य भेदेन वर्ण्यते।।

अर्थ - पद्म कल्पानु सारी यहां शयन बताया गया है। ब्रह्मांड विग्रह ही ब्रह्मा कहा गया है। ब्रह्मा पृथक् रूप से भोक्ता एवं कर्ता कहा गया है। यहां पर शंका होती है कि जब भगवान् शयन करते हैं उस समय तीनों लोक नष्ट हो जाते हैं उस समय **''स्तूय मानो जनालयैः''** जन लोक के मनुष्य भगवान् की प्रार्थना (स्तुति) करते

हैं इस वाक्य की संगति कैसे होगी? इसका समाधान करते हैं कि उस समय ब्रह्मा अण्ड शरीर रूप होता है। इस प्रकार होने के कारण तीनों लोकों में कल्पादि व्यवस्था होती है। यदि इस भांति नहीं होता **''तस्यैवचान्ते''** इस की संगति नहीं होती। आशंका होती है कि नाभि कमल में कौन सा ब्रह्मा होता है। तथा सत्य लोक में कौनसा होता है। इसका समाधान **''भोक्तृत्व कर्तृताचेति''** से देते हैं अर्थात् ब्रह्माण्ड विग्रह जो ब्रह्मा है वह सत्य लोक में जन लोकके वास करने वालों से स्तुति किया जाता है। अभिमानी का तात्पर्य है रजोगुण का अभिमानी । इससे यह सिद्ध होता किं दो ब्रह्मा है यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो ब्रह्म कल्प में पैदा ब्रह्मा तो आधी आयु का ही उपयोग करता है। इसका कारण वह तो उस समय ही रहता है उसके लिये **''तस्यैवचान्ते''** इस स्थान पर कमल से जिसको पैदा होना बताया गया है। वहां कौन पैदा होगा। इसलिये अन्यथा उत्पत्ति से दो ब्रह्मा की कल्पना करना आवश्यक हैं एक ब्रह्मा विद्यमान रहता है तथा द्वितीय कमल से पैदा होता है इस भांति रजोभिमानी ब्रह्माण्ड का भोक्ता एवं लोक को भय देने वाला इस तरह तीन ब्रह्मा होते हैं।

दैनंदिन प्रलय में ब्रह्माकर्त्ता के शयन का उपाय कहते हैं।

कारिका - **भोक्ता सत्ये द्वितीयस्तु पद्मे नोदरगः सुखी ।।१००।।**

प्रलयोऽयं समाख्यातः सर्गः पद्मे पुनस्तथा।

अर्थ - सत्यलोक में भोक्ता ब्रह्मा रहता है तथा दूसरा ब्रह्मा कमल में सुख से शयन करता है इसी को प्रलय बताया जाता है। इसी भांति पद्म कल्प में भी सृष्टि का क्रम है। ऊपर कहे गये वर्णन से ब्रह्मा एक ही है इस भांति अभेद से निरूपण करना यह पक्ष दूषित हो जाता है। पद्मकल्प में पुनः उसी भांति सृष्टि होती है। वाराह कल्प में इस से उल्टा होता है। उस सृष्टि का वर्णन आगे करेंगे। एक ही सर्ग से जब भगवद् लीला की सिद्धि हो जायगी तब फिर विविध सर्गों का निरूपण क्यों किया? इसका समाधान करते हैं।

कारिका - **अस्मिन्नण्डे त्रयोऽप्याऽसन् कल्पाः सर्वकथोक्तये।।१०१।।**

तेषामुक्तिस्तथा चाद्ये नाम्ना रूपस्य वर्णनम्।

अन्यथा भगवानेव तेनाद्यो ब्राह्म उच्यते।।१०२।।

अर्थ - इस ब्रह्माण्ड में तीन ही कल्प हुए। सभी कथा के कहने के लिये ही उनका कथन तथा आद्यकल्प में नाम द्वारा रूप का कथन है। यदि इस प्रकार नहीं होता तो आद्यकल्प जो ब्रह्म कल्प बताया जाता है उसमें स्वयं भगवान् ही ब्रह्म शब्द से कहे जाते हैं।

यहां पर पुरुष अर्थात् विसर्ग विभूति रूप है वह इस अंड में जिस प्रकार का है उसी प्रकार में निरूपण करना उचित है। इसी कारण सभी की कथा प्रसिद्धि हेतु कल्पों का वर्णन है। ब्रह्म कल्प है वह पहला कल्प है उस सृष्टि के करने वाले ब्रह्मा को छन्दोमय में वर्णन किया है। वह ठीक नहीं है। इस शंका का उत्तर देने के लिये **''तथा चाद्या''** यह बताया है। इसके कहने का तात्पर्य यह है कि नाम सृष्टि का वर्णन पृथक् रूप है किन्तु वह

नाम सृष्टि रूप सृष्टि के आधीन है इस कारण कोई हानि नहीं है या आधिदैविक रूप है। इसके लिये **''व्यक्ताव्यक्तत्मनः''** ऐसा कथन है, अन्यथा इसका व्याख्यान प्रकार के अन्तर है पूर्व से संबंध है। आधिदैविकरूप होने के कारण ब्रह्मकल्प में भगवान् ही सृष्टि को करने वाले हैं कारण कि आधिदैविक की शारीरित्व संपादकत्व भगवान् में ही मिली हुई है। दूसरा उस तरह कोई नहीं कर सकता है। इस अर्थ को शब्द प्रसिद्धि से भी समर्थित करते हैं। तात्पर्य यह है कि आद्यकल्प को इसी कारण ब्रह्मकल्प बताते हैं। यहां पर ब्रह्म शब्द से भगवान् का ग्रहण है। काल वर्णन प्रस्ताव में काल को सभी का स्वामी कहा गया है। तब फिर क्या काल अक्षर का भी स्वामी होगा? इस प्रकार की शंका करके उसका समाधान करते हैं आध्यात्मिक भेदों की वहाँ पर प्रवृत्ति नहीं होती है–

कारिका – अतोऽधिकस्य गणना नास्ति कालस्य पूरूषे।
तत्रोपपत्तिकथनमेवं कालो निरूपितः।।१०३।।

अर्थ– यद्यपि काल सभी का स्वामी है किंतु पुरुष में काल की प्रवृत्ति नहीं है। इस संबंध में युक्ति का कथन करके काल का वर्णन पूरा किया।

संख्या भेद में नियामक होती है तथा द्विपरार्ध से ज्यादा संख्या का अभाव है। काल की प्रवृत्ति पुरुष में नहीं है इसमें **''निमेष उपच्यति''** यह युक्ति बताई है। काल का वर्णन दो अध्यायों द्वारा किया गया है अब यहां पर **''कालो निरूपितः''** से उसका उपसंहार किया गया है।

कारिका – अतः परं जीवसर्गो मुक्तामुक्त विभेदतः।
भुक्तानां कारणत्वं हि तदिच्छावशगा यतः।।१०४।।

अर्थ– यहां से मुक्तजीव एवं अमुक्त जीव के भेद से जीव सर्ग का वर्णन किया जाता है। कारणभूत मुक्त जीव है तथा वे भगवान् की इच्छा के वशीभूत हैं। जीवों का वर्णन इससे आगे के अध्याय में है उनमें अमुक्त जीव मुक्ति प्रकरण में कहना उचित है। कारणभूत वे नहीं है। मुक्त जीव तो कारणभूत है उनका वर्णन एक अध्याय में किया जाता है। मुक्त जीवों में कारणता किस भांति है मुक्त जीव भगवान् के सन्निधान में ही रहते हैं इसलिये जब भगवान् सृष्टि करने की इच्छा करते हैं तब अपनी लीला की सिद्धि हेतु उन्हें प्रेरणा करते हैं इस कारण वे भगवद् इच्छा के वशीभूत तथा कारण भूत हैं। उनमें मुक्त जीव दो तरह के है वहां मुक्त जीव दो भांति के थे उसे बताते हैं–

कारिका – लोकातीता लौकिकाश्च तत्राऽऽद्या नाऽधिकारिणः।
उत्पत्तिर्दुर्घटा तेषामविद्या निर्मिता ततः।।१०५।।

अर्थ – लोकातीत जीव मुक्ति में कारण भूत हैं। वह मुक्ति जीवों के लिये स्वरूप से आविर्भाव रूपता है यह

पूर्व में बताया गया है। इन दोनों भांति के जीवों को जो लोकातीत हैं वे तो वैकुण्ठ में ही विरक्त ही रहते हैं। इसी कारण उनको सृष्टि का अधिकारी नहीं माना गया है। केवल मुक्ति के लिये ही उनको पैदा किया जाता है। वे ज्ञान के अंश को ग्रहण कर अवतार लेते हैं। इस कारण उनको व्यामोहित करने हेतु अविद्या की उत्पत्ति है।

कारिका - अभिमानी देवतेयं यतः सर्वे भविष्यति।

मूलाविद्यावृत्तिरूपाः पंचैका वाऽत्र देवता।।१०६।।

अर्थ - अविद्या आधिदैविकी अभिमानी देवता है। वह सभी को व्यामोहित करेगी। सब कार्य की सिद्धि उसी की होगी। अविद्या दो तरह की है एक मूल अविद्या तथा दूसरी पंचपर्वा, किन्तु इसका देवता एक ही है यह सिद्धान्त है। उसकी उत्पत्ति लोकातीतों को पैदा करने के लिये की है।

उस अविद्या ने ब्रह्मा के सिवा अन्य और किसी को नहीं देखा है इस कारण उसने सर्वप्रथम ब्रह्मा को मोहित किया है।

कारिका - मूढस्तया चतुर्वक्त्रः कृष्णध्यानं चकार ह।

लोकातीतास्ततो जाताः काये ध्यानं प्रतिष्ठितम्।।१०७।।

अर्थ- उस अविद्या से चारमुख वाले ब्रह्मा भी मोह को प्राप्त हो गये इस कारण उन्होंने कृष्ण का ध्यान किया। उससे लोकातीत उत्पन्न हुए वह ध्यान ब्रह्मा के शरीर में ही स्थित रहा। अविद्या के देवतारूप होने के कारण ध्यान में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं की लोकातीतों के पैदा होने के पश्चात् ब्रह्मा का वह ध्यान जो सृष्टि के प्रकरण में हुआ था वह ब्रह्मा के शरीर में ही प्रतिष्ठित रहा उसका कार्य आगे होगा। मध्य में सनकादिकों के पैदा होने के पीछे क्रोध हुआ उसको बताते हैं-

कारिका - सर्गावेशात्सन्निधानादविद्याकार्यसम्भवः।

तदुत्पत्तिविचारेण नियन्तुमुपचक्रमे ।।१०८।।

अर्थ - ब्रह्मा में सृष्टि की रचना करने का आवेश था तथा अविद्या उनके समीप ही थी अतः उस का अविद्या का कार्य संभव ही है। इस कारण ब्रह्माजी को क्रोध आया किन्तु किस कारण से उत्पन्न हुआ क्रोध आने का सोचकर उसको उन्होंने रोक दिया।

ब्रह्माजी के हृदयं में सृष्टि करने का आवेश था उस सृष्टि में बाधा आने पर क्रोध का आना उचित ही हैं तथा दूसरा कारण यह है कि अविद्या भी पास में ही थी इस कारण क्रोध आया। जब ब्रह्माजी की इच्छा ही नहीं थी तो उनको क्रोध क्यों आया उसका समाधान है कि क्रोध आना अविद्या का कार्य है इस कारण उस अविद्या से ही पैदा होती है क्रोध वह आधिदैविक है किन्तु ब्रह्माजी उसको संदेह होने के कारण आध्यात्मिक मान गये जिससे उसका नियमन करने में प्रवृत्त हुए। सनकादिकों के पैदा होने का विचार जब ब्रह्माजी ने किया तो उन्होंने जाना कि ये तो बड़े हैं (महान्) इनका उत्पन्न होना तो ज्ञान के लिये ही है इस कारण क्रोध का दमन कर दिया।

कारिका - **क्रोधे हि ध्यानसंयोगात्कृणांश प्रविवेश ह।**
तेनोभयस्य निःस्तारौ ह्यन्यथैकस्य संक्षयः।।१०९।।

अर्थ - क्रोध में भी ध्यान का संयोग होने के कारण उसमें कृष्ण के अंश का प्रवेश हो गया अतः दोनों का निस्तार हो गया अन्यथा उसमें से किसी एक का नाश हो जाता। आधिदैविक क्रोध को रोकना ठीक नहीं होता उसका नियमन करने लगे तब वह क्रोध ब्रह्मा के शरीर को ही तापित करने लगा। किन्तु वहां तो पूर्व में ही शरीर में ध्यान प्रतिष्ठित हो गया था, इस कारण क्रोध का ध्यान से संबंध हो गया तब ध्यान से युक्त क्रोध में कृष्णावतार का प्रवेश हो गया। उसके पीछे जो हुआ उसको बताते हैं तब दोनों की अर्थात् सनकादिकों की और ब्रह्माजी के देह की रक्षा होगी।

उस (रूद्र) की रूदन करना ही ठीक नहीं था। इस शंका का समाधान करते हैं-

कारिका - **उत्पत्स्यमानानखिलान् दृष्ट्वा रोदनमागतम्।**
संश्लिष्टवचनं प्राह ब्रह्मप्रीत्यै स्वयं पुनः।।११०।।
संसारानुपयुक्तान् हि स्रक्ष्ये सर्वानिति स्मरन्।

अर्थ - सभी को उत्पन्न होते हुए देखकर रोना आ गया मैं इस तरह की सृष्टि की रचना करूंगा यह संसार के लिये ठीक नहीं होगी ऐसा विचार कर उन्होंने ब्रह्माजी की प्रसन्नता हेतु श्लेष युक्त वाणी कही। यह अंश कृपा रूप है। **"नामानि कुरु मे धात"** ऐसा कथन किया उस भांति के वचन का उद्देश्य अन्य भी था अर्थात् आपकी आज्ञा हो तो में सृष्टि की रचना करूं। कारण की बिना ब्रह्माजी की आज्ञा के सृष्टि नहीं कर सकता क्यों कि सृष्टि करने का अधिकार ब्रह्माजी को ही है।

कारिका - **अतः शीघ्रमनेकेषामुत्पत्तिः प्रतिकूलतः।।१११।।**
निवारणं तपोबोधः प्रतिबन्धनिवृत्तये।

अर्थ - ब्रह्माजी की आज्ञा होते ही शीघ्रता से प्रतिकूल रूप से अनेकों को पैदा कर दिया, तब ब्रह्माजी ने उसको सृष्टि करने को मना कर दिया तथा सोचकर कि इसे सृष्टि करने से मना किया है इस कारण से यह मेरे कार्य में रूकावट पैदा नहीं करे इसके लिये उसको तप करने के लिये आज्ञा प्रदान कर दी। ब्रह्माजी को यह मालुम नहीं था कि यह रुद्र किस प्रकार की सृष्टि करेगा। इसलिये आज्ञा दे दी। आज्ञा होते ही उसने जल्दी बहुतों की सृष्टि कर दी। तब ब्रह्माजी ने देखा कि रूद्र की सृष्टि तो जो सृष्टि का कारण है उसे ही नाश कर रहा है। तो आगे सृष्टि किस प्रकार की होगी। इस कारण से उसे सृष्टि करने से मना कर दिया। इसको रोकने के कारण यह कहीं मेरे कार्य में बाधा डालेगा इसलिये उसको तपस्या करने के लिये आज्ञा दे दी। तपस्या से क्रोध को पैदा करने वाली अविद्या का जब नाश हो जायेगा तब शुद्ध क्रोध जैसा कहा है वैसा ही कार्य करेगा। इस भांति ब्रह्माजी के कथन का आशय था।

कारिका - उपाधिविनिवृत्यर्थं कारणत्वान्न निर्गमः।।११२।।

अतोऽभिनन्द्य कृष्णस्य ध्यानमेव चकार ह।

अर्थ- उपाधिरूपा अविद्या की निवृत्ति हेतु ही महादेव को तप करने की आज्ञा दी थी कार्य भूत तप से कारण का निर्गम नहीं होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि तप से क्रोध कारणभूत अविद्या की निवृत्ति हो जायेगी। इस कारण से प्रतिबंध की निवृत्ति हुई अतः उसका अभिनंदन कर कृष्ण का ही ध्यान किया।

आशंका होती है कि इस प्रकार होने पर महादेव के क्रोध की कारणभूत जो अविद्या है वह तप से दग्ध क्यों नहीं हुई और अविद्या यदि दग्ध हो गई तब फिर कारण के समाप्त हो जाने पर लय क्यों नहीं हुआ केवल प्रतिबंध की निवृत्ति क्यों हुई। इस तरह शंका करके बताते हैं कि **'कारणत्वान्न निर्गम'** वह अविद्या महादेव की कारणभूत है तथा तप कार्य रूप है। अतः कार्य द्वारा **'तप से'** कारण (अविद्या) की निवृत्ति नहीं हुई। इस कारण प्रतिबंध की निवृत्ति ही हुई। अविद्या की निवृत्ति नहीं हुई **'अतोऽभिनन्द्य कृष्णस्यध्यानमेव चकार ह'** इस प्रकार बताया है। इस भांति लोकातीतों के उत्पन्न को कहकर लौकिकों को यदि स्वयं पैदा करते तो इच्छित सिद्धि नहीं मिलती। इस कारण उनके उत्पादन में जो प्रकार किया है उसको बताते हैं-

कारिका - सृष्टयर्थं भवद्धयानान्मरीच्याद्युद्भवः पृथक्।।११३।।

धर्मव्यवायसिद्धयर्थमेका स्त्री पुरुषाः परे।

अर्थ - सृष्टि हेतु भगवान् का जब ध्यान किया तब पृथक्-पृथक् अंगों से मरीचि आदि महर्षियों की उत्पत्ति हुई इनकी उत्पत्ति धर्म व्यवाय के सिद्धयर्थ थी उसके पीछे एक स्त्री (वाणी) की तथा दूसरे पुरुषों की उत्पत्ति की। पृथक्-पृथक् जगहों से महर्षियों को पैदा किया उसका उद्‌देश्य था, धर्मव्यवाय की सिद्धि। धार्मिक रुप से विवाहादि से सन्तान उत्पादन करना इस प्रकार सात्विकों और राजसों की उत्पत्ति बताकर तामसों की उत्पत्ति जब करने लगे तब पुत्रों ने ब्रह्माजी को मना कर दिया। यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि ब्रह्माजी से तामसों की उत्पत्ति किस तरह हुई उसका समाधान करते हैं कि एक स्त्री **'पुरुषा परे'** एक वाणी ही स्त्री थी तथा दूसरे सभी पुरुष थे। वाणी ब्रह्माजी के मुख से पैदा हुई थी।

इसके पश्चात् क्या हुआ उसको बताते हैं-

कारिका - अविद्या सन्निधानाद्धि सृष्टयावेशाच्च तद्धृदि।।११४।।

जातः कामो मतिं चक्रे तस्यां सर्गाय भूयसे।

अर्थ - अविद्या का सन्निधान था तथा ब्रह्मा के हृदय में सृष्टि का आवेश था। इस कारण उनके मन में यह इच्छा हुई तब उस अविद्या में अत्यधिक सृष्टि करने की मति हुई।

तीनों दोषों के होने के कारण उस अविद्या में सृष्टि करने की मति हुई, अविद्या के द्वारा सृष्टि का आवेश हुआ

हृदय में इच्छा पैदा हुई।।

अब उसके निवारण में कारण बताते हैं-

कारिका - **अधर्मे धर्मनाशः स्यादिति कृष्णेन वारणम्।।११५।।**
तद्भावस्य परित्यागे सा रिरंसाभवत्तनुः।

अर्थ - धर्म का नाश अधर्म में होता है इस कारण ऐसी सृष्टि से कृष्ण ने उनको मना किया था। उस भाव का जब परित्याग किया तब वह शरीर रमण की कामना वाला हो गया। यदि भगवान् तामसी सृष्टि करने की आज्ञा दे देते तो वह तामसी सृष्टि भी धर्म के नाश करने वाली नहीं होती। यदि इस प्रकार से होता तो सात्विक तथा राजसी सृष्टि नष्ट हो जाती। इस कारण मना करना ठीक था। शरीर त्याग का तात्पर्य है उस भाग का परित्याग, शरीर की प्रकृति क्या होगी उसके लिये बताया है कि **''रिरसां रमणेच्छा''** वाली होगी।

कारिका - **सृष्टि ध्याने वाचकानां प्रकारस्य समुद्गमः।।११६।।**
तन्मूलस्य च शब्दस्य ब्रह्मणो रूपकीर्तनम्।

अर्थ - तीसरी सृष्टि के संबंध में जब ध्यान किया तब वेदोत्पत्ति हुई तथा वेदों के वाचक शब्दों के प्रकार का उद्‌गम हुआ। प्रकार का मूल है **'शब्द'** इस कारण प्रकार भेद के लिये ब्रह्मा के चार मुख का निरूपण किया। पहले दक्षिणादि मुखों के कारण शब्द में प्रकार भेद हुआ। लौकिक तथा अलौकिक (शब्द) भेद से तृतीय सृष्टि उत्पन्न हुई। उससे जीवों के रूप तथा नाम सिद्ध हुए। नामों की अखंड प्रवृत्ति हो इसके लिये उसके देवता को कहा गया है।

इस भांति गुण सृष्टि को बताकर केवल गुणों के प्रपंच के ब्रह्मभाव (मुक्ति) की शंका से सन्निपात (मिश्रित) सृष्टि को बताने के लिये प्रवृत्त हुए ऐसा बताते हुए सन्निपात विरोधी का परित्याग किया उसे बताते हैं-

कारिका - **नामावेशं परित्यज्य रुपावेशात्तु पूर्ववत्।।११७।।**
इच्छाध्याने समुद्भूते द्विधा चक्रतुरङ्गकम्।

अर्थ - नामावेश का परित्याग कर रूपावेश से पूर्व की भांति इच्छा व ध्यान पैदा हुए अर्थात् अपने अंग को दो प्रकार का कर दिया।

यहां से आगे तृतीय कल्प का निरूपण किया जाता है। तृतीय कल्प में सृष्टि के संबंध में पूर्व कल्पों मे कोई खास (विशेष) नहीं है। केवल मात्र पृथ्वी की स्थिति की इसमें अधिकता है उसे कहा जाता है। इसमें ध्यान रूप की उत्पत्ति है तथा सत्ता का प्रश्न तो पहले की तरह ही है। ब्रह्मा (पिता) की आज्ञा से ही प्रजा का पैदा करना पृथ्वी का पालन यज्ञ करना इन तीन तरह के धर्मों का कथन है तथा इनकी ही कथा इसमें विस्तार से बताई है। **'ततोऽपरासुपादाये'** आदि से नामावेश का परित्याग तथा रूपावेश का ग्रहण कहा गया है। ब्रह्मा

का अन्तःकरण सन्निपात रूप नहीं है। भगवान् के चाहने में भगवान् की कामना से वह शरीर दो तरह का हो गया उसको इच्छा ध्यान इससे कहा है।

इस भांति चार प्रकार की सृष्टि का वर्णन कर उपसंहार करते हैं-

कारिका - **कारणत्वान्मुक्त जीवा एवमेके निरूपिताः ।।११८।।**

नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा।

अर्थ - कारण रूप होने के कारण से मुक्त जीवों का वर्णन ऐसा किन्हीं का कहना है जीवोत्पत्ति में नाम की उत्पत्ति जीवोत्पत्तिं का अंग होने के कारण निरूपण है। अमुक्तों की उत्पत्ति तो पूर्व में बताई गई है। जीव के कारण में नाम उत्पत्ति का वर्णन ठीक नहीं है ऐसी शंका करके 'नामोत्पत्तिश्च तच्छेषा' अर्थात् नामोत्पत्ति अंग रूप में कही गई है अतः अयुक्त नहीं है आगे तृतीय कल्प का प्रतिपादन किया जाता है।

कारिका - **तृतीयस्त्वधुनोच्यते**

कल्पस्तत्र हि सृज्यानां न पूर्वस्माद्विशिष्यते।।११९।।

भूसंस्थानविशेषोस्ति तदेवात्रोच्यते परम्।

ध्यानरूपो मनुर्जातः क्षत्तुः प्रश्नस्तु पूर्ववत्।।१२०।।

पित्रांज्ञयैव तद्धर्मस्त्रेधेत्येवं कथा तता।

अर्थ - यहां से तृतीय कल्प कहा जा रहा है। तीसरे कल्प में सृष्टि के संबंध में तो पहले के कल्पों में किसी प्रकार की विशेषता नहीं है केवल मात्र पृथ्वी की स्थिति की इसमें विशेषता बताई जाती है। इसमें ध्यानरूप मनु की उत्पत्ति है तथा क्षत्ता का प्रश्न तो पहले के ही भांति है। पिता की (ब्रह्मा) की आज्ञा से ही प्रजा का उत्पाद पृथ्वी पालन, यज्ञ करना इन तीन तरह के धर्मों का वर्णन है तथा इन्हीं की कथा इसमें विस्तार पूर्वक है।

काल जीव का वर्णन किया आगे भूमि का वर्णन किया जाता है। सब का कारण वह भूमि है। उसी के लिये वाराह कल्प का वर्णन किया जाता है। इसमें शुरु से लेकर सभी के वर्णन की शंका कर उसका स्पष्टीकरण **"सृज्यानां"** से किया है। अतिदेश धर्म से सभी कल्पों में समान्य धर्म आ जाते हैं। विशेष धर्म बताये जाते हैं वे मुख्यधर्म यदि किसी के सामने आ जाते हैं। तब उन स्थानों में रूकावट आ जाती है। पहले के कल्पों में भू संस्थान तीसरे कल्प के समान नहीं था। इस कारण उसे कहा जाता है। ब्रह्म कल्प में भू संस्थान विराट के जघन रूप में था तथा पद्मकल्प में नाभिरूप इन दोनों का यहां पर बाध है। पहले के धर्मों की इस कल्प में अनुवृत्ति हुई है। इसको कहने के लिये मनु का निरूपण प्रयोजक के रूप से किया गया है। उसका भाव यहां ध्यान रूपी मनुजी से किया है। पहले की कारिका में कामना तथा ध्यान का वर्णन किया है। उनमें कामना तो शतरूपा तथा ध्यान है मनु, यदि ब्रह्मा को विस्मृति (भूल) हो जाय तो ध्यान उन्हें प्रेरित करता है यह इसका

उद्देश्य है। विभूति के फैलाव के लिये ही मनु उत्पत्ति है। विभूति भगवद् लीला है। मनुभगवद् भक्त है सत्ता इसको बताने के लिये प्रश्न किया। प्रवृत्ति या तो इच्छा से होती है या विधि के द्वारा होती है। यदि इच्छा के द्वारा प्रवृत्ति हुई हो तो वाराह कल्प में मोक्ष पर्यवसायी नहीं होगा अर्थात् अन्त में फल मोक्ष नहीं होगा। चोदना (विधि) द्वारा ही प्रवृत्ति है। इसको पित्राज्ञया से बताया है। पिता ने मनु को आज्ञा दी कि **"उत्पाद्यशास धर्मेण"** तुम प्रजा को पैदाकर उसकी रक्षा करो तथा यज्ञ करो ये तीन प्रकार के धर्म बताये हैं। उन धर्मों को ब्रह्मा की आज्ञा से ही मनु ने किये थे। मनु एवं ब्रह्माजी की बातचीत (संवाद) इसी बात को कहने के लिये है।

आशंका होती है कि इस कल्प में किस प्रकार की व्यवस्था है। पहले के कल्प में ब्रह्माजी नाभि कमल में निवास करते हुए सृष्टि को करते हैं। नाभि कमल के बिना ब्रह्मा की सृष्टि है या नहीं इसमें भी शंका होती है। सृष्टि करने का जब पक्ष लेते हैं तब सृष्टि मनु ने की है यदि की है तो कहां रहकर सृष्टि की है यहां रहकर की है तो उसके विषय में कहते हैं–

कारिका - सत्ये स्थितः सृजत्येव मित्यर्थो विनिरूप्यताम्।।१२१।।
स्थानमनविष्य तु पुनर्गतस्य वचनं मनोः।
दिनान्ते दर्शनात्पूर्वं सृजतः प्रातरेव हि।।१२२।।

अर्थ- ब्रह्मासत्य लोक में स्थित होकर ही सृष्टि करते हैं। ऐसे अर्थ का प्रतिपादन करना चाहिये। स्थानान्वेषण कर मनु ने दूसरे दिन प्रियव्रतादि की सृष्टि का कथन प्रातः काल ही किया था। कारण कि आदि वाराह कल्प के दिन के अन्त में ब्रह्माजी नहीं दिखे थे। इस कारण दूसरे दिन (तीसरे कल्प के) प्रातः ही उन्हें जानकारी दी।

जब सृष्टि नहीं की थी तो **"सृजतो मे क्षितिर्वाभिः"** ऐसा कहना ठीक नहीं है। इस कथन से यह मालुम होता है कि ब्रह्माजी ने पूर्व खुद ही पृथ्वी का उद्धार किया। उसी पृथ्वी पर मनु को प्रजा पालन का उपदेश दिया। ऐसा करने पर प्रियव्रत आदि की सृष्टि बताई है वह आदि वाराह कल्प में ही है ऐसा जानना चाहिये। मैं आपके उपदेशानुसार ही कर रहा हूँ इस तरह ब्रह्माजी को बताने का हेतु यह था कि ब्रह्माजी दिन के अन्त में अर्थात् आदि वाराह कल्प के अन्त में जब तक पृथ्वी आदि दिखाई न दिये तब तक ब्रह्माजी सत्य लोक में चले गये थे। तब वहीं पर सृष्टि करने लगे। इस कारण मनु ने प्रातः काल ही आदेश पालन करने की जानकारी दी।

कारिका - विज्ञापनेऽतिनैकटयात्तथा वचनमादरात्।
सर्वेन्द्रियनिरोधेन ध्यायतः परमात्मनः।।१२३।।
प्रथमं श्वाससंभेदस्तेन कृष्णस्तथोद्गतः।

अर्थ – ब्रह्माजी से मनु ने कहा कि पृथ्वी यहां तो समुद्र में निमग्न हो गई है उसके उद्धार का प्रयत्न कीजिये इस प्रकार की स्तुति अति समीप होने के कारण की ब्रह्मा जी ने देखा कि पृथ्वी का में उद्धार करूं किन्तु यह जल में निमग्न हो जाये तो इसलिये आदर युक्त सभी इन्द्रियों का निरोध (रोकना) करके परमात्मा का ध्यान किया तथा जैसे ही ब्रह्माजी को विश्वास उत्पन्न हुआ उसी के साथ अवतार रूपधारी कृष्ण का प्राकट्य हुआ।

यहां पर आशंका होती है कि इस समय तैरती पृथ्वी जल में किस भांति निमग्न हो गयी इसका समाधान करते हैं कि इस समय ऐसा कहना अति समीपता के कारण है। **'आदरान्'** पद का संबंध **''ध्यायतः परमात्मनः''** के साथ है। ब्रह्माजी ने सोचा कि फिर उद्धार करने पर भी पहले की भांति यह निमग्न हो जायेगी इस कारण से भगवान् का ध्यान किया। ब्रह्माजी ने जिस भांति भगवान् का ध्यान किया था उसी प्रकार का स्वरूप बिना किसी सूचना के प्रकट हुआ उसको **''प्रथमं श्वाससंभेदः''** से कहा है। भक्त के दुःख के विश्वास के पहले ही भगवान् का प्राकट्य हो जाता है यह इससे जताया गया है। इस अवतार का स्वरुप कहते हैं **कृष्ण स्तयोदगतः** अर्थात् बाराह रुप से भगवान् प्रकट हुए। अर्थात् बाराह रुप से प्रकट हुए उस तरह के रूप में कारण कहते हैं–

कारिका – **यज्ञेन समतात्वस्य जलाद्वस्तूद्धृतौ क्षमौ।।१२४।।**
गजो वा शूकरो वाऽपि यज्ञस्त्वेवंविधः पुनः।

अर्थ – जल से किसी वस्तु को उधृत करने में या तो हाथी अथवा वाराह (सूवर) ही समर्थ हैं इसमें भी वराह की यज्ञ के साथ समानता है तथा यज्ञ भी इसी तरह का है। इस कारण वराह रूप से प्रकट हुए हैं।

'मन्यु' शब्द से यज्ञ को कहा है इस कारण वह पशुओं को मारता है वराह भी उसी तरह का है। यह बात **''पशूनां वा एष मन्युः''** इस श्रुति से कहा है। वराहरूप से अवतीर्ण होने का दूसरा कारण यह है कि जल में निमग्न पृथ्वी को निकालने में हाथी या वराह इन दो रूपों में से कोई एक रूप करना चाहिये। इसमें गुणातीत कार्य यज्ञ द्वारा ही होता है। इस कारण वराह रूप ही धारण किया हाथी का रूप धारण नहीं किया।

जगत् का कारण यज्ञ है इसमें मुक्ति बतानी चाहिये उसे बताते हैं–

कारिका – **सृष्टौ तत्कारणत्वं च कर्मरुपत्वतः स्फुटम्।।१२५।।**
ब्रह्मणोऽप्यवितर्क्यं हि रूपं भगवतो निजम्।।१२५ १/२।।

अर्थ – यज्ञ को कर्म रूप माना है। इसलिये सृष्टि में उसकी कारणता साफ है भगवान् का यह निज (वराह) रूप ब्रह्मा के तर्क के परे है। यदि यज्ञ क्रिया रूप है तब उसमें क्रियांशत्व मान लिया जाय उसमें अवतारता क्यों मानते हो? उसका समाधान किया है कि भगवान् का रूप ऐसा है कि ब्रह्मा जी इसको जानने में असमर्थ हैं इस कारण ऐसा रूप निज का ही हो सकता है। उसका स्वरूप बताते हैं–

कारिका - **एतदानन्दरूपं हि क्रियांशज्ञप्तये तथा।।१२६।।**

लक्षमात्रमियं भूमिः प्रायेणेति मतिर्मम।

अर्थ - यह स्वरूप आनन्द रूप था परन्तु क्रियांश की प्राप्ति के लिये वाराह रूप में प्रकट हुए। इस जम्बुद्वीप की भूमि का प्रमाण प्रायः लक्षमात्र है ऐसी मेरी समझ है।

यह स्वरूप जब आनंद रूप है तो फिर प्रतीति वराहरूप से क्यों हुई? उसमें हेतु दिया कि **"क्रियांशज्ञप्तये"** भगवान् का यह अवतार क्रिया शक्ति का है। इसको कहने के लिये यज्ञानुकारी (वराह) रूप का परिग्रह (स्वीकार) किया **"सलिले स्वखुराक्रांते"** इस प्रकार कहने से ऐसी बात मन में आ सकती है कि यह धरा पचास करोड़ फैलाव वाली नहीं होगी इसीलिये **"लक्षमात्रमियं भूमि"** ऐसा कहा जम्बु द्वीप ही कर्म क्षेत्र है इस कारण यह भूमि यज्ञ के लिये ही है। **"मतिर्मम"** कथन का आशय है कि इसमें किसी अन्य की संमति नहीं है। केवल मेरी ही समझ है। यहां आशंका होती है कि तब **"पंचाशत्कोटिविस्तीर्णा"** ऐसा क्यों कहा उसका समाधान है कि यह कहना दूसरे कल्प का है वराह कल्प का नहीं है। ज्योतिषी जब इसका फैलाव पांच हजार का मानते हैं यह भाग धरती का बीसवां भाग है उसे २० से गुणा करने पर एक लाख हो जाता है। यह धरा ज्योतिश्चक्र में है।

ब्रह्माजी की स्तुति का उद्देश्य बताते हैं-

कारिका - **यज्ञत्वबोधकं स्त्रोतं कथंचिन्मारणं त्विह।।१२७।।**

उद्धृतिः स्थापनं स्तोत्रं मारणं चेति तत्क्रमः।

अर्थ - वाराह की यज्ञता बोधन के लिये स्तुति की गई है। हिरण्याक्ष के मारने का तो यथा कथंचित् वर्णन है। प्रथम पृथ्वी का उद्धार उसके पीछे उसकी स्थिति पश्चात् स्तुति तथा उसके पीछे हिरण्याक्ष का मारना इस प्रकार का क्रम है। हमारी श्रद्धा इसमें नहीं है। हिरण्याक्ष के वध का निरूपण तो यथा कथंचित् है। यदि सोचा जाये तो यह प्रकरण पृथ्वी के उद्धार में पूरा हो जाता है अर्थात् इसमें केवल पृथ्वी के उद्धार का ही निरूपण है। इसमें हिरण्याक्ष वध का निरूपण इष्ट नहीं है। यदि दोनों का कथन विशेष रूप से होता तब वाक्य भेद हो जाता। अतः प्रधान के प्रार्थना से ही दूसरे का निरूपण संग्रहीत होने से कथित है। इस कल्प में दैत्य आकित्कर है कारण कि यज्ञ दैत्यों का दाह करने वाला है। इस कारण यज्ञ रूप वाराह के आने मात्र से ही उसका वध हो जाता है। दैत्य वध को जो मुख्य मानते हैं उनके लिये इस तरह का क्रम है पूर्व पृथ्वी का उद्धार पुनः उसकी स्थापना वाराह की स्तुति उसके पीछे हिरण्याक्ष का मारना। यद्यपि स्तुति संदिग्ध है। फिर भी उत्कर्ष का निरूपण में उसका दुःख होता हैं इस कारण प्रथम स्तुति का निरूपण है। यहां पर शंका होती है कि कल्पादि में पृथ्वी का उद्धार हुअ तब फिर वह हिरण्याक्ष कहां पर था इसका समाधान करते हैं।

कारिका - पूर्वकल्पेऽस्य जननं रसायां प्रलये स्थितिः।।१२८।।
देवानामूर्ध्वगमनमन्येषां नाश एव हि।
ऋषीणां तत्सुतानां च ब्रह्मसाम्यमबाधके ।।१२९।।

अर्थ - पहले के कल्प में इस हिरण्याक्ष का जन्म हुआ था तथा प्रलय के समय इस की स्थिति पृथ्वी (रसा) में हुई थी। देवों का उर्ध्वगमन हुआ अन्यों (मनुष्यों) का नाश तथा ऋषियों एवं उनके पुत्रों का ब्रह्म साम्य हो गया। महाकल्प में ही सृष्टि समाप्त हो गयी थी। दूसरे कल्पों में त्रिलोकी में जो विद्यमान थे उनमें असुरों का अधः पतन हुआ तथा देवों का उर्ध्वगमन एवं मनुष्यों की समाप्ति हो गयी। मनु आदि भी देवता हैं इस कारण उनका और महर्षियों का भी उर्ध्वगमन हो गया। इसमें कुछ खास यह भी है कि सत्यलोक में स्थिति है। इसलिये कश्यप जी का उर्ध्वगमन तथा दिती का नीचे जाना हुआ इस प्रकार यहां विचार है। यहां पर ६ अध्याय हिरण्याक्ष के मारने के प्रस्ताव में वर्णन है। वे मतान्तर भाषा सिद्ध हैं। इस कारण भागवतार्थ के साथ मे उनका किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यहां पर यह व्यवस्था है कि प्रकृत कथा में प्रसंग की कथा यदि विशेष रूप से पूछी जाय तो उसमें उतनी ही नहीं बताई जाती है। परन्तु जिस कल्प में वह प्रमेय उत्कृष्टता सिद्ध हो वैसा ही निरूपण करना चाहिये। भक्ति को पैदा करने में वह प्रयोजक होता है। इस कारण जिस कल्प में हिरण्याक्षादि का उत्कर्ष है तब उसका वर्णन किया जाता है। यहां पर आशंका होती है कि जो वैकुण्ठ में चले गये हैं वे पुनः लौट कर किस भांति आते हैं। यदि यह कहो कि वे वास्तविक रूप से वैकुण्ठ में नहीं गये थे लौटते हैं उसके समाधान में कहते हैं-

कारिका- कृत्रिमेपि हि वैकुण्ठे मुक्तिरेव तथापितु।
कृष्णेच्छया तु तज्जन्म नष्टानां गतिरीदृशी।।१३०।।

अर्थ - कृत्रिम वैकुण्ठ में भी मुक्ति ही होती है तब भी कृष्ण की इच्छा से उनका जन्म होता है जिनका नाश होता है उनकी गति ऐसी ही है। जो अनिमित्त अथवा निमित्त धर्मद्वारा भगवान् की आराधना करते हैं इस कथन सें भगवान् की आराधना से वैकुष्ठ गमन करने वालों को पुनरावृत्ति से रहित स्थान मिलता है। तभी कृष्ण की इच्छा से जय विजय पैदा हुए। इस तरह की कामना का उ्देश्य है **'लोक ज्ञापनम्'** यह लोक ज्ञापन क्या है। इसका स्पष्टीकरण **'नष्टानां गतिरीदृशी'** से करते हैं। तीनों लोकों में हिरण्याक्षादि को जिस प्रकार का सुख था वह तो इन्द्रादि के लिये भी दुर्लभ था। वैकुण्ठ से जिन का पतन होता है उनको वह सुख मिलता है जो इन्द्रादिकों को भी दुर्लभ है परन्तु वैकुण्ठ से पतन उनके लिये भयंकर आपत्ति है इस से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि वैकुण्ठों में कितना आनंद (सुख) है।

कारिका - भूमावेव हि तद्युद्धमिच्छयाऽमुक्तिरस्य हि।
मारणानन्तरं तस्य ह्युदरस्य विभेदनम्।।१३१।।

अर्थ – वाराह भगवान् का युद्ध हिरण्याक्ष से पृथ्वी पर ही हुआ तथा भगवान् की इच्छा से उसकी मुक्ति नहीं हुई उसके वध करने के पीछे उस के उदर को भगवान् ने चीर डारा। इस पक्ष में (दैत्य को मारने के पक्ष में) पृथ्वी पर ही युद्ध हुआ तथा भगवान् की कामना से ही हिरण्याक्ष की मुक्ति नहीं हुई या क्रियाशक्ति से वध किया इसी कारण मुक्ति नहीं हुई यहां पर मुक्ति हेतु अवतार होने पर ही मुक्ति होती है। उसके उदर को चीरकर वध नहीं किया परन्तु वध करने के पीछे चीरा यदि इस प्रकार नहीं करते तो प्राण भगवान् के मुख में प्रवेश कर जाते। उसमें जो संस्कृत अंश थे जिनके कारण वह दैत्य नहीं बन सके उन संस्कृत अंशों को प्रवेश करने हेतु उदर को चीरा हिरण्याक्ष के माहात्म्य के संबंध में कहते हैं।

कारिका – **ब्रह्मणो दिनमेकं हि तद्युद्धमिति लक्ष्यते।**
अथवा देववत्तस्य दिनं मेरूगतश्च सः।।१३२।।

अर्थ – ब्रह्मा का दिन होता है उतने समय तक भगवान् का हिरण्याक्ष से युद्ध हुआ ऐसा ज्ञात होता है या देवताओं के दिन की भांति उसका छः महिने समर हुआ ब्रह्मा उस समय में पर्वत पर स्थित थे।

ब्रह्माजी के एक दिवस तक भगवान् का हिरण्याक्ष के साथ युद्ध हुआ इससे यह ज्ञात होता है कि वाराह कल्प युद्ध में ही पूरा हो गया। पश्चात् श्वेतवाराह कल्प में सृष्टि हुई तथा हिरण्य कशिपु का राज्य हुआ। ऐसा जान पड़ता है अन्य पक्ष यह भी बताते हैं कि उस समय छः महिने तक युद्ध हुआ इस पक्ष के मानने पर ब्रह्माजी के वाक्यों की संगति लगाने के लिये उस समय अर्थात् पृथ्वी के स्थापन के पश्चात् ब्रह्माजी पहले की ही भांति मेरू पर्वत पर स्थित थे। इससे क्या सिद्ध हुआ इस आशंका पर बताते हैं–

कारिका – **षड्भिः संसारकथनमुत्पत्तिर्मरणं च सः।**
उपाधिजननं पूर्वं स्थानभ्रंशश्च जन्म च।।१३३।।
प्रादुर्भावः सर्वतश्च विनश्यता नशिस्तथा।
ईश्वरेच्छैव षट्कस्य कारणं नान्यथा तु तत्।।१३४।।

अर्थ – छः अध्यायों से संसार का वर्णन है। वह संसार उत्पत्ति मरण स्वरूप वाला है। प्रथम उपाधि (बीज) की उत्पत्ति फिर स्थान (वैकुण्ठ) से पतन तथा पीछे पैदा होना, प्रादुर्भाव सभी और से विनश्यता तथा विनाश इन छः की कारणभूता ईश्वर इच्छा है अन्यथा ये नहीं हो सकते।

मुक्त जीवों का भगवान् की इच्छा से संसार होता है। इच्छा भगवद्रूपा है। षड्गुणों से युक्त भगवान् है। इस कारण छः अध्यायों द्वारा संसार का वर्णन किया गया है। संसार का स्वरूप उत्पत्ति तथा मरण रूप है। तीन अध्याय से पैदा होने का तीन अध्यायों से मृत्यु का निरूपण है। **'अनित्य जनम्'** आदि से तीन तरह की उत्पत्ति का वर्णन किया है। **"कालद्रव्य गुणैरस्य त्रिविधः प्रति संक्रमः"** इससे मृत्यु भी तीन प्रकार की

है। बीज की उत्पत्ति उसमें प्रथम अध्याय का तात्पर्य है। उसमें जीव का संबंध होना द्वितीय अध्याय का तात्पर्य है। भगवद् विभूति का आवेश तृतीय अध्याय का अर्थ है। यदि इस प्रकार नहीं हो तो उस प्रकार का महत्व उसमें पैदा नहीं होता। उसी को बताते है। **''उपाधि जनम् बीजोत्पत्तिः''** स्थान से च्युत वैकुण्ठ से पृथक् होना है। जन्म तथा प्रादुर्भाव को एक अध्याय द्वारा बताया है। उत्कर्ष की नाशरूपता है इसको बताने के लिये नाशाध्याय में उसका वर्णन किया गया है।

वरूण के वाक्य से नाशबीज के कहने से विनश्यता पांचवे अध्याय का तात्पर्य है। नाशबीज दो भेद वाला है। विनश्यता तथा **'नाश बीज'** विनश्यता **''विनाशश्चेतितद्भिदा''** आशंका होती है कि सुजीव के लिये छः तरह का संसार क्यों होता है? उसका समाधान दिया है कि **''ईश्वरेच्छैव षट्कस्यकारणम्''** ईश्वर की इच्छा ही तीन तरह के जन्म तथा तीन तरह के मरण का कारण है अन्यथा का बाधक बताते हैं–

कारिका – **अक्षकन्या ऋषेः पत्नी सन्ध्यायामग्निहोत्रिणम्।**
निर्लज्जा बोधिता स्थातुं क्षणं न त्यक्तवत्यपि।।१३५।।

अर्थ – भगवान् की इच्छा यदि कारण नहीं होती तो यह किस प्रकार हो सकता था कि दक्ष प्रजापति की कन्या दिती जो कश्यप ऋषि की स्त्री थी वह संध्या के काल में अग्निहोत्री ऋषि को उनके बताने पर भी लज्जाहीन होकर पति समागम बिना एक क्षणभर रूक नहीं सकी।

दक्ष कन्या से तात्पर्य है कुलीन (अच्छे) वंश में पैदा हुई अतीन्द्रिय अर्थात् भूत तथा भविष्यत् व्यवहित आदि के देखने वाले (दृष्टा) ऋषि की वह स्त्री थी रतिदान देने में क्षण भर रूकने के लिये उस से याचना भी की थी। किन्तु वह नहीं मानी। इस प्रकार होना भगवान् की इच्छा के बिना मर्यादा से कभी सिद्ध हो नहीं सकता है। स्त्री की बात तो रहने दीजिये मुनि में भी उस तरह की भावना ईश्वर इच्छा के अभाव में नहीं हो सकती थी–

कारिका – **मौनत्यागस्तयोर्भाषा स्तोत्रं तद्वश्यता तथा।**
अन्यत्रागमनं तत्र प्रतिकाराकृतिर्मुनेः।।१२६।।
स्वभावनिवृत्त्यर्थं संवादस्तादृशः पुनः।

अर्थ – मौन को तोड़ना, परस्पर में पति पत्नी की चर्चा होना फिर स्त्री की स्तुति करना तथा उसके वशीभूत हो जाना, अन्यत्र गमन नहीं करना। वहीं पर रहते हुए उसका प्रतिकार नहीं करना तथा स्वभाव के परिवर्तन हेतु पुनः इस तरह का संवाद मुनि में छः अर्थ अनुचित है फिर धर्मरूप चर्चा है। वह इस बात को कहने वाला है अर्थात् इनका इस प्रकार का स्वभाव नहीं है परन्तु यह हो कुछ हुआ वह ईश्वरेच्छा से ही हुआ। इस प्रकार पहले अध्यायार्थ अर्थात् १४ चवदहवें अध्याय के अर्थ की अयुक्तता बताई गई है। तब भी द्वितीयाध्यायार्थ पन्द्रहवें अध्याय की अयुक्तता बताते हैं–

कारिका - संक्षोभो न क्वचिद्येषां काले देशे च वस्तुनि।।१३७।।
ते कृष्णंभावनायुक्ता वैकुण्ठे कृष्ण भृत्ययोः।
सनन्दनादयः क्रुद्धाः शापं दुर्विषहं ददुः।।१३८।।

अर्थ - जिनको संक्षोभ कभी भी किसी भी कार्य में किसी भी देश में तथा किसी वस्तु पर नहीं होता था कृष्ण भावना से युक्त उन्हीं मुनि सनन्दादिकों ने वैकुण्ठ के भीतर कृष्ण के सेवकों को क्रोध में आकर असह्य शाप दे दिया। इस भांति मुनियों की अयुक्तता वर्णन कर जयविजय की अयुक्तता बताते हैं।

कारिका - भगवद्भावसंपन्ना भगवद्गुणतत्पराः।
लतापक्षिस्त्रियश्चापि निरहंमत्सराः शुभाः।।१३९।।
सालोक्य सार्ष्टिसामीप्यसारुप्यं सर्वथा गतौ।
वैकुण्ठे भक्तसंदर्शविघ्नं चक्रुश्च गर्वितौ।।१४०।।
स्वभावविनिवृत्त्यर्थमुभयोश्च तथा कृतिः।

अर्थ - वैकुण्ठ वासी सभी भगवद्भाव से संयुक्त है, भगवद् गुण गान के लोग रहते हैं यहां तक कि लता पक्षी स्त्रियां सब बिना मात्सर्य हैं तथा शुभ हैं एवं सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य सारुप्य को प्राप्त है तथापि सनन्दनादि जो भक्त हैं उनकी गति में अर्थात् भगवान् के दर्शन हेतु जाते हुए के लिये अहंकारी जय विजय ने दर्शन में बाधा डाली उनको जाने से मनाकर दिया तब सनन्दनादि ने उन दोनों को उनके स्वभाव की निवृत्ति हेतु शाप दिया था।

पहले की भांति ही यहां भी स्वभाव को बदलने के लिये शाप के पीछे की चेष्टा को बताया। तृतीय अर्थात् सोलहवें अध्याय में दिया गया विषय भी श्रीकृष्ण की इच्छा से ही पूरा हुआ।

कारिका - मोहनं तदुपेक्षा च दुर्घटं पतनं तथा।।१४१।।
द्वेषोत्पत्तिस्तयोः कृष्णे सर्वं कृष्णेच्छयाऽभवत्।।१४१ १/२।।

अर्थ - भगवान् सनकादिकों को मोह पैदा करने वाले वचन बताते हैं तथा अपने भक्त जय विजय ने जो उनका तिरस्कार किया था उनकी निंदा करते हैं। जों वैकुण्ठ में चले गये हैं वे पुनः संसार में पैदा हों यह अशक्य होने पर भी उन जय तथा विजय का वैकुण्ठ से गिरना होता है। इसलिये इन दोनों भगवान् से द्वेष (वैर) होता है क्यों कि यदि वैर नहीं हुआ होता तो भविष्य में भगवान् के प्रति द्वेष होने की बुद्धि नहीं होती। इस तरह इन तीनों अध्यायों का विषय भगवान् कृष्ण की इच्छा नहीं होती तो इस भांति होना अशक्य था।

तृतीय स्कन्ध अध्याय १७ से २४ तक

भागवतार्थ प्रकरण की कारिकाओं के अर्थ का स्पष्टीकरण गो० पुरुषोत्तम जी महाराज ने **'प्रकाश'** द्वारा किया है जिसका तथा आभास का हिन्दी अर्थ ही यहां पर दिया जा रहा है।

आभासार्थ - इस भांति तीन अध्यायों का अर्थ असंगत जैसा हो जायगा ऐसा वर्णन करके फिर दूसरे अध्यायों में भी असंगता आ जायेगी ऐसा वर्णन करते हैं-

कारिका - **अलौकिकी तदुत्पत्तिर्वृद्धिर्दिग्विजयस्तथा।।१४२।।**
स्वामिनो दुर्वचो वादो युद्धं ब्रह्मभ्रमस्तथा।
संमुखे मरणे कृष्णान्न मुक्त : किं ततोऽद्भुतम्।।१४३।।

अर्थ - हिरण्याक्ष की अलौकिकी उत्पत्ति और वृद्धि (बढना) तथा दिग्विजय का निरूपण अपने स्वामी को दुर्वचन कहना एवं उनसे युद्ध करना और उनके ब्रह्मविषय में श्रम होना। कृष्ण के संमुख मरण पर भी मुक्ति प्राप्ति नहीं होना इससे अद्भुत बात क्या होगी।

प्रकाश - महान् पुरुषों की उत्पत्ति में दुष्ट शकुन नहीं होते हैं। बढना और विजय भी लौकिक नहीं थी। पांचवें अर्थात् अठारहवें अध्याय के अर्थ में अनौचित्यता कहते हैं। स्वामी को दुर्वचन कहना, स्वामी के साथ युद्ध करना यह भी ठीक नहीं था। ब्रह्म के विषय में संदेह होना तो 'सुतराम्' अयुक्त है।

आभास - अब उपसंहार करते हैं-

कारिका - **सोपपत्तिकमाख्यानं जीवानां जननं हरिः।**
ऐहिकामुष्मिकफलं दातुं सृजति नाऽन्यथा।।१४४।।

अर्थ - युक्ति के साथ इन सभी का कहना और जीवों को भगवान् ऐहिक (लौकिक) तथा पारलौकिक फल देने हेतु पैदा करते हैं अन्यथा नहीं।

प्रकाश - लौकिक तथा पारलौकिक फल देने हेतु हरि ही पैदा करते हैं। इस कारण सर्ग की भी गिनती लीला में की जाती है यह बताया गया है।

आभास - इस भांति दूसरी भाषाओं से वर्णन कर समाधिभाषा में भी यहां अर्थ है इसका वर्णन करते हैं।

कारिका - **इति दर्शयितुं सांख्यमते सृष्टयादिवर्णनम्।**
तेषां गुणप्रधानत्वाद्गौणी सृष्टिर्निरुप्यते।।१४५।।

अर्थ - इसको बतलाने के लिये सांख्यमत में सृष्टि आदि का निरूपण है। किन्तु उस सृष्टि में गुणों की मुख्यता है। इसलिये उस सृष्टि का वर्णन गौणी नाम से किया गया है।

प्रकाश– **"सांख्य पुरुष"** जीवन्मुक्तः है। इस कारण उनके मत के अनुसार पैदा जीव मुक्ति हेतु होते हैं। यह प्रमाणित है। सृष्टि के भेद उनके यहां ग्यारह माने है। उनका कारण यह है कि उनमें गुणों की विशेषता है। अतः प्रथम गौणी सृष्टि का वर्णन करते हैं।

आभास – शौनकादि ऋषियों का यहां भगवान् की कथा के प्रसंग में मनु की कथा का प्रश्न ठीक नहीं है। इस शंका पर बताते हैं–

कारिका – **प्रकारान्तरसंप्रश्नः स्वकृतः परतस्तथा।**
भक्तकर्तृत्वतस्य कृष्णलीलात्वमुच्यते।।१४६।।

अर्थ – स्वयं के द्वारा अथवा पर के द्वारा प्रकारान्तर से किया जाने वाला प्रश्न यदि भक्त के विषय में है तो उन्हें कृष्ण लीला ही बतानी चाहिये।

प्रकाश – भगवत्कथा का ही यह प्रश्न है परन्तु यह प्रश्न दूसरी तरह से किया है। मनु भगवान् के भक्त हैं इस कारण उनके संबंध मेंपूछा गया प्रश्न भक्त प्रीति जनक होने से लीला का कारण है इसलिये वह भी भगवद् लीला ही है।

आभास – **"एव मुग्रश्रवाःपृष्टः"** इस प्रकार उग्रश्रवा (सूत) के पूछे जाने पर इस प्रकार का व्यासजी का वचन नहीं हो सकता है। कारण कि व्यास जी से श्रवण की हुई कथा को उग्रश्रवा कहता है। व्यासजी उग्रश्रवा के कथन को कैसे कह सकते हैं ऐसी शंका का प्रक्रियान्तर ज्ञान के लिये इस प्रकार कहते हैं–

कारिका – **प्रक्रियान्तरबोधाय व्यासोक्तिः शुकसूतयोः।**
एकरूपत्वकथनादेकोक्तिः पाक्षिकोऽन्ययोः।।१४७।।

अर्थ – प्रक्रियान्तर का बोध कराने हेतु **"एवगुग्रश्रवा पृष्टः"** को व्यासजी की मुक्ति बताई गई है। एक ही रूप से कहने के कारण दोनों में से किसी एक की ही उक्ति को यहां ग्रहण किया है।

प्रकाश – जिस भांति **"एवमुग्रश्रवा"** को व्यासजी की उक्ति कहा है उसी प्रकार शुकदेवजी तथा सूत जी उक्ति का शुक देवजी के वाक्य से ही वर्णन है। यदि इस तरह नहीं होता तो सूत विदुरजी के वाक्य को नहीं बताते। शुक को ही विदुरजी का वचन कहना था। एक रूपता से बताना ही एकोक्ति में कारण है। एकोक्ति शब्द तथा अर्थ से भी समानता है। यहां अन्ययोः से राजा परीक्षित तथा शुकदेवजी इनमें से किसी एक की उक्ति समझना चाहिये। अर्थात् जैसे शौनक जी ने पूछा उसी भांति राजा ने पूछा तथा जिस तरह सूतजी ने उत्तर दिया उसी भांति शुकदेव ने उत्तर दिया इस कारण समानता होने में किसी एक पक्ष को यहां बतां दिया है।

आभास – सांख्यमत की सृष्टि किस कल्प में हुई इस आकांक्षा पर बताते हैं।

कारिका - **आण्डकोशे पदमकल्पो विशेषेणोच्यतेऽधुना।**
सांख्याचार्यास्तु कल्पेस्मिन्मुक्तिमार्गं हरिच्छया।।१४८।।
ज्ञानमेकप्रकारेण हृदि प्राप्य परं गताः।

अर्थ - ब्रह्माण्ड के बीच में जो पद्म कल्प है उसे अब मुख्य रूप से बताया जा रहा है। इस पद्म कल्प में ही सांख्याचार्य हुए थे उन्होंने ने भगवान् की इच्छा से मुक्ति की राह दिखाई है। ज्ञान को एक ही भांति से हृदय में प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त हो गये।

प्रकाश - ब्रह्माण्ड में जो पद्मकल्प है केवल कल्प से भिन्न है उस कल्प में सांख्यमत प्रसिद्ध है। उसमें वे सिद्ध ही हेतु थे। यदि आशंका हो तो उनके ज्ञान की तत्काल सूत्र में निन्दा की है तब फिर उनके ज्ञान से मुक्ति कैसे होगी इस आकांक्षा पर बताते हैं कि वह एक प्रकार का ज्ञान भगवान् की इच्छा के अनुसार है इस कारण मुक्ति में क़िसी प्रकार की शंका नहीं करना।

कारिका - **इति दर्शायितुं सांख्ये कल्पस्याऽस्य च वर्णनम्।।१४९।।**
पंचशः प्राकृतोत्पत्तिस्तत्त्वज्ञापनाय हि।

अर्थ - इस बात को बताने के लिये ही सांख्यशास्त्र में इस कल्प का निरूपण है। तत्त्वता को बताने हेतु ही पच्चीस तत्व से प्राकृत की उत्पत्ति की है।

प्रकाश - **'अस्य कल्पस्य'** से पद्मकल्प का ग्रहण है। **'च'** भी इसमें है इस कारण वाराह कल्प का भी निरूपण है। नहि तो उसमें सांख्य मार्ग से मुक्तिनहीं होती। कल्प की सृष्टि का प्रकार पहले के कल्प से विलक्षण है। उसको कहने के लिये **''पंचाशः प्राकृतोत्पतिः''** ऐसा बताया है। पंचभिः पंचमिः पंच **'ब्रह्मन्'** ऐसा आगे बतायेंगे। इस मत में संख्या ही ठीक है। इस कारण इस मत को सांख्य मत कहा गया है। पदार्थों की तत्वता होती है।

आभास - इस मत में सृष्टि का निरूपण विस्तिर्ण रूप से नहीं किया गया है। उस का कारण तो उपलक्षण मात्र (परिचय मात्र) ही है।

कारिका - **उपलक्षणमात्रत्वादल्पोक्तिर्न विरूध्यते।।१५०।।**
तत्रैका दशधा सृष्टिः स्वभावगुणकार्यतः।

अर्थ - परिचय मात्र का वर्णन होने से अल्प उक्ति विरूद्ध नहीं है वहां स्वभाव गुणों के कार्य से सृष्टि ११ प्रकार की है।

प्रकाश - उसी सृष्टि का जब प्रकारान्तर से वर्णन किया जाता है तब उसका वर्णन करने वाला वाक्य उपलक्षक हो जाता है। वहां पर एक ही अध्याय में ग्यारह तरह की सृष्टि का वर्णन है। स्वभाव गुणों के कार्य

भेद से सृष्टि के भेद ग्यारह तरह के है। स्वभाव के उनमें दो कहे हैं तथा गुणों के नौभेद बताये हैं इस भांति ग्यारह भेद हो जाते हैं।

आभास – उन्हीं को त्रैगुण्य से कहते हैं–

कारिका– **त्रैगुण्यं निर्गुणावस्था भगवच्चिन्तनं तथा।।१५१।।**
एवमेकादश प्रोक्ताः स्वभावे विस्तृतिः स्फुटा।

अर्थ – सत्व, रज तथा तम इन गुणों से नौ तथा एक निर्गुण सृष्टि एवं भगवच्चिंतन इस भांति मिलाकर ग्यारह तरह की सृष्टि बताई है। स्वभाव सृष्टि का बहुत फैलाव है वह आगे स्पष्ट हो जायेगा।

प्रकाश – निगुर्णावस्था दसवीं है उसको ज्ञानरूप माना है भावच्चिन्तन यह एकादश है। इसका "**एवमेकादश प्रोक्ताः**" से उपसंहार किया है। गुण सृष्टि को एक ही अध्याय में थोड़े में बता दिया है। स्वभाव सृष्टि तो ज्ञान तथा भक्ति के भेद से चार अध्यायों में क्रम से नौ अध्यायों में विस्तार से बताया है वह आगे चल कर स्वयं की स्पष्ट हो जायेगी।

आभास – उनमें भी तामसादि भेदों को बताते हैं–

कारिका– **यक्षरक्षांसि देवाश्च दैत्याश्च प्रथमास्त्रयः।।१५२।।**
उपाधिरपि तेषां हि तथेति प्रतिपादितम्।

अर्थ – यक्ष, राक्षस, देवता तथा दैत्य पूर्व में ये तीन पैदा हुए। उनकी उपाधि भी उसी भांति वर्णित की है।

प्रकाश – यहाँ पर अविद्या की उत्पत्ति पूर्व की भांति ही जानना। यहां विशेषता यह है कि यक्ष तथा राक्षसों की उत्पत्ति अविद्या के साथ उसी प्रकार देवताओं की भी उत्पत्ति भावान्तर से हुई।

कारिका – **विलक्षणत्वसिद्धयर्थं देहत्यागः प्रजापतेः।।१५३।।**
तत्तत्कालाभिमानिन्यो देवतास्ताः पृथक् स्थिताः।

अर्थ – प्रजापति का देह त्याग विलक्षणता की सिद्धि के लिये है। उनके वे देह तत्कालाभिमानीनी देवता है। इसलिये वे सब पृथक्–पृथक् रहे।

प्रकाश – भावान्तर ग्रहणार्थ ही वहां पर शरीर का त्याग किया था। त्यागे हुए शरीर का स्वरूप तत्कालाभिमानिनी देवता था।

आभास – यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि पंचपर्वा अविधा की तब उत्पत्ति हो गई तब फिर देह का परित्याग क्यों किया।

कारिका - देवतोपाधि सम्बन्धात्कार्योत्पत्याऽतिविह्वलः।।१५४।।
तामसत्वात्तु ते मूढा वाक्यमात्रेण संस्थिताः।

अर्थ - पंच पर्वा अविद्या देवतोपाधि संबंध वाली थी। ब्रह्माजी यक्ष, राक्षस इनकी उत्पत्ति से अत्यन्त विह्वल हो गये थे। वे यक्ष राक्षस तामस होने के कारण मूढ तो थे ही इस कारण ब्रह्मा जी का भक्षण करने लगे तब ब्रह्मा जी ने उनको कहा अरे तुम मेरी ही सन्तान होकर मुझे ही खा रहे हो ऐसा कहने पर वे खड़े हो गये।

प्रकाश - पंच पर्वा अविद्या देवता रूपी थी। वह अविद्या ब्रह्मा जी के लिये उपाधि रूप हो गयी थी तब ब्रह्माजी से यक्ष राक्षसों की उत्पत्ति हुई असमान रूप वाले इनको देखकर ब्रह्माजी डरकर घबरा गये तथा अपने शरीर का त्याग कर दिया ऐसा जानना चाहिये। जब भगवान् की इच्छा से पैदा हुए थे तो ब्रह्मा जी उनको सह नहीं सके तथा वे यक्ष राक्षस भगवान् की प्रेरणा से ही ब्रह्माजी को भक्षण करने के लिये तैयार हुए। तब उन्होंने ब्रह्माजी को छोड़ कैसे दिया उसके लिये कहते हैं कि तामस होने से मूर्ख तो वे थे ही ब्रह्माजी ने उन से कह दिया अरे तुम मेरी संतान होकर मुझे ही खाते हो इतने कथन मात्र से ही वे उनको खाने से रुक गये।

आभास - देवपक्ष तो सुगम है-

कारिका - सात्विके नास्ति शंकैव राजसेषु महान् श्रमः।।१५५।।
पृथक् स्थितां देवतां हि वर्णयन्ति कुबुद्धयाः।

अर्थ - सात्विक के संबंध में किसी तरह की शंका ही नहीं है। राजसों के संबंध में महान् श्रम होता है। किंचित् काल तक पृथक् स्थित देवता का कुछ कुबुद्धि निरूपण करते हैं।

प्रकाश - राजसों के संबंध में महान् श्रम होता है। इस कारण यमन (मैथुन) से प्रारंभ कर भगवान् की आज्ञा से देह त्याग तक की कथा का वर्णन है। दूसरे जितने भी शरीर थे वे जल्दी ही काल रूपता को प्राप्त हो गये। इस कारण कालरूपता से उनमें व्यवहार (किया जाता है) रजोगुण से राजसी शरीर सन्धया के साथ एक भावता को प्राप्त नहीं हुई परन्तु किंचित्काल तक पृथक् रही। इसलिये उसका वर्णन पृथक् स्थितां से किया गया है। जब उसी शरीर की काल के साथ समानता हो गई तो दैत्यों की निवृत्ति हो गई ऐसा भाव है।

आभास - अब दूसरे त्रिक को बताते हैं-

कारिका - गन्धर्वाश्च पिशाचाश्च पितरस्त्रिविधा गुणैः।।१५६।।
सत्त्वं तमो रजश्चेति न तैर्दोषोऽस्वभावतः।

अर्थ - सत्वगुण से गन्धर्वों की तमोगुण से पिशाचों की तथा रजोगुण से पितरों की उत्पत्ति हुई उनमें दोष का निरूपण इस कारण नहीं है कि उनमें दोष स्वभावत नहीं है

प्रकाश - "सत्वं तमो रजश्चेति" से उनमें गुणों को थोड़ा बताया है। उनमें दोषों का निरूपण इस कारण

नहीं है कि उनका वह स्वभाव नहीं है अर्थात् सत्वादि में गुणता तो है किन्तु दोष स्वभावत नहीं है। आशय इसका यह है कि दोष रूप से पृथक् प्रवेश का अभाव है।

आभास – तृतीय त्रिक को कहते हैं।

कारिका – **सिद्धाश्च किन्नराः सर्पाः सत्त्वादिभिरुदीरिताः।।१५७।।**

अर्थ – सत्वगुणों से सिद्धों की रजोगुण से किन्नरों की तथा तमोगुण से सर्पों की सृष्टि बताई गई है।

आभास – निर्गुणावस्था किस प्रकार की है इस शंका पर बताते हैं–

कारिका – **कृतकृत्यता च नैर्गुण्यं कृष्णत्वं तपआदिभिः।**
ऋषिभावस्ततो भाव्यो नाऽन्यत्र विरमेद्बुधः।।१५८।।

अर्थ – जिसमें किसी भांति का करना बाकी नहीं हो उसे कृतकृत्यता बताते हैं अर्थात् परमपुरुषार्थता इसको निर्गुणवस्था बताया है तपादिक से कृष्णता हो जाती है तब ऋषि भाव होता है। ऋषिभाव वाले के पश्चात् तो सृष्टि से विराम नहीं होना चाहिये।

प्रकाश – कृतकृत्यता बताते हैं अपने में ही परम पुरुषार्थता का होना तप आदि से तो कृष्णता होती है। प्रकरण में तो वह ऋषिभाव है इस कारण ब्रह्मा जी में ही वह भाव होना चाहिये ऐसा भाव्र होने पर क्या होता है उसे कहने के लिये **'नाऽन्यत्र विरमेद्बुधः'** ऐसा बताया है। यदि इस प्रकार नहीं होता तो ब्रह्माजी सृष्टि करते ही रहने विश्राम करते ही नहीं। इस भांति एक अध्याय का तात्पर्य कहा। चौदह कारिकाओं द्वारा एक अध्याय का वर्णन किया है।

आभास – इसके पश्चात् ज्ञान तथा भक्ति का फैलाव बताने को तेरह अध्याय है उनमें विभाग हैं–

कारिका – **चतुर्भिः सुखपूर्वा हि पुम्मुक्तिर्नवभिः स्त्रियाः।**
एकस्य तु स्वतः सिद्धं ज्ञानं कृष्ण प्रसादतः।।१५९।।

अर्थ – चार अध्यायों में सुखपूर्वक पुरुष की मुक्ति को बताया है तथा नौ अध्यायों से स्त्री मुक्ति का। एक (पुरुष) के हेतु कृष्ण की कृपा से ज्ञान अपने आप सिद्ध होता है।

प्रकाश – आशंका होती है कि एक (पुरुष) के लिये तो थोड़े से ही मुक्ति तथा अपर (स्त्री) के लिये अधिक से उसका कारण यह है कि पुरुष के हेतु तो चार पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये चार अध्याय हैं और उसमें भी मुक्ति का साधनरूप ज्ञान उसके लिये अपने आप सिद्ध है। पुरुष के ऊपर भगवान् की कृपा होने के कारण ही उसी से साधन सहित पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।

कारिका – **अन्यस्या उपदेशे हि स्त्रीत्वात्सर्वं प्रकाश्यते।**
नवकल्या: [illegible] अत्र बोधिता:।।१६०।।

अर्थ – किसी एक को उपदेश करने पर स्त्रीत्व सभी में समान होने से उनको भी ज्ञान हो जाता है। नौ कन्या के कारण से स्त्री जीवों का यहां बोधन है।

प्रकाश – पुरुष के सहभाव से स्त्रियों के भी धर्म, अर्थ तथा कामपूर्व हो जाते हैं। मोक्ष को ही अब पृथक् से कहना चाहिये। क्योंकि मोक्ष केवल (अकेले) का ही होता है उसमें दंपती की आवश्यकता नहीं है। इसी कारण पुरुष की मुक्ति तो एक ही अध्याय का वर्णन है। स्त्री मुक्ति को नौ अध्यायों से इसी लिये बताया है कि स्त्री के भीतर गुणरूप नौ अन्तः करण के दोष हैं उनको छुड़ाने के लिये नौ अध्याय है तथा उन दोषों को मिटाने के लिये अनेक साधनों का वर्णन है। यहां यह आशंका होती है कि कन्याओं की मुक्ति का वर्णन तो ठीक नही है उसका समाधान करते हैं कि यहां कन्याओं से स्त्री जीव का ग्रहण है कारण कि स्त्री जीव प्रकृति के अधीन है।

आभास – आशंका होती है कि जीवों की कारणता का तो वर्णन पूर्व में ही किया जा चुका है। तब फिर उसका वर्णन किस लिये हैं?

कारिका – प्रकृतेः कारणत्वाय मायाशक्तिर्हि तादृशी।
रमणौपयिकरूपा हि शुद्धसत्वादि भेदतः।।१६१।।

अर्थ – प्रकृति की कारणता के लिये जीवों की कारणता का वर्णन है। मायाशक्ति गुणमयी है। स्त्री रमण में उपयुक्त होती है। उसमें शुद्ध सत्व आदि नौ भेद हैं।

प्रकाश – स्त्रीजीव प्रकृति के आधीन है, जब स्त्री को कारण मानते हैं तब तो उससे प्रकृति की कारणता सिद्ध होती है। तब भी नौ का उपयोग कहां पर होता है? इस शंका का समाधान किया है कि मायाशक्ति ही तादृशी माया गुणमयी (सत्व, रज, तम) है उनमें एक गुण तीन तरह का है इस कारण वह नौ तरह का है। यहां पर प्रश्न होता है कि स्त्रीत्व क्या है उसका उत्तर देते हैं कि जो रमण में उपयोगी हो उसे स्त्री कहते हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। इस कारण गुण की मुख्यता होने से जो क्रोध आदि के वशीभूत है उसमें भी स्त्रीत्व होगा। गुणों से पृथक् तो प्रकृति है ही नहीं, इस मत का प्रतिपादन करते हैं।

कारिका – गुणभावं परित्यज्य स्वरूपेण स्थितातु या।
पुरुषं रमयन्ती सा स्त्रीरूपेति निगद्यते।।१।।
पुरुषस्य च तस्याश्च सर्वतत्त्वेष्वथांशवः।
पृथक् सन्ति ततो यत्र दृष्टादृष्टा दिकारणात्।।२।।
भोग्य भावत्वमापन्नाः प्रकृत्यंशाः समागताः।
बीजभावं प्राप्नुवन्ति तद्वृद्धौस्त्रीभवे तु सा।।३।।

अर्थ – जो गुणभाव का परित्याग करके अपने स्वरूप (शक्तिरूप) से स्थित है तथा जो पुरुष को रमण कराती

है उसको स्त्रीरूपा कहते हैं। पुरुष तथा स्त्री के अंश सब तत्वों से पृथक् ही हैं, उसमें दृष्ट तथा अदृष्ट (धर्म तथा अधर्म) कारण है भोग्य भावता को प्राप्त हुए प्रकृति के अंश स्त्री में आये हैं वे स्त्री में बीज भाव को प्राप्त होते हैं तथा स्त्री भाव में उन अंशों की वृद्धि होने से स्त्रीभाव में वह रमण में ठीक होती है। इस अभिप्राय से शुद्ध सत्वादि भेदतः ऐसा बताया है कि जिनमें गुण का मेल (मिश्रण) होता है उन्हीं में गौणत्व होता है। जिसमें सत्व गुण की मुख्यता होती है वह देवताओं की स्त्री होती है। रजोगुण की प्रधानता होने पर मनुष्य स्त्री तमोगुण मुख्य होने पर पशु स्त्रीपन होता है।

कारिका - आनन्दांशस्वरूपेपि शुद्धसत्वादिरूपतः।
शक्ति प्राधान्यतः स्त्रीत्वं तत्त्वतः पुरुषाकृतिः।।१६२।।

अर्थ - आनंदांश स्वरूप होने पर भी शुद्ध सत्वादिरूप होने से एवं शक्ति की प्रधानता से उसमें स्त्रीपन है। तत्वों से तो वह भी पुरुषाकृति है।

प्रकाश - स्त्री में आनन्दांश प्रविष्ट है इस कारण स्त्री में योग्यता है। पुरुष में भी यद्यपि आनन्दांश का प्रवेश होता है तब पुरुष भी स्त्री को भोग्य हो जाता है फिर भी गुणों की प्रधानता से तथा शक्ति की प्रधानता से उसमें स्त्रीपन रहता है। पुरुष के समान स्त्री की आकृति तो तत्वों के कारण वास्तविक है उसमें पुरुष के अंशों का जब समवाय होता है उसमें पुरुषत्व हो जाता है।

आभास - स्त्रीत्व में तथा पुरुष में नियामक क्या है उसको बताते हैं।

कारिका - मोहकत्वमतः स्त्रीणां शक्त्याकृति विशेषतः।
विसर्गस्याऽत्र सम्प्रश्न उत्तरत्रोपयुज्यते।।१६३।।

अर्थ - शक्ति की आकृति की विशेषता के कारण ही स्त्रियों में मोहकता है। विसर्ग लीला का जो यह प्रश्न है उसका उपयोग आगे होगा।

प्रकाश - कारण यह है कि स्त्री पुरुष को मोहित करती है। इस कारण स्त्रियों में प्रकृति की प्रकृतिपन है। आशंका होती है विसर्ग लीला में तो मनुवंश आदि है उसका रूचि आदि के वंश के प्रश्न का उपयोग कहां पर होगा इसका उत्तर **'उत्तरत्रोपयुज्यते'** से दिया गया है। अर्थात् प्रश्न आगे ठीक होगा।

आभास - यहां पर प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा ही है तो बीच में यहां कर्दम जी के चरित्र का वर्णन क्यों है इसका उत्तर देते हैं-

कारिका - नित्यसंबंधतासिद्धयै कर्दमोऽत्रैव योजितः।

अर्थ - प्रकृति तथा पुरुष का संबंध नित्य है इसकी सिद्धि तो कर्दमजी का चरित्र भी यहां पर बता दिया है।

प्रकाश - प्रकृति एवं पुरुष का संबंध नित्य है इसको बताने के लिये कर्दमजी की कथा है। संबंध का उपयोग

तो सर्ग लीला में होगा। भिन्नता से प्रसिद्धि होने पर भी स्वभाव में आपस में आकांक्षा है। इस कारण यह आशय वर्णन करना उपयुक्त है। कर्दम चरित्र का सर्ग लीला में वर्णन किया। सहज होने पर भी उन दोनों में जब विश्लेष होता है। तब मुक्ति होती है। ऐसा न्याय है। इसलिये त्याग से दोनों की मुक्ति का कहना ठीक है।

आभास – इस प्रकार प्रकरण के अर्थ का शोधन कर पहले अध्याय में तप के द्वारा भगवत्तोष का उद्देश्य बताते हैं–

कारिका – **सर्वस्यकारणं कृष्ण प्रसाद इति तत्कथा।।१६४।।**

अर्थ – भगवान् का प्रसन्न हो जाना ही सभी का कारण है इसलिये उन (कर्दम जी) की कथा है।

प्रकाश – प्रकरणादि में भगवान् को प्रसन्न करने हेतु कर्दम जी की प्रवृत्ति है।

आभास – भगवान् किससे प्रसन्न होते हैं इस आकांक्षा पर बताते हैं–

कारिका – **भक्तानां निर्णयस्त्रोत्रे सर्गार्थमुपयुज्यते।**
कामितं च हरिः पूर्वं स्वयमेव विधास्यति।।१६५।।
व्यर्थं वचनमित्यर्थं बोधयत्युत्तरं वदन्।

अर्थ – स्तुति से भगवान् प्रसन्न होते हैं ऐसा भक्तों का कथन हैं। सर्ग लीला में स्तुति का उपयोग होता है। अपने चाहे हुए को तो भगवान् स्वयं कर देते है। तब उसके लिये प्रार्थना करना निरर्थक हैं यह स्वयं भगवान् के ही कथन से जाना जाता है।

प्रकाश – भगवान् तप से प्रसन्न नहीं हुए तथा नहीं स्तुति से प्रसन्न हुए परन्तु यथार्थ बात बताने से प्रसन्न हुए उसमें भी अपने घर के मर्म की बात बताने का उद्देश्य अपने लिये है। जो महान् होते हैं उनका बिना कपट भाव से भजना चाहिये व तभी उनकी कृपा होती है। यदि कोई ऐसी शंका करे कि भगवान् की कृपा अनित्य होगी उसका समाधान करते हैं कि भगवान् तो चाही गई चीज का पहले ही दान कर देते हैं उनके दान में किसी कारण की जरूरत नहीं होती वहां पर तो कारण भगवान् की प्रसन्नता ही हैं। भगवदीय पदार्थों के भोगने के लिये शरीर इन्द्रिय संस्कार तथा तप होने चाहिये। इस कारण भगवान् से प्रार्थना करना निरर्थक है। यह तो भगवान् के कथन से जाना जाता है। नहीं तो वृतान्त नहीं करते।

आभास – बिना ईश्वर की प्रेरणा पदार्थ की सिद्धि किस प्रकार होगी तथा ईश्वर की प्रेरणा में क्या कारण है यदि इस प्रकार कहा जाय कि बिना ही कारण के प्रेरणा होती है तब सभी जनों को पदार्थ सिद्धि हो जायगी इस शंका पर बताते हैं–

कारिका – **पुरुषार्थाः स्वयं सर्वे समायान्ति हरिप्रिये।।१६६।।**
इति दर्शयितुं राज्ञः स्वयमुद्यम्य याचनम्।

अर्थ – भगवद् भक्त के लिये सभी पुरुषार्थ स्वयं आ जाते हैं इसको बताने के लिये स्वयं राजा (मनु) ने अपनी

पुत्री को स्वीकार करने हेतु कर्दम जी से प्रार्थना की थी।

प्रकाश – भगवत् प्रिय होना ही साध्य है अन्य नहीं। भगवत् प्रियता से सर्व सिद्धि मिलती है यह इसका आशय है।

आभास – कर्दम जी ने तो कन्या का निरूपण किया है वह तो राजा को अच्छा लगे इस कारण से किया क्योंकि राजाभक्त था। कार्य शुद्धि के लिये भक्ति परमावश्यक है तथा अपनी मुक्ति के लिये तप जरूरी है।

कारिका – **दुहितुर्वर्णनं प्रीत्यै राज्ञो भक्तत्वतः समम्।।१६७।।**
भक्तिश्च कार्यशुद्ध्यै हि तपश्चैव स्वमुक्तये।

अर्थ – राजा ने अपनी कन्या की विशेषताओं का कथन ऋषि को प्रसन्न करने के लिये किया था। यहां पर शंका पैदा होती है कि मुनि ने जब यह कह दिया था कि मैं इस कन्या के साथ एक बार ही भोग करुंगा तब फिर राजा ने अपनी पुत्री को क्यों दिया उसका उत्तर **'भक्तत्वतः समम्'** से दिया है। राजा भक्त था इस कारण वह यह चाहता ही था कि सभी पुरुषार्थ की सिद्धि हो इस कारण समता के कारण उससे ऋषि की प्रतिज्ञा के पश्चात् भी कन्या दे दी। शंका होती है कि विवाह के पीछे किस प्रकार तो भक्ति होगी तथा किस तरह तप होगा। उसका उत्तर भक्तिश्च आदि आधी कारिका से देते हैं। कार्य शुद्धि के लिये भक्ति है। कार्य में यदि दोष होगा तो कारण भी दोष सहित होगा। जिस प्रकार पुत्र्यादि उचित कार्य नहीं करता है तो पिता को नरक की प्राप्ति होती है। यहां पर कार्य है **'लडकियां' 'च'** से बिना भक्ति के कार्य धर्म का ग्रहण नहीं होता है। तप का उद्देश्य स्वयं की मुक्ति है। यह उद्देश्य इस से पृथक् है। **'च'** से उस कन्या की भी मुक्ति ली जाती है। अथवा भक्ति से तप का भी संग्रह हो जायेगा। इस कारण तप तो प्रथम संस्कार हेतु है।

आभास – इच्छित से ज्यादा करने में कारण बताते हैं।

कारिका – **अलौकिकस्य करणादनासक्तिः फलिष्यति।।१६८।।**
ध्यानं भगवतो योगो भगवत्प्रेषितं च तत्।
कन्याश्चैव तथा ज्ञानं तत्कृपातोऽस्य जायते।।१६९।।
स्त्रिया माहात्म्यबुद्ध्यर्थमृषिकर्तृत्वमुच्यते।

अर्थ – अलौकिक कार्य करने से अनासक्ति फलित होगी। भगवान् का ध्यान करना ही योग है। विमान का बनाना अलौकिक था (भगवान् द्वारा प्रेषित) कन्याएं और ज्ञान भगवत् कृपा से ही कर्दमजी को प्राप्त हुए। स्त्री को ऋषि के माहात्म्य का बोध हो इसलिये इन सभी को ऋषि के द्वारा किया गया ऐसा बताया है।

प्रकाश – विमानादि का बनाना तो अलौकिक है यदि ऐसा नहीं होता तो चित्त में अनासक्ति नहीं होती। **'कर्दमोयोगमास्थितः'** यहां पर योग से आशय भगवान् के ध्यान से है। यदि ऐसा अर्थ नहीं होगा तो विमान आदि भगवान् के अनुग्रह बिना उत्पन्न नहीं होते तथा बन्धन भी हो जाता। तब फिर विमान की उत्पत्ति किस

भांति हुई उस का उत्तर है **'भगवत्प्रेषिते चैतत्'** विमान तो भगवान् द्वारा भेजा हुआ था। विमान तामस है कन्याएं राजस है तथा ज्ञान सात्विक है। यदि इस प्रकार से है तब उसे स्पष्ट क्यों नहीं बताया गया है। उसके लिये **'स्त्रियाः'** ऐसा बताया गया है। अर्थात् स्त्री को ऋषि के माहात्म्य का ज्ञान हो जावे।

आभास – फिर भी नियत उपपत्ति (युक्ति) बतानी चाहिये इस पर शंका पर कहते हैं-

कारिका – **अत एव ऋषौ यातेऽप्यवस्थानं तु तस्य हि।।१७०।।**

कायव्यूहेन नवधा स्वरूपकरणं मतम्।

अर्थ – विमान भगवान् द्वारा प्रेषित था। ऋषि के वनगमन पर भी विमान स्थिर रहा। स्व शरीर के व्यूह से ही ऋषि ने अपने रूप के नौ रूप कर लिये यह जानना।

प्रकाश – कारण कि भगवान् ने ही विमान को प्रेषित किया था ऋषि के योग से पैदा नहीं हुआ था। यदि इस प्रकार होता तो जिनकी भोग हेतु सृष्टि हुई थी वे सब भोग बिना चले जाने चाहिये। **'नौ तरह के अपने रूप करके'** ऐसा जो वर्णन है तो नव तरह का वर्णन किस प्रकार से किया? इस शंका का समाधान करते हैं कि **'काय व्यूहेन'** अर्थात् स्व शरीर के व्यूह से नवरूपों का निर्माण किया आगे आपस में विवाह की सिद्धि हेतु पृथक् परंपरा से बताने के लिये नवरूप किये यह सृष्टि मुख्य नहीं थी गौण थी। गुणातीत सृष्टि तो भगवद् रूप होती है इस कारण काम व्यूह बनाकर नवभांति से बीजाधान किया।

आभास – ऋषि ने यदि नवरूप किये तब उसे देव हूति ने कैसे मान लिया इस शंका का उत्तर देते है।

कारिका – **समानत्वान्नवैषम्यं दोषाभावःफलं ततः।।१७१।।**

रेतः सेकः क्रमेणैव सूक्षत्वात्स न दृश्यते।

अर्थ – नव रूपों के सदृश होने के कारण किसी प्रकार की विषमता नहीं हुई इससे किसी प्रकार दोष नहीं हुआ तथा उनसे फल (गर्भाधान) तो हुआ ही गर्भाधान तो क्रम से ही हुआ किन्तु सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं दिया।

प्रकाश – सदृश होने के कारण दोष नहीं हुआ तथा गर्भाधान रूप फल तो पृथक्-पृथक् ही हो गया। जब पृथक्-पृथक् गर्भाधान किया तब देवहूति को पता किस प्रकार लगा। इस शंका के समाधान हेतु **'सूक्ष्मत्वात्'** ऐसा कहा अर्थात् गर्भाधान का विभाग (भेद) इतना सूक्ष्म कि उसे मालुम नहीं हो सका। उस गर्भाधान में इतना सूक्ष्म समय था कि भेद दिखाई ही नहीं दिया।

आभास – ऐसा करने का उद्देश्य बताते हैं-

कारिका – **मरीच्यादिविवाहेच्छां बह्वपत्ये स्त्रियास्तथा।।१७२।।**

स्ववाक्यं च ऋतं कर्तुंगमनं स्त्रीविरक्त्ये।

अर्थ – मरीच्यादि ऋषियों के विवाह करने की इच्छा से एवं स्त्री को भी अधिक संतान की कामना होती है एवं स्व वचन को सत्य करना था इस कारण कर्दम जी वन में गये।

प्रकाश – मैथुन धर्म से ही सृष्टि हो ऐसी भगवान् की इच्छा से ही मरीचि आदि को स्त्री की उपेक्षा होने से और स्त्रियों को भी बहुत संतान की कामना होता है। **'जब मेरे तेज को यह धारण कर लेगी'** ऐसा मुनि का कथन था। मुनि ने स्ववाक्य का पालन नहीं किया कारण कि तेज एक नहीं था तथा अधिक पुरुषों के संबंध से अपने को दोषी बनाया तथा स्त्री को दोषी किया इस आशंका का समाधान करते हैं कि **'आत्मनो मे'** इस वाक्य में जो **'मे'** शब्द है उसका तात्पर्य अहंकार है वह अहंकार त्रिगुणात्मक (सात्विक, राजस, तामस है इनके आपमें मिलने से नवरूप हो जाते हैं। यह सांख्य की प्रक्रिया है तेजः में जो एक वचन है वह तेजस्व जाति को लेकर कहा गया है। मनु आदि के चित की परीक्षा हेतु ही ऐसा कहा था। इसलिये उनका कथन ठीक ही था। ऋषि कर्दमजी तो समर्थ हैं वे योग से देह छोड़कर भी भक्तिको प्राप्त कर सकते थे तब उन्होंने फिर वन गमन क्यों किया? इसका समाधान यह है कि ऋषि वन में नहीं जायं तो स्त्री को वैराग्य नहीं होता है। वास्तव में तो योग में ही त्याग की आवश्यकता है। गृहत्याग से आधी मुक्ति हो जाती है। इसके पीछे आधे में देह तथा अन्तःकरण भेद से दो भाग करके उसका त्याग करते हैं तभी मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह सांख्य तथा योग का निष्कर्ष है किंतु भगवत्मार्ग में ही त्याग नहीं किया जाता है वहां दूसरे के सहारे की आवश्यकता है। इस मार्ग में तो भगवान् ही फल है यह उसकी टीका में वर्णन है। इसलिये यहां पर ज्यादा लिखने की आवश्यकता नहीं है।)

आभास – यहां पर यदि यह प्रशन हो कि कपिल अवतार का उद्देश्य क्या है? उस पर बताते हैं–

कारिका– **विरक्तो ज्ञानसिद्धयर्थं कृष्णं भावयते यदि।।१७३।।**
ज्ञानांशश्च तदा व्यक्तो येन सर्वंफलिष्यति।

अर्थ – विरक्त होते हुए भी जो ज्ञान प्राप्ति हेतु कृष्ण की परिभावना करते है तो ज्ञान का अंश प्रकाश में आ जाता है। तथा उससे सर्वफल प्राप्ति हो जाती है।

प्रकाश – इससे यह सिद्ध होता है कि **'यावत्तेजः'** यहीं पर वाक्य पूरा हो जाता है। नवरूप तो दूसरा है।

आभास– यह सब ब्रह्माजी को इच्छित था इसी कारण ब्रह्माजी चले गये। लोक प्रतीति हेतु दूसरा उद्देश्य बताते हैं।

कारिका – **अवतारो हरेर्यावान् तत्र ब्रह्मा स्वयं व्रजेत्।।१७४।।**
वरादनुक्तप्येवं हि स्तुतिः पूर्णे तु सर्वतः।
बोधनं सर्व बोधाय गमनं सर्वबोधकम्।।१७५।।
पुत्रेपि च हरौ सर्वत्यागादावश्यकी भजिः।

अर्थ – भगवान् के जितने भी अवतार होते हैं वहां पर ब्रह्माजी स्वयं जाते हैं इसलिये जहां पर ब्रह्माजी का जाना नहीं कहा है वहां भी ब्रह्मा जी का वरदान से जाना निश्चित होता है। किन्तु ब्रह्माजी की स्तुति तो जहां पर पूर्ण अवतार (कृष्ण का अवतार) होता है वहीं होती है। सर्वज्ञान हेतु कथन किया है जाना तो सर्व बोधक ही है। भगवान् के पुत्र रूप में होने पर भी सर्व त्याग का द्योतक है कि भजन सभी जरूरी है।

प्रकाश – जहां जहां भगवान् का अवतार होता है वहां वहां यदि ब्रह्मांजी जाते है तो उनके जाने का निरूपण होना चाहिये इस शंका का समाधान है **"वरादनुक्तेऽप्येवहि"** से किया है। भगवान् ने ब्रह्माजी से यह वर मांगा था कि जहां जहां अवगुणों को ग्रहण करके अवतार लेते हैं वहां वहां में उपस्थित रहूँ। भगवान् ने तब ब्रह्माजी की प्रार्थना अनुसार वरदान दिया। इस कारण जहां भी जाना नहीं लिखा हो वहां ब्रह्माजी का जाना जानना चाहिये। किन्तु विशेष रूप से स्तुति तो पूर्णावतार **"कृष्णावतार"** में ही होती है। कन्यादान का बोधन तथा ये कपिल भगवान् है ऐसा ज्ञान तो सभी के लिये है। कर्दम जी तथा देवहूति को तो इसका ज्ञान पूर्व में ही था। विवाह के पीछे मरीचि आदि ऋषियों का जाना तो बताया है उसका उपयोग कहां होगा इस शंका का समाधान यह है कि उनका जाना भी लोगों को ज्ञात कराने हेतु है नहि तो ये समझते कि इस कल्प में स्त्रियों का पति के सह संबंध स्वैच्छिक है भगवान् तो ज्ञानस्वरूप है उनको छोड़कर चले जाना तो ठीक नहीं था उसके लिये बताते हैं कि ज्ञान से भी भक्ति आवश्यक हैं।

आभास – अब पुरुष मुक्ति का उपसंहार करते हैं

कारिका – **एवं चतुर्भिर्भोगादिभुक्त्यन्तं पुंसि वर्णितम्।।१७६।।**

अर्थ – इस भांति चार अध्यायों में भोग से लेकर मुक्तिपर्यन्त का कथन पुरुष के लिये बताया है।

१७ से २४ अध्याय हिन्दी अनुवाद संपूर्ण।

तृतीय स्कंध

भागवतार्थ प्रकरण

अध्याय २५ से ३३ तक

भागवतार्थ प्रकरण के श्लोकों के अर्थ का स्पष्टीकरण दश दिगंत विजयी गो० वर्य श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने **'प्रकाश'** द्वारा किया है। जिसका और आभास का यहां पर केवल हिन्दी अर्थ ही दिया जा रहा है।

कारिका – **वैराग्यादिः स्त्रियाः प्रोक्ता मुक्ति र्नवभिरुत्तमा।।१७६ १/२।।**

अर्थ – नव अध्यायों से स्त्रियों के हेतु वैराग्यादि और उत्तममुक्ति बताई है। इसके आगे एक अध्याय द्वारा स्त्री की मुक्ति करनी चाहिये वह नहीं बताकर नवअध्यायों से क्यों बताया उसका समाधान करते हैं कि स्त्री के लिये वैराग्यादि मुख्य रूप बताना चाहिये, उनको एक अध्याय द्वारा नहीं कहा जा सकता इसलिये नव अध्याय में वर्णन किया है। स्त्री की मुक्ति क्या पुरुष द्वारा होगी उसके संबंध में बताया है कि उत्तमास्त्री, मुक्ति के साधन प्रकारों से श्रेष्ठ है।

आभास – कपिल देवजी ने उपनिषद् संबंधी ज्ञानोपदेश नहीं देकर सांख्य ज्ञान का उपदेश क्यों दिया इसके संबंध में बताते हैं–

कारिका – **यदौपनिषदं ज्ञानं श्रीभागवतमेव वा।**
वर्णिनामेवतद्धि स्यात्स्त्रीशूद्राणां ततोऽन्यथा।।१७८।।

अर्थ – उपनिषद् ज्ञान या भागवत का ज्ञान त्रैवर्णिको के लिये ही है। इसी कारण से स्त्री एवं शूद्रों के लिये उससे पृथक् ज्ञानोपदेश दिया गया है।

प्रकाश – गार्गी एवं मैत्रेयी आदि स्त्रियों को तो पति के साथ यज्ञ संबंध एवं वेद संबंध था इस कारण से उनको विशेष ही ज्ञान था अर्थात् मैत्रेयी आदि का यज्ञ संबंध था तथा गार्गी आदि का वेद संबंध था। पूर्व युग में स्त्रियों का भी उपनयन (जनेऊ) होता था ऐसा धर्मशास्त्रों से बताया है। कर्दमजी का देवहूति के साथ न यज्ञ संबंध था न ही वेद संबंध। इस कारण से उपनिषद् विषयक ज्ञान नहीं दिया। यदि स्त्रियों का वेदसंबंध होता तब फिर **''स्त्री शूद्रद्विज बन्धूनां त्रयीन श्रुतिगोचरा''** में स्त्री का ग्रहण निरर्थक हो जाता भागवत ज्ञान भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिये ही है क्यों कि उसमें उपासना मुख्य है। भगवान् ने जो ब्रह्माजी के लिये बताया वह त्रैवर्णिकों के ही लिये है।

कारिका – **विदुरस्याऽधिकारोऽत्र प्राधान्याद्बीजरूपयोः।**
अतः सांख्यप्रकारेण तस्यै ज्ञानमुदीर्यते।।१७९।।

अर्थ – बीज (ब्राह्मण) तथा रूप (क्षत्रिय) का मुख्यता से विदुर का यहां सांख्य में अधिकार है इस कारण सांख्य के प्रकार से ही स्त्री के लिये ज्ञान बताया गया है।

प्रकाश – मुख्य प्रकरण वाले यहां पर विदुरजी हैं उनके अनुगुण सांख्य ज्ञान है अतिशूद्र का तो सांख्य में भी अधिकार नहीं है। उसके लिये बताया है कि **''प्रधान्या द्वीजरूपयोः''** विदुर व्यासजी के द्वारा पैदा हुए थे। इसलिये बीज ब्राह्मण का था तथा रूप क्षत्रिय का था।

आभास – प्रमेयबल का सहारा लेकर उत्तर देते हैं।

कारिका – **यथाकथंचिदात्मा हि ज्ञायतां साधने दृढे।**
ज्ञाने वा भक्तियोगे वा फलं भवति सर्वथा।।१८०।।
अतोऽत्र त्रितयं प्रोक्तं योगेनैषा परं गता।।१८० १/२।।

अर्थ – यथा कथंचित् आत्मा का ही ज्ञान करना है तो दृढ साधन के होने पर ज्ञान के या भक्ति भोगों के होने पर फल प्राप्त होते है। इसी कारण यहां पर सांख्य योग एवं भक्ति मार्ग ये तीन बताये हैं। उनमें यह देवहूति योग द्वारा परम गति को प्राप्त हुई।

प्रकाश – सांख्य योग तथा भक्तिमार्ग इन तीन का उपदेश किया है। उनमें से यह देवहूति भोग के परम पद को प्राप्त हुई। इस कारण त्याग के बिना भी कोई दोष नहीं है। भगवान् के स्वधाम गमन पर भी कोई दोष नहीं है।

आभास – देवहूति **''निर्विण्णातितराम्''** इत्यादि वाक्य क्यों कहती है तथा किसलिये कहती है?

कारिका – **गुरुपसत्त्या निर्विण्णो हेयांशं ज्ञापयेद् गुरौ।।१८१।।**
श्रद्धाभक्तियुतस्तस्मै तत्त्वं वाच्यं न चाऽन्यथा।
भर्तुश्च ब्रह्मणो वाक्याद्भगवत्त्वं तु तस्य हि।।१८२।।
सांख्यप्रणेतृतां चैव ज्ञातवत्याऽऽह तादृशम्।।१८२ १/२।।

अर्थ – निर्वेद को प्राप्त गुरु के समीप जाता है तथा **'हेयांश'** उन्हें ज्ञापित करता है गुरु में जिसकी श्रद्धा एवं भक्ति होती है गुरु उसी को तत्वोपदेश देता है अन्यथा नहीं करता है। अपने पतिदेव कर्दम जी के कथन से कपिलदेवजी को भगवान् जानती थी तथा सांख्य शास्त्र को बनाने वाला भी जानती थी इसी कारण उसने **''निर्विण्णातितराम्''** ऐसा वचन कहा।

प्रकाश – वहां पहले में प्रकार बताया जाता है ऐसा बताने में कारण तो ब्रह्मा जी का वचन और कर्ता का वचन है, क्यों कि उनका भगवत्व निश्चित है। इसलिये भगवान् के संबंध में ऐसा कहना अद्भुत नहीं है।

आभास – सामान्यरूप से पति देव ने सांख्य के प्रकार का वर्णन किया था अतः प्रकार का कथन है।

कारिका - देहादिष्वात्मविज्ञानान्मोहस्तेनेह संसृतिः।।१८३।।

मोहाभावः सांख्ययोगस्तद्धेतुस्तेन याचितौ ।।१८३ १/२।।

अर्थ – देहादि को आत्मा मानने से मोह पैदा होता है तथा मोह के कारण ही संसार होता है। मोह का अभाव सांख्य योग से होता है इसलिये देवहूति ने प्रकृति एवं पुरुष बोध प्राप्त किया।

प्रकाश – संसार ही मोह है तथा उसका अभाव सांख्य से होता है। सांख्य को वर्णन करने में कारण है कपिल देवजी, इसीलिये उनके द्वारा प्रकृति तथा पुरुष को जाना।

आभास – देवहूति ने जब प्रकृति पुरुष के विवेक के लिये प्रार्थना की तो कपिल देवजी ने योगादि का वर्णन किया यह तो ठीक नहीं है। इस शंका हेतु वे साधन सहित योग का उपदेश देते हैं-

कारिका - शाब्दं सांख्यं नोपयोगि सहकारि तु चेतसः ।।१८४।।

ज्ञानशंकानिवृत्तिश्च मनसः सहकारिणी।

अतो हि यादृशं चेतः साक्षात्कारे प्रयोजकम्।।१८५।।

तादृशं साधनैः साध्यमित्याह गुरुरादृतः।

अतो दोषनिवृत्यर्थं योगः प्रथममुच्यते।।१८६।।

निर्दुष्टमेव रमते समता लिंगमस्य हि।।१८६।।

अर्थ – शाब्द सांख्य केवल उपयोगी नहीं है परन्तु वह चित्त का सहकारी है ज्ञान के संबंध में शंका की निवृति भी मन की सहकारिणी है। इसलिये जिस भांति चित्त साक्षात्कार में प्रयोजक होता है वह उस प्रकार का चित्त साधनों द्वारा साध्य है। यह बात गुरु बताते हैं। अतः दोष की निवृत्ति हेतु योग प्रथम बताया जाता है। निर्दोष होने की पहचान है समता।

प्रकाश – दोषों का निवर्त्तक होने के कारण योग ही सबसे विशेष है। जब तक दोषों की निवृत्ति नहीं हो तब तक योग की कर्त्तव्यता कही गई है। दोषों की निवृत्ति की पहचान तो समता है।

आभास – केवल मात्र योग से भी कार्य सिद्ध नहीं होता है उसके लिये भक्ति को बताते हैं-

कारिका - शुष्कयोगे नैव शक्यं स्वनिर्वाहोऽपि दुर्लभः।।१८७।।

अतो भक्तिर्भगवति विना सद्भिर्न सा क्वचित्।।१८७ १/२।।

अर्थ – भक्ति के अभाव मे केवल योग चित्त का शोधन करने में असमर्थ है तथा भक्ति के अभाव में योग अपना मोह भी नहीं कर सकता है। इसलिये भगवान् में भक्ति चाहिये, किन्तु वह भक्ति संतो के बिना नहीं हो सकती है।

प्रकाश – भक्ति बिना योग चित्त का शोधक नहीं हो सकता है। शक्ति के बिना उसका निर्वाह भी संदेहास्पद है। कहने का तात्पर्य यह है कि भक्ति के अभाव में योग की सिद्धि नहीं होती है। भगवान् में ही भक्ति होनी चाहिये। भक्ति वह सर्वसाधिका है। वह भक्ति भी अपने आप पैदा हो या दूसरे दर्शन से पैदा हो किन्तु वह भक्ति पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली नहीं हो सकती है। इसी कारण से यहां **''बिना सद्भिर्न सा क्वचित्''** बताया है नये नये संशयों का निवारण संत जनों से ही हो सकता है। दूसरे से नहीं।

कारिका – सन्तश्च लक्षणैरेव संगश्च हरिवाचकः।।१८८।।
अतो विलोमविधिना साक्षात्कारः फलिष्यति।। १८८ १/२।।

अर्थ – लक्षणों से संत जनों की पहचान करनी चाहिये। उनका साथ भी केवल भगवत्कथा के लिये होना चाहिये। इसलिये विलोम (विपरीत) प्रकार से भगवत् साक्षात्कार फलित होगा।

प्रकाश – लोक प्रसिद्धि या अपनी रूचि से संत नहीं मानना चाहिये परन्तु लक्षणों द्वारा उन्हें जानना चाहिये। उन सत्पुरुषों का साथ भी भगवत्कथा के लिये होना चाहिये। कथा में या कथा के साधन में हो। इस भांति श्रृंखला रूप से पदार्थों का वर्णन करके अब उस की समाप्ति को **''विलोम विधिना''** से कहते हैं। अर्थात् सत्संग होने पर कथा सुनी जाती है। उसमें कहे हुए प्रकार से योग की सिद्धि होती है। योग की सिद्धि से चित्त में निर्मलता होती है। तब धर्म में रूचि होने से सद्भाव संपन्न होता है उससे भगवत्साक्षात्कार होता है। भगवत्साक्षात्कार में सर्वज्ञता होती है। सर्वज्ञता होने से स्वरूप ज्ञान होता है। इसको विलोम विधि कहा गया है।

आभास – सांख्य में भक्ति का अंगरूप से वर्णन है परन्तु अपने मार्ग में भक्ति तो मुख्य है उस को बताते हैं–

कारिका – भक्त्यैव हि सतां सर्वमित्यर्थादुक्तमित्यवैत् ।।१८९।।
अतो भक्ति च योगं च द्वयं पृच्छति सा पुनः।
श्रद्धया पृष्टमित्याह भक्ति ज्ञानं च तस्य तत्।।१९०।।
प्रतिज्ञातं त्रयं तस्मात्सांख्ये ज्ञानं फलं तथा।।१९० १/२।।

अर्थ – संतों के लिये भक्ति से ही सब होता है। इस प्रकार सामान्य रूप से तर्क द्वारा बता दिया है। देवहूति ने ऐसा समझा। इस कारण से देवहूति भक्ति तथा योग के संबंध में प्रश्न पूछती रही। **''भक्ति ज्ञानं च तस्यतत्''** यह इसलिये बताया है कि उसने प्रश्न श्रद्धापूर्वक किया था। इसलिये भक्ति, सांख्य तथा योग इन तीनों के बताने की प्रतिज्ञा की और सांख्य में ज्ञान का फल है उसका भी वर्णन किया है।

प्रकाश – कपिलदेव जी ने प्रसंग से ही ऐसा बता दिया कि देवहूति ने ऐसा जाना। इस कारण संग के हेतु प्रयत्न नहीं किया। मुख्य प्रश्न का कारण भी यही है। यदि मुझे कहेंगे तो भक्ति योग या केवल योग मेरे लिये कर्तव्य होगा। साधारण रूप से वेद ही पदार्थों का वर्णन करता है। परन्तु दूसरे तो प्रश्नकर्ता के अधिकार के

अनुरूप ही उसका प्रतिपादन है। इसलिये उसने भक्ति का तथा योग का प्रश्न किया। भक्ति का प्रश्न करने से कपिलदेवजी ने हर्षित होकर चार का वर्णन किया।

भक्ति की, आत्मा तथा अनात्मा के विवेक का ज्ञान एवं योग का उनमें आत्मा तथा अनात्मा का विवेक तो अंगरूप है इसलिये **''विदित्वार्थम्''** इस श्लोक में तीन के वर्णन की प्रतिज्ञा की। **'तस्मात् सांख्ये'** सांख्य को कहते हैं तथा भक्ति वितान के साथ योग इस प्रकार से तीन होते हैं आशंका हो सकती है कि जब सांख्य का निर्देश पूर्व में किया गया है तब फिर उस का वर्णन प्रथम नहीं कर भक्ति का निरूपण क्यों किया। उस पर बताते हैं कि **''सांख्यं ज्ञानं फलम्''** सांख्य में ज्ञान की प्रधानता है। अतः ज्ञान के वर्णन की प्रतिज्ञा की है। सांख्य के वर्णन की नहीं। अन्यथा सांख्य की प्रतिज्ञा निरर्थक होगी। साधन के साथ ज्ञान के निरूपण में अधिक बताना पड़ेगा इसलिये भक्ति का वर्णन प्रथम किया है।

आभास - इस प्रकार प्रतिज्ञा को संदिग्ध जानकर उसे चार अध्यायों से स्पष्ट बताते हैं।

कारिका - एवं चतुर्भिर्ध्यायैश्चतुष्टयमुदीर्यते।।१९१।।
भक्तावनधिकारित्वमस्या अर्थादुरीरितम्।
त्रयं तदर्थमेवाऽऽह कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता।।१९२।।

अर्थ - इन चार अध्यायों में भक्ति, सांख्य, ज्ञान तथा योग ये चार का वर्णन है। देवहूति की भक्ति में अधिकार नहीं होने से उसके लिये सांख्यादि तीन का वर्णन है। योग में कृति की आवश्यकता होती है। चार अध्यायों से तात्पर्य तृतीय स्कन्ध के २५-२७ तथा २८ इनमें पहले क्रमश भक्ति, सांख्य, ज्ञान तथा २९ में योग को कहा है।

प्रकाश - पहले अध्याय में भक्ति को बताया है, सांख्य ज्ञान तथा योग आगे बताये गये हैं। यहां पर शंका होती है कि भक्ति के असहाय शूर होने से इन चार के वर्णन की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान **''भक्तावनधिकारित्वम्''** किया है। देवहूतिस्त्री है इसलिये उसका भक्ति में अधिकार नहीं होने सांख्यादिं का कथन देवहूति के लिये नहीं किया गया है। देवहूति स्त्री है उसे संग की प्राप्ति नहीं हो सकती इस कारण **''अथते संप्रक्ष्यामि''** इस अलग क्रम से देवहूति के लिये ही सांख्यादि बताये गये है। उसमें भी सांख्य तथा योग में प्रकार के भेद से देवहूति को कौनसा क्या मार्ग सिद्ध है। इस आकांक्षा पर **''कृतिर्योगे प्रतिष्ठिता''** ऐसा बताया है ज़िस प्रकार भक्तिमार्ग देवहूति के लिये ठीक नहीं है उसी प्रकार योग का भी उपयोग उसके लिये नहीं है। यह तो वर्णन से ही जाना जाता है। इस कारण देवहूति के लिये सांख्य का प्रतिपादन है।

आभास - यहां पर भक्ति के स्वरूप का ही प्रतिपादन नहीं है अपितु समस्त भक्तिमार्ग का वर्णन है।

कारिका - भक्तिमार्गस्य निर्धारस्त्रयोदशभिरीर्यते।
द्वाभ्यां त्रिभिस्तथा चाऽग्रेत्रयमेकैकतस्तथा।।१९३।।
सफले लक्षणे मोक्षेलोकेष्वैहिक वस्तुषु।
हेतौ च संमतौ सर्व निर्धारे क्रमतो मतैः।।१९४।।

अर्थ – इस प्रकार श्लोकों द्वारा भक्ति मार्ग का निर्धार किया गया है दो से, तीन से और आगे दो दो से तीन (अर्थात् तीन दो) पुनः दो एक एक इस तरह से १३ श्लोकों द्वारा सफल लक्षण मोक्ष में लोकों में ऐहिक वस्तुओं में तथा संमति में सबका निर्धार में उस क्रम से माने गये हैं।

प्रकाश – देवानां (२५ अध्याय के ३२ वें श्लोक से) तेरह श्लोकों से पूरा भक्तिमार्ग का वर्णन किया गया है। इन तेरह श्लोकों का अवान्तर विनियोग बताते हैं। यहां पर सात पदार्थों का वर्णन है। भक्ति का स्वरूप उसका फल मोक्ष, लोकों में भय के बिना निर्धारण **''ऐहिक वस्तुषु''** लोकों का यह विशेषण है ज्ञान के संबंध में यह विशेषण नहीं है। हेतु महत् पुरुषों की संमति तथा निर्धार। उनके श्लोकों का भेद कहते हैं। दो श्लोकों के द्वारा भक्ति के स्वरूप का वर्णन है। **''नैकात्मताम्''** इत्यादि तीन श्लोकों से उस भक्ति का गौण फल कहा गया है। **'अतोविभूतिम्'** इन दो श्लोकों द्वारा सालोक्य लक्षण मोक्ष वर्णन है और **''चाग्रे''** इसमें **'द्वाभ्यां'** ऐसा मिलाने से फिर दो श्लोकों से मोक्ष का निर्धार इस भांति मोक्ष में सर्वभाव से भजन और वैराग्य इस प्रकार दो विभाग हो गये। उस भांति होने से दो श्लोकों द्वारा प्रत्येक तीन सिद्ध होते हैं। **''अग्रिमाणैक एकैकत''** इस प्रकार के कथन से एक एक से प्रतिपादन है। इस प्रकार सात अथवा आठ अर्थ प्रतिपादित होते हैं। इस भांति मुक्ति के संगभक्ति मार्ग का प्रतिपादन है।

आभास – भक्ति में देवहूति जी का अधिकार नहीं है इसको बताते हैं–

कारिका - संगाभावान्मुमुक्षुत्वात्त्यागाशक्तरशक्तितः।
अयुक्ता मुख्यभक्तौ हि तेनार्थान्तरमुच्यते।।१९५।।

अर्थ – स्त्री होने के कारण संग का अभाव था एवं देवहूति जी को मोक्ष की कामना थी। त्याग की शक्ति नहीं होने कारण तथा शक्ति अभाव के कारण प्रधानभक्ति में वह उपयुक्त नहीं थी इसलिये उनके लिये सांख्यादि बताये गये हैं।

प्रकाश – संग के बिना एवं मोक्ष की कामना होना ये भक्ति में रूकावट होने से स्त्रियों का त्याग किया जाता है। वैराग्य भी देवहूति जी में संभव नहीं है। क्योंकि देव हूतिजी स्त्री थी इस कारण प्रधान भक्ति में वह योग्य नहीं थी अतः सांख्यादि का वर्णन है।

आभास – सांख्य वर्णन के प्रस्ताव में ज्ञान के वर्णन की भी प्रतिज्ञा करते हैं अर्थात् सांख्य के संग ज्ञान का भी प्रतिपादन किया जाता।

कारिका - **द्वयं तत्र प्रतिज्ञातं हेतुः षड्भिर्द्वितीयके।**
सर्वभिन्नतया ज्ञानं खण्डं स्त्रीणां तदेव हि।।१९६।।
वेदानधिकृतनां च सांख्यं तस्मान्निरूप्यते।।१९६ १/२।।

अर्थ - सांख्य तथा ज्ञान इन दोनों के वर्णन की प्रतिज्ञा की है अन्य (ज्ञान) के लिये ६ श्लोकों से कारण कहा है। सर्व से पृथक् रूप से खंड ज्ञान का वर्णन है। स्त्रियों के लिये यही ज्ञान ठीक है। जो वेद के अधिकारी नहीं है उनके लिये सांख्य है इसलिये सांख्य का प्रतिपादन है।

प्रकाश - **''अथ् ते संप्रवक्ष्यामि''** इससे और ज्ञान **'निःश्रेयसार्थाय'** इन दो श्लोकों द्वारा सांख्य एवं ज्ञान के वर्णन की प्रतिज्ञा है। ज्ञान के लिये दो अध्याय है। उसका छः श्लोकों में वर्णन है। इससे 'अनादिरात्मा' आदि की असंगति का निराकरण किया गया है। यहां पर शंका होती है कि सब ब्रह्म है ऐसा ही ज्ञान जानने योग्य है। संघात से विलक्षण फिर आत्मज्ञान की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान सर्वभिन्नतया से देते हैं। यह खंड ज्ञान स्त्रियों के हेतु है। क्योंकि प्रधान (मुख्य) ज्ञान में स्त्रियों का अधिकार नहीं है। यह पूर्व में कहा जा चुका है। वेद में उनका अधिकार नहीं है। इस कारण वे मुख्यज्ञान की अधिकारिणी नहीं है। अध्याय के समर्थन द्वारा सांख्य का निरूपण है। वास्तव में देखा जाय तो भेद में अध्यास होता है। अतः **'सांख्यं'** **'तस्मान्निरूप्यते'** ऐसा बताया है।

आभास - वहां पर जो बताया है उसको कहते हैं-

कारिका - **उत्पत्त्या चोपपत्त्या च सर्वभेदो निरूपितः।।१९७।।**
तदर्थमेव संप्रश्नो भेदात्संसारभिन्नता।।१९७ १/२।।

अर्थ - उत्पत्ति तथा मुक्ति इन दोनों से ही सर्व भेद का वर्णन है। उसी के हेतु प्रश्न है और भेद से संसार की भिन्नता है।

प्रकाश - ज्ञान के लिये सांख्य का वर्णन है इसमें **''तदर्थमेव संप्रश्नः''** यह हेतु कहा है। भेदज्ञान बाधक होगा। ऐसा समझकर समाधान के हेतु **'भेदात्संसार भिन्नता'** ऐसा पद दिया है। अनर्थ रूप संसार से स्वयं पृथक् है इस रूप से जो ज्ञान है वह विशेष ज्ञान में जो अधिकारी है उनमें बाधक नहीं है।

आभास - **'प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषः'** इस अध्याय की २७वीं कारिका से तात्पर्य बताते हैं।

कारिका - **साधनान्युपपत्तिश्च स्वरूपार्थं तथोच्यते।।१९८।।**
अष्टांगश्च तथा योगः कर्त्तव्यत्वाच्च विस्तृतः।।१९८ १/२।।

अर्थ - स्वरूप हेतु साधन तथा युक्ति (उपपत्ति) बताई जाती है। अष्टांग योग कर्त्तव्य रूप होने से उस का विस्तार किया जाता है।

प्रकाश – उपपत्ति प्रथम कही है तथा **'यमादिभिः'** इससे साधन कहे हैं। विचार भी साधन है ये 'च' का अर्थ है। इससे **'पुरुष प्रकृति ब्रह्मन्'** आदि पैदा होते है। **'योगस्यलक्षणम्'** इसके द्वारा अध्याय का तात्पर्य बताया है। अष्टांग योग उसके लिये कर्त्तव्य है। इस कारण उसका निरूपण विस्तार से किया है।

आभास – देवहूति के लिये योग कर्तव्य है उसका निरूपण विस्तृत रूप से कर दिया है तब फिर वैराग्य भक्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं हो सकता है। इस तरह की आशंका का समाधान कहते हैं–

कारिका – **वैराग्यभक्त्योः संप्रश्नः साधनत्वाद्विशेषतः।।१९९।।**
तत्त्वैर्द्वितीयनिर्धारो दशभिः कारणं परे।।१९९ १/२।।

अर्थ – योग का मुख्य अर्थ, रूप से साधन वैराग्य तथा भक्ति है इसलिये वैराग्य तथा भक्ति का प्रश्न किया।

प्रकाश – वैराग्य तथा भक्ति के अभाव में योग की सिद्धि नहीं होती है अतः भक्ति का जिस अध्याय में निरूपण है। उस अध्याय में डर का हेतु जो काल है उसके माहाम्त्य का वर्णन है और भक्ति से भी माहात्म्य अंग है। इसका ज्ञान करने के लिये उसका वर्णन है। उसमें भक्ति योगाश्रय यहां तक साढे अठ्ठाईस कारिकाओं में भक्ति के माहात्म्य का वर्णन है।

आभास – वैराग्य का वर्णन दो अध्यायों से बताया गया है।

कारिका – **मृत्युजन्मविभेदेन दोषो वैराग्यबोधकः।।२००।।**
तेनाऽध्यायद्वयं प्रोक्तं यच्छ्रुत्वाऽभयमाप्नुयात्।।२००.५।।

अर्थ – मृत्यु तथा जन्म के भेद में जो दोष है वह वैराग्य को जताने वाला है। इस कारण से उसके दो अध्यायों में बताया है जिसका श्रवण कर अभयता को प्राप्त हो जाता है।

प्रकाश – भय के कारण वैराग्य पैदा होता है। दो अध्यायों में पहले अध्याय मे मृत्यु का वर्णन किया है। वह मृत्यु जब तक जन्म रहेगा तब तक होती रहेगी। मृत्यु के पीछे भी फिर यहां मृत्यु लोक में आ जाता है ऐसा बताया है।

आभास – **गर्भ स्तुति का उपयोग बताते हैं–**

कारिका – **संगत्यागं विना ज्ञानं नोपयोगाय कल्पते।।२०१।।**
इति दर्शयितुं स्तोत्रं यतः सर्वोपि तादृशः।। २०१ १/२।।

अर्थ – संग छोड़े बिना ज्ञान का उपयोग नहीं होता है। इसको बताने के लिये गर्भ स्तुति है। कारण यह है कि गर्भ में ज्ञान होता है।

प्रकाश – सभी को गर्भ में ज्ञान होता है न हि तो उसके लिये संसार का वर्णन युक्ति युक्त नहीं हो सकता है। इस कारण वैराग्य प्रकरण में ज्ञान अनुपयुक्त है। ऐसा वर्णन किया।

आभास – दो अध्यायों द्वारा जो सिद्ध हुआ उसको बताते हैं–

कारिका - **तस्मात्सर्वपरित्यागाद् भ्रमणं साधनं महत्।।२०२।।**

एवं त्रिभिर्द्वयं प्रोक्त सर्वनिर्धारकं परम्।।२०२ १/२।।

अर्थ - सर्व का परित्याग इसीलिये करके घूमना यही श्रेष्ठ साधन है। इस भांति जन्म-मृत्यु तथा स्तुति इन तीन और वैराग्य एवं घूमना इन दो साधनों का वर्णन है फिर सभी का निर्धारण एक अध्याय में है।

प्रकाश - **"अथयो गृहमेधीयान्"** इस अध्याय का अर्थ **"सर्वनिर्धारकं परम्"** इससे बताया है। इस अध्याय में राजस, सात्विक तथा तामसो का निर्धार एवं वर्णन है। सात्विकों के वर्णन में ब्रह्मादि का भी वर्णन है। **'येत्विहाऽऽलसमनसः'** से तामसों का तथा तस्मात्व इससे निर्गुणावस्था का वर्णन है। इस भांति सभी का निर्धारण विस्तृत रूप से एक ही अध्याय मे बताया गया है। संक्षेप में वर्णन करने के लिये ही यह आखिरी अध्याय का तात्पर्य है।

आभास - **'नैतत्खलाय"** आदि श्लोकों द्वारा इस प्रकरण में क्या उपयोग है उसको बताते हैं।

कारिका - **भविता सर्वथैवैतत्संवादस्य निबन्धनम्। २०३।।**

गुणदोषास्त्वतस्तस्य विविच्यन्ते ह्यनेकधा।।२०२ १/२।।

अर्थ - सब तरह से इस संवाद का वर्णन होगा। उसमें गुण तथा दोष होंगे जिनका अनेक भांति से विवेचन है।

प्रकाश - इस संवाद का वर्णन व्यासादि के द्वारा भागवतादि में अवश्य होगा ही अतः गुणों का तथा दोषों का निरूपण है। भले ही प्राकृत में उस का उपयोग नहीं है। तब भी संगति का अभाव दोष जनक नहीं है।

आभास - अब आठ अध्यायों के अर्थ उपसंहार करते हैं

कारिका - **एवं व्यास प्रकारेणतत्त्वमुक्तं विभागशः।।२०४।।**

समासेन तथैकस्मिन् सफलं पूरणं तथा।।२०४.५।।

अर्थ - इस भांति विस्तार के प्रकार से पृथक् पृथक् तत्व को बताया और एक अध्याय को थोड़े में पूरा किया जिससे जल्दी फल सिद्ध हो।

प्रकाश - विस्तार प्रकार से सभी वस्तुओं के निर्धार हेतु तत्व बताया तथा सहज में जान सके इसके लिये एक अध्याय में इसे सूक्ष्म रूप से बताया। साररूप में जो वर्णन है वह निष्फल नहीं है ऐसी शंका करके बताया कि सफल उसमें सब निचोड (सार) है इसलिये जल्दी ही उसमें फलसिद्धि होती है।

आभास - अवान्तर अध्यायों का तात्पर्य बताते हैं-

कारिका - **गुरुप्रसादसिद्ध्यर्थं स्तोत्रं वागेव स स्मृतः।।२०५।।**

प्रतिपत्तिमकृत्वा चेल्लीना को वेद किं भवेत्।

इत्यब्धारणया देहं जलं चक्रे महामतिः।।२०६।।

अवतार चरित्रत्वा छूवणे फल मुच्यते।।२०६ १/२।।

अर्थ – गुरु की प्रसन्नता हेतु स्तुति की क्यों कि कपिलदेवजी वाणी रूप हैं। इस कारण वे स्तुति से ही प्रसन्न होते हैं। देह का संस्कार नहीं करके वह लीन हो जाती है तो कौन जानता है कि क्या होता अतः जल की धारणा से उस महाबुद्धि मति ने अपने शरीर को जल कर दिया। यह अवतार चरित्र है इस कारण इसका श्रवण करने का फल बताया है।

प्रकाश – देवहूतिजी ने स्तुति की थी। स्तुति से ही उनके प्रसन्न होने में तो कारण यह है कि कपिलदेवजी ने ज्ञान कला द्वारा अवतार लिया इस कारण वे सरस्वती रूप थे। तथा सरस्वती वाणी रूप है। देवहूतिजी ने स्वयं के शरीर का संस्कार उस भांति क्यों किया उस का समाधान यह है कि देह संस्कार नहीं कर लीन होने पर न जाने क्या होता। स्वयं तो स्त्री थी तथा गुरु सरस्वती रूप थे। अतः तिर्य्यगति समुद्र गामिनी होने पर भी जल धारणा ही की। अग्निभाव होने पर भी गुरु के पास (सान्निध्य) से उर्ध्वगति हो जाती इसको जानकर ही उसने वैसा ही किया अर्थात् अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है इसको वह जानती थी। इस कारण जलरूप हो गयी इस सब को वह जानती थी क्योंकि वह अत्यन्त बुद्धिमति थी। इस कथा के श्रवण से भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति होती है। यह इसके फल का निरूपण किया है।

श्रीमद्‌भागवतमहापुराण

भागवतार्थ प्रकरण

चतुर्थ स्कन्ध

यहां से संस्कृत में प्रकाश एवं आभास नहीं देकर केवल हिन्दी अनुवाद ही दिया जा रहा है।

आभास – लौकिक विसर्ग का निरूपण आरंभ करते हुए उसकी अनुचितता की आशंका से सर्ग कथन भी इसी भांति करके अब यहां पहले के द्वितीय स्कन्ध में जो बताया है उसका अनुवाद करते हैं।

कारिका – एवं सर्गस्तृतीये तु सफलः सुनिरूपितः।

अथैकत्रिंशताध्यायैर्विसर्गस्तुर्य उच्चते।।१।।

अर्थ – इस भांति तृतीय स्कंध में फल सहित सर्ग का निरूपण किया। अब इसके पश्चात् इकतीस अध्यायों से चतुर्थ स्कन्ध में विसर्ग बताया जा रहा है।

प्रकाश – इससे यह स्पष्ट है कि सर्व लीलाएं क्रमबद्ध होते हुए भी प्रत्येक सफल है। इसलिये एक देश में अथवा समुदाय में सभी स्थान पर फल की सिद्धि है यह मालुम हुआ। देवतारूप विशिष्ट सर्ग को ही विसर्ग बताया गया है। ये देवता वसु, रुद्र, आदित्य रूप भगवान् की लीला में विपरीतता होने के कारण वसुओं का

वर्णन अन्त में कहा है। रूद्रों का बीच में है तथा आदित्यों का वर्णन आखिरी में है। इस कारण से चौथे स्कंध में इकतीस अध्याय है।

आभास – विसर्ग लक्षण बताते हैं।

कारिका – **सर्वयुक्तरजोभाजो लीला कार्यस्य जन्मदा।**
विसर्गो लौकिको ह्यत्र कार्यं बुद्धया चतुर्विधम्।।२।।

अर्थ – सर्वजीवों से युक्त रजोगुणी लीला कार्य का उत्पन्न करने वाली है। विसर्ग लौकिक है तथा कार्य बुद्धि से चार तरह का है।

प्रकाश – सर्व जीवों से युक्त जो रजोगुण है जो क्रिया शक्ति रूप है उससे पैदा होने वाली सृष्टियां सभी सामर्थ्य से युक्त होंगी। इस कारण उसमें विशिष्टता है। कारिका मे कार्य पद मुक्त जीवों के उद्देश्य से दिया गया है। जहां पैदा हुए मुक्त जीव स्वयं ही सामर्थ्य को प्रकट करके मुक्त हो जायेंगे। इस कारण विसर्ग अलौकिक है। इस भांति स्कन्धार्थ का वर्णन करके अब **"कार्य बुद्धया चतुर्विधम्"** से प्रकरण भेद का आशय स्पष्ट करते हैं। भगवान् के सामर्थ्य की यद्यपि कोई सीमा नहीं है। तथापि सद् बुद्धि से धर्म अर्थ काम एवं मोक्ष ये चार ही साध्य हैं। इसलिये कार्य को चार तरह का बताया गया है।

आभास – विसर्ग का लक्षण जैसा बताया है उस प्रकार का भागवत में नहीं कहा है। इस शंका पर बताते हैं।

कारिका – **पौरूषस्त्वयमेवोक्तो माहात्म्यं सर्वथा यतः।**
वंश प्रसंगासिद्धयर्थं लौकिकानुग्रहादपि।।३।।
साधारणो न वै वाच्यः सारोद्धारत्वतोऽस्य हि।

अर्थ – विसर्ग को ही पौरूष सर्ग बताया है क्योंकि उसका माहात्म्य सभी तरह से उसी से है। प्रसंग की सिद्धि हेतु वंश का निरूपण है। वह निरूपण लौकिकों के लिये भी है। जब इसके वर्णन को सार के उद्धार के रूप में कहा गया है। तो उसका निरूपण साधारण रूप से नहीं होना चाहिये।

प्रकाश – विसर्ग को पौरूष बताया गया है। यहां विसर्ग का लक्षण है। यहां पौरूष पद का आशय पुरुष नहीं जानना क्योंकि पुरुष से ब्रह्मादि की उत्पत्ति नहीं कही है। परन्तु सब तरह से माहात्म्य का बोध जिससे होता है वह विसर्ग पुरुषाकार रूप है। जब ऐसी बात है तो उसका (विसर्ग का) आरंभ वंश से क्यों किया गया है? इसका समाधान यह है कि वंश का वर्णन प्रसंग टूट नहीं जाये इसके वास्ते है। क्योंकि बिना प्रसंग के बतायी गई लीलाओं का ज्ञान नहीं हो सकता है अतः प्रसंग का बताना जरुरी है तथा जो कथा श्रवण करने वाले लौकिक हैं उनके ऊपर भी कृपा करना जरुरी है इसलिये वंश का कथन है। इस भांति स्वयं के द्वारा चाही गई विसर्ग की व्याख्या कर अब जो सामान्य रूप से की गई व्याख्या है उसको निषेध करते हैं। जब भागवत में

यह बताया है कि **''सर्व वेदेति हासानां सारं सारं समुद्धृतम्''** सब वेदों तथा इतिहासों में जो विशेष विशेष बात है उसी का ग्रहण इस भागवत में किया गया है। तब उसका वर्णन सामान्य कैसे हो सकता है?

आभास – अब प्रकरणों द्वारा मुख्य रूप से स्कन्धार्थ बताते हैं

कारिका – **धर्मार्थकाममोक्षाख्यं कार्यं कृष्णांघ्रिसेवया ।।४।।**

सिद्धयेत सर्वजीवानां नाऽन्यथेत्यस्य संभवः।।४ १/२।।

अर्थ – कृष्ण के चरणारविन्द की सेवा से ही जीवों के धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष नामक कार्य पूर्ण होते हैं। दूसरी तरह से नहीं हो सकते हैं। इसको कहने के लिये ही इस चौथे स्कन्ध की आवश्यकता हुई।

आभास – अब मुख्यरूप से विवेचन कर धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष के अधिकारियों का निरूपण करते हैं।

कारिका – **धर्मः सिद्धस्तु दक्षस्य ध्रुवस्याऽर्थस्तथापृथोः।।५।।**

कामः प्रचेतसां मोक्षः सुरुच्यादेर्न सिद्धयति।।५ १/२।।

अर्थ – भगवान् के चरंणाविंद की सेवा से यदि धर्म–अर्थ–काम तथा मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तो दक्ष को धर्म की सिद्धि, ध्रुव को अर्थ की सिद्धि, पृथु को काम की सिद्धि, प्रचेताओं को काम की सिद्धि तथा सुरुचि आदि को मोक्ष की प्राप्ति किस तरह होती।

प्रकाश – काम की सिद्धि पृथु को, पूर्व में दक्ष को भी धर्म की सिद्धि नहीं थी। पीछे भगवान् की साधना से ही धर्म की सिद्धि हुई। सुरुचि आदि को भी पूर्व में अर्थ सिद्धि नहीं थी। इन्द्र को भी पूर्व में काम की सिद्धि नहीं थी। पुरंजन के लिये पूर्व में मोक्ष सिद्ध नहीं था। भगवान् के चरण कमल की सेवा से ही ये चार तरह के पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। अन्यथा नहीं हो सकते। इस बात का यहां पर समर्थन है।

आभास – विसर्ग का तात्पर्य कोई दूसरा नहीं है ऐसी शंका करके उसका समाधान बताते है।

कारिका – **विसर्गः पौरूषो वाच्यः पुरुषार्थः स नेतरः।।६।।**

तत्कर्तारोऽथवा वाच्या विशिष्टत्वं तदेव हि।।६ १/२।।

अर्थ – विसर्ग को पौरूष ही कहना चाहिये। वह विसर्ग पुरुषार्थ ही है दूसरा नहीं है। अथवा पुरुषार्थ को करने वालों को कहना चाहिये तभी उसमें विशेषता होती है।

आभास – मतान्तर की शंका करके उसका समाधान करते हैं–

कारिका – **स्त्रीबालयुववृद्धानां प्रक्रियेति मतिर्वृथा।।७।।**

स्त्रिया न कापि संसिद्धिस्तत्वं नाऽत्र प्रयोजकम्।

सेन्द्रियत्त्वं न चाऽन्यद्धि भजनागं विवेकिनाम्।।८।।

अर्थ – स्त्री बालक, युवा तथा वृद्ध इनकी प्रक्रिया है ऐसा जानना उपयुक्त नहीं है। स्त्री से किसी प्रकार की संसिद्धि नहीं है तथा तत्व भी यहां प्रयोजक नहीं है। ज्ञानियों के लिये तो इन्द्रियों से युक्त होना ही भजन का अंग माना गया है।

प्रकाश – यहां पर स्त्री से सती का ग्रहण है और बालक से ध्रुव, युवा से पृथु एवं वृद्ध से प्राचीन बर्हि का ग्रहण है। इस भांति स्त्री, पुरुष भेद एवं बालादि अवस्था भेद विसर्ग के लिये बताये गये हैं ऐसा जानना निरर्थक है। जो सर्व भांति से साक्षात् भगवत् कृतकार्य है वह पुरूषार्थ के बिना कैसे हो सकता है। अथवा वेद में निरूपित भगवत्कृत कार्य व्यर्थ किस तरह हो सकता है। अतः स्त्री प्रकरणिता नहीं है। स्वरूप से तो स्त्रीत्व प्रयोजक नहीं हो सकता है। भजन में (ईश्वर चिंतन में) तो इंद्रियों का होना ही प्रयोगक (आवश्यक) है। यदि कोई कहे कि मनुष्यों का ही अधिकार है इस भांति की कल्पंना भी भ्रान्त कल्पना है। वानरों का भी अधिकार देखा गया है।

आभास – यदि इस तरह है तो फिर सती तो स्त्री है उसके प्रसंग को पहले प्रकरण मे क्यों लिया गया है। ऐसी शंका करके बताते हैं–

कारिका – **स्त्रीणामनर्थहेतुत्वं न भार्यापरमेव हि।**
पुत्र्या मातुस्तथाऽन्यस्या देवताया अपि स्फुटम्।।९।।
पुरुषार्थ विरोधित्वकथनाय तथा वचः।।९ १/२।।

अर्थ – स्त्री ही अनर्थ का केवल कारण हो ऐसा नहीं है परन्तु स्त्री मात्र अनर्थ का कारण होती है चाहे वह पुत्री हो या माता हो। यहां तक कि स्त्री चाहे देवता ही क्यों नहीं हो। पुरुषार्थ में स्त्रियां विरोधी होती है। इसी को बताने के लिये सती का प्रसंग बताया गया है।

आभास – पहले प्रकरण में सात अध्याय है वित्तीय में पांच प्रकार दोनों के योग से बारह होते हैं। उनमें प्रथम प्रकरण की सात की संख्या का उद्देश्य बताते हैं।

कारिका – **सप्ततन्तुर्यतो यज्ञो धर्मे सप्त ततः कृता।।१०।।**
धर्मः सिद्धेयेद्धरेरेव नाऽन्यथेति निरूप्यते।
दक्षो मुख्यो यतो धर्मे ततस्तस्य कथा तता।।११।।

अर्थ – यज्ञ सप्त तन्तु है इसी कारण धर्म में सात किये हैं। धर्म प्राप्ति हरि से ही होती है दूसरे से नहीं। अतः उसका वर्णन है। धर्म में प्रधान दक्ष है। इस कारण उसकी कथा का निरूपण विस्तृत है।

प्रकाश – तन्तु शब्द का उपयोग सूत्र (धागा) के अर्थ में तथा संतति के अर्थ में होता है। यज्ञ सूत्रात्मक होने से और संततिरूप होने से तन्तु बतलाया गया है। ज्योतिष्टोम सप्त संस्थ होता है इस कारण यज्ञ को

सप्त तन्तु बतलाया गया है। धर्म प्रकरण में सात अध्याय है। यद्यपि वाजपेय में प्रथम तथा समाप्ति में बृहस्पति सव किया जाता है। परन्तु वह बृहस्पति से वाजपेय के ही अंग होने से गिनती में वाजपेय ही सप्तम होता है। उस वाजपेय के उत्तरांगभूत बृहस्पति सव में विघ्न रूप का वर्णन है। धर्म प्राप्ति उसका प्रयोजन है। वसिष्ठादि के रहते हुए यहां पर दक्ष का वर्णन इस कारण से किया गया है कि दक्ष धर्मरूप में मुख्य है एवं कर्म मार्ग में चतुर (दक्ष) हैं कर्ममार्ग में दक्ष होने के कारण ही उसका दक्ष नाम सार्थक हुआ।

आभास – इस प्रकरण में कहीं कथाओं का उपयोग धर्म में यह बताने के लिये हेतु है उसको कहते हैं।

कारिका – **पीठिका सहितोऽनर्थः प्रसंगः पोषकैर्युतः।**
प्रथमेऽनन्तरे हेतुर्भावित्वज्ञापनाय हि।।१२।।

अर्थ – पीठिका (आरंभ) के सहित अनर्थ का प्रसंग पोषकों के साथ प्रथम अध्याय में एवं होने वाले को बताने वाला कारण द्वितीय अध्याय में प्रतिपादित है।

प्रकाश – विसर्ग स्कंध के प्रथम अध्याय में अनर्थ का हेतु सती का संबंध है इसका वर्णन है। द्वितीय अध्याय में उसी प्रसंग का कार्य अनर्थ का कारण अंकुर की भांति शाप का वर्णन है। जब तक शाप रूप अंकुर उत्पन्न नहीं होता तो बीज से पैदा होने वाला फल भी नहीं होता। इसीलिये आगे होने वाले (भावी) को जानने के लिये शाप हुआ।

आभास – बीज से अंकुर की उत्पत्ति के पीछे दो पत्ते निकलते हैं। इसलिये उन दो पत्तों की उत्पत्ति की उत्पत्ति के सदृश तृतीय अध्याय का आशय है–

कारिका – **तृतीयेऽनर्थसंभूतिः स्वशक्त्या च निवारणम्।**
चतुर्थे पंचमे नाशः षष्ठे पूर्वांगमुत्तरे।।१३।।
सप्तमे यज्ञसंसिद्धिर्विष्णोः स्तोत्रे विनिर्णयः।

अर्थ – तृतीय अध्याय में द्वेष (अनर्थ) की उत्पत्ति हो गयी। उस अनर्थ का निवारण शक्ति के अनुसार किया गया है। चतुर्थ एवं पंचम अध्याय में यज्ञ नष्ट हुआ। षष्ठ अध्याय में सिद्धि के पूर्व अंग का निरूपण है तथा सातवें अध्याय में यज्ञ की सिद्धि का कथन है। उस स्तोत्र में विष्णु की ही सिद्धि होती है इसलिये यज्ञ विष्णुरूप ही है ऐसा निरूपण हुआ।

प्रकाश – अनर्थ के स्थिर रहने के कारण ही अनर्थ रूप वृक्ष की अच्छी प्रकार से उत्पत्ति हो गयी थी। द्वेष नहीं करना चाहिये कारण कि द्वेष अनर्थ का हेतु होता है। अतः स्वयं की शक्ति से स्वबुद्धि से तथा कन्या के द्वारा इसका निवारण कहा गया पुरुषोत्तम जी महाराज ने **"कन्यकया"** के स्थान पर **"कल्पनया"** ऐसा पाठ होगा ऐसा लिखा है। उसी पाठ से अर्थ की संगति उपयुक्त है। चौथे अध्याय में सती का देह त्याग नहीं

परन्तु द्वेष के अनर्थ का हेतु होता है इसमें वह कारण है। अग्नि होत्रादि पंचात्मक रूप है इस पांचवें अध्याय में यज्ञ का विध्वंस कहा है। छठे अध्याय में रूद्र के भाग्य की कल्पना से अनु को प्रसन्न किया है यह सिद्धि पूर्वांग है तथा उस सिद्धि का उत्तररूप सिद्धि है। यज्ञ सप्तनन्द्र बताया गया है। इस कारण सातवें में उसकी सिद्धि है। उस सातवें अध्याय मे जो स्तुति है उसमें विष्णु की ही सिद्धि है। अतः यज्ञ विष्णु का अंश है इसका समर्थन हुआ। इस भांति सात अध्यायों का प्रतिपादन हुआ।

आभास – अब पहले आठ अध्याय में प्रासंगिक अनेक अर्थ हैं उनका धर्म में उपयोग है ऐसा बताने के लिये छः अध्याय है।

कारिका – **षड्भिर्मन्वादिभिर्धर्मः प्रथमे त्वस्य संभवः।।१४।।**
अतः प्रथमषट्कस्य स्वरूपं प्रथमं जगौ।।१४ १/२।।

अर्थ – इसलिये पहले अध्याय में आदि के तीन श्लोकों के आगे छः श्लोकों में उसका निरूपण है। मनु आदि के द्वारा ही धर्म की उत्पत्ति होती है। अब पहले षट्क का स्वरूप प्रथम बताया गया है।

प्रकाश – धर्म का कारण होने से पूर्व में मन्वन्तर का वर्णन किया गया है। मन्वन्तर ही सद्धर्म है **'मन्वन्तराणि सद्धर्मः'** इस प्रकार बताया गया हैं इसका भी कारण कहते हैं कि प्रथम में ही धर्म की उत्पत्ति है। अर्थात् भगवान् का अवतार इन्द्र, मनु, मनुपुत्र देवर्षि इन भेदों से छः तरह के मन्वन्तरों की उत्पत्ति इसी प्रथम अध्याय में है। इस कारण यह पहला अध्याय धर्म का हेतु स्पष्ट रूप से है। इससे काल को यज्ञात्मक धर्म का हेतु कहा गया है।

आभास – इन धर्मों का निर्माण कर्दम जी के जामाताओं के द्वारा हुआ। इस कारण उनका वर्णन है उसे बताते हैं।

कारिका – **येऽग्निमन्तोऽतिसम्पुष्टा ऋत्विजस्ते हि संमताः।**
अतो वंशः पृथक् प्रोक्तः सर्वेषां समनुक्रमात्।।१५ १/२।।

अर्थ – वे कर्दम जी के जामाता बहुंत उत्तम अग्निहोत्री माने गये थे। इस लिये उस सभी का वंश क्रम से पृथक् बताया गया है।

प्रकाश – वे कर्दम जी जामाता धर्मात्मा के ऐसा दिखाने हेतु ही उनके वंश का वर्णन है। धर्माभिमानिनी देवता का वर्णन स्पष्ट ही है।

आभास – इस भांति कथा की संगति को बताकर उसमें जो अनुचितता मालुम पड़ती है उस का निवारण करना भी जरूरी है। अतः उसमें अपेक्षित अर्थ का वर्णन करते हुए रूचि का वर्णन करते है।

कारिका – **पूर्वकल्पे ऋषिः सिद्धः सत्ये चैव व्यवस्थितः।**
रूचिर्ब्रह्मसुतैस्तुल्यस्तेनाऽयं पुत्रिका प्रति।।१६ १/२।।

अर्थ – पूर्व कल्प में ऋषि सिद्ध थे तथा सत्य में उनकी निष्ठा थी। रूचि ब्रह्म पुत्रों के समान ही था इसलिये वह पुत्री का भर्ता हुआ जिस कन्या की संतान कन्या के पिता की होती है उसके पति को पुत्री का पति कहा जाता है।

प्रकाश – दैनन्दिन कल्पों में जिसका वर्णन है उस कल्प से पहले कल्प में रूचि की उत्पत्ति है। प्रलय में वह रूचि सत्य लोक में स्थित था। उसका कोई हेतु नहीं होने से उसका वर्णन तीसरे स्कन्ध में नहीं किया है। यहां उनका कथन उद्देश्य के लिये है। उसमें कोई हीनता नहीं थी। इस कारण उसको ब्रह्म पुत्रों के सदृश कहा गया है। उनके समान कहने से यह मालुम है कि कुछ हीनता उसमें जरूर थी। क्योंकि पुत्री का पति सर्वोत्तम नहीं होता है।

आभास – पहले के कल्प में पैदा होने वालों का विवाह ठीक नहीं था इसे कहते हैं।

कारिका – लक्ष्मीनारायणे भोक्ता यज्ञस्याऽवततार ह।।१७।।
इन्द्राधिकारी जीवानामभावादंशतः पृथक्।
देवानाप्यभावेन स्वांशान् पुत्रांश्चकार ह।।१८।।

अर्थ – यज्ञ के भोक्ता लक्ष्मीनारायण ने अवतार लिया था जीवों के अधिकारी इन्द्र हैं इसलिये अभाव को देखकर अंश से भिन्न अवतार लिया। देवताओं का भी अभाव होने के कारण स्व अंशों को ही पुत्र बनाया।

प्रकाश – यज्ञ के प्रकरण में भोक्ता का वर्णन किया है। यह भी एक दूसरा उद्देश्य था वह मन्वन्तर पांच तरह का ही था। जब की मन्वन्तर छः तरह का होता है उसका कारण यह था कि वहां जीवों का अधिकारी इन्द्र ही था।

आभास – छः तरह के दिखाते हैं

कारिका – यज्ञस्य तु द्विरूपत्वात् षड्विधत्वं भुजिद्वयात्।
क्रियाज्ञानो भयैस्त्रेधा धर्मायावतरिष्यति।।१९।।

अर्थ – यज्ञ के द्विरूप भोग के भेद से तथा यज्ञ के द्विरूप होने से उसमें छः तरह है। उसमें भी क्रिया ज्ञान तथा क्रिया के विभाग से तीन भेद हैं। अवतार धर्म के लिये होगा।

प्रकाश – अंशावतारित्व से तो सर्वभोक्तृत्व है तथा इन्द्रत्व से हवि भोक्तृत्व है इस भांति भोग के प्रकार दो तरह के हैं। इस अध्याय में तीन अवतारों का वर्णन किया गया है। उस प्रकार का उपयोग किस भांति होगा उसको दिखाते हैं। यज्ञ क्रियावतार है। दत्तात्रेय ज्ञान का अवतार है तथा नारायण क्रिया तथा ज्ञान दोनों के ही अवतार हैं। इस भांति धर्म हेतु तीन तरह से अवतार हैं।

आभास – नारायण तथा दत्तात्रेय का ही मन्वन्तर में उपयोग नहीं होता है इस कारण उनकी उपयोगिता दिखाते हैं।

कारिका – नारायणस्तथा दत्तः सर्वसाधारणौ मतौ।
क्रियाशक्त्यवतारस्तु तत्र तत्र भविष्यति।।२०।।

अर्थ – नारायण का और दत्तात्रेय का अवतार तो सभी मन्वन्तरों में सामान्य रूप से है। क्रिया शक्ति के अवतार तो उन मन्वन्तरों में होंगे।

प्रकाश – दूसरे सभी मन्वन्तरों में ज्ञान क्रिया रूप नारायण का अवतार नहीं होता है, क्रिया शक्तिका अवतार तो होता है।

आभास – यहां पर शंका होती है कि धर्म प्रकरण में भगवद् रूप आत्रेय उपाख्यान का क्या उददेश्य है? इस पर बताते हैं–

कारिका – अवश्याकार्यसृष्टिर्हि बन्धोपि न भवेद्यथा।
अतः सर्वत्र सृष्टो हि भगवद्भजनाभिधा।।२१।।

अर्थ – कार्यरूप सृष्टि भी जरूरी है तथा उस सृष्टि से बंधन भी जिस प्रकार नहीं हो इसी कारण से सभी स्थान पर भगवद्भजन का वर्णन है।

आभास – यहां आशंका होती है कि सभी ऋषि तो सर्वज्ञ हैं वे भगवान् के भजन को छोड़कर दूसरे का भजन क्यों करते हैं उस बताते हैं–

कारिका – धर्मप्रकरणत्वाच्च निश्चयो नाऽभवत्पुरा।
अत्रेः सामान्यरूपेण भजनं तेन वर्णितम्।।२२।।

अर्थ – धर्म का प्रकरण होने से कर्म मार्ग में सभी देवता तुल्य थे इसलिये पर ब्रह्म भी देवता ही थे इस कारण यह निश्चय नहीं हो सकता कि किसका भजन करना चाहिये इसलिये अत्रि ऋषि का भजन साधारण रूप से ही था ऐसा निरूपण किया।

कारिका – कर्मणस्त्रिविधत्वाय त्रयाणां संभवाभिधा।
अधिदैवं त्रिधा यस्मात्त्रैविध्ये धर्मकर्मणि।।२३।।

अर्थ – सात्विकादि भेद से कर्म में तीन प्रकार हैं उनके आधिदैव भी तीन हैं इस लिये ब्रह्मा विष्णु तथा शिव तीनों ही की वहां संभावना बताई गयी है।

आभास – इसका उत्तर हरि ने ही दिया है कि तीनों ही ज्ञानरूप हैं उसका हेतु कहते हैं

कारिका – बोधोपि हरिणा पश्चादेवं द्वेषापनुत्तये।
तस्मादन्यतरदद्वेषे नेतरत्कर्म सिद्ध्यति।।२४।।

अर्थ – किसी भी देवता के लिये द्वेष पैदा नहीं हो इसके लिये भगवान् ने उनको बोध कराया इस कारण तीनों में से किसी से द्वेष होगा तो वह कर्म सिद्ध नहीं हो सकेगा।

प्रकाश –दक्ष के प्रति भगवान् का कथन था उसको सातवें स्कन्ध में बताया जायेगा। उसको यहां पर संमति के रूप में बताया है।

आभास – शंका होती है कि भागवत में जिन ऋषियों का निरूपण किया गया है वे सभी सर्वज्ञ थे तब फिर वे दूसरी दूसरी तरह से परस्पर में विरूद्ध अर्थों को क्यों कहते हैं। कर्दमजी केवल विष्णु की सेवा करते है। तथा अत्रि सामान्य रूप से सभी की सेवा करते हैं इस पर बताते हैं–

कारिका – **सर्वेषा ब्रह्मवित्त्वेऽपि यन्निष्ठा यस्य तद्वचः।**
अतो हि भगवांस्तेषु क्रियांशादिभिरूद्गतः।।२५।।

अर्थ – सभी ऋषि ब्रह्मवेत्ता थे किन्तु उनकी जिनमें निष्ठा थी उनने उसी प्रकार वैसा ही कहा। भगवान् उन्हीं में क्रियादि अंशों से प्रकट हुए थे।

प्रकाश – ऋषि सर्वज्ञ थे परन्तु स्वभाव भेद से उनकी इच्छा में भेद था। इस कारण रूचि के अनुसार उनने वैसा ही कहा। यदि यह कहा जाय की रूचि के अनुसार वस्तु में बदलाव किस प्रकार होगा। इस कारण उनमें किसी का वचन मिथ्या भी होगा। इस शंका पर बताते हैं कि भगवान् ने ही उस तरह भिन्न भिन्न रूप बनालिये अतः प्रमेय में ही वैसा है तो उनका वैसा बताना दोष रूप नहीं है।

आभास – आगे नारायण के अवतार में और दत्तात्रेय के चरित्र में युक्ति बताते हैं।

कारिका – **धर्मे समाधिरूत्कृष्टो ज्ञाने साध्यं तपः परम्।**
गुणाभिमानिज्ञानं हि खण्डे तन्मत ईश्वरः।।२६।।

अर्थ – धर्म में समाधि का उत्कर्ष है इस कारण नारायण ने समाधि की तथा ज्ञान में तप ही परम साध्य है इसलिये दतात्रेयजी ने तप किया। इनमें गुणाभिमानी का ज्ञान तो खंड सिद्धान्त में ही है इस कारण उस खण्ड मत में वे ही ईश्वर हैं।

प्रकाश – **'अयंहि परमोधर्मः'** इस वाक्य से नारायण ने अपने पिता धर्म की वृद्धि हेतु समाधि ली। ज्ञान के अवतार दत्तात्रेय हैं इसलिये उन्होंने तप किया। यदि आशंका हो तो दत्तात्रेय भगवान् के अवतार नहीं है वे तो गुणाभिमानी देवता हैं जैसे चन्द्रमा। इसका समाधान करते हैं कि खंड सिद्धान्त में ही विष्णु की गुणाभिमानिता है। विशेष (मुख्य) सिद्धान्त में तो सत्व में होने वाला भी अवतार ही है। जिस प्रकार नरादि अवतार जिस प्रकार मत्स्य आदि का प्रकट होना एवं अभिमानित्व का प्राकट्य फिर भी जीव में भगवान् का अवतार कैसे होता है इस संशय का समाधान करते हैं कि खण्डमत में अर्थात् वैष्णव मत में ईश्वर ही है। इस कारण किसी प्रकार का संशय नहीं है।

आभास – मुख्य सिद्धान्त अंश रूप से अविभक्त विष्णु भगवान् ही है तथा उसमें हेतु है सर्वकृति–

कारिका – **अविभक्तोंशतस्तस्य सर्वकृत्या स्वतः फलम्।**

नांशतोऽभिमतेः पुष्टया कार्यासिद्धेर्विभागशः।।२७।।

अतः सामान्यतो वांछा दोषाभावेपि सिद्धयति।।२७ १/२।।

अर्थ – अविभक्त अंश विष्णु है यह उनकी उत्पत्ति स्थिति प्रलय इन कृतियों से देखा जाता है। फल तो अपने आप होता ही है विभक्त अंश शिव तथा ब्रह्मा जो अपना नियत कार्य ही करते हैं। वे कृपा से किसी प्रकार का कार्य नहीं कर सकते हैं। यदि इस प्रकार नहीं होता तो विभागानुसार मार्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। इस कारण ब्रह्मादि की कामना भी साधारणरूप से पूरी जाती है। उनमें दोष भी नहीं आते।

प्रकाश – जो ईश्वर होता है वही सभी कार्य करता है इसलिये विष्णु ही सभी कार्य करते हैं। पैदा होना तथा नष्ट होना उनसे किसी प्रकार होते हैं। विष्णु से स्थिति होती है। स्थिति में तो सभी करना पड़ता है। वेदों से द्वेष करने वालों का हनन तथा उनके अनुकूल है उनकी उत्पत्ति भी करते हैं। विष्णु यदि केवल अभिमानी ही होते तो पालन ही कर सकते उत्पत्ति तथा प्रलय नहीं कर सकते। परन्तु विष्णु परमेश्वर हैं इसलिये उनके द्वारा सभी कृति है। सब फल होता है जो अंशरूप है उनसे अभिमानी होने से नियम कार्य नहीं होता है। विष्णु अविभक्तांश है इसलिये वे तामसों का पालन करते हैं। ब्रह्मादि के विभक्तांश होने के कारण और भी हैं। ब्रह्मा आदि किसी के ऊपर कृपा करें तब भी अपने नियत कार्य से दूसरा कोई कार्य नहीं करते। यदि इस प्रकार नहीं होता तो विभागानुसार कार्य की प्रवृत्ति नहीं होती। इस कारण ब्रह्मा आदि की कामना भी साधारण रूप से पूरी हो जाती है तथा स्वतः श्रेष्ठ होने से तुल्यत्वादि दोष का भी अभाव होगा। अतः उपर्युक्त ही कथन है कि दत्तात्रेयजी भगवान् के अवतार हैं।

आभास – यहां पर आशंका होती है कि सोम तथा दुर्वासा क्रम से उत्पत्ति तथा संसार रूप धर्म नहीं दिखते हैं तो वे अवतार किस प्रकार कहे जायेंगे? इस आशंका का समाधान करते हैं।

कारिका – **भिन्ना जातास्त एवात्र भेदे कार्यस्य संभवात्।**

अधिकाभिमतित्यागादंशतस्ते हि जज्ञिरे।।२८ १/२।।

अर्थ – सोम तथा दुर्वासा ब्रह्मा एवं शिव से पैदा हुए हैं तथा वे शिव और ब्रह्मरूप ही हैं। फिर भी उनसे सृष्टि कार्य का प्रलय कार्य नहीं होते हैं। परन्तु उनका कार्य (वंश चलाना) भिन्न ही है। अधिक जो अभिमति है उस का त्याग करके केवल अंश से ही वे पैदा हुए हैं इस कारण उनमें गुण का अभिमान नहीं है।

प्रकाश – सोम एवं दुर्वासा यद्यपि ब्रह्मा तथा शिव ही है किन्तु वे अलग तरह से पैदा हुए हैं उनमें कारण यह है कि इस तरह के अवतार में अपना इच्छित कार्य सिद्ध नहीं हो तो उनका कार्य तो वंश की वृद्धि करना है। तथा योग से बचाव करना है एवं तपस्या से अनुग्रह तथा निग्रह करना ऐसा क्यों है? इसका समाधान यह है कि वे अंश से ही पैदा हुए है उनमें अतिगुणाभिमान नहीं है।

आभास – इस भांति धर्म में परंपरा से उपयुक्ता का वर्णन कर दक्ष में साक्षात् धर्म के उपयोग का विचार करते हैं–

कारिका – अत्यन्तं धार्मिको दक्षः पितृदेव व्रतः पुमान्।।२९।।

अभिमानी च तेनाऽस्य कन्याः षोडश ताः स्मृता।।२९ १/२।।

अर्थ – दक्ष अतिधार्मिक तथा पितरों एवं देवों की आराधना करने वाला था। कहने का तात्पर्य यह है कि वह रजोगुण से मिश्रित गृहासक्त था। अभिमानी वह तामस था। इस कारण मनोमय उस दक्ष की सोलह कलाएं थी। पन्द्रह तो सगुण थीं तथा एक इनसे अलग थी।

आभास – धर्म को तेरह कन्या देने का कारण बताते हैं–

कारिका – सर्वेषु धर्मो मासेषु तज्जाता शुद्धिरेवच।।३०।।

त्रयोदश ततः कन्यास्ता धर्माय समर्पिता।।३० १/२।।

अर्थ – धर्म में निमित्त काल ही है तथा वह मास के रूप में होता है उनकी संख्या तेरह हैं। उनमें मासाभिमानी देवता तथा शुद्धि की अभिमानिनी देवता दोनों मिलकर तेरह हैं इसलिये तेरह कन्या दक्ष ने धर्म को समर्पित की थी

आभास – परमसिद्धि सत्व से ही होती है। अतः प्रार्थना के अभाव में (न करने पर) भी शुद्ध सत्व में भगवान् का अवतार हुआ इसे बताते हैं।

कारिका – सत्वमूर्तौ हरेर्जन्म धर्मादाकल्परक्षणे।।३१।।

केवलो धर्ममार्गे हि नाऽत्यन्तमुपयुज्यते।

इति दर्शयितुं रूपद्वयेनाविरभूद्धरिः।।३२।।

अर्थ – भगवान् का प्राकट्य सत्व मूर्ति में होता है तथा कल्प पर्यन्त धर्म से रक्षा करना अवतार का कार्य है। केवल अवतार का धर्म मार्ग में अति उपयोग नहीं है। इस बात को बताने के लिये भगवान् दो रूप से अवतार ग्रहण करते हैं ऐसा बताया है।

प्रकाश – मूर्ति यह एक देश का नाम है जिस प्रकार सत्य आदि का एक देश है। अवतार का उद्देश्य कल्पपर्यन्त रक्षा करने का है। यह विशेष रूप की सृष्टि है। अतः पुष्टि के बिना केवलसृष्टि का धर्म में उपयोग नहीं होता है। इसलिये दोनों को प्रदर्शित करने हेतु दो रूप से भगवान् ने अवतार लिया है।

आभास – स्वयं के ही दोनों रूपों का स्वरूप बताते हैं।

कारिका – सर्वातिरिक्तरूपेण नरः स्वावेशधारकः।

तपोतिरितकार्यं तु पूर्णे कृष्णे न चाऽन्यथा।।३३।।

अर्थ – ब्रह्माण्डात्मक पूर्व पुरुष रूप तथा अतिरिक्त अन्तर्यामी रूप वाला होने से नारायण अवतार है। नर तो केवल नारायण के उस तरह के आवेश को धारण करता है अवतार नहीं है। नर नारायण का अंश होने से केवल तप आदिक ही कर सकते हैं। मुक्तिभक्तिआदि को देने का कार्य तो पूर्ण कृष्ण (नारायण) का ही है। दूसरे का नहीं।

प्रकाश – सर्व कार्य करने वाले होने के कारण नारायण स्वरूप है तथा अनुग्रह (पुष्टि) के कार्य करने वाले होने से पृथक् अवतार हैं। उस भांति के कार्य करने का अधिकार नर में ही होगा। इस शंका के समाधानार्थ कहा है कि नर तो केवल नारायण के अंश मात्र को ही धारण करता है अवतार नहीं है। **''ताविमौवै भागवत''** इस वाक्य द्वारा तो नारायण दोनों का अवतार कहा है। तथा **''कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्''** से कृष्ण को ही भगवान् बताया है। इसका उत्तर यह है पुष्टि मार्ग तथा मर्यादा मार्ग इन दोनों के स्थापन करने हेतु नारायण का अवतार है। किन्तु नारायण में यदि पूर्णता का प्राकट्य नहीं हो तो कार्य की सिद्धि नहीं नहीं होगी अतः पूर्ण कृष्ण में ही नर नारायण ये दोनों अंश प्रविष्ट हो गये।

आभास – स्वाहा तथा स्वधा की उत्पत्ति का समर्थन करते हुए स्वाहा अग्नि को दी उसका कारण बताते हैं–

कारिका – **पितृदेवव्रतत्वाच्च स्वाहान्ये सर्वदेवता।**
तथा चाग्निः पितृणां तु नोपायस्तेन तत्तथा।।३४।।

अर्थ – स्वाहा तथा स्वधा ये क्रमशः देवव्रता तथा पितृ व्रता थी इनकी उत्पत्ति हुई। उनमें स्वाहा सर्व देवता रूप थी। अग्नि भी सर्वदेवता रूप है। अतः स्वाहा अग्नि को दी। पितरतो स्वरूप नहीं है। इस कारण कोई उपाय नहीं होने स्वधा को पितरो के लिये दी।

प्रकाश – 'स्वाहान्ये' में अन्या शब्द से स्वधा का ग्रहण है। ये दोनों पैदा हुई। स्वाहा उनमें स्वाहा को अग्नि को देने का हेतु यह है कि स्वाहा सर्व देवता रूप है तथा अग्नि भी सर्व देवता रूप है। **'अग्निः सर्वादेवता'** ऐसी श्रुति है। इस कारण से स्वाहा अग्नि को दी गयी। पितर एक रूप नहीं है अतः सर्व पितरों के लिये भी उसे दिया गया। तु शब्द से स्वाहा का सर्वपितृ होने से भेद है।

आभास – शिवजी को सति के समर्पण में कारण बताते हैं।

कारिका – **अभिमानांशमादाय दीपकज्जलवत्परा।।**
षोडशी कन्यका जाता ब्रह्मावेत्य विचार्य च।।३५।।
तदधिष्ठातृदेवाय दापयामास सिद्धये।
अभिमानेन संबन्धस्तेन द्वेषः प्रवर्धितः।।३६।।

अर्थ – दक्ष के भीतर हो अहंकार का अंश था उसी को लेकर जिस प्रकार दीपक से काजल पैदा होता है

उसी भांति सोलहवीं कन्या (सती पैदा हुई) ब्रह्मा जी उसके तामस होने के कारण तामस गुण के अधिष्ठाता देवता शिवजी को दिलायी। यह संबंध अहंकार से हुआ था अतः द्वेष बढ गया था।

प्रकाश – यहां पर आशंका होती है कि धर्मी कों त्याग कर केवल धर्म की उत्पत्ति किस भांति हो सकती है? इस पर दृष्टान्त दिया है कि जैसे दीपक से काजल पैदा होता है। दीपक तेजस होने से स्वयं शुद्ध है उससे स्नेह (तेल) के कारण उसका मलरूप का जल उससे पृथक् ही होता है। उसी प्रकार वैदिक कर्म से भी जो वैदिक कर्म सभी वस्तु की यथार्थता को प्रकाशित करता है किन्तु कर्त्ता सदोष होने से उसका दोष भूत तो अहंकार है वह पृथक् ही पैदा हो गया। इस कारण सती अपने नाश तथा शाप के कारण से अपने पिता तथा अपने पति के कारण से अपने पिता तथा पति के मालिन्य का कारण बनी। वह षोडशवी थी। वह आखिरी में पैदा हुई थी। ब्रह्माजी ने उसका ऐसा रूप जानकर अर्थात् उसके तामस होने से तामस के मूल कारण शिव को अर्पित करने से वह स्वकार्य करने में समर्थ होगी। अपने मूलकारण तेल में अर्पित किये की भांति है। अन्य स्थान पर यदि उसको स्थापित की जाती तो अर्थात् सती किसी अन्य को दी जाती तो जिस प्रकार हवा से इधर उधर हिलने वाले दीपक की भांति कालवश से वह सर्वत्र अपना प्रचार कर देगी। अतः ब्रह्माजी ने सोचकर उसके अधिषठाता देवता शिवजी की दिलायी। जिस कारण से उसके स्वरूप की सिद्धि हुई। सात्विक या तामस को देते तो सती के तामस होने के उस शक्ति का स्वरूप नष्ट हो जाता है। अथवा सिद्धि का तात्पर्य स्वमूल में लीन हो जाना भी होता है। शिवजी से द्वेष क्यों हुआ इसका कारण यह था कि यह संबंध अहंकार से हुआ था यहां पर आशंका होती है कि सत्ता के संबंध से द्वेष होना ठीक था अहंकार रूप दक्ष तो पृथक् ही स्थित तथा तब फिर वह द्वेष किस तरह हुआ इस पर बताते हैं कि इस दक्ष का अभिमान संबंध में हेतु था।

कारिका– दुहितुः स्मरणान्नित्यमभिमानो विवर्द्धते।
द्वेषश्च धर्माकरणात्कर्तुश्चाऽदराद्बहिः।।३७।।
उद्बोधविनिवृत्यर्थमदृष्टयै धर्मकर्मणि।
संबंधविनिवृत्त्यर्थं शाप माहाधिदैविके।।३८।।

अर्थ – दक्ष हमेशा वह अपनी लड़की को स्मरण करता रहता था इस कारण से अहंकार बढता रहा। धर्म के नहीं करने से और धर्म को करने वाले दक्ष के अपमान के कारण बाहरद्वेष का उद्बोध होगा वह नहीं हो इसलिये धर्मरूप कर्म में उस रूद्र भाग का दर्शन न हो ऐसे कर्म संबंध के निवारणार्थ आधिदैविक रूप शिव को शाप दे दिया।

प्रकाश – हमेंशा अपनी पुत्री का स्मरण करता रहता था इस कारण से शिवजी से उस दक्ष का द्वेष हो गया था। यहां शंका होती है कि शाप देने में क्या कारण था। उस कारण को कहते हैं शिवजी स्वयं वैदिक धर्म का पालन नहीं करते थे तथा धर्म करने वाले दक्ष का अपमान करते थे। ये दो कारण ऐसे थे जिनसे शिवजी

को शाप दिया था। भीतर द्वेष तो था ही और यदि फिर उन (शिव) को हवि का भाग दिया जायेगा तो उस हवि भाग को देखने का नियम होने से वैसा होने पर उस प्रकार बाहर भी द्वेष का उद्‌बोध हो जायेगा वह नहीं हो इसके लिये धर्म रूप कर्म में वह भाग दिखाई न पड़े ऐसे कर्म के संबंध के निवारण के लिये शाप दे दिया। कहने का तात्पर्य यह है कि शिव का यज्ञ का भाग नहीं दिया जाय ऐसा शाप दे दिया।

आभास – जब स्वामी शिवजी शान्त (चुपचाप) रहे तो नंदी को भी शांत ही रहना चाहिये फिर उसने शाप क्यों दिया इस पर बताते हैं-

कारिका – **धर्मोऽसहिष्णुस्तु नंदिरधिदैवनिराकृतिम्।**
फलहानिमुवाचादौ साधनानामतः परम्।।३९।।

अर्थ – शिवजी ने यह सब कुछ सहन कर लिया परन्तु धर्मरूप नंदी से वह सहा नहीं गया क्योंकि तमोगुण के अधिदेवता शिव का उस दक्ष ने तिरस्कार किया था। इसलिये नंदी ने प्रथम तो यह दक्ष तत्व से विमुख हो जाय इस भांति उसके फल की हानि की तथा उसके पीछे इस के साधनों का भी नाश हो ऐसा शाप दिया।

प्रकाश – कारिका में जो 'तु' शब्द दिया है उस का तात्पर्य यह है कि शिवजी ने सब कुछ सहन कर लिया किन्तु नंदी ने धर्म रूप होने के कारण उससे अपने आधिदैविक शिव का तिरस्कार नहीं सहा गया। अतः शाप दे दिया। तत्वों से विमुख होने का शाप देकर प्रथम तो उसके फल का नाश किया क्यों कि सभी धर्मों का फल तत्वज्ञानी होता है। यदि धर्म से तत्व ज्ञान नहीं होने से भी सत्संग आदि से भी कदाचित् वैराग्य आदि साधन संपत्ति वैराग्य आदि साधन संपत्ति में उसे तत्व ज्ञान हो जायेगा। इस कारण द्वितीय शाप यह दे दिया कि तुझे साधन की प्राप्ति भी नहीं होगी। साधन तो अपने आप पुरुषार्थ रूप नहीं है। इसलिये फल के बिना कहने पर भी काम हो जाता किन्तु फिर भी जो साधन हानि का शाप दिया वह निरर्थक हो जाता इस कारण साधन हानि के शाप से उसे सत्संग भी कभी नहीं मिलेगा।

आभास – यदि इस भांति ही था तो फिर ब्राह्मणों का सर्वनाश क्यों किया-

कारिका – **दैवाभावे धर्महानिरित्येवं सुनिरूपितः।**
संबंधवारकृद्धर्मे तन्नाशासहनो भृगुः।।४०।।
अदृष्टयै धर्मरूपत्वे दर्शनात्क्षोभसंभवः।।४० १/२।।

अर्थ – आधिदैविक के संबंध के अभाव में तो धर्म की हानि हो जायेगी तथा फल का भी अभाव होगा। इस कारण से नंदी के शाप का वर्णन किया। धर्म में संबंध का वरण करने वाले भृगुजी के धर्म का विनाश हो यह सह नहीं सके अतः उनने शाप दिया। यज्ञ में शिव का भाग भी धर्मरूप हो जाता तो उसके देखने पर दुःख पैदा हो जाता।

प्रकाश – नंदी ने खुद ज्यादा कुछ नहीं कहा परन्तु दक्ष शापकृप आधिदैविक के विषय के बिना धर्म की स्वतः ही हीनता हो जायेगी तथा उस धर्म का कोई फल भी नहीं होगा। यह तो नहीं कहने पर भी सिद्ध हो जाता है इस कारण से उसने इसको साफ नहीं कहा। इसलिये सुनिरूपित यह कहा अर्थात् वर्णन तो स्वतः हो गया भृगुजी ने शाप क्यों दिया उसका कारण तो यह था कि वे धर्म की हानि को सह नहीं सकते थे। कारण कि धर्म रूप जो ब्रह्मशरीर है। उसकी चमड़ी भृगुजी रूप है। पहले बाहर के कष्ट का अनुभव त्वचा में होता है। इस कारण से धर्म में उनके विषय में वारण किया। यदि इस प्रकार नहीं करते तो वह शिवभाग भी धर्म माना जाता ।

आभास – पांच श्लोकों द्वारा बताये गये भृगु के आशय का अनुवाद डेढ कारिका से करते हैं।

कारिका – **मुख्येतदप्रवेशश्च तस्याधर्मत्वमेव च।।४१।।**

अधर्मे परिनिष्ठा च तथा कापालिकावधि।

तदुपाधेः स्वधर्मेऽस्मिन्नाधिदैवत्वमेव च ।।४२।।

अर्थ – भवव्रत का विशेष धर्म (वैदिक धर्म) में प्रवेश नहीं होगा। अतः उसको अधर्म ही कहा जायेगा। भव व्रत करने वालों की अधर्म में ही परिनिष्ठा होगी तथा वह अधर्म कापालिकावधि होगा। उसको पाखंड की संज्ञा दी जायेगी। यह वैदिक धर्म ही आधिदैविक धर्म है।

प्रकाश – भव व्रत का वैदिक धर्म में प्रवेश नहीं हो सकता है। 'च' का तात्पर्य है उस व्रत का आचरण करने वालों का प्रवेश भी उसमें नहीं होगा अग्रिम 'च' से यह भी ज्ञात होता है कि वे लोग नरक गामी भी होते हैं। भव व्रत कापालिकावधि है। इस व्रत वाले सुरा तथा आसव का भी उपयोग करते हैं। इस कारण से उन कापालिकों को पाखंडी बताया जाता है। जिस मत से वेद की निन्दा की जाती है वह पाखंडी धर्म कहा जाता है। अथवा उस उपाधि को वे पाखंडी जन स्वमत में वेद को अधर्म का प्रतिपादक मानते हैं। कहने का आशय यह है कि स्वधर्म में वेद आधिदैविक है तथा पाखंड धर्म में वेद की निन्दा को आधिदैविक कहा गया है।

आभास – इस शाप को पहले के शाप से अधिकता है।

कारिका – **एतस्य प्रतिघातस्तु न कदाचिद्भविष्यति।**

शिवद्वेषनिवृत्या तु धर्मः सिद्ध्येदपि क्वचित्।।४३।।

अर्थ – भृगुजी ने शाप दिया था वह ब्रह्मदण्ड रूप था उसका प्रतिघातक भी नहीं होगा। नंदी का शाप शिव से द्वेष करने वालों के लिये ही कदाचित् सिद्ध होगा।

प्रकाश – **'ब्रह्मदंड दुरत्यय है'** इस कथन से वह भृगु का शाप कभी व्यर्थ नहीं हो सकता। इसका आशय यह है कि वेद के अनुसार जो भगवान् का भजन है उसका त्यागकर अन्य मार्ग में कभी नहीं जाना। यहां पर आशंका होती है कि नंदी ने भी धर्म के संबंध में रूकावट की थी तब फिर उसका निस्तार किस भांति होगा।

इसका समाधान इस भांति है कि नंदी ने अपने शाप में यही तो बताया था कि जो शिवजी से द्वेष करेंगे वे ही लोग कर्म के बंधन में फंसे रहेंगे तथा जो शिवजी से द्वेष नहीं करेंगे उनको धर्म की सिद्धि हो जायेगी। परन्तु भृगु जी ने बताया है उससे उल्टे आचरण से तो किसी प्रकार धर्म की सिद्धि की संभावना भी नहीं हो सकती है।

आभास – शिवजी तो पहले ही ज्ञान वाले थे तो फिर वे वैमनस्य युक्त होकर क्यों गये इस शंका पर बताते हैं–

कारिका – द्वैतोत्पत्त्या शिवः किंचिद्विमना न हि पूर्ववत्।
अन्तरायसमुत्पत्त्या भीतास्ते कृष्णसात्कृतम्।।४४।।
सत्रं विधाय तत्तीर्थे स्नाता निर्मलतां ययुः।।४४ १/२।।

अर्थ – द्वैत (पाषंड धर्म) के पैदा होने से शिवजी के चित्त में उद्वेग हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म का प्रचार पूर्व में जैसा था उस प्रकार का नहीं रहेगा। सत्र के भीतर सत्र समाप्त करने वाली बाधा उत्पन्न हो गयी है। उससे भयकर सत्र को कृष्ण के समर्पित कर गंगा–यमुना के संगम में नहाकर निर्मल हो गये उससे अग्रिम धर्म में वह निर्मलता कारक बनाई।

प्रकाश – पाषंड धर्म के पैदा होने से शिव जी का मन खिन्न हो गया किन्तु उससे शिवजी को कुछ हानि नहीं हुई तब फिर किंचित् खिन्न हो गये ऐसा बताया है। यदि शिवजी की कुछ हानि नहीं हुई तब फिर खिन्न होने का क्या कारण है। उस पाखंड धर्म में भी धर्म तो है उस पर बताते है कि नहीं पूर्व में धर्म का प्रचार था वैसा आने वाले समय में नहीं रहेगा। अर्थात् पाखंड का प्राचुर्य रहेगा। काल मर्यादा से यद्यपि उस प्रकार होने में उनको खिन्न नहीं होना चाहिये था। किंतु उदास होने का कारण यह था कि उस पाखंड धर्म की प्रवृत्ति में निमित्त शिवजी हो गये। अतः 'हि' शब्द दिया है। जब नंदी ने शाप दे दिया तो सत्र संपूर्ण कैसे हो गयी। उसका कारण कहते हैं कि सत्र के भीतर ही सत्र को समाप्त करने वाला विघ्न पैदा हो गया। इस कारण से ऋषिजन भयभीत हो गये तथा ऋषि होने के कारण उन्होंने अपने आर्ष ज्ञान से यह जान लिया कि भगवान् हि निर्दोष हैं। इसलिये सत्र की निर्दोषता की सिद्धि हेतु इसे भगवान् को अर्पित कर दिया। सत्र की समाप्ति का यही साधन था। उसको पूर्णकर भगवद् तीर्थ में स्नान किया। गंगा में स्नान करने से तो अलौकिक देह की प्राप्ति तथा पहले के दोष की निवृत्ति होती है क्योंकि गंगा जल सर्वदोषों की निवृत्ति करने वाले भगवान् के चरण रज से युक्त है तथा कालिन्दी (यमुना) पुष्टिमार्गीय है अतः मर्यादा से उस तरह नहीं कर सकती है। परन्तु पुष्टि से वह सबकुछ कर देगी इस धारणा से जहां गंगा तथा यमुना का मिलन था वहां नहाकर निर्मल हो गये जिससे आगे के धर्म में वह निर्मलता कारण बन गई।

आभास – इसके आगे तृतीय अध्याय में विचार करते हुए कर्म जनित अभिमान रूप सती संबंध प्रयुक्त द्वेष में प्राप्त शाप से कर्म संबंध के बिना तत्प्रयुक्त द्वेष की शिव में किसी प्रकार की संभावना नहीं होने से तथा दक्ष में भी इसकी किसी प्रकार की संभावना नहीं थी तब यहां द्वेष के वर्णन की संभावना ही कैसे हुई इस शंका पर कहते हैं–

कारिका - शापेन धर्मसंबंधे वारितेपि शरीरतः ।।४५।।
संबंधसत्तया द्वेषो ह्यनिमित्तं विवर्द्धते।
संबन्धस्य द्विरूपत्वादुभयोद्वेषसंकथा।।४६।।

अर्थ - शाप के कारण दक्ष (धर्म) का संबंध समाप्त होने पर भी शरीर से तो दक्ष का संबंध था ही अतः निमित्तभूत सती देह के कारण वह बढता रहा। संबंध की स्थिति दो में होती है। इस कारण शिव तथा दक्ष में दोनों में द्वेष विषयक चर्चा है।

प्रकाश - कारण संबंध के नहीं होने पर भी प्राचीन जो कार्याभिमान रूप सती की देह अपने (दक्ष) से पैदा होने के कारण संबंध भी था तथा वह संबंध सती की देह के कारण था अतः जब तक सती की देह रही द्वेष बढता गया। शिव में भी द्वेष का कारण सती के साथ संबंध होने से था।

आभास - दक्ष यदि शिवजी से द्वेष रखता था तब ब्रह्माजी ने उसे प्रजापति पर अभिषक्त क्यों किया ऐसी शंका करके ऐसा करने का उनका उद्देश्य कहते हैं-

कारिका - अति वृद्धया पतन् द्वेषं त्यक्षतीति चतुर्मुखः।
मानवृद्धयधिकारं हि दत्तवान् धर्मनाशकम्।।४७।।

अर्थ - अतिवृद्धि के कारण दक्ष का पतन हो जायेगा तथा पुनः ये स्वद्वेष को त्याग कर देगा। इस कारण से ब्रह्माजी ने धर्म को समाप्त करने वाला मान को बढाने वाला दक्ष को अधिकार दे दिया।

प्रकाश - बडे पुरुषों से द्वेष करने वाले का अधो पतन अवश्य रूप से होता ही किन्तु फिर भी अहंकार ज्यादा बढेगा तब पतन होगा उसका कारण बनेगा द्वेष एवं जब वह बढेगा तो वह द्वेष का परित्याग करेगा। अतः दक्ष का अहंकार जिसमें वृद्धि हो वह अधिकार दे दिया। अधिकार भी उसे प्रजापति का दे दिया जो कि उसके धर्म को नष्ट करने वाला था। अधिकार के कारण वह तिरस्कार करेगा। अतः शिव को तिरस्कृत करने के लिये ही उसे उस प्रकार का अधिकार देना ठीक था। वह जब शिवजी से द्वेष करेगा तो वह तिरस्कार करना ही उसके अधोपतन में मददगार होगा। यह ब्रह्माजी का कहना है। देखने में तो ऐसा ज्ञात होता है कि ब्रह्माजी ने इसे मान लिया परन्तु उसका उद्देश्य यह था कि इसका पतन हो इस कारण ब्रह्माजी को चार मुख वाला बताया है। कहने का तात्पर्य यह है कि उनके मुख चारों ओर हैं।

आभास - उसको अहंकार तो था ही तथा फिर उसने वाजपेय यज्ञ किया इस कर्म से उसका अहंकार ज्यादा बढ़ गया वह तो अपने को ब्रह्मिष्ट मानने लग गया। यह बात स्पष्ट नहीं बताई किन्तु **'च'** से यह मानी गयी है।

कारिका - कर्मणा चाऽभिमानोऽभूद्वाजपेयो यतोऽधिकः।
बृहस्पतिसवो मुख्यः क्रममात्रमिहाच्यते।।४८।।

सा काष्ठां ब्रह्मणस्योक्ता चितिरंगमसत्रिणाम्।।४८ १/२।।

अर्थ – वाजपेय यज्ञ रूप कर्म सभी कर्मों से विशेष है। इस कारण से दक्ष को उसके करने से अहंकार हो गया है। यद्यपि बृहस्पति सव प्रधान है। किन्तु क्रम के बताने की इच्छा इसे बताया गया है। कारण कि वाजपेय यज्ञ करने के पीछे बृहस्पति सव (यज्ञ) करना चाहिये। बृहस्पति सव जो करता है वह श्रेष्ठ माना जाता है। जो सत्र करने वाले होते हैं उनके लिये अग्नि चयन की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रकाश – वाजपेय कर्म से विशेष है ऐसा जो बताया गया है उसमें इतना और कहना चाहिये कि सर्व कर्मों से वाजपेय मुख्य है। वाजपेय मुख्य है तब फिर बृहस्पति सव क्यों किया जाता है। इंस पर बताते हैं कि ब्राह्मण के लिये तो बृहस्पतिसव करना **"वाजपेये नेष्टा बृहस्पति सवेनयजेत"** ऐसा विधान होने के कारण इसे बताया है। इस कारण से यहां पर क्रम ही कहा गया है। बृहस्पति सब ही श्रेष्ठ तथा अंतिम सीमा है। बृहस्पति सव जब ऐसा है तो वाजपेय यज्ञ को कोई भी नहीं करेगा। इसलिये इस वाजपेय यज्ञ का भी उच्छेद न हो इस कारण पूर्व में उस के करने का विधान है। यदि इस प्रकार की आशंका हो कि वाजपेय यज्ञ में अग्नि के चयन का विधान है। तब छान्दोग्य में बतायी गई है। तब उसे क्यों नहीं किया गया। उसका समाधान यह है कि सती के लिये उस अग्नि केचयन की आवश्यकता नहीं है।

आभास – यहां पर आशंका होती है कि **"अपहतपाप्मा स्वाध्यायः"** इस प्रकार की श्रुति है तब उस वैदिक कर्म में जो कि सर्वोत्कृष्ट था तथा ब्रह्मिष्ट ब्राह्मण उसे कर रहे थे। तब उसका नाश किस प्रकार हुआ इस पर बताते हैं–

कारिका – **दैवा "न्निर्ऋत्तिगृहीते देवयजने" ऽभवन्मखः।।४९।।**

तेन नाशस्ततो नाऽत्र वैदिकेऽपि हि दूषणम्।।४९ १/२।।

अर्थ – देव के द्वारा निर्ऋति से ग्रहण किये गये दैव भजन में वह यज्ञ हुआ था अतः वह नष्ट हो गया। इसलिये यज्ञ में किसी तरह का दूषण नहीं है।

प्रकाश – **"निर्ऋति गृहीते देव यजने याजयेद्यं काममेत निर्ऋत्यास्य यज्ञं ग्राहयेय मित्येतद्वै निर्ऋति गृहीतं देवयजनं यत्सदृश्यै सत्या ऋक्षं निर्ऋत्यैवास्य यज्ञं ग्राह्यति"** इस श्रुति के द्वारा इस तरह के देव भजन में वह मुख (यज्ञ) हुआ था। अतः उसका नष्ट होना जरूरी था इसलिये उसके नाश होने से वैदिक मार्ग में किसी तरह का दूषण नहीं है। जब वेद द्वारा (श्रुति) यह बात बताई गई है इस कारण से नष्ट होना दूषण नहीं है। परन्तु भूषण है। इस कथन को शब्द से बताया है। यहां यदि यह शंका हो कि भृगु आदि तो सर्वज्ञाता थे तब फिर उन्होंने ने इस प्रकार के यज्ञ का प्रारंभ क्यों किया उसका उत्तर यही है कि यह सब कुछ ईश्वरेच्छा से तथा दक्ष के अभाग्य से हुआ था। अतः इसमें अधिकार, कर्म एवं उस तरह का देव भजन ये तीन प्रकार के दोष बताये गये हैं।

आभास – यहां आशंका होती है कि उसमें ब्रह्मर्षि आदि सब उपस्थित थे इत्यादि द्वारा दक्ष यज्ञ के उत्सव के वर्णन का क्या उद्देश्य था तथा पतिर्भक्तासती को वहां नहीं जाना था फिर उसने वहां गमन की इच्छाक्यों की उसका आशय बताते हैं–

कारिका – उच्छ्रितिः शिवविद्वेषे नेयं भवति कस्यचित्।।५०।।

अतः सा विघ्नकर्त्री हि तत्प्रारब्धविनिर्मिता।

अधिदेवो महादेवस्तेन वारणमुक्तवान् ।।५१।।

अर्थ – शिवजी से द्वेष करने वाले की किसी की भी उन्नति नहीं होती है। अतः सती उस यज्ञ में बाधा करने वाली बनी। क्योंकि दक्षका जिस प्रकार का भाग्य था उसी के अनुसार उसका निर्माण हुआ। महादेवजी आधिदैविक है इस कारण उन्होंने सती को मनाही की थी।

प्रकाश – ऐसा वाक्य है कि 'जो महापुरुषों का तिरस्कार करते हैं उनके सभी शुभ कर्म नाश हो जाते हैं **''हन्ति श्रेयांसि'' ''सर्वाणि पुंसोमहदतिक्रमः''** दक्ष ने जब शिवजी से द्वेष किया तो सती ने विचारा कि शिव से द्वेष करने वाले का शुभ किस तरह हो सकता है। इसलिये उसके मख (यज्ञ) में बाधा करने हेतु वहां गयी थी। उसकी (दक्ष) की उन्नति यदि वह नहीं देखती तो वह बाधा नहीं पहुचाती। सती शिवजी की भक्तथी पतिव्रता थी अतः उसका उस प्रकार करना उचित ही था। उस दक्ष की उन्नति हो रही थी इसमें क्या तर्क (युक्ति) है तो उसका समाधान है कि भगवद् दत्त व्यावृत्ति के कारण वैसा हुआ तब फिर उसमें बाधा करना शक्य नहीं है अथवा वह विघ्न करने वाली बनी इसी से यह ज्ञात होता है कि उसकी उन्नति तो विधि द्वारा ही निर्मित थी। इसलिये उसकी उन्नति भगवत्कृत नहीं थी भाग्य नष्ट तो भोग द्वारा ही होता है। तब फिर उसके द्वारा निर्मित से वह नाश कैसे होता है। यदि यह कहा जाय कि वह प्रारब्ध उतना ही था यह भी नहीं कह सकते हैं अपने कारणाभाव से ही उसका अभाव हो जायेगा अतः उसमें सती कारण नहीं होगी ऐसा नहीं कह सकते कि (सती) ने कारण का नाश कर दिया। पहले के सूत्र में बताये गये पुण्यपाप अनारब्ध कार्य में मानने अर्थात् ज्ञान से अनारब्ध पुण्य पाप का ही नाश होता है। प्रारंभ कार्य तो ज्ञान सभी कर्मों को नष्ट करने वाला है। ऐसा पूर्व में सिद्ध किया है। तब फिर ज्ञान आरब्ध कर्म का नाश क्यों नहीं करता उसमें कारण (हेतु) दिया है। **'तदवधः'** आरब्ध पाप पुण्य के पहले के पुण्य पाप ही दग्ध होते हैं **'अनारब्ध कार्य एव तु पूर्वेतदवधे'**? ४/१/१५ आरब्ध प्रारम्भ किये गये पुण्य पाप क्षीण तो भोग करने से ही होता है। कहने का आशय यह है कि प्रारब्ध के भोग से स्थूल देह तथा लिंग शरीर को दूर करके अलौकिक भोग से संपन्न होता है। **''भोगे न त्वितरे क्षययित्वा संपद्यते''** ४/१/१९ इस तत्व सूत्र में विरोध आयेगा। यदि यह कहो कि यह तो उसमें द्वार है तब फिर स्वतंत्र कर्ता यह बताना विपरीत होगा। आगे तो उसके लिये भोग बताया गया है। इस पर कहते हैं कि यहांपर प्रारब्ध का नाश नहीं बताया गया है। परन्तु सभी कर्मो का नाश

करने वाले तत्व ज्ञान का प्रतिबंधक कोई भी नहीं है। किन्तु प्रारब्ध से उत्पन्न जो भोगों का आरंभ है। उसमें महान् (शिव) के साथ द्वेष करने से प्रतिबंध हो गया। कारण कि महद् द्वेष बलवान् होता है वास्तव में तो महापुरुष शिवजी से द्वेष के कारण शुभ प्रारब्ध था उसका नाश हो गया था। यदि यह कहो कि इसमें सती अप्रयोजक है निमित्त नहीं है। यह बताना उचित नहीं है। द्वेष को दक्ष ने ही पैदा किया था तथा उसकी फल प्राप्ति में सती निमित्त हुई थी। यदि यह कहा जाय कि यहां तत्वसूत्र का विरोध होगा इस पर बताते हैं कि ये दोनों ही तत्वसूत्र (४/१/१५) तथा ४/१/१९ महान् के साथ द्वेष कर जो आरब्ध कार्य है उस विषय में है अतः इस प्रकार के प्रारब्ध दक्ष शरीर का नाश हुआ यह भी इसमें गमक है (एकतर पक्षपातिनी मुक्तिहै।) अग्रिम संपत्ति तो भगवान् ने ही दी तथा उसको जीवन भी दिया। इस कारण भगवान् बादरायण ने बडे भारी विचार (प्रबन्ध) से तत्व ज्ञानियों के संबंध में कर्म नाश का प्रतिपादन करके बताया है **'अतोऽन्याष्टि ह्येकेषा मुभयोः'** इन दोनों श्रुतियों के अलावा अन्य भी श्रुति है। अतः जो महान् से द्वेष नहीं करते हैं उन पुरुषों के प्रारब्ध तथा अप्रारब्ध दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। वह श्रुति इस तरह है **''तस्यपुत्रादाय मुपयान्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्''** यदि यह बताओ कि यह श्रुति तो काम्य कर्म के संबंध में है इसके समाधान में (४/१/१३) २४७ ब्रह्म सूत्र को उपस्थित करते हैं ज्ञान हो जाने पर पूर्व पाप का विनाश और उत्तरपाप के संबंध का अभाव होता है। **''तदाधिगम उत्तर पूर्वाधियोरश्लेष विनाशै यद् व्यपदेशात्''** तथा ४/१/१४ के सूत्र में तो यह भी बताया है कि ज्ञान हो जाने पर जैसे पाप का संबंध नाश हो जाता है उसी भांति पुण्य का संबंध भी नहीं होता है। **'इतस्याप्येवमसे श्लेशः'** तब फिर उसका कहना युक्ति संगत नहीं है तथा इससे यह भी प्रमाणित होता है कि पाप की इच्छा करना तो असंभव ही है तब फिर **'द्विषन्तः पाप कृत्याम्''** यह पद निरर्थक हो जायेगा। **'अतोऽन्येषाम्'** ४/१/१७ सूत्र में आये हुए उभय शब्द से व्यास तथा जैमिनी दोनों का ग्रहण असंगत हो जायेगा। जैमिनी ने सन्निधि में तो सुना नहीं था। सामान्य जो भी शब्द होता है वह अपने अर्थ को उत्पन्न करता है यह नियम है। यह भी नहीं बता सकते हैं कि पुण्य पाप कोई रूप नहीं है। इस कारण ये जैसा सुना है अर्थ असंभव है इसलिये श्रुति का आशय होगा कि ब्रह्मवेता में सौहार्द करना द्वैष नहीं करना। जबकि एकादशी के उपवास में पति की शक्तिनहीं थी तब उसका उसकी भार्या ने उपवास कर उसका दान करा दिया जिससे उसके भर्ता को उसके पुण्य प्राप्त हो गये। इसी भांति ययाति को शुक्राचार्य के शाप द्वारा बुढापा प्राप्त हो गया था अतः श्रवण से उस प्रकार हो सकता है। यदि आशंका हो कि उसके प्रयोजन से किये हुए कर्म से उसी में इस प्रकार का पुण्य पैदा हो जाता है तो यह उचित नहीं हैं उसी में यदि पुण्य पैदा हो जाता है तो पुनः पुण्य का देना निरर्थक हो जायगा। ययाति के बुढापे के लिये दो इस भांति नहीं कह सकते तथा यह एक बात भी है कि बिना किसी प्रयोजन से किये गये एकादशी के रात्रि में जागने के पुण्य के कुछ अंश के दान से भी प्रेत योनि से मुक्त होना सुना गया है। यदि यह कहो कि यह कथन तो असत्य है। यदि यह असत्य हैं तो इसकी कोई बाधक दिखाइये। जब हमने यह बता दिया है कि

पुण्य पाप का कोई रूप नहीं है तब फिर उसका देना किस भांति हो सकता है। हमको यहां पर यह सोचना है कि अलौकिक अर्थ के विचार में लौकिक युक्ति में रूकावट हो सकती है या नहीं इसमें क्या है यदि कहीं रूकावट नहीं होती तो हम पूछना चाहते हैं कि उसे किस प्रकार तो उसका समाधान है कि उसका संबंध पृथक्-पृथक् है इसलिये अलौकिक अर्थ के वर्णन में अलौकिक तर्क (युक्ति) ही बाधक हो सकती है। लौकिक युक्ति नहीं। यदि इस भांति नहीं होता तो अपने लिये किये गये कर्म का फल का भोग अन्य को मिलना युक्ति से बाधक है तब फिर दूसरे को लक्ष्य करके तुम्हारे द्वारा गया श्राद्ध करने की प्रवृत्ति नहीं होगी। यदि यह कहो कि यह तो वाणी से प्रमाणित है कि दूसरे के द्वारा कृत गया श्राद्ध का फल दूसरे को प्राप्त होता है तब फिर यहां इस कथन से इस तरह क्यों नहीं मानते। यहां पर शंका हो कि कथन से मान सकते हैं किन्तु **''साधुकृत्यम्''** वाक्य का अर्थात् ज्ञान पूर्व में होना चाहिये। उसका होना ही संभव नहीं है कारण कि पुण्य पाप की कोई मूर्ति ही नहीं है अतः **'वह्निना सिंचति'** की भांति योग्यता के बिना वाक्यार्थ ज्ञान में प्रति बंधकता हो जायेगी। यदि इस तरह होता तो अग्निशीतल है यहां पर भी अन्वय बोध हो जायेगा। अतः **''सुहृदः साधुकृत्यम''** इस वाक्य का अर्थ ऐसा कहना उचित नहीं है। प्रतिबंधक का अब बोध कहां पर होता है जैसे कोई कहता है कि **''सिता मिष्टा''** मिश्री मीठी है तब वह उसको **''सिता मिष्टा''** इस वाक्य में अयोग्यता का बोध है किन्तु उसको वह बोध **'सिता मिष्टा'** इस वाक्य ज्ञान में बाधक नहीं हो सकता है। इसी भांति जो अविद्या से अवलिप्त है उसका ज्ञानादि जो ब्रह्मवेत्ता हैं उनके अनुभव का संबंध श्रोता के अर्थ से है उसमें बाधक नहीं हो सकता। अतः **''पुत्रादायमुपयान्ति''** ऐसा बताकर यह कहा है कि ऐसा कथन समानता का बताने वाला है। इससे यह प्रमाणित होता है कि बड़े के अनुग्रह से दूसरी बाधा डालने वाले अशुभ फल की प्राप्ति के अभाव में ही पुण्य हो जाता है तथा उनसे द्वेष करने पर उस तरह के दुःख की प्राप्ति के बिना भी पाप हो जाता है। यह स्पष्ट हुआ दक्ष में भी यही बात हुई थी।

प्रकरणार्थ भी इसी कारण संगम होता है। भगवान् से ही धर्म की सिद्धि मिली। यह इसका रूप है। इस कारण महान् से द्वेष तथा उनका अनुग्रह इन दोनों के साथ-साथ होने से ही शुभाशुभ प्रारब्धों का भोग नष्ट होता है। ज्यादा विस्तार जरूरी नहीं होने से इसे यही पर पूरा किया जाता है। अथवा सती ने जो रूकावट (विध्न) की थी वह जरूरी थी कारण कि वह प्रारब्ध ही ऐसा था जिससे बाधा पैदा होगी ही उसी प्रारब्ध ने सती को बनाया था। जब भर्ता (शिवजी) के लिये ही सती ने यह सब कुछ किया तो शिवजी ने उसको जाने के लिये क्यों मना किया। इस पर बताते हैं कि शिवजी यज्ञ तथा सती के भी अधिदेव है अतः सती के वहां जाने पर इसका भी नाश होगा इस कारण शिवजी ने सती को मना किया था। उन्होंने विघ्न नहीं किया था।

कारिका - **स्वगृहे मरणे तस्या द्वेषवृद्धिर्भवेत्पुरा।**
उपेक्षिता ततश्चके स्वकार्यं सा तु सर्वतः।।५२।।

अर्थ – यदि सती का स्वयं के गृह में मरण हो जाता तो शिवजी से दक्ष का ओर अधिक द्वेष बढ जाता। अतः शिवजी ने उपेक्षा करदी तथा उसे जाने दिया। जब वह वहां गयी तब उसने सभी तरह के स्वकार्य किये।

प्रकाश– सती कष्ट की अधिकता से गृह में मरण को प्राप्त कर सकती थी किन्तु घर में (शिवजी के यहां) यदि मरण हो जाता तो दक्ष यह मानता कि सती मेरे घर आना चाहती थी परन्तु उसको मेरे से द्वेष होने से शिवजी ने मार डाला इस कारण द्वेष और अधिक बढता। दक्ष के यहां मरण पर तो किसी प्रकार द्वेष समाप्त हो सकता था अतः सती को शिवजी ने मना किया। दक्ष के यहां पर भी सती का मरना जरूरी था। इसलिये शिवजी ने आज्ञा नहीं दी। यहां पर तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ यहां से चतुर्थ अध्याय आरंभ करते हैं।

'तु' शब्द का तात्पर्य यह है कि शिवजी मोन रहे तब भी सती ने अपना जाना स्थगित नहीं किया। इस भिन्न अर्थ को कहने के लिये है। जो अपना सामान्य कार्य है उसको तो अपने को ही करना पड़ता है। सती के शरीर को नष्ट तो न शिव जी कर सकते थे और न ही दक्ष ही कर सकता था तथा दूसरा भी कोई नहीं कर सकता था। सती के नाश बिना उस द्वेष का अन्त भी नहीं होता। पातिव्रत्य की रक्षा तथा पतिभक्ति से एवं नंदी का शाप असत्य नहीं हो इसको बताने हेतु ही **'सर्वतः'** इस प्रकार का शब्द दिया है। जन्मान्तर में भी सती ने शिव का ही भजन किया था। शिवजी से द्वेष करने वाले दक्ष से पैदा हुई देहको अंगीकार नहीं करना एवं दक्ष के बकरे का मुंह हो इस हेतु दक्ष के मस्तक को काटना यह सब सती के देह छोड़ने से ही हुआ।

आभास – शरीर त्याग के पीछे सती की क्या गति हुई उसे बताते हैं–

कारिका– **ध्यानात्प्रविष्टा सा पत्यौ नारदौ देवगुह्यकृत।**
सेवकानां त्वकथनं लज्जया प्रेषणादपि।।५३।।

अर्थ – सती ध्यान के द्वारा शिवजी में प्रविष्ट हो गयी इसकी जानकारी शिवजी को नारदजी ने दी क्योंकि नारदजी देवताओं का कार्य करने वाले हैं। शिवजी ने यद्यपि सेवकों को भेजा था किन्तु लज्जा से उन्होंने शिवजी को नहीं बताया।

प्रकाश – (यहां से पंचम अध्याय प्रारम्भ होता है। यदि आशंका हो कि यज्ञ के नष्ट की और) सती के मरण की जानकारी शिवजी को देना नारदजी के लिये ठीक नहीं था इस पर बताते हैं कि नारदजी तो देवताओं के अप्रकट (गुप्त) काम को करने वाले हैं इसलिये उनका जानकारी कराना ठीक ही है। सती तो अभिमान रूपा थी। इस कारण से उसने अपने देह का दाह कर डाला। अब तो वह शिवजी के शरीर में प्रवेश कर गयी थी। वहां पर भी उसी प्रकार करने में देवताओं का बहुत बडा बुरा होगा। उसे दूर करने हेतु ही संमुख तो ऐसा दिखता है कि नारदजी देवताओं का बुरा कर रहे हैं किंतु अप्रकट रूप से उनकी भलाई करने की कामना से ही शिवजी से उन्होंने कहा। शिवजी के गणों ने तो जानकारी लज्जा से एवं स्वजीवन की रक्षा के लिये और डर के कारण नहीं दी।

आभास – तब नारदजी ने जो चिंतन किया था उसके हो जाने पर उसको बताते हैं–

कारिका – स्वप्रविष्टनिराकृत्यै जटामुत्कृत्य निर्ममे।
वीरभद्रं द्वेषयुतमभिमानं दुर्जयम्।।५४।।

अर्थ – स्व अन्तःप्रविष्ट जो अहंकार था उसको दूर करने के लिये शिवजी ने जटा को उखाड़ कर उसके द्वारा द्वेष से युक्त सुदुर्जय अभिमान रूप वीरभद्र का निर्माण किया।

प्रकाश – अभिमान किसी का भी नीचे नहीं रहता है। वह तो सबके ऊपर निवास करता है इसलिये वह अभिमान जो जटा में था उसको शिवजी ने उखेड़ा। उसका उखेड़ना द्वेषयुक्त था तथा कार्य संपादन करने के लिये था। यदि यह शंका हो कि दक्ष को तो अधिकार प्राप्त था तथा कर्म के द्वारा उसमें अभिमान था। शिवजी का अभिमान उस दक्ष के अभिमान को किस प्रकार पराजित कर सकेगा। उस पर बताया है कि शिवजी का अभिमान सुदुर्जय था उसे कोई भी परास्त नहीं कर सकता था तथा यह अभिमान जो ऐसा था किन्तु शिवजी से भी परास्त नहीं हो सकता था। इसको बताने के लिये ही इसमे 'सु' उपसर्ग लगाया गया है।

आभास – उस वीरभद्र के द्वारा किया गया यज्ञ का विध्वंस का दोष तो शिवजी का ही माना जायेगा इस पर बताते हैं–

कारिका – दैवहीनो यतो यज्ञस्ततो नष्टोऽभिमानतः।
तदभिव्यक्ति कर्तॄणां साधनानां तु संक्षयः।।५५।।

अर्थ – प्रधान देवता से हीन वह यज्ञ था इस कारण से वह अभिमान से नाश हो गया तथा उस यज्ञ को अभिव्यक्त करने वाले जो भी उपाय थे वे भी क्षीण हो गये।

प्रकाश – जिस भांति बिना मस्तक की देह अपने द्वारा ही पैदा हुए कीट से नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार मुख्य रूप से जो देव से हीन यज्ञ स्वयं अभिमानरूप वीरभद्र द्वारा नाश हो गया। इसका आशय यह है दक्ष का यज्ञ दश के दोष से ही नाश नहीं हुआ शिवजी ने उसको नष्ट नहीं किया। उस तरह के यज्ञ को अभिव्यक्त करने वाले शालापात्रादि को नष्ट इसलिये किया कि पुनः इस भांति का यज्ञ अभिव्यक्त नहीं हो (प्रकाश में नहीं आये)

आभास – दक्ष का ही मस्तक छेदन किया गया उसका कारण बताते हैं।

कारिका – प्रधानत्वाच्छिरस्तस्य छिन्नं यज्ञोऽस्य भावतः।
यजमानत्व मापन्नस्तेन तस्याऽपि संक्षयः।।५६।।

अर्थ – यज्ञ रूप यजमान ही होता है तथा उसका प्रधान अंग मस्तक ही होता है। इस कारण उसके मस्तक का छेदन किया एवं यज्ञ भी यजमानता को प्राप्त था अतः यज्ञ का भी क्षय किया।

प्रकाश – वेद में बताया है कि **"यज्ञो वै यजमानः"** यजमान ही यज्ञ है और जो जिसमें आस्था (श्रद्धा) रखता है वह खुद उस रूप में हो जाता है। **'यावच्छ्रद्धःस एव सः'** इस वाक्य से दक्ष का यज्ञ में प्रेम (अनुराग) होने के कारण यज्ञ रूप ही हो गया था अतः उसका छेदन नहीं करते तो उसका सर्वात्मरूप से नाश नहीं होता। इस कारण से उसके मस्तक का छेदन किया। यज्ञ के विनाश के संबंध में भी यही बात जानना चाहिये।

आभास – यज्ञ में जब पशु का वध किया जाता है तब उसके मुख एवं नासिका को बंद कर दिया जाता है। दक्ष को भी इस प्रकार से मारा था। उसका हेतु कहते हैं–

कारिका – प्राणास्तत्रैव चेल्लीना मोक्षे ब्रह्मविदोयथा।
तदौदनत्वमत्राऽपि तथा सञ्ज्ञपनं मतम्।।५७।।

अर्थ – संज्ञपन में लीन हुए प्राणों से मोक्ष मिलता है जैसे ब्रह्मवेता को मोक्ष मिलता है इस कारण से दक्ष को भी संज्ञपन (मुख, नासिका) बंद करके मारने से उसका तथा भोजन (यज्ञ का भोजन) बनाया।

प्रकाश – **"नास्यप्राणा ह्युत्क्रामन्ती हैव समवलीयन्ते प्राणाः" "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"** इस भांति श्रुति में कहे हुए प्रकार से मोक्ष में ब्रह्मवेत्ता के प्राण ब्रह्म में ही जिस प्रकार लीन होते हैं तथा वे ही ब्रह्म के ओदन को मिलते हैं अर्थात् उन्हीं प्राणों में भगवान् के भोजन की योग्यता भगवान् के भीतर प्रवेश की योग्यता होती है। इस संबंध में **"यस्यब्रह्म चक्षत्रंच"** इस श्रुति का अनुसंधान करना चाहिये। जिस ब्रह्म के ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ये दोनों ओदन भोजरूप (ब्रह्म में प्रविष्ट होने के योग्य है) होते हैं इसका अनुसंधान करना चाहिये। उसी भांति दक्ष के प्राण भी यज्ञ की भावना से यज्ञभूत भगवान् में ही यदि लीन होते हैं तो **"यज्ञो वै विष्णुः"** इस श्रुति द्वारा यज्ञरूप होते हुए अपने आधिदेव यज्ञरूप विष्णु में ही लीन होकर मुक्त हो जायेंगे। वे पुनः उत्पन्न नहीं होंगे। अतः संज्ञपन विधि बताई है। यहां पर यदि शंका होगी **"नास्य प्राणः"** आदिश्रुति तो ब्रह्मवेता में ही ठीक होती है। यहां कैसे उसका उपयोग होगा ? उस पर बताते हैं कि यद्यपि इस संबंध में साक्षात् श्रुति का अभाव है किन्तु पशु का आलंभन तथा रीति द्वारा भी किया जा सकता है फिर उसके लिये जो संज्ञपन विधि ही (नासिका, मुखबंद करके मारना) लिखी है इससे प्रमाणित होता है कि यज्ञ में संज्ञपन विधि से मृत्यु (उपरति) होने से उसकी मुक्ति होती है जैसा ज्ञानमार्गीय के लिये अन्तःश्वास रूद्ध कर ज्ञानरूप से आत्मा का क्षय होने पर उसकी मुक्ति प्रसिद्ध है। उसी को यहां पर दृष्टान्त से लिया गया है। कर्ममार्गीय यज्ञ है कर्म मार्गियों का भी ज्ञानमार्गियों की भांति आत्मा विलयन मोक्ष का कारण माना गया है। इसकी प्रसिद्धि होने के कारण कारिका के पूर्वाद्ध में उसको बताया है।

आभास – तब भी साक्षात् यज्ञ का परित्याग कर औपचारिक यज्ञ क्यों किया इस पर बताते हैं–

कारिका – साक्षाद्यज्ञशिरश्छेदो न युक्तो भगवत्त्वतः।
यज्ञस्य यजमानत्वात्तच्छेदो योजनं तथा।।५८।।

अर्थ – साक्षात् यज्ञ में शिरच्छेद ठीक नहीं है क्योंकि वह भगवद् रूप है। यहां पर यजमान रूप यज्ञ था इस कारण उसके मस्तक को काटा तथा उसे पुनः संधान किया।

प्रकाश – साक्षात् जब यज्ञ होता है वहां पर शिरच्छेदन अनुचित बताया गया है। परन्तु जिसे यज्ञ रूप मान लिया जाता है उस अतिदेश वाले यज्ञ में वह उचित है। यहां पर साक्षात् यजमान के शिर संधान हो नहीं सकता था क्योंकि वह तो वध हो गया था। **''यजमानः पशुः''** इस श्रुति में तत्व से अतिदिष्ट पशु मस्तक का यो जन कहा गया है।

आभास – यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि दक्ष के उसी मस्तक को नहीं रख लिया अथवा दग्ध हुए को ही क्यों नहीं जोड़ दिया उसका कारण बताते है।

कारिका – ज्ञानेन्द्रियाणां सर्वेषां स्थानं मूर्द्धा विभागशः।
अदग्धे पूर्ववत्तस्यदोषः संभवतीति हि।।५९।।
राक्षसानां तु तद्भागो दक्षिणाग्नौ ततो ऽजुहोत्।।५९ १/२।।

अर्थ – सर्व ज्ञानेन्द्रियां का विभाग रूप से मस्तक ही स्थित है। यदि उसका दाह नहीं किया जाता है तो पूर्व का दोष फिर आ जाता। वह मस्तक **राक्षसों** का भाग था। इस कारण से उसे दक्षिणाग्नि में जलाया गया।

प्रकाश – दक्ष की ज्ञानेन्द्रियां दुष्ट थीं उन सभी ज्ञानेन्द्रियों का आश्रय स्थान मस्तक ही होता है। इसलिये यदि उसी मस्तक को पुनः जोड़ दिया जाता तथा उसे दग्ध नहीं करते तो वह पुनः शिवजी से द्वेष करता। इस कारण से द्वेष नहीं हो अतः उस मस्तक को जला दिया। यहां पर 'हि' शब्द का आशय यह है कि दक्ष के उस मस्तक में उसके संस्कार रहते जिस कारण उसमें वह पहले की द्वेष भावना ही रह जाती। इस कारण उसके मस्तक का होम दक्षिणाग्नि में इसीलिये किया था कि पहले बताये गये धर्मों से मुंक्त उसका मस्तक तामस था। तामस भाग राक्षसों का होता है। इस कारण से उसका होम दक्षिणाग्नि में ही किया जाता है। जैसा कि श्रुतियों में बताया भी है। **'दक्षिणेऽग्नौ' ''जुहोतिभ्रातव्यमेव वरूणपाशेन ग्राहयन्ति'' ''अग्नये रूद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपत्''** क्रूर होम दक्षिणाग्नि में ही किया जाता है। दक्ष भी क्रूर था अतः उसके मस्तक का होम दक्षिणाग्नि में किया गया।

आभास – यहां पर शंका करते हैं कि केवल सूचना आदि के दोष मात्र से भग आदि के नेत्र उखाड़ना ठीक नहीं था इस पर बताते हैं।

कारिका – पापसाम्येन देहेषु च्छेदस्तेन पशोर्यथा।।६०।।
तथैव कृतवांश्चेदं नाऽन्यथेत्यस्य संभवः।।६० १/२।।

अर्थ – दक्ष में जिस प्रकार का पाप था उसी प्रकार का उन ऋषियों के देह में भी पाप था। अतः जिस भांति यज्ञ

पशु के सिर करने की तरह दक्ष का मस्तक काटा गया। उसी प्रकार उन ऋषियों के देह का भी छेदन किया गया था।

प्रकाश - 'कर्तुः' 'शास्तुरनुज्ञातु स्तुल्यं यत्प्रेत्य तत्फलम्' मृत्यु होने पर मृत्यु वाले को जिस फल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार का फल अनुशासन करने वाले को तथा आज्ञा देने वाले को भी प्राप्त होता है। इस वाक्य में अनुज्ञा देने वाले इन ऋषियों ने नेत्र के संकेत आदि से बताने वाले के कारण दक्ष के पाप के सदृश्य ही इन ऋषियों के शरीर में भी उसके तुल्य पाप था। जिस भांति इन ऋषियों ने जिस इन्द्रिय से पाप किया था उसी को नष्ट किया इसी प्रकार दक्ष का भी करना चाहिये इस पर बताते है पशु का जैसे मस्तक काटते हैं उसी प्रकार उसका मस्तक का काटना यदि अस्त्र शस्त्र आदि से करते तो उसका फिर जीवन नहीं होता। आशय है कि जिस तरह बहुत क्रोध से द्वेष से अपने सामर्थ्य सदृश शस्त्रादि से उनमें छेदन किया था यदि उसी भांति उसमें भी वह छेदन वैसे ही होता है। परन्तु शस्त्र आदि की विफलता से पैदा होने वाले आश्चर्य तथा ध्यान आदि से वह बढा हुआ क्रोध कम हो जाता किन्तु स्वामी की आज्ञा से उसको मारना जरूरी होने से उस कर्म के अनुरूप ही उस साधन को जानकर वैसा किया कारण कि जैसे संज्ञप्त पशुओं को देहान्तर प्राप्ति होती है उसी भांति इसको भी देहान्तर प्राप्ति होती है किन्तु नंदी के शाप को सत्य करने हेतु ईश्वरेच्छा से ही वह देहान्तर प्राप्ति व्यर्थ हो गयी। यदि कहें कि वैध हिंसा तो धर्म रूप होती है तब फिर वैसा ही वध इसके लिये पापकी तरह क्यों हुआ उसका समाधान यह है कि जिस प्रकार पाप धर्म नहीं होता है उसी प्रकार इसका मारना भी अवैध होने से यह मुख दैविक नहीं था। लौकिक था परन्तु इसे भी उसके सदृश होने से मुख बताया गया है।

(पंचम अध्याय समाप्त)

कारिका - अस्थित्यै कस्यचित्तत्र तथाऽनुपकृतिः फलम्।।६१।।
मण्डपज्वालनस्येति गमनं कृतकृत्यता।।६१ १/२।।

अर्थ - उस यज्ञ स्थल में यदि कोई बैठेगा तो उनके उपकार के कारण इस दक्ष में भी धर्म आ जायेगा वह भी नहीं आये इस कारण से उस मण्डप को ही जला दिया। जब मंडप जल गया तब फिर कोई काम शेष नहीं रहा इस कारण से सभी चले गये।

प्रकाश - वहां छाया के कारण भी किसी बैठाने पर उसका जो भला (उपकार) हुआ उससे जो धर्म होता है वह धर्म भी दक्ष में नहीं आये कहने का आशय यह है कि वह धर्म भी इसको नहीं मिले इसका कारण सभी चले गये।

आभास - अब षष्ठ अध्याय का चिन्तन करते हुए ब्रह्माजी के ही समीप वे किस कारण से गये इस का हेतु बताते हैं। प्रथम जो जाना था फिर उसको बोधन कराना, स्थान का वर्णन करना तथा स्तुति करना इन

पांच अर्थों का क्रमशः निरूपण है। तीन श्लोको द्वारा जाना, चार श्लोकों से बोधन, तेंतीस श्लोकों द्वारा स्थान का कथन, आठ श्लोकों द्वारा प्रार्थना एवं चार श्लोकों से स्तुति इस प्रकार क्रमशः तात्पर्य का वर्णन है।

कारिका - अपराधेपि जनकः प्रसीदति न चेतरः।।६२।।

इति ब्रह्म सभां जग्मुर्बोधनं त्वैक्यदर्शने।।६२ १/२।।

अर्थ – अपराध होने पर भी जनक (पिता) प्रसन्न हो जाता है दूसरे प्रसन्न नहीं होते हैं। इसलिये वे ब्रह्माजी की सभा में गये तथा उन्हें अपनी समस्त बात कही। परन्तु ब्रह्माजी ने समझाया कि मैं तथा शिव तो एक ही हैं।

प्रकाश – अपराध होने पर यदि इतर के समीप जाते हैं तो वह क्रोधित ही होता है। अपराध करके भी यदि पिता के समीप जाता है तब वह स्वभाव से ही प्रसन्न होता है ब्रह्माजी को अपनी बात उन्होंने इसलिये कही कि ये हमारे पिता है इस कारण ये हमारा पक्षपात करेंगे तथा शिवजी के संबंध में उनके अनुरूप कुछ बतायेंगे। वे शिवजी में दोष दृष्टि रखकर ही आये थे इस कारण उनके दोष की निवृत्ति नहीं हुई थी। परन्तु ब्रह्माजी ने तो मैं तथा शिव दोनों एक ही हैं ऐसा उन्हें बताया।

आभास – वहां जाकर शिवजी की दरिद्री (गरीबी) को देखकर उन्होंने सोचा कि हमने शिवजी के हवि के भाग को रोक दिया है अतः ये दरिद्री हो गये हैं ऐसा अभिमान करने पर भी उनका वह अभिमान उचित नहीं था उन शिवजी के ऐश्वर्य को दिखाने के लिये वनादि का निरूपण करते हैं।

कारिका - निर्गतित्वन्व्युदासाय सख्युः स्वस्य च सर्वशः।।६३।।

वनादिसर्वरूपाणांवर्णनं स्तवनं तथा।।६३ १/२।।

अर्थ – वहां से उसका निकलना (निर्गमन) नहीं हो इसके लिये शिवजी के सखा कुबेर एवं शिवजी के उस वन आदि का निरूपण किया तथा शिवजी की स्तुति की।

प्रकाश - **'सख्युः'** का तात्पर्य है कुबेर की तथा **'स्वस्य'** का अर्थ है शिवजी की वनादि में जो शब्द है उससे, पर्वत, नगरी, नदी, बावडी आदि का निरूपण है तथा उनके जो रूप पुष्प, फल, सुगंधी, पक्षी, मृग, अप्सराओं का विलास और मुनियों के लिये जो चतुर्वर्गोपयोगी भी वे सभी हैं। उनकी उस तरह से स्तुति क्यों की उसका उद्देश्य यह थां कि उस तरह से ब्रह्मज्ञ के वर्णन से उनका माहात्म्य जानने में आता है।

आभास – इसका वर्णन तो एक ही श्लोक से किया है आगे के श्लोकों में क्या उद्देश्य है इस पर बताते हैं-

कारिका - ब्रह्मत्वायोपपत्तिश्च तथैव प्रार्थनं कृतम्।।६४।।

यज्ञसिद्धिं चकारेशो न तथाऽभगवत्त्वतः।।६४ १/२।।

अर्थ – ब्रह्म आप हैं इसमें तर्क (युक्ति) दिया तथा उसी तरह की प्रार्थना भी की। उनके यज्ञ की सिद्धि शिवजी ने की किन्तु जिस भांति प्रार्थना की थी उस प्रकार नहीं क्यों कि उनमें पूर्णरूप से भगवत्व नहीं था।

प्रकाश – **'च'** से यह कहा गया है कि क्रोध के बिना जो जिस तरह सर्व कर्तृत्व से ब्रह्म का वर्णन होता है उसी भांति उसी धर्म से इन ऋषियों आदि के अवयवों की सृष्टि भी आप करिये इस तरह की प्रार्थना की। देवताओं के अवयव भगवत् सृष्टिगत होने के कारण अलौकिक हैं इसलिये उन अवयवों में अलौकिकता ही उचित है ऐसा आशय है। अब यहां से आगे साढे दस श्लोकों द्वारा सप्तम अध्याय का विचार करना है। उन्होंने यद्यपि जिस प्रकार की प्रार्थना की थी उस प्रकार नहीं किया उसका हेतु यह था कि शिव में पूरा भगवत्व नहीं था क्यों कि उनमें केवल संहार की शक्ति ही थी उसका अधिकार तो संहार करने का ही था। उस तरह की सृष्टि करने का सामर्थ्य नहीं था।

आभास – तब फिर प्रार्थना से भगवान् के द्वारा क्यों नहीं किया इस प्रकार की शंका करके उस प्रकार करने में रूकावट है उसे बताते हैं-

कारिका – **अन्यथा दंडहानिः स्यादन्यथाकरणं स्वतः।।६५।।**

सानिध्ये सर्वसंसिद्धिरिति सर्वैः समागमः।।६५ १/२।।

अर्थ – प्रार्थनानुसार सब वैसा ही यदि कर दिया जाता है तब दंड ही क्या हुआ अन्यथा कारण तो अपने आप ही हो जायेगा। सर्वसिद्धि सान्निध्य होने से ही प्राप्त होती है। इसलिये वहां पर शिवादि सभी का समागम हो गया।

प्रकाश – प्रार्थनानुसार कर देने पर किया गया दंड भी नहीं करने जैसा हो जायेगा। दूसरे के द्वारा उस प्रकार करने पर अपने द्वारा पहले के अनुसार समाधान ठीक है किन्तु स्वकृत में वैसा ठीक नहीं है अथवा दक्ष आदि के शिर आदि के काटे गये थे वे स्वकृत ही थे कारण कि देवताओं के साथ हवि का भाग शिवजी को देना चाहिये उस को दक्ष ने मना किया था इस कारण उसका इस प्रकार करना उचित नहीं था। उसने यथावत कार्य नहीं किया तब फिर उनकी प्रार्थनानुसार कार्य भी नहीं हुआ। जिस भांति शिवजी के लिये उसने यज्ञोच्छिष्ट दिया था उसी प्रकार दूसरों की उच्छिष्ट इन्द्रियों द्वारा ही उनको कार्य दिया। जिस प्रकार भग मित्र के नेत्र से देखेगा, पूषायजमान के दांतो से भक्षण करेगा आदि। वाणी से यद्यपि सर्वकार्य सिद्धि हो गयी थी किंतु फलोपधान रूपा भलीभांति सिद्धि वह शिवजी आदि की संनिधि में ही हो सकती थी। इस कारण शिवादि के सह सर्व का देवयजन में समागम हुआ।

आभास – दक्ष के लिए बकरे का मुख कर देना शिव के वास्ते अनुचित था ऐसी शंका करके उसका आशय कहते हैं-

कारिका – **यजमानः पशुश्चैव तौ पशुर्देवपोषणात्।।६६।।**

सवनीयपशुर्मुख्यः शिष्टं तस्य शिरः परम्।

अपेक्षितं तदेवाऽत्र तेन संधानमीरितम्।।६७।।

अर्थ – यजमान तथा पशु ये दोनों ही पशु संज्ञ है कारण कि इनके द्वारा देवता का पोषण होता है उनमें भी

सवनीय पशु प्रधान है वह पशु वहां बच गया था तथा वहां पर पशु के मस्तक की ही आवश्यकता थी इसलिये उसी के मस्तक से उसका संधान किया गया।

प्रकाश – **'पशुश्चैव'** के एव शब्द से लौकिक पशु का वहां पर ग्रहण नहीं किया जाता है। यजमान तथा यज्ञ पशु ये दोनों ही समान रूप से देवता का पोषण करने से पशु बताये गये हैं इस कारण ये दोनों ही पशु हैं। **'पशुः'** इस प्रकार एक वचन तो इस कारण से है कि दोनों एक ही स्थान पर प्रयुक्त होते हैं। उपनिषदों में बताया गया है जिस तरह **'पशु परपोषक'** होता है उसी भांति यजमान भी पशु आदि के देव पोषक होता है। अतः यजमान भी पशु है। **'यथा पशुः परपोषक'** इस कारण यह उचित ही है। वहां पर किस पशु के मस्तक का संधान करना चाहिये। इस प्रकार की शंका में देव पोषण का कारण रूप सवनीय पशु ही प्रधान है। यजमान का मस्तक तो अयोग्य था एवं सवनीय पशु के अवयवों का हवन पूर्व में किया जा चुका था केवल मस्तक मात्र ही शेष बचा था। यहां केवल मस्तक की ही जरूरत थी इस कारण उसी का योजन यहां पर बताया गया है।

आभास – यहां पर यदि यह आशंका हो कि बीच में वैष्णव याग का क्या उद्देश्य है इस पर बताते हैं–

कारिका – **यज्ञस्तिरोहितः सर्वो विघ्नाद्दोषात्तथा मृतेः।**
पुनः कृतिरशक्या हि कालादेर्विनिवर्तितः।।६८।।

अर्थ – आदि भौतिकादि विघ्नदोष एवं मृत्यु के कारण सभी यज्ञ तिरोहित हो गये थे। कालादिक के विनिवर्तन से फिर यज्ञ की कृति अशक्य हो गयी थी।

प्रकाश – आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक सभी यज्ञ तिरोहित हो गये। उनके अन्तर्हित होने में क्रमशः तीन कारण थे। अग्नि को बुझा देने से बाधा के कारण आधिभौतिक यज्ञ तिरोहित हो गये, रूद्रगणो के स्पर्श दोष से आध्यात्मिक यज्ञ तिरोहित हो गया था। यजमान की मृत्यु से आधिदैविक यज्ञ तिरोहित हो गया। अब फिर उस तरह की क्रिया से यज्ञ के आरंभ (शुरु) करने में सवेरे (प्रातः) सवनादिकाल और आदिशब्द से प्राग्वशादि देश एवं प्रोक्षित द्रव्य आदि का होना रूकावट का कारण था।

कारिका – **तस्मादशक्यसंप्राप्तौ वैदिकत्वप्रसिद्धये।**
पुरोडाशं निरवपन् वैष्णवं सत्त्वमात्रतः।।६९।।

अर्थ – यज्ञ जब तिरोहित हो गये तब उनकी संप्राप्ति अशक्य हो गयी तब वैदिक क्रिया की प्रसिद्धि हेतु जिनमें तीनों रूपों की सत्ता है ऐसे वैष्णव पुरोडाश का निरवपन् किया।

प्रकाश – जब साधन का ही नाश हो गया तब यज्ञ की प्राप्ति अशक्य हो गयी तब विष्णु रक्षक है अतः वे ही यज्ञ की रक्षा करेंगे। इस कारण विष्णु की आराधना जरूर करनी चाहिये। स्तुति के द्वारा यदि आराधना की जाय तो वह अवैदिक है उसका भी यज्ञ में गिना जायगा। इस कारण यज्ञ की वैदिकता की प्राप्ति के लिये

वैष्णव पुरोडाश का निरवपन् किया। यदि यह बताया जाय कि यज्ञ के मुख्य अंग के नहीं करने से यज्ञ का सर्वात्मना अभाव होने से वैष्णव पुरोडाश का निरवपन् उसका अंग किस भांति होगा। इस पर बताते हैं कि यद्यपि आधिभौतिक आदि तीनों रूपों के तिरोभाव होने पर भी जिनके ये तीनों ही रूप हैं उन धर्मी रूप विष्णु की सत्तारूप से वहां स्थिति होने से वह यज्ञ किया जा सकता है।

आभास – तब फिर यह सब निरर्थक है इस पर बताते हैं–

कारिका – **विशिष्टं तत्तिरोभूतं विष्णुः सर्वोपपत्तये।**
ध्यातः सत्त्वं तिरोधाय तथा प्रादुरभूद्धरिः।।७०।।

अर्थ – देश कालादि की विशिष्टता वाला यज्ञ का स्वरूप तिरोहित हो गया तब सभी की उपपत्ति हेतु ध्यान किये जाने पर सत्व को अधिष्ठान बनाकर के ही वहां प्रकट हो गये।

प्रकाश – देश कालादि जो उसके लिये मुख्य थे उनसे वह यज्ञ तिरोहित हो गया। तब उसी भांति के कार्य का साधक होने से उसकी अभिव्यक्ति के हेतु प्रयत्न किया। यदि यह बताया जाय कि आठ भुजा वाले रूप को प्रकट करने का क्या उद्देश्य है इस पर बताते हैं कि यज्ञ का स्वरूप बना रहे दोष का भी अभाव हो तथा उनका पालन भी हो इस हेतु प्रकट हुए। विष्णु श्रेष्ठ यज्ञ के पालक हैं। यहां पर यज्ञ के स्वरूप की सत्ता को रखते हुए उसकी रक्षा करना है इसलिये द्विगुण क्रिया शक्ति की जरूरत है। इसलिये अष्टभुजाओं से प्राकट्य हुआ है। इस कारण कर्म से ही फल है वह इस कारणा निराश हो गया। प्रादुर्भाव का प्रकार कहते है शुद्ध सत्व जो अन्तरायरूप या अधिष्ठान रूप है उसको आधार बनाकर प्रकट हुए।

आभास – अब अवतार के नाम को बताते हैं।

कारिका – **प्रभुरूपमिदं प्रोक्तं सर्वमेतेन सिद्धयति।**
सर्वोत्तमत्वबोधाय वर्णनं स्तोत्रमेव च।।७१।।

अर्थ – भगवान् का यह जो अवतार है उसका नाम **'प्रभु'** है इस अवतार से सभी तरह की सिद्धि मिलती है। इसकी श्रेष्ठता को कहने हेतु इसका निरूपण एवं इसकी स्तुति की गई है।

प्रकाश -- **'प्रोक्तम्'** से इसकी प्रमाणिता कही गई है। शुद्ध सत्वावतारों की गिनती में जिस प्रकार **'कल्किर्धन्वन्तरिप्रभुः'** से इस अवतार को बताया है। पहले कहे गये समस्त कार्य इससे सिद्ध होते हैं। यदि यहां पर यह शंका हो कि यहां पर तो यज्ञ की सिद्धि का प्रयोजन है वह तो स्वरूप मात्र से ही सिद्ध हो जाती है फिर मुख्य का वर्णन तथा स्तुति की क्या जरूरत है? यह अवतार सर्वोत्तम था अतः उसका निरूपण और स्तुति जरूरी है। **'च'** से प्रणामादि किया गया है। इस कारण इस प्रभु के अवतार बिना सभी से यज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती थी।

आभास – यदि यह कहें कि प्रधान की मुख्यता से एक ही स्तुति सभी के लिये ठीक होगी तब फिर सभी ने पृथक-पृथक् प्रार्थना किस हेतु की इस पर बताते हैं-

कारिका – दोषहानिः पृथग् वाच्या स्तोत्रभेदास्ततः स्मृताः।
एकोनविंशतिर्भेदाः कृष्णावतरणात्तथा।।७२।।
मुख्यं धर्मविरूद्धं च तत्प्रतिप्रसवं बिना।।७२ १/२।।

अर्थ – दोष सभी के पृथक्-पृथक् थे इसलिये स्व स्व अपराध की निवृत्ति के लिये अलग-अलग स्तुति की गई है। उन्नीस भेद स्तुति के बताये गये हैं। भगवान् कृष्ण का तो अवतार हो गया है। इसलिये उसके लिये वैदिक कर्म की जरूरत नहीं है। प्रधान यज्ञधर्म विरूद्ध था अतः उसको फिर किया।

प्रकाश – स्तुति तो स्वच्छ अपराध को मिटाने के लिये थी तथा उनका अपराध भी भिन्न भिन्न था अतः प्रत्यक की स्तुति पृथक् थी। उस स्तुति के कितने भेद थे यदि इनमें दो को जानने की इच्छा हो तथा उसमें किसी प्रकार भ्रम नहीं हो इसलिये उसकी संख्या उन्नीस तरह की बताई गई है। दक्ष से लेकर ब्राह्मण पर्यन्त सभी मिलाकर उन्नीस प्रकार थे। यदि आशंका हो कि जिस भांति यज्ञ दोष की निवृत्ति हेतु वैदिक कर्म किया उसी भांति अपने दोष की निवृति के लिये भी वैदिक कर्म ही करना चाहिये कारण कि वे सभी दोष की निवृति के लिये भी वैदिक कर्म ही करना चाहिये कारण कि वे सभी दोष यज्ञ विषयक थे। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि जब भगवान् की प्राप्ति नहीं हो तब अन्य कर्म किये जाते हैं जब स्वयं भगवान् प्राप्त है तब इतर वैदिक साधनों की जरूरत नहीं है। क्योंकि भगवान् कृष्ण सदानंद रूप है। अतः किसी भी तरह के संबंध होने पर वे दोष की निवृत्ति कर देंगे तथा आनंदरूप होने से धर्मादि गुणों का संपादन भी कर देंगे एवं अवतार ग्रहण किया है इस कारण जो सेवक हैं वे अपनी दीनता प्रकट करेंगे तब वे उसी से वे दोष दूर कर देंगे वैदिक कर्म की अपेक्षा यह दीनता प्रकट करना विशेष साधन है इस प्रकार स्तुति क्योंकी वैदिक कर्म क्यों नहीं किया इसमें युक्ति बताई है। अब कर्म करने में बाधक कहते हैं। जिस भांति प्रधान यज्ञ के नाश हो जाने पर **''वैष्णव कपाल का निर्वपन करे''** इस भांति वैष्णव याग का प्रति प्रसव है उसी भांति उन्होंने जो दोष किया है उस दोष को नष्ट करने के लिये किसी कर्म का प्रतिपादन नहीं है अतः उसके लिये उसका करना धर्म मार्ग के विरूद्ध है तथा **'च'**इस बात को भी बताता है कि भगवान् के प्रादुर्भाव के पीछे उस तरह करना भगवन्मार्ग कि विरूद्ध भी होता है।

आभास – प्रकरणार्थ का उपसंहार करते हैं-

कारिका – धर्मस्तस्याऽतिसंसिद्धो बोधश्चाऽपि दृढीकृतः।।७३।।
वराद्धर्मातिसंवृद्धिः कथासिद्धयै सतीकथा।।७३ १/२।।

अर्थ – भगवान् कृष्ण का अवतार होने से उसका धर्म तो खूब सिद्ध हो गया तथा उसका ज्ञान भी मजबूत कर दिया। वर के द्वारा धर्म की संवृद्धि हुई तथा दक्ष की कथा की सिद्धि हेतु सती की कथा है।

प्रकाश – कृष्णावतार होने के कारण ही दक्ष का धर्मसिद्ध हो गया तथा भगवान् से उसमें उत्कर्ष भी आ गया। यद्यपि समय अधिक व्यतीत हो गया था फिर भी भगवान् के सहकार से उस सिद्धि में उसे किसी प्रकार का श्रम नहीं हुआ। इस कारण उसे श्रेष्ठ सिद्धि बताया यद्यपि ब्रह्मा-विष्णु एवं शिव ये एक ही हैं ऐसा ज्ञान उसे पूर्व में था किन्तु भगवान् ने उस ज्ञान को मजबूत कर दिया। अतः उसको अन्यथा सिद्धि नहीं हुई। जिस प्रकार शिवमय विष्णु हैं उसी भांति विष्णुमय शिव हैं, यथा **'शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः'** आदि वाक्यों से ऐसा ज्ञान होना धर्म का अंग होने उसको जब दृढ कर दिया तो धर्म को ही मजबूत कर दिया। अपि से जो बात नहीं बताई गयी है उसको भी संमिलित कर लेना जब भगवान् ने ही सब सिद्धि कर दी तब पुनः वर का उद्देश्य क्या रहा? इस पर बताते हैं कि नंदी के शाप से सहज धर्म की संभावना आगे होगी। इसलिये वर से धर्म के शाप का अतिक्रमण होकर संगधर्म की वृद्धि होती है। कन्या प्रसूति का जब निरूपण हो रहा है। उस प्रसंग में सती के कोई पुत्र नहीं हुआ इस प्रसंग के मध्य में दक्ष कन्या का प्रसंग आ गया जिससे पूर्व की कथा का पुनः कथन किया गया।

आभास – यहां यह आशंका होती है कि सती फिर शिवजी की पत्नी तथा हिमालय की पुत्री क्यों हुई उसका हेतु कहते हैं–

कारिका – **तदर्थे व्यक्तदेहत्वात्तामसत्वात्पुनस्तथा।।७४।।**
प्रक्रियायाः समाप्तत्वात्कीर्तनादिफलाभिधा।।७४ १/२।।

अर्थ – सती ने शिवजी के हेतु ही देह को धारण किया था। इस कारण फिर तामस होने से शिव के लिये देह धारण की यहां पर प्रकरण संपूर्ण हो गया है अतः इस प्रसंग को कीर्तन का फल बताया है।

प्रकाश – सती शिवजी ही की थी इसलिये वह फिर शिव पत्नी बनी क्यों कि जो जो भक्त जिस जिस की श्रद्धा से पूजा (अर्चना) करता है मैं उसकी अचल भक्ति उसी में करता हूँ। **"यो यो यां यां तनुं भक्तः"** इस विधि के अनुसार वह फिर शिव पत्नी बनी तथा दूसरा कारण यह भी था कि तामस भी थी। तामस होने के कारण ही हिमालय पर्वत से उत्पत्ति हुई। यह प्रकरण अब पूर्ण हो गया है। इस कारण फलश्रुति बतायी गयी है।

आभास – आगे पांच अध्यायों से अर्थ प्रकरण बताया जा रहा है।

कारिका – **अतः पंचभिरध्यायैरर्थप्रकरणं मतम्।।७५।।**
बालस्यापि हरौ प्रीते सिद्ध्येदर्थ इति ध्रुवः।।७५ १/२।।

अर्थ – आगे पांच अध्यायों से बाल प्रकरण माना गया है। हरि के प्रसन्न होने पर बालक का भी अर्थ सिद्ध हो जाता है इस हेतु बालक को ध्रुव बताया गया है।

प्रकाश – कुछेक टीकाकारों ने इस बालक प्रकरण को चार अध्यायों में ही कहा है। वह हमें युक्ति द्वारा तथा दोष के कारण उचित मालुम नहीं पड़ता है। इस कारण ऐसा कहना हमारे संमत नहीं है अतः **'मतम्'** ऐसा कहा है अर्थात् हमारे मत से तो यह अर्थ प्रकरण पांच अध्यायों का ही है। यदि भगवान् की प्रसन्नता नहीं

हो तो उस बालक ध्रुव को भगवत्संपादित अर्थ जो महान् है उसको किस प्रकार से कहे। **'अपि'** संभावना अर्थ में है। पांच वर्ष का बालक इस तरह के आशय को सिद्ध करने में कैसे योग्य हो सकता है। जिस भांति अर्थ साधन में भगवान् की प्रीति हुई उसी प्रकार तप साधन में भी भगवत्प्रीति ही हुई यह बताया है। इसी कारण उसको ध्रुव बताया गया है।

आभास – दो आशय का साधना तो निरर्थक ही है एक ही से कार्य हो जायेगा इस पर बतातेे है।

कारिका – **अर्थस्तु द्विविधिस्तस्य ह्युभयोर्विषमत्वतः।।७६।।**
मातापित्रोस्ततो राज्यं ध्रुवस्थानं च कामितम्।
न्यायेनैकस्य सिद्धत्वान्नारदेऽन्यस्य संस्तुतिः।।७७।।

अर्थ – ध्रुव की इच्छा दो प्रकार की थी प्रथम तो माता-पिता का राज्य द्वितीय इच्छा ध्रुवपद प्राप्त करने की थी। इन दोनों कामनाओं में समानता नहीं थी। अतः एक अर्थ के साधन से काम नहीं हो सकता था। पिता का राज्य तो न्याय सिद्ध होने से सिद्ध हो जाता किन्तु नारदजी ने जिस स्थान की प्रशंसा की थी उसको प्राप्त करना कठिन था।

प्रकाश – उत्तम को जो स्थान प्राप्त है उसकी प्रगति की यदि कामना हो यहां से आरंभ करके **'भौमसुख दिव्यमयापवर्ग्यम्'** पृथ्वी का सुख स्वर्ग का सुख तथा मोक्ष सुख इनका जो निरूपण किया गया है। उनमें माता के वचन से इस लोक के एवं परलोक के अर्थ को ध्रुव ने फलरूप से श्रवण किया था। अतः ध्रुव के लिये दो तरह का अर्थ हो गया। **'तु'** शब्द पहले पक्ष का निवर्त्तक है। इस कारण दोनों ही भांति के साधन किये। यदि यह कहा जाय कि अश्वमेध, चित्र यागदि से इन्द्र पर पशु आदि की भांति तपस्या से ही दोनों की संभावना होने से तथा पिता आदि के द्वारा एक ऐहिक राज्य की प्राप्ति हो जायेगी तब फिर भगवान् ही इसके कारण कैसे बने उस पर बताते हैं कि ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही एक समय में तथा एक में होना विरूद्ध है इसलिये तप के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। माता तथा पिता तो ध्रुव के प्रतिकूल थे अतः राज्य प्राप्ति भी मुश्किल थी। इसलिये भगवान् के कारण से ही राज्य और निश्चल स्थान प्राप्त हुआ। **''तस्य''** का दोनों के साथ संबंध है। ध्रुव का उपनयन संस्कार नहीं हुआ था अतः तप में भी उसका अधिकार नहीं था यह भी एक विषमता का कारण था। इसी को **'हि'** शब्द से बताया है। **'च'** द्वारा अधिकारादि नहीं था। यह जताया है। मूल में जो **'कामितम्'** पद आया है उसका आशय तिरस्कार करने वाली माता एवं भाई के नष्ट होने का भी ग्रहण होता है। क्योंकि जिस समय नगर से निकले थे उस समय वैसा ही विचार था। नहिं तो भगवान् उस तरह नहीं बताते। यदि आशंका हो कि दोनों ही अर्थरूप में यह ठीक (संगत) नहीं है। ध्रुवजी ने जब नारदजी से साधन की प्रार्थना की थी उस अवस्था में उन्होंने केवल त्रिभुवन (तीनोंलोक) में जो ऊंचा स्थान है मुझे प्राप्त हो **'पदंत्रिभुवनोत्कृष्टम्'** इसी की उन्होंने प्रशंसा की थी। पिता के राज्य को प्राप्त करने

के लिये तो उन्हें प्रार्थना की जरूरत नहीं थी कारण कि वे राजा के ज्येष्ठ पुत्र थे इस कारण वह तो नियम से ही सिद्ध था उसके लिये अधिक साधन की अपेक्षा नहीं थी वह तो भगवान् दे ही देंगे। परन्तु उसमे जो बाधा है उस को हटाकर ही देगे। इस कारण प्रार्थना नहीं की। दूसरा जो ध्रुव का स्थान है वह तो और किसी प्रमाणान्तर से सिद्ध नहीं था इसलिये प्रार्थना का अथवा सत्र में नारदजी ने ध्रुवपद की प्रशंसा की थी इस कारण उसी पद के हेतु उन्होंने कहा।

आभास – इस भांति प्रकरणार्थ का उपपादन करके अध्यायार्थों को बताते हैं–

कारिका – साधनेन च साध्येन राज्ये दोषेण हानतः।

फलेन च द्वितीये तु पंचाध्यायाः प्रवर्तिताः।।७८।।

अर्थ – साधन से, साध्य से, राज्य में दोष के वर्णन से, उपदेश द्वारा दोष के त्याग से तथा फल इस प्रकार दूसरे अर्थ में पांच अध्यायों की प्रवृति है।

प्रकाश – प्रथम अध्याय का अर्थ साधन है। 'च' संसाधन का भी साधन अवज्ञादि जो राज्य प्राप्ति रूप है। राज्य में क्रोधादि दोषों का वर्णन तृतीय अध्याय का अर्थ है। वह अग्रिम फल का प्रयोजक है। उपदेश से दोष का परित्याग यह चौथे अध्याय का तात्पर्य है। फल वर्णन पंचम अध्याय का अर्थ है 'च' द्वारा नारदादि से की गई स्तुति रूपा कीर्ति भी है इस भांति दूसरे अर्थ प्रकरण में अर्थ जानना।

आभास – इसके पीछे पहले अध्याय के अर्थ का विचार करते हुए सर्ग लीला में ही मुक्त जीवों की सृष्टि में सनकादिकों का वर्णन किया गया है। यहां पर अब फिर एक श्लोक द्वारा वह निरर्थक है। ऐसी शंका कर के उसका उद्देश्य बताते हैं।

कारिका – धर्मस्यानतियुक्तत्वाद्विवेकी तत्त्यजेद्ध्रुवम्।

सनकादिकथा तस्माद्विसर्गे पुनरूच्यते।।७९।।

अर्थ – धर्म अति युक्त नहीं होता है इस कारण से विवेकी उसका निश्चित रूप से परित्याग करदे। इसके लिये सनकादिक की कथा है। उन सनकादिक की कथा का विसर्ग में फिर वर्णन है।

प्रकाश – मर्यादा में विहित होने के कारण धर्म का करना ठीक है किंतु पुष्टिरूप पुरुषार्थ लीला में वह अप्रयोजक है इसलिये वह अत्यन्त योग्य नहीं होने से विवेक से उसका त्याग निश्चित रूप से कर दें इसको कहने के लिये उसका वर्णन है।

आभास – जिसके करने का नियम है उसको छोड दिया जायेगा तो उसमें प्रत्यवाय की आशंका होगी इस पर बताते हैं कि यह घर का त्याग करना धर्म का विरोधी मार्ग नहीं है परन्तु ससन्तान अधर्म है इस बात को बताने के लिये अधर्म की कथा है उसको बताते हैं

कारिका - प्रतिपक्षोह्यधर्मस्तु धर्मस्येति ततः कथा।
अर्थस्याऽनर्थ हेतुत्वात्तत्संबंधेन वर्ण्यते।।८०।।

अर्थ - जो धर्म के विरूद्ध होता है उसको अधर्म बताया गया हैं परन्तु ससन्तान होना अधर्म ही। अतः सनकादिक की कथा है। जिसको धर्म बताया है वह अनर्थ का कारण हो जाता है। इस कारण से उसके विषय का यहांपर कथन है।

प्रकाश - सनकादिक की कथा धर्म रूप है तब उसका निरूपण धर्म प्रकरण में ही करना चाहिये था उसका समाधान करते हैं कि अर्थ अनर्थ का कारण हो जाता है।

आभास - जब अर्थ अनर्थ का विषय है तब फिर उसका निरूपण इस प्रकरण में अर्थ रूप से किया गया है। इस पर बताते हैं-

कारिका - कृष्णप्रसादादर्थत्वं तेनाऽर्थस्याऽत्र वर्णनम्।
अधर्मेपि फलं तेन निवृत्तावुपयोगतः।।८१।।

अर्थ - भगवान् कृष्ण की कृपा से मिलने वाला अर्थ ही अर्थ रूप है तथा उसी का तात्पर्य यहां पर निरूपित है। अधर्म में भी उससे फल होता है तथा उसका उपयोग निवृत्ति में होता है।

प्रकाश - यहां पर बताया है कि भगवान् की कृपा से मिलने वाला अर्थ होता है तथा भगवत्कृपा से नहीं मिलने वाला अनर्थ है। इस प्रकार व्यवस्था जानना। उसके लिये दृष्टान्त बताते हैं जब ज्येष्ठ पुत्र है उस समय छोटे लड़के का राज्य करना अनुचित (अधर्म) है किन्तु अधर्म होने पर भी उसका फल हुआ। इस कारण भगवान् की कृपा से ही उसमें अर्थता आ गयी। भगवत्प्रसाद से ही अनर्थ हेतु में भी अर्थ साधकता होती है। दूसरे में नहीं। भगवान् की कृपा से प्राप्त अर्थ अनर्थ का हेतु नहीं होता है इसमें दूसरी युक्ति देते हैं, अर्थ का अनर्थ इस कारण से माना गया है कि उस अर्थ द्वारा अनर्थ रूप संसार में प्रवृत्ति होती है। अर्थ अपने आप अनर्थ रूप नहीं है। भगवान् के कृपा प्रसाद रूप से मिलने वाला अर्थ तो वैराग्य का हेतु होने से वह अर्थ अनर्थ रूप नहीं है।

आभास - यहां पर आशंका करते हैं कि बडे क्रम से ही निरूपण करना चाहें तो यहां छोटे का कथन प्रथम क्यों किया। यहां पर मनुपुत्रादि के राज्य का वर्णन नहीं है। यहां पर तो सर्गादि लीला का क्रम से वर्णन है अतः जिस लीला में जिस जिस का उपयोग है उस उसमें उसका वर्णन है। इसलिये पहले कहा गया दोष नहीं होता है इसे कहते हैं-

कारिका - प्रियव्रतस्तु ज्येष्ठोऽत्र स्थाने तस्य प्रयोजनम्।
प्रक्रिया नास्तिकस्यापि ह्यष्टमे त्वस्य संभवः।।८२।।
ध्रुवादयस्त्वपेक्ष्यन्ते तेनोत्तानपदन्वयः।।८२ १/२।।

अर्थ – प्रियव्रत यद्यपि यहां ज्येष्ठ था किंतु उसका निरूपण नहीं किया क्योंकि मनुवंश का स्थान में अग्रिम लीला में उसका प्रयोजन है। इस कारण से यहां पर किसी की प्रक्रिया नहीं है इनकी उत्पत्ति आदि का निरूपण आठवें स्कंध में है। ध्रुव आदि की तो यहां अपेक्षा है। अतः उत्तानपाद के वंश का कथन किया है।

प्रकाश – यहां पर मनु वंश का अग्रिम स्थाल लीला में उद्‌देश्य होने से उसका वर्णन वहां पर ही किया जायगा। ऐसा क्यों है उसको वहीं बतायेंगे। इस कारण यहां पर किसी भी मनु आदि का प्रक्रिया के क्रम में वर्णन विशेष रूप से नहीं है। उसका कारण यह है कि मन्वन्तर में मनु, देव, मनुपुत्र, इन्द्र , ऋषि तथा भगवान् के अंशावतार ये छः प्रकार बताये हैं। **'मन्वन्तरं मनुर्देवाः मनुपुत्राः सुरेश्वरः। ऋषयोंशावतारश्चहरेः षड्विधमुच्यते'** आदि वाक्यों द्वारा यह मन्वन्तर रूप होने से आठवें स्कंध में उन मन्वादि की उत्पत्ति बतायी जायेगी। द्वितीय स्थान पर तो उद्‌देश्य के अनुसार कथन होने से किसी तरह का दोष नहीं है। तब फिर उत्तानपाद के वंश के कथन का क्या उद्‌देश्य है? उसका प्रयोजन यह है कि भगवान् की पुरुषार्थ रूप जो सर्ग लीला है। उसमें जिसका जो अर्थ है साधित किया गया हैं उसका वर्णन जरूरी होने से अर्थादि पुरुषार्थों का ध्रुव पृथु प्रचेताओं ने हरेक ने साधन किया है। तथा ये सभी उत्तानपाद के वंशज थे इस कारण उनका वर्णन है।

आभास – यहां पर शंका करते हैं कि राज्यादि तो सभी के एक से ही हैं तब फिर भगवत्कृत अर्थ में क्या अधिकता है। अतः अर्थ का स्वरूप बताते है।

कारिका – **अभिमानेन सुखदः पूर्वभागेऽपि यस्य हि।।८३।।**
अविद्यमानपूर्वः स्यादर्थः सोऽत्र निरूप्यते।
विद्यमाने तु विषये कामः सोऽग्रे विविच्यते।।८४।।

अर्थ – जिस अर्थ का साधन काल भी सुखदायक होता है किंतु अभिमान से अविद्यमान पूर्व जो अर्थ है उसका यहां पर वर्णन नहीं था विद्यमान विषय में जो काम है। उसका वर्णन आगे करेंगे।

प्रकाश – जिस साधन का पहले का भाग अर्थात् साधन काल भी सुखद होता है, क्योंकि उसके भगवान् का आविर्भाव रहता है। उसमें भी यदि अनर्थ का साधन जो अभिमान है उससे साधित उस तरह का जो अर्थ है उसका इस प्रकरण में वर्णन है। भगवान् की कृति के बिना ऐसा होना संभव नहीं है। यदि यह कहा जाय कि पृथु को तो ऐसे ही इष्ट की सिद्धि हो गयी थी। तब इनमें भेद क्या है। उस पर बताते हैं कि भगवत् कृति से जो पूर्व विद्यमान् हो ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। जिस तरह ध्रुव को हुई थी। ध्रुव स्थान को पूर्व में भी किसी ने प्राप्त नहीं किया था। तथा इस स्थान को जाना भी नहीं था। ऐसे स्थान को ध्रुव ने प्राप्त किया था। जहां पर विद्यमान् विषय की सिद्धि होती है उसको तो काम कहते हैं इन दोनों में यही भेद है। पृथ्वी का दोहन जो पृथु ने किया था वे पदार्थ तो पृथ्वी पर पूर्व से ही सिद्ध थे। ध्रुव ने जिस स्थान को प्राप्त किया था वह तो पूर्व में विद्यमान् नहीं था। इसका मुख्य विवेचन काम प्रकरण में किया जायगा।

आभास – मनु का पुत्र उत्तानपाद था। उनका काम धर्म की रक्षा करने का होता है। **'मन्वन्तराणि सद्धर्मः'** तब फिर उसने बालक ध्रुव का तिरस्कार क्यों किया जहां बालकों का एवं कुल के वृद्धों का तिरस्कार होता है तब वह अपमान अभिमान करने वालों को दग्ध कर देता है। **'बालाश्च कुलवृद्धाश्च निर्दहान्त्यव मानिताः'** इस प्रकार का वाक्य है इसलिये निरूपण करते हैं–

कारिका – धर्मार्थमवतीर्णोऽपि जड एव स्त्रिया भवेत्।
इत्यारूरूक्षोः पुत्रस्य नाऽभिनन्दनमीरितम्।।८५।।

अर्थ – उत्तानपाद का जन्म यद्यपि धर्म रक्षा हेतु हुआ था किन्तु स्त्री के कारण वह जड हो गया। अतः अपनी गोद में बैठने की कामना वाले पुत्र का अभिनंदन नहीं किया यह बात कही है इसकी पुष्टि होती है।

आभास – ध्रुव को भजन का उपदेश देने वाली सुरुचि किस प्रकार नष्ट हुई इस पर कहते हैं–

कारिका – नाशकारणमस्यास्तु साक्षेपकथनं हरेः।
अन्यथा दूषणं नाऽस्ति न च मृत्युध्रुवेष्टदः।।८६।।

अर्थ – केवल ध्रुव को ही भगवान् के भजन का उपदेश देती तो कोई बुरी बात नहीं थी किन्तु उसने तो यह बताया था कि 'तपस्या के द्वारा भगवान् की आराधना करके तथा उनके अनुग्रह से मेरे गर्भ में तू स्व आत्मा को सिद्धकर यदि नृप के अंक में बैठना है तो **'तपसाराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे। गर्भत्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्'** इसलिये भगवान् की अपेक्षा बतायी इस कारण उसका नाश हुआ। अन्यथा तो किसी प्रकार का दूषण नहीं था इष्ट के देने वाली मृत्यु भी नहीं होती।

कारिका – रोदनं च मृतिश्रुत्या दुःखपारोऽत एवहि।
साधनं तु तदेवाऽत्र मरणं तु न मन्यते।।८७।।
असाध्यमपि संसिद्धं ब्रह्मादीनां यतो हरेः।
सकामत्वाद्विद्धयभावे प्रकाराज्ञानतो मृतिः।।८८।।
विश्वासाद्ध्रवतीत्ये तन्नारदः कामवारकः।।८८ १/२।।

अर्थ – ध्रुवजी ने रूदन तो इस कारण से किया कि जब मरे तभी गर्भ में जन्म हो सकता है। इस कारण अपने मरण की बात का श्रवण कर उनको अत्यन्त कष्ट का अनुभव हुआ। साधन तो उसने कहा था वही था किन्तु मृत्यु वह नहीं चाहता था। भगवत् कृपा से ध्रुवजी के लिये जो स्थान था वह ब्रह्माजी के लिये भी असाध्य था वह उनके लिये सिद्ध हो गया। नारदजी ने ध्रुव को मना किया उसको मना इसलिये किया कि वह सकाम कर्म कर रहा है। नियम पूर्वक ही सकाम कर्म होना चाहिये। विधि के बिना इसके फल की प्राप्ति होती नहीं है किन्तु यह भरोसे के कारण करता ही रहता है। तब मृत्यु अवश्यं भावी थी इस कारण से मना किया।

प्रकाश – ध्रुव जी जब भजन करने में लगे हुए थे तब नारदजी ने उन्हें क्यों मना किया यह उचित नहीं था। उसका समाधान करते है कि निष्काम भजन करने में तो किसी तरह की विधि की अपेक्षा नहीं होती है। परन्तु ध्रुव कामना से भजन करना चाहता था। इसलिये उस तरह के फल की इच्छा के लिये उस तरह का अधिकारी तथा उस भांति की विधि का उसने श्रवण नहीं किया था तथा उस तरह का उसे बोध भी नहीं था। बिना विधि के करने से बचपन के कारण उस की मृत्यु हो जाती यह समझ कर ही नारद जी ने उसे आकर मना किया। नारद जी इच्छा को रोकने वाले इसी कारण हुए। यदि यह कहा जाय कि कुछ काल तक भजन करता तथा जब उसको किंचित् भी फल नहीं मिलता तब क्लेश के कारण स्वयं त्याग देता। नारदजी का रोकना निरर्थक था इसका समाधान करते हैं कि ध्रुव को अपनी माता पर भरोसा था उसने जो कहा था कि भजन से तुझे सिद्धि अवश्य प्राप्त होगी इस कारण वह भजन करना छोड़ता नहीं तो उसका मरण हो जाता। नारदजी के मना करने का यही कारण था।

आभास – तब नारदजी ने अन्य उपाय का उपदेश क्यों नहीं दिया इस पर बताते हैं–

कारिका – साधनं तु तदेवाऽत्र काममात्रं निवार्यते।।८९।।
प्रतिबन्धोऽत एवाऽऽसीत्सामग्री साधनेऽपि हि।।८९ १/२।।

अर्थ – वह ही साधन था केवल इच्छा का निवारण ही नारदजी ने किया था इस कारण नारदजी ने आकर बाधा (मना) की

प्रकाश – 'सर्व सिद्धियों का मूल भगवान् का भजन ही है। इस वाक्य से साधन तो अन्यथा नहीं था। ध्यानादि का उपदेश भी इच्छा के निवारण हेतु ही था। भगवान् का ऐसा रूप हैं इस वाक्य से 'इन्द्रियों के विषय में विरक्तरहना' इसके द्वारा ध्यान तथा पूजादि साधनों का उपदेश नारदजी द्वारा ही था। यदि यहां पर शंका हो कि कामना के निरोध के लिये नारदजी का इस प्रकार का आग्रह क्यों था इस पर बताते हैं कि ध्रुव की इच्छा खराब नहीं थी इसलिये भजन सामग्री के लिये साधन में भी नारदजी का आगमन जल्दी भगवत्प्राप्ति में बाधा डालने वाला हो गया। आशय यह है कि वह ध्रुव उस समय जिस तरह के दैन्य भाव से चला था उस समय यदि नारदजी का आगमन नहीं होता तब उस तरह के भाव से बालकपन के शुद्ध भाव से संतुष्ट होकर स्वयं ही भगवान् थोड़ी दूर पर प्रकट हो जाते मिलन में प्रकारादि के बोध से तथा साधन की दृढ़ता से उस तरह की दीनता की। उसमें न्यूता हो जाती इस कारण नारदजी मध्य में आ गये। सकाम ध्रुव के कार्य में नारदजी बाधक इस कारण बने कि आगे कार्य में इसके बाधा नहीं आवे। इस कारण उन्होंने उस प्रकार से कहा था। जब ध्रुव का बहुत आग्रह देखा तब जहां दैत्यों का वास नहीं है एवं निरन्तर भगवान् पास में रहते है। बाधाओं के बिना उस देश को कह दिया।

कारिका - चतुष्टयत्वसिद्ध्यर्थमर्थानां प्रेरणाद्धरेः।

नोपदेशः फलायाऽऽसीदत्यन्ताभिनिवेशितः।।९० १/२।।

अर्थ - पुरुषार्थ चतुष्टय ध्रुव के लिये सिद्ध हो इसके लिये हरि की प्रेरणा से नारदजी का आगमन हुआ था किन्तु अतिआग्रह से नारदजी का उपदेश सफल नहीं हो सका।

प्रकाश - नारदजी का आगमन किस प्रकार से हो गया उसके विषय में बताते हैं कि हरि की प्रेरणा से हुआ। उस प्रकार की प्रेरणा क्यों हुई उसका कारण यह था कि यदि पहले कही गई रीति ही रहती तो तीन प्रकार के पुरुषार्थ ही सिद्ध होते। इसलिये पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि हेतु नारदजी का आगमन हुआ। इसी को विसर्ग लीला में अंगीकार किया गया है। यदि ध्यानादि के करने पर भी उनकी कामना की निवृत्ति क्यों नहीं हुई। उसका हेतु यह था कि उनका अत्यन्त अभिनिवेश था। इस कारण नारदजी का उपदेश पूरा नहीं हो सका था।

आभास - ध्रुवजी के वन गमन से भगवान् की कामना को ज्ञात कर नारदजी भगवद् इच्छा की सिद्धि हेतु ही राजा के समीप गये थे क्योंकि कहीं पर ऐसा नहीं हो कि राजा कहीं किसी मनुष्य को भेजकर उसमें रूकावट कर दे।

कारिका - प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं राजान्तिगमनं मुनेः।।९१।।

वृथैव मरणं वा स्यात्साधने वार्थदुर्लभेः।।९१ १/२।।

अर्थ - राजा ध्रुव के काम में रूकावट नहीं करे इस कारण नारदजी राजा के समीप गये थे। राजा यह जानता था कि दुर्लभ अर्थ के साधन में कहीं ध्रुव का निरर्थक मरण नहीं हो जाय इस कारण से किसी पुरुष को भेजकर ध्रुव को बुला लेता।

प्रकाश - राजा ने ध्रुव का यद्यपि मान नहीं किया था। किन्तु पुनः उसे यह चिन्ता हो गई थी कि उसके पुरुषार्थ की सिद्धि तो नहीं होगी तथा उसे भेडिये (हिंसक) पशु आदि खा जायेंगे तब उसका मरण हो जायेगा। क्योंकि पुरुषार्थ की सिद्धि में जो अर्थ है वह तो कठिन है तथा उसको प्राप्त करने में यह प्रवृत्त हो रहा है। इस कारण संशय है।

आभास - राजा यदि रोकना चाहता तब उसी समय रोक सकता था अब जब देरी गई तो उसमें अब कोई बाधा नहीं करेगा ऐसा बोध होता है तो फिर मुनि का आगमन तो निरर्थक ही है। इस पर बताते हैं-

कारिका - अतश्चिन्ता विलम्बस्तु भार्यातोऽसंशयो मुनेः।।९२।।

पूर्वर्षित्वात्तपोत्युग्रं कामावेशात्पुनस्तथा।।९२.५।।

अर्थ - राजा के समीप ही सुरुचि बैठी हुई थी इस कारण से उस समय राजा ने ध्रुव को मना नहीं किया इसलिये देरी हुई। इस बात को मुनि जानते थे। ध्रुव पहले के जन्म में ऋषि था तथा उस समय उसने बहुत तपस्या की थी तथा अब भी इच्छा के आवेश से पुनः तपस्या करना चाहता है।

प्रकाश – राजा ने उस समय ध्रुव को इस कारण से मना नहीं किया कि राजा रानी के पराधीन था तथा वह समीप में बैठी हुई थी। नारदजी ने राजा की इन बातों का कैसे पता लगाया एवं सान्त्वना देने हेतु किस प्रकार चले गये इस पर बताते हैं कि नारदजी मुनि है तथा मननशील है इस कारण के सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ होने से प्रत्येक बात को जानते हैं। पांच वर्ष का ध्रुव इस प्रकार की तपस्या में लगेगा इसमें क्या समाधान (उपपत्ति) है इसका उत्तर यह है कि ध्रुव पहले के जन्म में ऋषि थे। तब फिर इनमें इस तरह की ईर्ष्या किस कारण से हुई इसमें इच्छा का आवेश ही कारण है। पहले के जन्म में तपस्या करते हुए किसी राजकुमार को इस ध्रुव ने देखा था तब इसकी भी यह इच्छा हो गई थी कि मैं भी ऐसी तपस्या करूं इस इच्छा के लिये हुए ही इसका मरण हो गया तथा अगले जन्म में वह ध्रुव हुआ ऐसी कथा दूसरे पुराणों में प्रसिद्ध है इस कारण यह बताया है कि इच्छा के आवेश को लेकर ही मरण हुआ था तथा इस समय भी इच्छा को लेकर तपस्या कर रहा है।

आभास – ध्रुव के हृदय में स्थित विश्व के आधार रूप तथा देवताओं द्वारा प्रार्थना किये जाने वाला रूप एक ही है या अलग है। ध्रुव के यदि हृदय में स्थित रूप ही बहिः स्थित है तो उससे लोगों का श्वास किस प्रकार बंद हो गया तथा यदि देवताओं द्वारा प्रार्थना किया रूप हो तो उस का स्वरूप कैसा है इस शंका पर ध्रुव के हृदय में किस प्रकार का रूप था उसे बताते हैं–

कारिका – **जगत्कारणरूपं हि यदक्षरमुदीरितम्।।९३।।**
मुख्यप्राणयुतं पूर्वमाविर्भूतं हरेः पदम्।।९३ १/२।।

अर्थ – ध्रुव के हृदय में जो रूप था वह जगत् का कारण रूप जिसको अक्षर कहते हैं वह था। जिसका पूर्व में आविर्भाव हुआ था। जो भगवान् का चरण रूप है वह मुख्य प्राण से युक्त है इस कारण से सबके प्राणों का निरोध हो गया।

प्रकाश – **"प्रकृतिः पुरूषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा"** इससे जिसका निर्णय **'सर्वनिर्णय'** प्रकरण में किया गया है। वह रूप था इसकी मुख्य जानकारी वहां भी प्राप्त हो सकती है इस कारण बताया है कि उदीरितम् (वहां कहा है) वह मुख्य प्राण से संयुक्त भी इसलिये लोगों के प्राण रूक गये थे। यह रूप भगवान् के आविर्भाव के पूर्व था।

आभास – इस तरह का अक्षर ब्रह्मरूप का रूप ध्रुव के हृदय के उत्पन्न क्यों हुआ इसका क्या कारण है इस पर बताते हैं–

कारिका – **भक्तिभावेन संहृष्टः प्रादुर्भूतोभविष्यति।।९४।।**
कृपया सर्वरूपेण हरिरित्यक्षरं तथा।
निरूच्छवासेन पीडाऽभूदतः सर्वशरीरिणाम्।।९५।।

अर्थ – ध्रुव की भक्ति से भगवान् प्रसन्न हो गये। कृपा से भगवान् स्वरूप से प्रकट होंगे उसी के लिये अक्षर

भी सर्वरूप से हो उसके हृदय में प्रकट थी इसी से सर्व प्राणियों के प्राणों के रुक जाने से उन्हें दुःख हुआ।

प्रकाश – प्रादुर्भाव में यह कारण था कि सर्वरूप से प्रादुर्भाव में कारण तो भगवान् की कृपा ही थी। वह ध्रुव सकाम भक्तथा। इस कारण विशेष कृपा से उसकी कामना की सिद्धि हो इसके लिये सर्वरूप से हरि उसमें प्रकट होंगे। इसलिये अक्षर ब्रह्म भी उसी रूप से उसके हृदय में प्रकट हो गया। इस कारण से सभी ऊपरभाग में स्थित लोक की प्राप्ति उसको हो गयी। सर्व प्राण रूप जो मुख्य प्राण है उसके कारण से ही अन्तः निरोध हो जाने से ही ध्रुव के प्राणों का निरोध हो गया। जिससे सभी को कष्ट हो गया।

आभास – यदि प्राणों का निरोध हो गया तब फिर भगवान् की आराधना किस भांति हुई उस पर बताते हैं–

कारिका – **अद्याऽपि भगवान्नाभूदिति सम्प्रार्थ्यते सुरैः।।**
जाते गत्यादिशक्तिश्च नश्येदिति तथा वचः।।९६।।

अर्थ – अभी तक भगवान् का प्राकट्य नहीं हुआ था इसलिये देवों ने भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् यदि प्रकट हो जाते तो ध्रुव की गत्यादि की शक्ति तथा वाणी का नाश हो जाता।

प्रकाश – यद्यपि बताये गये रूप वाले अक्षर ब्रह्म का प्राकट्य हो गया था किन्तु सर्वात्मरूप भगवान् प्रकट नहीं हुए थे। उसके हृदय में यदि सर्वात्मरूप भगवान् प्रकट हो जाते तब क्या होता? यह होता कि गति एवं सर्व इन्द्रियों की शक्ति भी समाप्त हो जाती है, इस कारण भगवान् ने कहा **'प्रतियात स्वधाम'** तुम अपने निवास स्थान की इन्द्रियों में चले जाओ।

आभास – तब फिर देवताओं का समाधान किस प्रकार हुआ? भीतर प्रकट होने से तो पूर्व वाला दूषण ही रहा तथा यदि बहिः प्राकट्य होता तो अन्तः प्रकट जो अक्षर रूप है उसका प्राकट्य निरर्थक हो जाता है इस पर बताते हैं–

कारिका – **बहिः प्रकटनात्सर्वं साधयिष्यति वै हरिः**
प्रसादे गरूडो नीतः कालग्रसन कारणात्।।९७।।

अर्थ – बहिः प्रकट होकर भगवान् इन सभी क्लेशों को दूर कर देंगे। भगवान् जब प्रसन्न होकर बाहर प्रकट हुए तब कालरूप गरूड को भी वहां पर ले गये अर्थात् मेरे प्रसन्न होने पर यह कालरूप गरूड तुझे ग्रसित नहीं कर सकेगा।

प्रकाश – हरि के बहिः प्रकट होने से ध्रुव के उच्छ्वासादि की संभावना होने के कारण सर्व प्राणियों के श्वास बंद हो जाने का कष्ट दूर हो गया। जब किसी का आगमन होता है तब पैर धरते हुए आता है इस कारण अपने प्राकट्य के पूर्व स्वयं के चरणरूप अक्षर ब्रह्म को ध्रुव के हृदय में प्रकट किया। अतः अक्षर ब्रह्म का पैदा होना निरर्थक नहीं है। केवल अक्षर ब्रह्म का प्राकट्य तो हृदय द्वारा ही होता है। इस तरह का विधान होने से अक्षर ब्रह्म का प्राकट्य हृदय में हुआ। इसके पश्चात् बहिः स्थित जो भगवान् के चरणारविंद थे उनके संग उस अन्तःस्थित चरणरूप अक्षर ब्रह्म की एकता होकर आविर्भाव हुआ जिससे मुख्य प्राण की भगवान् निवास करने वाले जगत् के प्राणों के संग उसकी एक रूपता हो गयी यह सर्वपद का आशय है। यह सभी हरि बहिः प्रकट होकर ही कर सकेंगे। गरूडजी के संग आने का तो मुख्य प्रयोजन था उसे बताते हैं गरूड कालरूप है वह काल रूप गरूड जब ध्रुव के ऊपर हरि की इस तरह की कृपा स्वयं देखेगा तब अन्त में काल उसको ग्रसित नहीं करेगा। अतः उस गरूड को अपने प्रसन्न होने के समय संग ले गये।

आभास – भगवान् का जब पधारना हुआ तब ध्रुव के भीतर स्फूर्ति क्यों हुई उसका उद्देश्य कहते हैं।

नवम अध्याय प्रारम्भ

कारिका – अस्फूर्त्तौ पूर्ववत् स्फूर्तौ विश्वनाश इति स्वयम्
अवेक्षारुपधृक् कृष्णास्तडिद्वद्धृदये बभौ।।९८।।

अर्थ – भगवान् की स्फूर्ति ध्रुव के यदि भीतर नहीं होती तथा पहले की तरह स्फूर्ति होती तो विश्व नष्ट हो जाता। इस कारण जिस अपनी दृष्टि से समस्त जगत् का पालन करते हैं उस रूप को धारण करके विद्युत की तरह कृष्ण हृदय में प्रकट हुए।

प्रकाश – उस ध्रुव के भीतर यदि भगवान् की स्फूर्ति नहीं होती तथा पूर्ववत् विशेष प्राणयुत् जगत् के कारण रूप अक्षर की ही स्फूर्ति होती तो विश्व का नाश हो जाता। यह कहने का उद्देश्य है ध्रुवजी जिस रूप को भीतर देख रहे थे यदि भगवान् उसको नहीं छिपाते तो उनको बाहर का अनुसंधान नहीं होता। इस कारण ध्रुवजी जिस रूप को भीतर देख रहे थे उसका तिरोभाव कर दिया उसका तिरोभाव होने के कारण ही मुख्य प्राण का कारण रूप में लय हो गया। यदि इस प्रकार नहीं होता तो श्वास में अभाव में प्राण पीडा की तरह समस्त विश्व की मृत्यु हो जाती। इस कारण से जिस रूप से अपनी दृष्टि से ही समस्त जगत् का पालन करते हैं उस रूप को धर कर के सत्ता का संपादन किया क्यों कि रक्षा में आनंददायक रूप का ही सम्पादन किया जाता है। उसका तो केवल प्राकट्य मात्र ही होता है। उसकी स्थिति दीर्घ समय तक रहने का कोई उद्देश्य ही नहीं है। इस कारण वह रूप केवल विद्युत की भांति हृदय में प्रकाशित हुआ। इसके चमकने में ध्रुव का किसी तरह का प्रयत्न नहीं था वह प्रकाश तो अपने आप हुआ अब जब पालक रूप उसके संग मिल गया तब नष्ट कैसे होता। अथवा पूर्ववत् स्फूर्तौ अस्फूर्तौ को इस भांति योजित कर सकते हैं कि जिस रूप की स्फूर्ति पहले से हो रही थी उस रूप की स्फूर्ति एकाएक बंद हो गयी।

आभास – मूल में शंख के लगने से ध्रुव की वाणी (स्तुति की शक्ति) प्रदान हो गयी। यह जो बताया है वह तो केवल परिचय मात्र दिय गया है उसे बताते हैं–

कारिका – **मध्येऽपि जातकामानां पूरणाय दरस्पृशिः।**
अपां तत्त्रे स्वतृप्त्यर्थमासन्यो वर्तते हरेः।।९९।।
वेदमूलत्वतस्तस्य दरो ब्रह्ममयः स्मृतः।।९९ १/२।।

अर्थ – बीच में भी यदि कोई इच्छा हो तो उसको भी पूरा करने हेतु शंख को लगाया शंख जल तत्व है अतः उसमें स्वयं की तृप्ति के लिये समीप हरि विद्यमान है। भगवान् का आसन्य प्राण वेदमय है इस कारण शंख ब्रह्ममय जाना गया है।

प्रकाश – शंख जब इच्छाओं की पूर्ति करता है इस कारण शास्त्र तथा अस्त्र के भरोसे शत्रुओं को उससे जय किया जाता है। बताया भी है जिस (शंख) की आवाज (हवन) दानवों के घमंड का नाश कर देती है। **यस्य ध्वनि र्दानवदर्पहन्ता** शंख को जल का तत्व कहा गया है। **'अपां तत्वं दरषरम्'** उससे ब्रह्म शब्द की स्फूर्ति किस भांति होगी उसका उत्तर देते हैं इस कारण वह शब्द ब्रह्ममय है। निरन्तर उस शंख की स्थिति तो अपनी तृप्ति के लिये है। जल से प्राणों की तृप्ति होती है यह तो प्रसिद्ध ही है। **'स्मृतः'** शब्द से इसमें प्रमाण को बताया गया है जैसा कि मूल में कहा है **'ब्रह्ममयेन कम्बुना'** ब्रह्ममय शंख से ध्रुव के कपोल का स्पर्श किया।

कारिका – **प्रेमबोधकमन्यद्धि सर्ववेदात्मसात्कृतौ।।१००।।**
यथा मतिस्तथा जाता ऋषित्वात्तु तदुद्भवः।।१०० १/२।।

अर्थ – सभी वेदों को आत्मसात् करने में प्रेम बोधक चक्षु थे। पुष्टि के कारण उसमें ऋषित्व आ गया था। इस कारण जिस प्रकार की मति होनी चाहिये उस प्रकार की हो गयी।

प्रकाश – प्रेम के प्रबोधन में भगवान् का दोनों चक्षुओं द्वारा देखना कारण था। यद्यपि मंत्रादिको की भांति शंख के स्पर्श से शब्द मात्र पैदा हो सकता है अर्थ ज्ञान तो नहीं हो सकता है सर्व वेदों का मूल जो भगवान् का आसन्य प्राण है उससे भरा वह शंख था इसलिये अर्थ बोध भी हो गया। वह ध्रुव संस्कार रहित था तो ऋषि हो गया था। **'तु'** शब्द पूर्व **यक्षकाव्यत्वच्छेदक** है। पुष्टि से ही इसके कार्य की सिद्धि हो गयी थी इस कारण उसमें मर्यादा मार्गीय दोष (बुराई) नहीं होते हैं। उसमें जब ऋषित्व हो गया स्वरूप योग्यता का संपादन हो गया।

आभास – यह सब होने पर भी स्तुति तो वह अपने अधिकारानुसार ही करेगा इस मंशा से स्तुति का आशय बताते हैं।

कारिका - सर्वेश्वरत्व भजने स्तुत्या साधुनिरूपिते।।१०१।।
विसगार्थप्रकरणात्स्वकार्यादभिनन्दनम्।
पुष्टावनभिनन्दश्चप्रक्रियाभेदतो भवेत्।।१०२।।

अर्थ – स्तुति द्वारा सर्वेश्वर के भजन का भली भांति से वर्णन करने पर यह विसर्ग अर्थ का प्रकरण होने से तथा भगवान् का अभिप्रेत जो स्थान का दान था उसी का ध्रुव ने अभिनंदन किया। पुष्टिमार्ग में तो प्रार्थना का अभिनंदन नहीं होता है। क्योंकि पुष्टि तथा मर्यादा की प्रक्रिया पृथक् है।

प्रकाश – यह भजन संक्षेप में तत्व रूप में ही था आत्मस्वरूप से नहीं था या मेरे लिये ही उत्पन्न हो इस लिये था। भगवान् सर्वेश्वर है उनके भजन से ही अर्थ प्राप्ति होती है इस कारण हेतु मद्भाव से स्वयं के उपयोगी होने से उसका वर्णन किया गया है। इस लिये उसमें श्रेष्ठता है। उसमें हेतु कहते हैं क्योंकि यह विसर्ग लीला है इस कारण भजन का निरूपण किया है। जो विसर्ग लीला में स्थित है वे अन्त में मुक्ति पाने के अधिकारी होते हैं। अर्थ प्रकरण होने के कारण पहले का ही अभिनंदन किया है क्योंकि वह ही अर्थ साधक था। भगवान् ने अन्त में की गई प्रार्थना का ही अभिनंदन क्यों किया। 'जिन महात्माओं में भक्ति भाव अविच्छिन्न रूप से हो उनका संग मेरे को दीजिये। **'भक्ति मुहुः प्रवहतात्वयि मे प्रसंगो 'भूयात्'** यह ध्रुव की आखिरी प्रार्थना थी। अब इसके आगे और क्या शेष रहता है? ऐसी शंका में भगवान् का अभिप्राय कहते है। भगवान् का अभिप्राय तो यह था कि इसे स्थान दिया जाय इस कारण उसी का अभिनंदन भगवान् ने किया। पहले के पद का संबंध यहां पर करना तथा जो ध्रुव ने **'भक्तिमुहुः प्रवहताम्'** अर्थात् जिनके भीतर भक्ति का प्रवाह चलता रहता है। उनका साथ दीजिये यह जो याचना की थी यदि भगवान् ध्रुव को ये दे देते तो उनकी मुक्ति जल्दी हो जाती तथा यदि मुक्ति हो जाती तब फिर अर्थ के सिद्ध नहीं होने से स्वयं की इच्छित लीला सिद्ध नहीं होती। इसी बात को स्पष्ट बताते हैं। पुष्टि मार्ग में भगवान् की इच्छा ही प्रबल होती है अतः कितनी भी प्रार्थना करो किन्तु भगवान् ने जो विचारा होगा उसी प्रार्थना को वे स्वीकार करेंगे दूसरी तरह की प्रार्थना को नहीं। यह पूर्वोक्त प्रक्रिया (प्रकरण) के भेद से होती है। इस स्थान पर ऐसा ही जानना।

आभास – यदि इस तरह है तब तो भगवान् में यह कमी है कि प्रार्थनानुसार नहीं करते हैं इसका परिहार बताते हैं-

कारिका - दृष्टोत्कर्षो ध्रुवान्नास्ति मरणाद्भावितान्मृतिः।
प्रजापालनयज्ञौ हि धर्मस्तेनेहं संस्मृतिः।।१०३।।

अर्थ – ध्रुव के अलावा दूसरे में दृष्ट पदार्थों से उत्कर्ष नहीं है। ध्रुव ने अतिदुःख के कारण भाई और उसकी माता के मरण की ऐसी भावना की थी इसलिये उनकी मृत्यु हो जाती है। इस कारण भगवान् ने प्रजा की रक्षा करना तथा यज्ञ करना इससे धर्म होता है। इस स्मृति का उपदेश दिया।

प्रकाश – ध्रुव दूसरे में दृष्ट पदार्थों से जो उत्कर्ष है वह नहीं है तथा अदृष्ट उत्कर्ष भी नहीं है। यह अर्थ प्रकरण है। इस कारण से वह दृष्टार्थ ही होना चाहिये। अतः भगवान् ने ध्रुव को कहा है कि 'हे भद्र जिस स्थान को आज तक किसी ने प्राप्त नहीं किया है वह स्थान मैं तुझे देता हूँ। **'नान्यैरधिष्ठितं'** इस भगवान् के कथन का उद्‌देश्य बताया है। यद्यपि भाई तथा उस भाई की माता के अनुकूल हो जाने पर भी स्थिति हो सकती थी फिर भगवान् ने इस प्रकार क्यों कहा इस पर बताते हैं कि ध्रुव ने अति क्लेश (दुःख) के कारण अपने हृदय के भीतर उनके मरण की भावना की थी इस कारण भगवान् ने उसकी मानवता के अनुरूप उसका इष्ट भी हो तथा अनिष्ट हट जाय ऐसा भगवान् ने संपादन किया। अर्थ का भोग भगवान् को विस्मृत करा देने वाला होता है इसलिये ऐसा नहीं हो उसके लिये भगवान् ने यह कहा कि तुम प्रजा की रक्षा करो तथा यज्ञ करो। यदि आशंका हो कि यह भी तो दृष्ट फल ही है इसके लिये बताया है कि **'इह'** इसी जन्म में यह अर्थ प्रकरण है इसमें जो धर्म की बात कही है वह ठीक है धर्म का फलमोक्ष है धर्म का फल अर्थ प्राप्त करना नहीं है। **'धर्मस्य ध्यापवर्गस्यनाथार्थायेग्य कल्पते'** इस वचन से जो स्मरण का कहा है वह उचित है। संस्मृति में जो **'सं'** उपसर्ग है उसका आशय यह है कि दूसरे का स्मरण नहीं करते हुए केवल मेरा ही अविच्छिन्न रूप से करना यह है।

आभास – ध्रुव को जब वह प्राप्ति हो गयी तो उसके पीछे उसको अनुताप क्यों हुआ तथा यदि उसको अनुताप हुआ तो वैराग्य संपन्न हो गया अब उसे घर जाने की क्या जरूरत थी इस पर बताते हैं।

कारिका – सिद्धेऽर्थे गुरुवाक्येन भगवद्दर्शनेन च।

शुद्धया सिद्धेऽपि वैराग्ये कृष्णेच्छातो गृहं गतः।।१०४।।

अर्थ – गुरु के कथन अनुसार अर्थ प्राप्ति हो जाने पर तथा भगवान् के दर्शन हो जाने पर जब ध्रुव का अन्तःकरण पवित्र हो गया और मनोरथ भी सिद्ध हो गया तब ध्रुव को वैराग्य हो गया किन्तु भगवान् की कामना के कारण वह घर गया।

प्रकाश – गुरु नारद ने और माता सुनीति ने यह बताया था कि भगवान् की आराधना कर इस वाक्य से या नारदजी के भगवान् वासुदेव ही उपाय है उनका भजन कर इस वाक्य से **'भगवान् वासुदेवस्तंभज'** अथवा नारदजी ने यह बताया कि तेरी माता सुनीति ने जो मार्ग दिखाया है वह मार्ग ही तेरे कल्याण का है **'जनन्याभिहितः पन्था सवै निःश्रेय सायते'** इस भांति माता तथा गुरु नारदजी दोनों ही के वचन से उसने भगवान् की आराधना की, जब भगवान् के दर्शन हो गये तथा मनोरथ भी पूर्ण हो गया तब इन दोनों कारणों से अन्तः करण की पवित्रता हो जाने से वैराग्य हो गया। वैराग्य के कारण ध्रुव को दुःख (अनुताप) हुआ। अनुताप होने से उसे भगवान् की कामना का बोध हुआ जिसके कारण वह वन से घर को गया। अथवा मनोरथ पूरा हो गया उसके पीछे आते समय जो नारदजी के दर्शन हुए थे उससे हृदय की पवित्रता हो जाने से एवं हृदय

में स्फुरित **'दुराराध्यो मतो मम'** भगवान् की आराधना बडी मुश्किल है इत्यादिवाक्य से तथा इस प्रकार के भगवान् के दर्शन हो जाने पर उसे वैराग्य हुआ किन्तु भगवान् की कामना के अनुरोध से ही वह घर गया।

आभास – ध्रुव के घर लौटने में अन्य कारण भी था उसे बताते हैं–

कारिका – **भयादपि हरेस्तस्मादन्यस्याऽप्यनुपायतः।**
आदरो दृढविश्वासे फले चोत्कर्षसूचकः।।१०५।।

अर्थ – भगवान् की यह आज्ञा हुई कि तू घर जाकर यज्ञ कर इस डर से ही ध्रुव घर को आया था तथा भगवत् प्राप्ति में दूसरा कोई साधन भी नहीं है इस कारण से ही घर लोटा। घर आने पर पिता एवं माता सुरूचि से संमान मिला तब ध्रुव को पूर्ण विश्वास हो गया कि भगवान् ने जो वरदान दिया है वह निश्चित रूप से सफल होगा।

प्रकाश – जब तुम्हारे पिता तुम्हें राज्य देकर वन में चले जायेंगे उसके पीछे यज्ञों से मेरा भजन करना इत्यादि भगवान् की आज्ञा थी इस कारण ध्रुव ने सोचा कि भगवान् की इस आज्ञा का यदि में उल्लंघन करूंगा तो न जाने भगवान् मेरा क्या करेंगे इस डर से ध्रुव घर लोटकर आया। भगवान् ने जो अपना प्राप्ति का साधन कहा था उस उपाय के अलावा दूसरा कोई साधन भगवत्प्राप्ति का नहीं था। पिता माता सुरुचि ने जो संमान दिया उसका उद्देश्य बताते हैं कि जब द्वेष करने वाले भी मेरा संमान कर रहे हैं तो भगवान् ने जो बताया है वह उचित ही होगा। इस विश्वास के लिये ही उसका वर्णन है। जब स्वयं के घर में जाने में भी बीच का फल भी ऐसा है तब भगवान् द्वारा उक्त परम फल तो किस प्रकार का होगा? उसके लिये क्या कहा जाय इससे भगवान् के बताये हुए फल का उत्कर्ष भी ज्ञान होता है।

आभास – **(अब यहां से दसवां अध्याय आरंभ होता है)** तेरा भाई उत्तम युद्ध में मारा जायगा यह तो भगवान् ने ही बता दिया है तथा ध्रुव वैष्णव भी था फिर उसने क्रोध क्यों किया क्रोध करना ठीक नहीं था इसको बताते हैं–

कारिका – **राज्यस्यानर्थ बोधाय क्रोधावेशो हि लौकिके।**
भ्रातृवत्सलता सिद्धयै युद्धव्यसनतोऽपि हि।।१०६।।

अर्थ – राज्य अनर्थ का कारण होता है इस बात को कहने के लिये तथा लौकिक में अपकीर्ति नहीं है इस कारण से ध्रुव में क्रोध का आवेश हुआ। भाई के प्रति मेरा वात्सल्य है इस कारण ओर युद्ध क्षत्रियों का व्यसन है। इस कारणा क्रोध का आवेश हुआ।

प्रकाश – अनर्थ पद भावप्रधान है अर्थात् अर्थ अनर्थ रूप है अर्थ में वैरभेद अविश्वासादि पन्द्रह अनर्थ कहे गये है इसका समाधान 'हि' शब्द द्वारा किया गया है। तथापि ध्रुव जब वैष्णव है तब उसे क्रोध नहीं करना

चाहिये। क्रोध ठीक नहीं है इस अरूचि से दूसरा प्रयोजन कहते हैं यदि ध्रुव यक्षों की उपेक्षा कर देते तब लोक में ध्रुव का अपयश हो जाता इसलिये लोगों में अपकीर्ति नहीं हो इसके लिये क्रोध किया। लौकिक में जो एक वचन कहा है वह जाति के अभिप्राय से दिया है। वह सर्वजनों में समानता का बोधक है। तब भी यक्षों को मारना ठीक नहीं था इस पर बताते हैं कि राजा में युद्ध का व्यसन होता है। राजा सात तरह के व्यसनों वाला होता है। इसमें तीन प्रकार की बुराई बतायी है।

कारिका - **ईशविस्मृतिरावेशादतो विप्रैर्विबोधनम्।**
पितामहेन गर्वस्य दोषस्याऽपि निवारणम्।।१०७।।

अर्थ - क्रोध के आवेश से वह भगवान् को भूल गया था इस कारण ब्राह्मणों ने उस को समझाया। ध्रुव के दादाजी स्वायम्भुव मनु ने उस ध्रुव के अभिमानरूप दोष को मिटाया।

प्रकाश - इस कारण आवेश से पैदा हुए महारोग रूप क्रोध से भगवान् को विस्मृत कर दिया था। वह भगवदीय था इसलिये भगवान् का स्मरण हो जाने से इसके अनर्थ की निवृत्ति हो जायेगी इसलिये उसकी सिद्धि के लिये ब्राह्मणों के वचन थे। यहां दशम अध्याय की पूर्ति होती है। तब फिर मनुजी के वचनों की क्या जरूरत थी उन्हें क्रोधावेश रूप बुराई को दूर किया। यहां पर यह उद्देश्य है कि ब्राह्मणों ने तो भगवान् मरण को दूर करने वाले हैं, इस रूप से उन्हें स्मरण किया था न कि भगवान् सर्व की आत्मा हैं, प्रभु हैं, सर्वकर्त्ता हैं इस रूप में याद किया था। इस कारण से भगवान् का तो यह कथन है कि जो मेरे जिस प्रकार से शरण में आता है उसको उसी रूप से स्वीकार करता हूँ। इसलिये ब्राह्मणों के स्मरणानुसार उस समय का कष्ट दूर हो गया तथा कुछ नहीं हुआ तथा विपरीत यह हुआ कि दुःख तो दूर हुआ किन्तु बुराई दूर नहीं हुई। इस कारण ध्रुव को अपने सामर्थ्य का स्मरण हो जाने से उसे अहंकार हो गया। वह अहंकार को मनुजी ने ही दूर किया।

कारिका - **संसारित्वादगमनं बालत्वात्तदुपेक्षणम्।**
तज्ज्ञापनायाऽऽगमनं वरश्चैव तथोच्यते।।१०८।।

अर्थ - मनुजी के कहने पर भी ध्रुव यक्षों को प्रसन्न करने नहीं गया कारण कि वह संसारी बालक होने से अपराध की यक्षराज ने उपेक्षा कर दी। इस बात को जताने के लिये ही कुबेर का वहां आगमन कहा गया तथा उनके द्वारा वर याचना की बात कही गयी है।

प्रकाश - जब मनुजी ने ध्रुव से कहा कि तू **'जाकर कुबेर को प्रसन्न कर'** किन्तु वह उनको प्रसन्न करने के लिये नहीं गया क्योंकि वह सांसारिक था इस कारण उसमें अहंकार था **'बालकों को गुणावगुण के ऊपर ध्यान नहीं देना चाहिये'** इस कथनानुसार ध्रुव के अपराध की कुबेर ने उपेक्षा कर दी, उसके ऊपर ध्यान नहीं दिया **'यहां से द्वादश अध्याय आरम्भ होता है'** तब कुबेर वहां किस कारण से आये उसको कहते हैं कि मैंने तुम्हारे अपराध की उपेक्षा कर दी है तथा मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हूँ।

आभास – ध्रुव में भगवान् के लिये पूर्व से ही भक्ति थी फिर ब्राह्मणों ने और मनुजी ने क्रम से भगवान् का स्मरण तथा बुराई को नष्ट कर दिया तो फिर उसके वर से क्या बात हुई इस पर बताते हैं–

कारिका – मारिताकृष्णसंबंधिवधाद्युद्धाच्च राक्षसाः।

ततो यज्ञस्मृर्तिध्यानगतयः परिकीर्तिताः।।१०९।।

अर्थ – कृष्ण के संबंध से रहित जो उत्तम था उसको जिन यक्षों ने मारा था उन यक्षों का वध करने तथा उनसे युद्ध करने से ध्रुव के सभी अर्थ राक्षस हो गये थे। इसलिये उस दोष की निवृत्ति हेतु यज्ञ, स्मृति तथा ध्यान गतियों का वर्णन है।

प्रकाश – कृष्ण के संबंध से रहित उत्तम को जिन यक्षों ने मारा था उन यक्षों के मारने से इस भांति योजना करना। इस तरह अर्थ है कि जो भगवदीय है उसके लिये जीव मात्र को मारना ठीक नहीं है तब फिर उसमें भी भगवान् के कारण से रहितों का मारना सर्वथा युक्ति संगत नहीं था। यदि मारना ही था तो उसके लिये भगवान् के कटाक्ष युत देखना ही ठीक था। अपने को युद्ध नहीं करना था। युद्ध करने में भगवान् की कामना नहीं थी। यह मनुजी के वचनों से ज्ञात होता है। ध्रव के लिये अन्तःकरण संबंधी तथा क्रिया संबंधी अर्थों में राक्षस संबंध हो गया था। इस कारण वे राक्षस बनाये गये। इस भांति पहले कही भक्ति आदि के बीज की सत्ता होने पर भी वह भक्तिफल पर्यवसायी नहीं होगी अतः पहले उक्त दोष को दूर करने के लिये उन्होंने भक्ति की थी यह आशय है तथा एक बात यह भी है कि इस बुराई को दूर करने हेतु ही यज्ञादिकों का वर्णन है। यज्ञों से क्रिया दोष निवृत्त हुए तथा स्मृति से मारने के दोष की निवृत्ति हुई। ध्यान द्वारा भगवान् के संबंध के अभाव से उत्पन्न दोष दूर हुए। इस प्रकार मनुजी के वाक्यों से यज्ञादि से आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक बुराइयों की निवृत्ति हो गयी फिर शुद्ध होने के पीछे गति हुई यह बताया है।

आभास – यद्यपि इस भांति से निर्दोष हुए ध्रुव की भक्ति से जिसने प्रपंच को विस्मृत कर दिया उसकी तो फिर उसकी मुक्ति ही कहनी चाहिये। तब भी अर्थ प्रकरण में इस तरह बताने का कोई उपयोग नहीं होने से उसके साधन जो फल का उत्कर्ष करने वाले हैं उनका यहां वर्णन है।–

कारिका – फलाधिक्यमतः प्रोक्त तथाऽत्रानुपयोगतः।

प्रकारोयं समीचीनो भगवत्प्रीणनाय हि।।११०।।

अर्थ – जब ध्रुव दोष रहित हो गया तो उसे उत्कृष्ट लोक की प्राप्ति हो गयी। दूसरे शरीर का कोई उपयोग नहीं होने से इसी शरीर से उसको लोकान्तर मिल गये। ध्रुव ने जिस भांति अपनाया वह प्रकार ही भगवान् को प्रसन्न करने में श्रेष्ठ है।

प्रकाश – भगवान् द्वारा प्रदत्त लोक की प्राप्ति ही फल है। वह फल मिलना अन्यों के लिये तो पहले की देह के त्याग से होती है। किन्तु ध्रुव की परलोक की प्राप्ति पहले की देह का त्याग किये बिना ही हुई इसलिये

फल की अधिकता है क्योंकि पहले कही रीति से ध्रुव का शरीर भी बिना दोषवाला था यह आशय है। ध्रुव के लिये देहान्तर प्राप्ति क्यों नहीं बताई? इस पर बताते हैं कि लोकान्तर की प्राप्ति में देहान्तर प्राप्ति का कोई उद्देश्य नहीं था। लोकान्तर की प्राप्ति में निर्दोषता ही प्रयोजक है। अब प्रकरणार्थ का उपसंहार करते हुए उसका आशय बताते हैं। संस्कार, वेदाध्ययन वेदों के अर्थ का विचार वेदार्थ विचार के पीछे कर्तव्य योग तपस्या इनसे विषयों के अभिनिवेश दशा में ही गुरु उपदेश से ठीक ही भगवान् के सान्निध्य वाले देश में भजन श्रेष्ठ होता है वह इस प्रकार से बताया है। जल्दी प्रसन्नता के कारण रूप उपपत्ति 'हि' शब्द से बताई है।

आभास – यहां पर उदाहरण (निदर्शन) बताते हैं–

कारिका – **यतः सर्वनिषेधेन श्लोकानाह स नारदः।**
सर्वथा दुर्लभा सेवेत्यतस्तस्य कथा तता।।१११।।

अर्थ – **'दृष्ट्वाऽभ्युपायानपि'** इत्यादि वाक्य से सभी का निषेध होने से नारदजी ने श्लोकों को बताया। सर्वभांति सेवा दुर्लभ है इसके लिये उसका बताना प्रचेताओं के सत्र में किया था।

प्रकाश – **'दृष्टवाभ्युपायानपि वेद वादिनः'** इस वाक्य से सर्व निषेध किया है। प्रचेताओं के सत्र में भगवान् का साक्षात्कार हो जाने पर भी नारदजी ने ध्रुव की कथा का गान क्यों किया उसका कारण यह था कि भगवान् की सेवा सभी तरह से दुःप्राप्य है। भगवान् दुराराध्य है ऐसा में (नारद) मानता हूँ।

आभास – **(यहां से तृतीय प्रकरण का आरम्भ होता है)** अग्रिम प्रकरण के विषय का चिंतन करते हुए अन्त में मोक्ष का वर्णन होने से वह कदाचित् मोक्ष का प्रकरण होगा इस शंका पर बताते हैं–

कारिका – **कामेन सिद्धः सर्वेषां कामस्य च स साधकः।**
कामः सम्पादितः स्वस्य कामप्रकरणं ततः।।११२।।

अर्थ – सर्व इच्छा से जो सिद्ध है और सर्व की कामनाओं का साधक एवं जो स्वयं की कामना से ही संपादित होता है इसलिये यह प्रकरण काम का प्रकरण है क्योंकि इस प्रकरण में आदि, अन्त तथा मध्य मे काम का वर्णन है।

आभास – इस काम प्रकरण का वर्णन ग्यारह अध्यायों द्वारा किया गया है। उसका हेतु बताते हैं–

कारिका – **एकादशेन्द्रियैः कामस्तेनाध्यायास्तथा मताः।**
चक्षुर्भिश्च तथा द्वाभ्यां पंचभिश्च क्रमात्त्रयम्।।११३।।

अर्थ – ग्यारह इंद्रियों द्वारा ही कामना की सिद्धि होती है इस कारण से ही ग्यारह अध्याय ही काम प्रकरण के है उसमें क्रम से चार से, दो से, एवं पांच से तीन तरह से काम का वर्णन है।

प्रकाश – इस कारिका में **'सिद्धयति'** यह पद कम है अर्थात् कामना सिद्ध होती है। अध्यायों की संख्या से भी यह काम प्रकरण है। ऐसा प्रमाणित होता है। अध्यायों का भेद करते हैं हेतु के सहित पृथु के पैदा होने

का निरूपण चार अध्यायों में है सर्वकाम का साधन दो अध्यायों से तथा स्वकाम साधन पांच अध्यायों से है।

आभास – अध्यायों के अर्थों को बताते हैं-

कारिका – **स्वरूपेण गुणैश्चापि प्रथमे भेदकद्वयम्।**
हेतुकार्यविभेदेन राजान्यगुणभेदतः।।११४।।

अर्थ – स्वरूप से एवं गुणों से पहले के दो भेद हैं उनमें भी हेतु तथा कार्य के भेद से पहले के दो भेद हैं एवं अन्य के राज्य और गुण ये भेद हैं इस प्रकार चार अध्यायों में इन चार का निरूपण है।

प्रकाश – काम का स्वरूप तथा गुण ये पहले प्रकरण के अवान्तर दो प्रकरण हैं। वे दोनों ही हरेक दो दो विभाग वाले हैं। इसलिये यह प्रकरण चार अध्याय का बताया है। रक्षक के बिना रूप कामना का प्रकरण प्रथम अध्याय का अर्थ है। अधर्म स्थापन रूप कार्य दूसरे अध्याय का अर्थ है। तृतीय अध्याय का अर्थ राज्य एवं आविष्ट गुण में चतुर्थ अध्याय का अर्थ है।

आभास – द्वितीय प्रकरण के दो अध्यायों का अर्थ क्रमशः बताते हैं-

कारिका – **क्रियाफल विभेदेन सर्वकामे द्वयं तथा।**

अर्थ – सर्वकामनाओं में क्रिया एवं फल ये दो ही होते हैं अतः इसमें दो अध्याय हैं-

कारिका – **शुद्धिः कृष्णप्रसादश्च स्वधर्मो ज्ञानमेव च।।११५।।**
मोक्षश्चेति विभेदेनं स्वकामेऽध्यायपंचकम्।।११५ १/२।।

अर्थ – शुद्धि, कृष्ण प्रसाद, स्वधर्म, ज्ञान तथा मोक्ष इस विभाग से स्वकाम में पांच अध्याय हैं।

आभास – काम तृतीय पुरुषार्थ है वह तो स्त्री संभोगादि से पैदा सुख रूप होने से तथा मोक्ष के स्वतंत्र होने से मोक्ष को काम रूप कहना उचित नहीं है इस पर बताते हैं-

कारिका – **मोक्षकामोऽत्रयुक्तो हि सर्वकामस्तथैव हि।।११६।।**
मोक्ष प्रकरणार्थाय प्रक्रियेयमतः कृतः।।११६ १/२।।

अर्थ – सकाम भजन में मोक्ष काम भी सर्व काम में आ जाता है इसलिये मोक्ष प्रकरण के लिये ही यह प्रक्रिया की गई है।

प्रकाश – भगवत् शास्त्र में सकाम भजन में मोक्ष काम भी आता है। इसलिये ये पुरुष सर्वकाम है यह ठीक ही है। यहां पर काम शब्द से स्त्री काम का ग्रहण नहीं करना क्यों कि वह तो तुच्छ है, इस कारण पुरुषार्थ नहीं हो सकता है। यद्यपि भगवान् के द्वारा प्रदत्त स्त्री सुख भी अनर्थ रूप नहीं है किंतु उसके लिये किया गया भजन उचित नहीं है। द्वितीय स्कंध में जो यह बताया है कि जिसे स्त्री की इच्छा हो वह उर्वशी का भजन करे **"स्त्रीकामोऽप्सर उर्वशीम्"** ऐसा बताकर फिर आगे कहा है कि सर्व काम वाला भी पुरुष (भगवान्) का भजन करे **"सर्वकामोऽपि पुरुषं भजेत्"** यह जो बताया है उसका आशय यही है तब तो उर्वशी का भजन

करे यह शुकदेवजी के हृदय की बात है। यह बात जिस भांति से है उसका वर्णन उसी श्लोक की टीका श्री सुबोधिनी में मैंने बताया है। मोक्ष भी काम ही है यह बात 'हि' शब्द द्वारा कही गई है तथा **'अकाम सर्व कामो वा'** इस श्लोक की संपत्ति भी द्वितीय प्रकरण से ज्ञात होती है। प्रकरणार्थ का उपसंहार करते हैं। प्रचेताओं के प्रश्न पूछने पर भी इस मोक्ष के विषय की कथा का आरम्भ किया गया था। उन प्रचेताओं के हेतु भक्ति मार्गीय मुक्ति ही बतानी थी। इस कारण यह मोक्ष प्रकरण के निमित्त ही इस शुद्धि आदि की प्रक्रिया की है। तब फिर इसको मोक्ष प्रकरण ही क्यों मान लेते ? इसका कारण तो यह है कि पृथु की भक्ति का साधन ज्ञान बताया गया है। अतः मुक्ति का वर्णन होने से उसे वहां पर सकाम माना गया है। इस कारण भक्तिमार्गीय मोक्ष अलग तरह का है इसी बात को बताया है। कि पृथु सर्वकाम था इसलिये ये मोक्ष काम भी था ही इसलिये उस प्रकरण के वर्णन करने के लिये यह प्रक्रिया की गई है ऐसा समझा जाता है इससे यह जानना कि यह मोक्ष का ही प्रकरण है।

आभास – इस प्रकार प्रकरणार्थ को बताकर अब पहले तेरहवें अध्याय के आशय का विचार करते हैं।

कारिका – साधिता कृष्णभक्तिर्हि पुत्रे वंशेऽथवा फलेत्।।११७।।
नोपक्षीणा गौणफलादिति तद्वंशवर्णनम्।।११७ १/२।।

अर्थ – साधित कृष्ण भक्ति पुत्र में अथवा वंश में भी फल देने वाली होती है। वह वंश में भी उपक्षीण नहीं हुई। वंश में भी गौण फल होने से उस ध्रुव के वंश का निरूपण है।

प्रकाश – ध्रुव के वंश का निरूपण क्यों किया यदि कोई प्रश्न करता है कि यह किस के वंश में है तब यह बता दिया जाता है कि ध्रुव के वंश में है इतने मात्र से ही उसके प्रश्न का उत्तर मिल जाता है। यदि यहां पर यह बतावें कि यहां पुरुषार्थ लीला का वर्णन किया है अतः काम के वर्णन के लिये वंश का निरूपण है तब भी यह वंश वर्णन निरर्थक है। यहां पर वर्णन तो केवल पृथु के चरित्र का ही है उसका उत्तर देते हैं कि साधन से गई कृष्ण की भक्ति पुत्र अथवा वंश में भी फल बताती है। यहां पर कृष्णपद से भक्ति मार्ग व भक्ति की जानकारी है। उस कृष्ण भक्ति का प्रधान फल तो पुरुषोत्तम स्वरूप ही है। इसलिये उस भक्ति की अनुवृत्ति (परंपरा) होती है। इसलिये ब्रह्मानंद तक का फल भी उस भक्ति के हेतु गौण ही है। इस कारण गौण फल का साधन करके भी प्रधान फल में उस भक्ति की शक्ति अवरूद्ध नहीं होती है इस बात को कहने के लिये ध्रुव के वंश का वर्णन है। ध्रुव की भक्ति से ही प्रसन्न हुए भगवान् ने प्रचेताओं को विशेष फल दिया तथा पृथु आदिको गौण फल दिया यह ज्ञात हुआ। नहीं तो शिवजी अकस्मात् ही उनको उपदेश किस प्रकार देते।

आभास – बडे तथा छोटे दोनों में वैराग्य होने का क्या कारण है उस पर बताते हैं–

कारिका – कल्पोत्कलौ तस्य पुत्रौ पूर्वश्चाद्विभेदतः।।११८।।
मुक्तौ तस्मात्तृतीयस्य राज्यभोगस्तु सप्तमः।।११८ १/२।।

अर्थ – कल्प तथा उत्कल वे दोनों ही ध्रुव के पुत्र थे। कल्प तो पहले की विरक्त अवस्था में पैदा हुआ था तथा उत्कल राज्यभोग के पीछे विरक्त स्थिति में हुआ इस कारण वे दोनों राजा नहीं हुए तृतीय वत्सर का राज्य हुआ। सप्तम अंग था।

प्रकाश – ध्रुव जब वर प्राप्ति करके आया था उस समय पूर्व जो उसको अनुताप हुआ था उस समय ध्रुव की विरक्त अवस्था में कल्प पैदा हुआ था इस कारण वह विरक्त ही रहा तथा राज्य का उपभोग करने के पीछे जो वैराग्य अवस्था थी उस काल में उत्कल पैदा हुआ था इस कारण वह भी विरक्तथा। अतः दोनों ही मुक्तहो गये। पहले के वैराग्य के कारण से तथा पीछे के वैराग्य कारण से बीच में जो राग अवस्था थी उसमें वत्सर पैदा हुआ था। इस कारण राज्य वत्सर ने किया। ये सभी पुत्र निर्दोष हुए किन्तु अंग इस का दोष वाला कैसे हुआ। इस शंका का उत्तर देने के लिये बताते हैं कि छः पुत्रों में तो भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुण क्रमशः विद्यमान थे। इस कारण उनकी रक्षा में निर्दोषता थी। अंग तो सप्तम पुत्र था इसलिये उसकी रक्षा का अभाव होने से उसमें सदोषता थी इस तात्पर्य से अंग को सातवां कहा गया है। इस कारण आगे दोष निवृत्ति पूर्वक स्वरूप द्वारा ही भगवान् रक्षा करेंगे।

आभास – यदि यहां पर यह शंका हो कि तिग्म केतु प्रभृति के वंशो को क्यों नहीं बताया तो उसका समाधान यह है कि यह काम प्रकरण है अतः उसके वंश में कुछ में तो देवत्व था तथा कुछ मुक्तिमार्गीय थे इस कारण उनका यहां उपयोग नहीं होने से वर्णन नहीं किया गया है उसे बताते हैं–

कारिका – अन्यवंशास्तु नात्रोक्ता देवमुक्तिविभेदतः ।।११९।।
पूर्वत्राऽधर्मकरण प्रमादादंगकर्तृकम्।।११९ १/२।।

अर्थ – ध्रुव के दूसरे पुत्रों के वंश का निरूपण तो इस कारण से नहीं किया कि उनमें से कुछ में तो देवत्व था तथा कुछ भक्त थे। अंग ने पहले जो प्रभार के कारण अधर्म किया था उसका प्रतिफल अंग में हो गया था।

प्रकाश – जब तिग्म केतु आदि वंश का निरूपण नहीं किया तो नामों की गिनती (उद्देश्य) निरर्थक हो गयी। इस पर बताते हैं कि यह वत्सर जो ध्रुव का पुत्र था वह काल चक्र का अधिष्ठाता था तथा वह काल चक्र, उत्तरायण तथा दक्षिणायन आदि अवयवों के भेंद से कालमुक्ति में उपयोगी होता है तथा कोई कालकर्म में उपयोगी होता है। कोई काल देवतारूप होतो बताया है। इस कारण उस पुत्र को वत्सर रूप बताया है। अंग के द्वारा किये गये अधर्म का रूप कहते हैं। उस अंग के समय के ऊपर जो धर्म नहीं हुआ था वह भी अधर्म हो गया, उसमें कारण तो प्रमाद ही था स्वभाव से तो अंग धार्मिक ही था यह ज्ञात होता है। कोई इस तरह नहीं मानले कि अंग के पूर्वज ने किसी प्रकार का अधर्म किया हो उसका प्रतिफल इसमें हो गया है। परन्तु अंग ने ही यहां अधर्म किया था इस कारण उसके दोष रूप वेन पैदा हुआ जिससे कोई हवन, दानादि नहीं करे इस प्रकार की घोषणा करवायी थी।

आभास – उसके कार्य को बताते हैं–

कारिका – **येनाऽधर्मेण सम्बन्धो रूचिः सम्बन्ध एव च।।१२०।।**

वंशस्य धर्ममूलत्वात्पुत्रो नाऽभूत्स्वभावतः।।१२० १/२।।

अर्थ – अंग का मृत्यु (अधर्म) के संग संबंध था तथा अधर्म रूप रूचि से भी उसका संबंध था इस कारण उसके कोई पुत्र नहीं हुआ क्योंकि वंश धर्म मूलक होता है।

प्रकाश – अधर्म–मृत्यु के संग उसका संबंध था अधर्म रूपा जो मृत्यु की पुत्री सुनीता थी उसके संगसंबंध था और उसमें रूचि अथवा देवताओं की उसमें रूचि नहीं थी सुनीथा की बुराई (दोष) के बोध से ही अंग का संबंध उसके संग नहीं था इस कारण उसके कोई पुत्र नहीं हुआ। क्योंकि धर्म मूलक वंश होता है अंग का सुनीथा के साथ संबंध जरूरी था इसको कहने के लिये एव पद दिया है। ऋतु कालीन निषेकादि के होने पर भी पुत्र नहीं हुआ। उसका कारण यह था कि वंश धर्म मूलक होता है यहां अंग का संबंध तो अधर्म से था अर्थात् सभी को मारने वाली मृत्यु से था।

आभास – तब फिर अंग की अश्वमेघ करने में प्रवृत्ति किस प्रकार हुई इस पर बताते हैं–

कारिका – **दोषाभावायाऽश्वमेघः कृष्णार्थो मुक्तये तु सः।।१२१।।**

वंशाभावेन मुक्तिः स्यादुभयत्र प्रयोजनात्।

अतो न देवागमनमुभयार्थं तथा सुतः।।१२२।।

अर्थ – दोष के कारण जब पुत्र पैदा नहीं हुआ तब दोष की निवृत्ति हेतु अश्वमेध यज्ञ किया। दुष्ट इस कारण से हुआ कि यज्ञ से अंग तो दोष रहित हो गया परन्तु पुत्र अंग के दोष लेकर पैदा हुआ इसलिये दुष्ट हुआ।

प्रकाश – अंग ने जब यज्ञ किया तो देवता का आगमन क्यों नहीं हुआ तथा फिर किस लिये अंग ने वैष्णव याग किया। दोष की निवृत्ति तो अश्वमेध से ही दूर हो जाती है। इस पर बताते हैं कि जो अश्वमेध यज्ञ करता है। वह पाप से मुक्त हो जाता है। ब्रह्म हत्या से भी मुक्ति मिल जाती है। इस श्रुति से पाप से मुक्ति हो जाती है किन्तु मर्यादा में अपुत्र स्वर्गलोक प्राप्त नहीं करा सकता है। इस कारण जब उस अश्व मेध को भगवान् के हेतु किया तो उसे दोष निवृत्ति पूर्वक वंश भी हुआ तथा मुक्ति भी होगी अतः दोनों उद्देश्यों के लिये कृष्ण के लिये वह यज्ञ किया। पूर्व में जो किया था वह तो केवल दोषों को मिटाने के लिये ही किया था। भगवान् के लिये नहीं किया गया था। दोषों के बलिष्ठ होने के कारण वे दोष दूर नहीं हुए थे इससे देवताओं का आगमन नहीं हुआ था। तब फिर **'सर्वं पाप्पानं तरमित'** इस श्रुति की क्या गति होगी इस पर बताते है कि जब अश्वमेघ यज्ञ भगवान् के हेतु किया जाता है तभी आधिदैविक पापों की निवृत्ति होती हैं। अश्वमेध यज्ञ द्वारा दोष की निवृत्ति होती है किन्तु अश्वमेध यज्ञ होगा तब जब देवतादि सर्व अंगों का साहित्य होगा। अतः यहां

अन्योन्याश्रय दोष हो जाने से श्रुति का बाध हो जायेगा। आधिभौतिकादि से तो केवल श्रुति से भी होता है। जब ऐसी बात है तो ऐसे दुष्ट पुत्र क्यों पैदा हुआ? उसका कारण यह है कि वह यज्ञ अंग को दोष रहित बनाने हेतु किया गया था इस कारण अंग दोष रहित हो गया किन्तु उस अंग के दोष को लेकर उस तरह का पुत्र पैदा हुआ अतः वह दुष्ट था। पुत्र तो वंश के हेतु होता है यदि ऐसा नहीं होता तो उसकी जंघा को मंथने पर उस बेन जैसा ही कोई पुत्र हो जाता तो वंश ही समाप्त हो जाता।

आभास – जब वैष्णव चरू का भक्षण किया तो उससे पैदा पुत्र दोष वाला किस प्रकार हुआ इस शंका पर बताते हैं–

कारिका – **चरोः फलं पौत्रेऽभूद्दोषः पुत्रे प्रतिष्ठितः**
शीघ्रं मुक्तिस्तथा वंशो दोषाभावश्च सिद्धयति।।१२३।।

अर्थ – अंग का दोष तो पुत्र में प्रतिष्ठित हुआ तथा चरू का फल पौत्र (पृथु) में प्रतिष्ठित हुआ। पुत्र के दोष के कारण अंग की मुक्ति जल्दी हो गयी एवं चरू के कारण से दोष का अभाव तथा वंश की वृद्धि हुई।

प्रकाश – दोष तथा चरू के फल में आपस में विरोध होने से किसी भी एक की संभावना नहीं हो सकती इसी कारण अंश का दोष रहित होना जरूरी था। अतः दोष तो पुत्र में चला गया और चरू का फल पौत्र में प्रतिष्ठित हो गया। इस प्रकार होने से विशेषता क्या हुई? मुख्य बात यह हुई कि पुत्र की दुष्टता के कारण वैराग्य हो जाने से जल्दी मुक्ति हो गयी।

आभास – जब पुत्र था तब प्रजा ने अंग का अन्वेषण क्यों किया इस पर बताते हैं–

कारिका – **सशास्त्रगमनाल्लोकै रक्षकाभावतोऽपि हि।**
अन्वेषणमुपेक्षा तु ऋषीणामंगमुक्तये।।१२४।।
हेतु स्त्वनेन संसिद्धः सर्वेषां कामनां प्रति।।१२४ १/२।।

अर्थ – शास्त्र की रीत्यानुसार अंग ने वन गमन नहीं किया था इस कारण प्रजा ने उसका अन्वेषण किया इसके सिवाय यह बात थी कि कोई रक्षक नहीं था। ऋषियों ने अंग के अन्वेषण में उपेक्षा इस कारण से की थी कि अंग की मुक्ति नहीं होती इसलिये अंग की मुक्ति हो इसलिये उन ऋषियों ने उपेक्षा कर दी। सभी की इच्छा के प्रति हेतु भी इससे सिद्ध हो गया।

प्रकाश – शासन बताते हैं शासन को प्रजा का अनुशासन करना राजधर्म है। राजा जब शासन का परित्याग करता है तो अपने पुत्र को राज्य पर स्थापित करके जाता है। तभी उसका राजापन माना जाता है। अंग ने उस तरह नहीं किया था। बिना ऐसा किये वह चला गया था इस कारण प्रजा ने उसका अन्वेषण किया था।यदि यह कहें कि समर (युद्ध) में पिता का मरण हो जाता है तब उसका पुत्र राज्य प्राप्त करता है उसी भांति जरूरी होने से प्रजा पुत्र को राज्य दे देना चाहिये यही ठीक है, उसको ढूंढने की क्या जरूरत थी? इस पर बताते

हैं कि प्रजा यह जानती थी कि वेन रक्षक का पुत्र होने योग्य नहीं है। यदि कहें कि ऋषि तो अलौकिक ज्ञान रखते थे उन्होंने अंग को क्यों नहीं कहा दिया? इस पर बताते हैं कि उन्होंने उपेक्षा कर दी कारण की वेन आकर इस तरह के लड़के को यदि राज्य देता तो उस वेन के किये गये दोषों से प्रजाद्रोह का दोषी अंग बन जाता तो फिर उसकी मुक्ति नहीं होती तथा स्वयं राज्य करने पर भी पुत्र के दोष से दोषी बनता इस कारण ऋषियों ने वेन को नहीं ढूंढा उसकी उपेक्षा कर दी। (अब यहां पर अध्याय का उपसंहार करते हैं)

आभास – अब यहां से चौदहवें अध्याय को प्रारम्भ करते हैं द्वितीय अध्याय का विचार करते हुए उसमें भृगु आदि जो सर्वज्ञ थे वे जानते थे कि वेन के द्वारा आगे उपद्रव होगा किन्तु वर्तमान में हो रहा प्रजा का नाश उनसे नहीं देखा गया इस कारण उस वेन को राजा बना दिया। वे इस बात को समझते थे कि इसकी जंघा का मंथन ही ठीक होगा इस कारण उसको राज्य दे दिया। इस बात को डेढ श्लोक से बताते हैं–

कारिका – **अन्यथासिद्धि शंकायां वारणायोपपत्तये।।१२५।।**

सर्वज्ञा भृगुमुख्या हि मातृमात्रार्धसंमतम्।

वेनं तु भूपतिं चक्रुर्ज्ञात्वा पूर्वाघनिष्कृतिम्।।१२६।।

अर्थ – वेन को राजा बनाये बिना उस समय रक्षा संभव नहीं थी तथा आगे जाकर उसको हटाना पडेगा यह सब जानने वाले भृगु आदि मुख्य ऋषि जानते थे इसलिये माता की आधी संमति से वेन को नृप बना दिया कारण कि वर्तमान समय में कोई रक्षा करने वाला नहीं था।

प्रकाश – उस समय यदि वेन को राजा नहीं बनाते तथा वेन के द्वारा किये गये प्रजा नाश को नहीं देख सकने से और उसके जंघा मंथन से और पूर्वाध्याय में वर्णित सर्व कामना की प्राप्ति हेतु प्रजा के लिये किसी रक्षक के नहीं होने से उस वेन को राजा बनाया सामान्य कारण बताकर वेन को राजा नियुक्त करने में मुख्य कारण कहते है। वह वेन बहादुर भी था इसलिये ये जब तक उसका मरण नहीं होता जंघा का मंथन नहीं किया जा सकता था जब वह प्रजा से द्रोह नहीं करता तब तक उसका मरण संभव नहीं था बिना प्रजा के द्रोह किये ही यदि उसको मार दिया जाता तो अपयश की आशंका थी अतः सर्वकार्य जिस तरह से हो सके ऋषि जनसर्वज्ञ होने से समझते तथा यह जानते थे कि आगे भगवान् का प्राकट्य होगा। इस कारण ऐसा किया। इतना सभी कुछ जानते हुए भी उस समय जो प्रजा का नाश दस्युओं द्वारा हो रहा था वह ऋषियों से सहन नहीं किया गया। फिर भी उसे राजा नहीं बनाना चाहते थे परन्तु उसे वेन को राजा बनाने में माता की संमति थी किन्तु माता की पूरी तरह संमति नहीं थी। तब फिर ऋषियों का क्या उद्देश्य था? उसको कहते हैं ऋषि समझते थे कि यदि अंग के इस पाप का क्षय हम नहीं करेंगे तो यह पाप वंश में चलता रहेगा। यह समझकर ही उन्होंने ऐसा किया। इसके भीतर दो अंश थे राजांश तथा दोषांश। वेन के भीतर जो राजांश था उसे लेकर ही उसको राजा नियुक्त किया गया तथा ऐसा करना ठीक था।

आभास – ऋषियों ने यद्यपि उसके राजांश को देखकर ही अभिषेक किया था किन्तु उसमें जो दोष का अंश था वह तेज (अग्र) था इस कारण दोष का ही कार्य हुआ उसे बताते हैं

कारिका – धर्महानिस्ततोऽप्यासीत् कामानर्थश्च सूचितः।
अधर्म स्थापनं कार्यं धर्माभावे स्वतो हि तत्।।१२७।।

अर्थ – अभिषेक राजांश के कारण से करने पर भी काम के द्वारा अनर्थ ही सूचित हुआ। उसके धर्म का निवारण करके धर्म का स्थापन किया। धर्म से तो रक्षा अपने आप ही हो सकती है।

प्रकाश – राज्यांश से अभिषेक करने पर भी सर्वकाम के स्वरूप के वर्णन में लोक में उपद्रव के वर्णन से काम अनर्थ करने वाला है यह भी ज्ञात हुआ जैसा कि बताया है कि अर्थ में १५ तरह के अनर्थ है। यहां पर अध्याय के अर्थ का अनुवाद करते हुए दोष के असाधारण कार्य बताते हैं। यदि यह कहा जाय कि वेन ने जो यज्ञ दानादि का जो निषेध किया था वह तो धर्म में बाधक हुआ, अधर्म किस तरह से हुआ? उस पर बताते हैं कि धर्म से ही धर्म की रक्षा की जाती है धर्म के बिना अधर्म का होना ठीक ही है। यही इसका उत्तर है।

आभास – उस अधर्म के स्थापन से लौकिक तथा अलौकिक दोनों का ही नाश हो गया उसको बताते हैं–

कारिका – उपद्रवो धर्म हानिस्तस्माद्द्वयमभून्महत्।
आधिक्य दोषाभावाय स्वकृतत्वान्निवारणम्।।१२८।।

अर्थ – अधर्म के स्थापन से उपद्रव एवं धर्म हानि दोनों ही हुए। इससे भी ज्यादा धर्म का नुकसान नहीं हो इस हेतु ऋषियों ने अपने द्वारा किये गये उस कार्य को समाप्त कर दिया, कारण कि वेन के द्वारा किया गया दोष ऋषियों को भी प्राप्त होना था।

प्रकाश – **'तस्मात्'** की तात्पर्य उस अधर्म के स्थापन से वह अधर्म का स्थापन तो अराजक स्थिति से भी ज्यादा था इसको बताने के लिये महान् शब्द का उपयोग किया गया है। इस अधर्म स्थापन से तो लोकों के अन्तः करण में रहने वाला धर्म भी चला जायेगा ऐसा नहीं हो इसके लिये मुनियों ने उस वेन को समझाया। यहां पर यदि यह आशंका हो कि मुनि तो सब कुछ जानने वाले थे वे जानते ही थे कि समझाने पर भी यह नहीं समझेगा तब फिर उसे समझाने के लिये क्यों गये? इसका कारण यह था कि वेन को राजा हमने नियुक्त किया है यदि वह अधर्म का आचरण करता है तो उसका दोष हमको भी लगेगा उसको मना करेंगे और उसके पीछे यदि करेगा तो वह दोष हमें नहीं होगा इस कारण से समझाया।

आभास – यदि यह कहें कि भगवान् की ऐसी कथा है कि **'मनुष्यों में राजा मेरा ही स्वरूप है'** 'राजा लोकपालों के तेज को धारण करता है। तो इन वाक्यों की संमति से वेन ने जो कहा वह धर्म ही है इस पर बताते हैं–

कारिका - **धर्मकरणायैवच्छलवाक्यपरिग्रहः।**
अयमेव हि पाषण्डो लेशेनाऽखिलबाधनम्।।१२९।।

अर्थ – वेन ने तो अधर्म करने ही के लिये छल वाक्यों को कहा यही तो पाषण्ड है। पाषण्ड के अंश से तो सब धर्म का विनाश होता है।

प्रकाश – ब्राह्मणों ने वेन को यह बताया कि तुम देवताओं का तिरस्कार मत करना। कारण कि धर्म रक्षा में वे देवता उसके संग रहते हैं। वह तो यह बोलने लगा कि सर्व देवता में हूँ। मेरे लिये यज्ञ करो उसी से उन देवताओं का संमान हो जायेगा। इस भांति अधर्म की शाखा के रूप में छल (कपट) से अधर्म करने के लिये ही उसके वचन थे। यह ऋषियों ने जाना। राजा को जो भगवान् की विभूति बताया वह तो यज्ञादि धर्मों के करने से उसमें ईश्वर का आवेश हो जाता है यह आशय है। इस कारण राजा को इन्द्र भी कहा गया है। अतः इस तरह के काम में भगवान् की संमति नहीं है। यह जान भी लिया जाय कि अभिषेक मात्र से ही उसमें देवता का सान्निध्य हो जाता है। तब भी उसका कहा हुआ तो अधर्म ही है। इसको बताने हेतु कहा है कि पहले तो पाषण्ड है। जैसे वेद बाह्य **'न हिंस्यात्सर्वभूतानि'** किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना इस श्रुति के लेश को लेकर समस्त कर्मकाण्ड की श्रुतियों को बांध करके किया जाने वाला जो यज्ञ रूप धर्म है उसी को पाषण्ड कहते हैं। उसी भांति देवताओं के तेज के लेश से अपने को लोकपाल मानकर सभी को कष्ट पहुंचाना यह भी पाषण्ड होने से अधर्म ही है।

आभास – राजा को मारना तो दोष है इस पर बताते हैं-

कारिका - **यथा पूर्वस्य करणान्मारणेऽपि न दूषणम्।**
मथनं ज्ञानतो युक्तमदोषायाऽधमाङ्गके।।१३०।।

अर्थ – यद्यपि वेन को मारा किंतु उसे पहले की भांति पृथु के रूप में जीवित कर दिया इस कारण किसी प्रकार का दोष नहीं हैं। मंथन भी ज्ञान से युक्तहोना चाहिये तथा नीचे (अधर्म) अंग के मंथन में किसी तरह की बुराई नहीं है।

प्रकाश – वह वेन जो जीता हुआ भी मरे के समान ही था **'सएष जीवन् खलु संपरेतः'** इस कारण से ऋषियों ने जो जीता हुआ भी मेरे के सदृश था उसी को मारा तो कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है। यदि यह कहा जाय कि मृत देह तो अमंगल कारक होता है। उसको राजवंश हेतु मथना तो ठीक नहीं है उससे इच्छित वस्तु पैदा नहीं हो सकती है। कभी जल के मथन से क्या अग्नि उत्पन्न हो सकती है। इस पर बताते हैं कि ऋषियों ने उसके शरीर को ज्ञान द्वारा मथा था। ऋषियों ने उस शरीर में राजा के अंश का निर्धारण करके बहिः प्रच्छन्न है तथा अन्तः चैतन्यांश है ऐसा ऋषियों को भावी अर्थ का बोध था इस कारण उनका मथना सार्थक

(लाभदायक) हुआ। इससे **'एकदा'** इस श्लोक से लगाकर आठ श्लोकों का अवान्तर प्रकरणार्थ कहा है। पूर्व में जो जांघ को मथा था उसमें ऋषियों को बोध नहीं होगा इस कारण निषादोत्पत्ति हुई इस तरह की शंका नहीं करना चाहिये सदोष देह के मथन से वही दोष होता है तथा भगवान् के अंश की उत्पत्ति नहीं होती है इसको समझकर ही उन्होंने प्रथम उस का मथन किया। उससे निषाद दोषरूप उसके देह से निकल गया उसके पश्चात् ऊपर के अंग को मथा 'नाभि से ऊपर का अंग पुरुष का पवित्र होता है तथा नाभि के नीचे का अंग अपवित्र होता है' इस श्रुति वाक्य से उसके अंग को उसी भांति मथा था।

आभास – बाहु के मथन में कारण हैं–

कारिका – क्षत्रियत्वप्रसिद्ध्यर्थं कामेबाह्वोस्तु मन्थनम्।
अप्राकृतसिद्ध्यर्थभाविर्भावो हरेस्तनो।।१३१।।

अर्थ – रक्षा की इच्छा होने से क्षत्रियत्व की सिद्धि हेतु उस की भुजा (बांह) को मथा। अप्राकृतता की सिद्धि के लिये उस देह में भगवान् का आविर्भाव हो गया।

प्रकाश – हृदयादि का मथन करते तो नारायण की तरह स्वतंत्र रूप से अवतार हो जाता तो उस अवतार के द्वारा धर्मरक्षा की संभावना नहीं होती इस कारण क्षत्रिय रूप से उसके वंश की रक्षा हो उसकी सिद्धि के लिये क्षात्रधर्म का आधार जो बांह है उसका मथन किया **'तु'** शब्द से पहले जिस दोष का क्षत्र धर्म का आधार जो भुजा है उसका मथन किया। भुजा के मथन का क्या कारण था? यह काम का प्रकरण है तथा काम मिथुन (जोडे) से ही साध्य होता है। अथवा **'कामे'** यह सप्तमी के अर्थ में है काम के निमित्त से अर्थात् स्व कामना की पूर्ति के लिये ऐसा अर्थ करना, कारण कि राजा की भुजा से ही कामना की पूर्ति होती है। अब यहां से पन्द्रह, सोलह अध्याय का आरम्भ होता है। लोक रक्षा की ही यदि आवश्यकता थी तो उसके लिये तो केवल पुत्र ही चाहिये था भगवान् के अवतरण का कारण क्या था? कारण कि लोक रक्षा तो पुत्र मात्र से हो सकती थी। इस बताते हैं कि केवल पुत्र ही यदि होता तो उसके प्राकृत राजा होने से मेरे पिता को इन्होंने मारा है इस प्रकार जान कर प्रजाओं के साथ द्वेष करता तो इससे इष्ट की पूर्ति नहीं होती। इस कारण प्रजा से द्वेष नहीं करे परन्तु उनकी रक्षा करे अतः पृथु के शरीर में भगवान् का प्राकट्य हुआ इसलिये उस पृथु में अप्राकृत गुणों के होने से सभी तरह की इष्ट सिद्धि हो गयी।

आभास – पृथु का अभिषेक करना और ऋषियों द्वारा उसके भविष्य का निरूपण करना इसका उद्देश्य बताते हैं–

कारिका – कृत्युक्तिभ्यां गुणोद्रेको वारणं च गुणाय हि।
कामपूरणसंबंधात्प्रसादोऽन्यत्र कीर्तितः।।१३२।।
भविष्यमुक्त बोधाय ह्याद्यशेषत्वमन्ययोः।।१३२.५।।

अर्थ – पृथु की कृति का निरूपण सूत आदि ने इसी कारण किया था कि उसमें गुणों की और भी अधिकता हो परन्तु पृथु ने उनके गुण के निरूपण से मना कर दिया। प्रजाओं की कामनाओं की पूर्ति के विषय से ही प्रजा के ऊपर उसकी प्रसन्नता का कथन है। ऋषियों ने जो पृथु का भविष्य बताया है वह उसके ज्ञान के लिये ही था एवं सूत एवं अन्य उपजीवकों का ही अंग था।

प्रकाश – पृथु के भीतर जो सहज राज्य गुण थे उनको उन प्रजा की कृति (अभिषेक) से तथा उनकी स्तुति से उन गुणों में और अधिकता आवे इस हेतु थी। परन्तु पृथु ने सूत के द्वारा की गई स्तुति को रूकवा दिया उसका कारण यह था कि क्षुद्र मनुष्य होते हैं वे अपने ही संमुख स्वयं की प्रशंसा (स्तुति) करवाते हैं परन्तु जो महान् होते हैं वे तो अपनी स्तुति का श्रवण कर लज्जित होते हैं पृथु में भगवदावेश होने से ऐसा होना ठीक ही था। यह ही शब्द द्वारा कहा गया है। यदि यह कहें कि मुनियों ने और सूतादि ने हमारे ऊपर कृपा करके हमारी रक्षार्थ आपका अवतरण हुआ है। इस प्रकार नहीं बताकर लोकों के ऊपर कृपा करके तथा उनकी रक्षा हेतु आपका प्राकट्य है। ऐसा क्यों कहा? उस पर बताते हैं कि इच्छा की पूर्ति का संबंध तो लोकों के संग ही था तथा उन्हीं को उसे प्रसन्न करना था इस कारण उन्हीं के ऊपर उसकी कृपा का वर्णन है। मुनियों ने जो स्वयं नहीं कहा उसका कारण उन्हीं के ऊपर उसकी कृपा का वर्णन है। मुनियों ने जो स्वयं नहीं कहा उसका कारण भी यही है। मुनियों ने पृथु को यह बोध कराया कि तुम में भगवान् का आवेश है। इसलिये तुम पृथ्वी के दोहनादि कार्य भी करोगे। यह **'हि'** शब्द से ज्ञात होता है। यदि यह कहा जाय कि सूत को तो पुराण का ज्ञान होने से भविष्य को भी जान सकते है किन्तु मागध तथा बंदी तो इस भविष्य ज्ञान से शून्य थे इस पर बताते हैं कि आद्य सूत है तथा शेष अर्थात् उपजीवक मागध बंदी है। इसी कारण उपजीवक मागध बंदी आदि तो सूत को बताई हुई बात ही को बताते हैं।

आभास – अब यहां से सत्रहवां एवं अठारवां अध्याय का आरम्भ होता है जब पृथु के चरित्र का उपक्रम चल रहा है तथा मैत्रेयी जी अभी बोलने से विरत नहीं हुए हैं इसी मध्य में विदुरजी ने प्रश्न पूछ लिया यह तो उचित नहीं है इस शंका पर बताते हैं कि यद्यपि पृथु चरित्र का उपक्रम है किन्तु विदुर जी वैष्णव है अतः अलौकिक आवेश वाले भगवान् के चरित्र को ही प्रधान रूप से श्रवण करना चाहते हैं। विदुर जी ने यह जाना कि कदाचित् मैत्रेयीजी सामान्य चरित्र बताने लग जायेंगे इस आशंका से उन्होंने विशेष प्रश्न किया उसे बताते हैं–

कारिका – अलौकिके हि सम्प्रश्नो ज्ञात्वैष्यं तत्तथाऽकरोत्।।१३३।।
आविष्टकृतिरेषा हि सर्वमेतेन सिद्ध्यति।।१३३ १/२।।

अर्थ – अलौकिक चरित्र श्रवण हेतु विदुरजी का प्रश्न था। अतः भविष्य को समझकर प्रश्न पूछ लिया। भगवान् का आवेश पृथु में था इसलिये उनकी कृति आवेश के रूप में ही थी तथा सभी उसी से सिद्ध होता है।

प्रकाश – देवता रूप पृथ्वी है, स्त्री रूप है, सभी को जीवन देने वाली है। इस तरह की पृथ्वी को मारने का

प्रयत्न करना तो उचित नहीं है? इसका समाधान देते हैं कि मारने के प्रयत्न से ही तो पृथ्वी को डर लगता है। जिससे गाय का रूप धारण किया उसी रूप से ही समस्त कार्य होगा। पृथु ने आगे की सारी बात को समझकर ही प्रजाओं की इच्छा की पूर्ति हेतु शर संधान किया। उस पृथ्वी ने जैसा बताया था। उसे पृथु करने में समर्थ था क्योंकि उसमें भगवान् का आवेश था। यदि यह आशंका हो कि ऋषियों में तो आवेश नहीं था तब फिर उनमें उस प्रकार का सामर्थ्य किस तरह हुआ? इस पर बताते हैं कि इसी पृथु में जो आवेश था उसी के कारण उनमें सामर्थ्य आ गया। इसी के मूल में **'पृथु'** भाविताम्' ऐसा बताया है।

आभास – अब यहां से उन्नीसवां अध्याय आरम्भ होता है। इस भांति पूर्व से सर्वकाम पूरण प्रकरण का वर्णन करके अपनी इच्छा के साधन के प्रकरण का विचार करते हुए उसमें पहले अश्व मेघ की तथा उसमें भी सौ तक अश्वमेध्र यज्ञ करने का विचार किया उसके करने में क्या कारण था इस शंका का समाधान करते हैं–

कारिका – **स्वकाम्यानां हि सर्वेषां शुद्धिराद्या तदुद्भवे।।१३४।।**

अश्वमेधान्न चाऽन्यद्धि शतान्नाऽस्त्यधिका कृतिः।।१३४ १/२।।

अर्थ – पृथु की जो इच्छा थी उसमें मुख्य अपनी शुद्धि ही थी उस शुद्धि की सिद्धि अश्वमेघ के अलावा दूसरे से नहीं हो सकती थी इस कारण अश्वमेघयज्ञ किया किन्तु सौ से ज्यादा अश्वमेघ नहीं करना चाहते थे।

प्रकाश – पृथु की कामना थी उनमें सब से पहले कामना पवित्रता की थी। क्योंकि शुद्ध पुरुष जो कुछ करता है वह सिद्ध होता है। अतः शुद्धि के हेतु करना चाहिये? इसकी जब अपेक्षा हुई तो सभी का प्रायश्चित अश्वमेघ यज्ञ है इस श्रुति के अनुसार **'सर्वस्यभेषजम्'** इच्छा के साधन के लिये तथा शुद्धि की उत्पत्ति के लिये तो अश्वमेघ से और कोई कर्म संभव नहीं है इस कारण अश्वमेघ किया। पवित्रता हेतु सौ से ज्यादा अश्वमेघ की आवश्यकता नहीं रहती है अतः सौ अश्वमेघ करने का संकल्प किया।

आभास – भगवान् ने सप्तम अवतार रूचि प्रजापति की आकूति नाम की पत्नी में यज्ञ रूप से ग्रहण किया **'ततः सप्तम आकूत्यां रूचेर्यज्ञोऽभ्यजायत'** इस वाक्य से यज्ञ भगवान् का कलावतार है उसमें इन्द्र द्वारा बाधा उत्पन्न करना ठीक नहीं था इस पर बताते हैं–

कारिका – **पूर्णे पाक्षिक दोषत्वाद्यज्ञेन विनिवारणम्।।१३५।।**

निष्कामत्वादागमनमुत्तमत्वाद्धरेः स्वकैः।

तस्मात्सर्वगुणोद्भेदस्तेन सर्वोत्तमो मखः।।१३६।।

अर्थ – यदि पृथु के सौ अश्वमेघ यज्ञ पूर्ण हो जायेंगे तो पृथु इन्द्र बन जायगा इस कारण पाक्षिक दोष की निवृत्ति हेतु इन्द्र ने उन यज्ञों में अवरोध किया। परन्तु पृथु के यज्ञ तो निष्काम थे अतः श्रेष्ठ होने से देव ऋषि आदि वहां पधारे इसलिये उस पृथु का यज्ञ तो सर्वश्रेष्ठ था।

प्रकाश – इन्द्र बनने में दो प्रयोजकन है, एक सौ अश्वमेघ करे तथा इच्छा रखे। पृथु ने जो यज्ञ किये थे उनमें इन्द्र पद प्राप्त करने की इच्छा ही नहीं थी किन्तु सौ यज्ञ जब पूर्ण हो जाते हैं तो एक पक्ष यह भी है कि यह पृथु इसी समय इन्द्र बन जायेगा। इस डर से इस पाक्षिक दोष को हटाने के लिये यज्ञ नामक इन्द्र ने अश्व का हरण करके यज्ञ को रोका। उसके अनुचरों के साथ भगवान् का आगमन हुआ उसमें कारण तो पृथु की निष्कामता ही थी। कारण कि यज्ञ भी श्रेष्ठ था तथा पृथु भगवद् भक्त था। निष्काम होने के कारण ही भगवान् का आगमन हुआ तथा श्रेष्ठ होने से सभी अनुचर (परिकर) के संग आये। उस यज्ञ में सभी ऐश्वर्यादिगुण तथा सर्व ब्रह्मादि देवता और सात्विक, राजस, तामस, तथा मिश्रण गुणो वाले भक्तों का और उनके गुणो का प्रादुर्भाव हुआ। इससे यह प्रमाणित होता है कि इन्द्र होना कर्म का फल है तथा वह फल इन्द्र को अश्वमेघ यज्ञ से मिला था। उस इन्द्र को जो इन्द्रत्व की प्राप्ति हुई वह कहीं कोई छीन कर नहीं ले जाय इस शंका से इन्द्र से पृथु के यज्ञ अश्व का हरण कर बाधा उपस्थित की। अर्थात् मेरे सदृश किसी अन्य का कर्म नहीं होना चाहिये।

कारिका – राज्यस्य दोषरूपत्वात्सिद्धे धर्मे महेन्द्रताम्।
इच्छेदिति हि पाषण्डाः सृष्टा यैर्नाशितेमखे।।१३७।।
लोके पापप्रवृद्धयापि राजा स्वर्गं न गच्छति।
इति बुद्धया तथा चक्रे द्वेषेण सुतरां तथा।।१३८।।
चित्ताशुद्धिर्दृढा तस्मादतो ब्रह्मनिवारणम्।।१३८.५।।

अर्थ – राज्य ऋषिदोष रूप है, किन्तु धर्म के सिद्ध हो जाने पर यह पृथु इन्द्र पद को कदाचित् चाहे तो उसके लिये इन्द्र ने पाषण्डों की सृष्टि की। उन पाषण्डो से यज्ञ के नाश हो जाने पर लोक में पापों की अभिवृद्धि हो जायेगी जिससे राजा स्वर्ग में नहीं जा सकेगा। इस मति से और द्वेष से इन्द्र ने पाषण्डों की सृष्टि की। अतः पृथु के चित्त की अशुद्धि दृढ हो गयी। इसलिये ब्रह्माजी ने उस यज्ञ को रोक दिया।

प्रकाश – उचित है किन्तु पृथु तो धर्म का रक्षक था इस कारण उसका नाश करने के लिये पाषण्ड के प्रचार करने वाला वेष इन्द्र ने क्यों धारण किया? इन्द्र यह जानता था कि ब्रह्माजी के कहने से पृथु ने यद्यपि अश्वमेध को तो बंद कर दिया है किन्तु अश्वमेघ के करने से जो धर्म सिद्ध हुआ है उससे कदाचित् यह इन्द्र पद को चाहेगा। वह दोष होगा इस कारण पाषण्डों की सृष्टि की। जब यह बताया जा चुका है कि उसने तो निष्काम भाव से अश्वमेघ किया था तब अति पवित्र अन्तःकरण में उसको इस तरह की कामना कैसे हो सकेगी? इस तरह बताया है कि जब राज्य रूप एक दोष तो उसमें था इस कारण दोष की शंका से इन्द्र ने पाषण्डों की सृष्टि की। पाषण्डों की जब सृष्टि की जो उससे यज्ञ को नष्ट होने पर कारण का ही अभाव हो जायगा तो राजा स्वर्ग को नहीं जा सकेगा। इन्द्र का पीछे पाषण्ड में प्रचार करने का यह भी उद्देश्य था कि लोक में पाप की वृद्धि

होगी तो उस पाप का संक्रमण राजा में होगा। तो वह स्वर्ग प्राप्त नहीं कर सकेगा। उसने फिर ज्यादा पाषण्ड का प्रचार किया उसमें तो द्वेष ही कारण था। उसका उद्देश्य यह था कि दो बार पाषण्ड का प्रचार किया फिर भी इसने यज्ञ को रोका नहीं अतः यह मेरे स्थान को ले लेगा ऐसा जानकर उसने द्वेष किया तथा द्वेष के कारण ही पाषण्ड की प्रवृत्ति बहुत की। इस कारण से पृथु का चित अपवित्र हो गया। यहां जब चित्त अशुद्ध हुआ कि पृथु इन्द्र को मारने लगे। ब्रह्मा की सन्निधि में भी वह मति उनकी दृढ हो गयी इस कारण चित्त की पवित्रता के निमित्त से किये गये यज्ञ के पूर्वोक्त रीति से उत्तरोत्तर अपवित्र होता ही गया जब ब्रह्माजी ने उस यज्ञ को बंद कर दिया।

आभास – यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मण तो सब कुछ जानते थे तो ब्रह्माजी की तरह वे भी तो राजा को यज्ञ करने से मना कर सकते थे। ब्राह्मणों ने इन्द्र का नाश करने का प्रयत्न क्यों किया इस पर बताते हैं।

कारिका – **ब्राह्मणानां वधोद्योगो मरवरक्षार्थमेव हि।।१३९।।**
पश्चात्सिद्धिर्ब्रह्मवाक्यादेक न्यूनेऽपि सांगता।
शंकयैव न पूर्णत्व मनुज्ञातं शुचिस्ततः।।१४०।।

अर्थ – ब्राह्मणों ने जो इन्द्र को मारने का उद्योग किया था वह तो यज्ञ रक्षार्थ किया था किन्तु उस यज्ञ की रक्षा तो पीछे ब्रह्माजी के वाक्य द्वारा हुई, सौ में से एक न्यून होने पर भी उस यज्ञ की सांगता हो गयी। आशंका के कारण ही उसके पूर्ति की आज्ञा नहीं दी थी, पीछे पृथु का अन्तः करण पवित्र हो गया था।

प्रकाश – ब्राह्मणों ने इस प्रकार निश्चित किया कि यज्ञों का नाश करने वाले पाषण्डों का मूल तो यह इन्द्र ही है इस कारण इन्द्र का नाश करने से मूल सहित पाषण्ड नष्ट हो जायेगा तथा यज्ञ की रक्षा भी हो जायेगी। मूल में जो एव पद दिया है उसका उद्देश्य यह है कि पृथु की भांति ब्राह्मणों का चित्त अपवित्र हो गया होगा। इसलिये द्वेष के कारण वे इन्द्र को नष्ट करना चाहते थे। यह बात नहीं थी परन्तु ब्राह्मण तो यज्ञ की रक्षा ही करना चाहते थे। यदि यह कहें कि इन्द्र को नष्ट नहीं किया जायगा तो पाषण्डों की उत्पत्ति होगी। जिससे पूर्व किये गये यज्ञों का भी सर्वथा नाश हो जायेगा। इस पर बताते हैं कि यज्ञ को रोक देने पर था। ब्रह्माजी की बात को स्वीकार कर लेने पर प्रसिद्ध यश वाले इस पृथु के एक कम ऐसे सौ यज्ञ पूर्ण हो जायं इस वाक्य से उन पूर्व किये गये यज्ञों की सिद्धि हो गयी। यदि कहें कि पृथु ने दीक्षा तो सौ अश्वमेघों की ली थी वह पूर्ण नहीं हुई इस कारण अपूर्णता के कारण उसकी निरंगता से उन किये गये यज्ञों का कोई फल नहीं होगा? इस बात पर बताते हैं कि एक के शेष रहने पर ब्रह्माजी के वचन से उसकी पूर्णता हो गयी। ब्रह्माजी के वचन से यज्ञ को बंद करना तथा ब्रह्माजी के वचन से यज्ञों की पूर्ति ये दोनों ही जानना। ब्रह्माजी ने पृथु को बता दिया कि राजन् तुम चिन्ता नहीं करो एक यज्ञ नहीं होने पर भी तुम्हारा सौ अश्वमेघ का संकल्प पूर्ण हो जायेगा। यदि यह आशंका हो कि ब्रह्माजी ने यज्ञों की सांगता की अनुमति दी तो सौ की पूर्णता ही क्यों नहीं कर दी?

इसका समाधान यह है कि यदि सौ यज्ञ पूर्ण कर लेता तो इन्द्र के संग जो इसका द्वेष हो गया था उससे यह खुद ही इन्द्र बन जाता इस तरह की ब्रह्माजी को आशंका थी। अध्यायार्थ का उपसंहार करते हुए बताते हैं कि पृथु का अन्तःकरण पवित्र (शुद्ध) हो गया।

आभास – अब आगे बीसवां अध्याय का आरम्भ होता है। आगे के अध्याय का विचार करते हुए भगवान् की उक्ति में भगवान् का आशय बताते हैं–

कारिका – तत्रैवाऽऽसक्तचित्तस्य न मनः शान्तिमृच्छति।
इति कृष्णः स्वयं प्राह युक्तिपूर्वं हि तं मितम्।।१४१।।

अर्थ – पृथु की आसक्ति यदि कर्म में ही रही तब उसके मन में शांति नहीं होगी अतः कृष्ण ने स्वयं ही युक्ति पूर्वक पृथु से कहा।

प्रकाश – ब्रह्माजी ने यद्यपि पृथु तथा इन्द्र में मित्रता करवादी थी, किन्तु द्वेष के कारण तो कर्म में आसक्ति ही थी, इसलिये कर्म अपने आप ही कार्य रूप से क्षोभ जनक होने से शान्ति के बिना अग्रिम ज्ञान का अधिकार नहीं होगा इसलिये पृथु में कर्म में आसक्ति ही नहीं हो इसके लिये युक्ति पूर्वक बताया। भगवान् कृष्ण फलरूप हैं इस कारण फलरूप से ही साधनशक्ति का निवारण किया जा सकता है। इस कारण से कृष्ण पद दिया है। जिस प्रकार यहां यज्ञ का निवारण किया उसी भांति आगे ज्ञान के उपदेश का दूसरी तरह से ज्ञान नहीं करवायेंगे। यहीं पर यदि समस्त ज्ञानोपदेश कर दिया जाय तो आगे किया जाने वाला ज्ञान का उपदेश निरर्थक हो जायेगा और मुक्तिभी हो जायगी तो अन्य कार्य पूर्ण नहीं होगे इसलिये इस समय परिमित ज्ञान का ही उपदेश दिया, आशय यह है कि जितने ज्ञान से कर्मासक्ति की निवृत्ति हो जाय उतना ही ज्ञान का उपदेश कियां जाय। यदि वहां पर यह शंका हो कि कर्म करने की तो विधि है फिर उसमें आसक्ति को दूर कर दिया जायेगा तो राजा का बुरा हो जायेगा उस पर बताते हैं कि उस का भला इसी में था इससे पृथु का पुष्टि मार्ग में प्रवेश हुआ यह ज्ञात हुआ। यज्ञ में बाधा भी इसीलिये करवायी।

आभास – जब कथन मात्र से ही द्वेष समाप्त हो गया तब फिर इन्द्र के संग मित्रता करना निरर्थक था इस पर बताते हैं–

कारिका – वैमस्य निवृत्यर्थं संधानं छन्दनं वरे।
शुद्धिसीमा विबुद्धयर्थं स्तोत्रं तस्यास्तु बोधकम्।।१४२।।

अर्थ – वैमनस्य को दूर करने हेतु यह मित्रता करवायी थी तथा वर मांगने के लिये भी कहा, शुद्धि (पवित्रता) कहां तक हो गयी इसकी सीमा को जानने हेतु स्तुति से उसका ज्ञान होता है।

प्रकाश – द्वेषभाव होने पर भी यदि मन नहीं मिलता है तथा प्रेम नहीं होता है तो कालांतर में फिर वह द्वेष

पैदा हो सकता है वह पैदा नहीं हो इस हेतु दोनों में संधि करवायी। आशंका होती है कि भगवान् तो पृथु के हृदय की बात भी जानते थे फिर मेरे से वर मांग लो ऐसा वचन क्यों कहा। वर मांगने के लिये कहने का उद्देश्य यह था कि कितनी सीमा तक इस पृथु के अन्तः करण की शुद्धि हुई है शुद्धि संपूर्ण तरह से हो गयी है या नहीं इस बात को अन्यों को कहने के लिये उसको वर मांगने के लिये कहा। उसके अन्तः करण की शुद्धि का ज्ञान करने वाली स्तुति का आगे वर्णन किया। 'तु' उसके हृदय की थोड़ी शुद्धि का निषेध किया है।

कारिका - **अत एव वरो दतो भक्तिराशंसितं तु यत्।**
राज्यभोगादिसिद्धयर्थं मर्यादापालनाय च।।१४३।।

अर्थ - अतएव भगवान् ने उसको वरदान दिया तथा भगवान् से भक्ति की याचना की। राज्य भोगादि की सिद्धि के हेतु एवं मर्यादा पालन के लिये उसे राज्य भी दिया।

प्रकाश - भक्ति मिलने योग्य उसकी पवित्रता हो गयी है इस प्रकार जब समझ लिया तब उसे भक्ति लक्षण का वर दिया इसके सिवाय उसने जो चाहा वह प्रदान किया और भगवान् ने चाहा वह भी दिया। जब अन्तःकरण पवित्र हो गया तथा भक्ति की प्राप्ति हो गयी तब दूसरे किसी का दान उचित नहीं था इस शंका पर बताते हैं कि यदि केवल भक्ति ही प्रदान करते तो वह राज्यभोग ही नहीं करता तथा भक्ति तो स्वतंत्र है इस कारण मर्यादा का भी पालन नहीं करता तब फिर अवतार ही निरर्थक हो जाता। अतः भगवान् ने राज्य भोग दिया।

आभास - भगवान् का आवेशावतार पृथु था इस कारण मर्यादा की रक्षा आदि स्वतः ही सिद्ध हो जायेंगे और आवेश होने से भक्तिकी भी पूर्ति हो जाती तब फिर इनके देने की क्या जरूरत थी इस शंका का समाधान करते हैं कि भक्ति कठिन है इस कारण उसके साधन कहते हैं-

कारिका - **सत्संगे सर्वविज्ञाने त्यागसाधनसेवया।**
अतिनिष्ठां गतस्यैव भक्तिर्भवतिनाऽन्यथा।।१४४।।
अत एवातिसौभ्यागयवर्णनं तत्परस्य हि।।१४४ १/२।।

अर्थ - पूर्व में जब सत्संग होता है तब सर्व विज्ञान होता है तथा सर्वविज्ञान के पश्चात् त्याग रूप साधन और सेवा से जब अतिनिष्ठा को प्राप्त होता है तब भक्ति होती है अन्यथा नहीं होती है। इस कारण जो भगवान् में तत्पर होता है उसे सौभ्याग्यशाली कहा है।

प्रकाश - पूर्व जब सत्संग होता है तब उनके उपदेश से सर्वतत्व का विज्ञान होता है तथा जब सर्व विज्ञान हो जाता है इसके पश्चात् किसी तरह के फल की कामना रखते हुए यथानुसार कर्मों को करके उन कर्मों का समर्पण ब्रह्म को करके एवं विषयों में विषय दोष रूप है ऐसा समझकर उनसे आसक्ति को दूरकर लगातार

सेवा के करने से जब संसार से वैराग्य हो जायगा। तब भगवान् की जो आज्ञा हो उसका पालन करने हेतु उसके आधीन रहकर सभी कार्य करने जब भगवान् में अत्यन्त निष्ठा प्राप्त होती है। तब भक्ति होती है। भगवान् ने तो पृथु को वर दिया उसमें भी यही बताया है कि 'हे राजन् तुम्हारी भक्ति मेरे में हो' यह तात्पर्य का विषय है। साधन संपत्ति होने पर भी भगवान् का जब तक अनुग्रह नहीं होगा तब तक भक्ति प्राप्त नहीं होगी तो वर तो अप्रयोजक हो गया। ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कि आवश्यक होने से सरल होने से अनुग्रह को ही भक्ति का कारण जानना चाहिये साधन सर्वनिरर्थक है। इसका समाधान करते हैं कि वररूप अनुग्रह तो उसमें स्वरूप योग्यता का सम्पादन करता है अर्थात् जिस पर अनुग्रह होता है वह भक्ति को प्राप्त करने पर भी जब तक उसमें स्वरूप योग्यता नहीं होगी। तो कार्य नहीं होगा। जिस प्रकार शिला शकलों में स्वरूप योग्यता नहीं है। इस कारण कार्य पैदा नहीं होता है। इसी प्रकार स्वरूप योग्यता हो किन्तु सहकारी योग्यता का यदि अभाव रहेगा तब भी कार्य नहीं होगा। जिस प्रकार कोठी के भीतर स्थित ब्रीहि में। यह बात तो उचित है कि जब एक दूसरे की अपेक्षा रहेगी उस समय कार्य नहीं होगा। किन्तु जब भगवान् ही भक्ति देने की कामना करते हैं तब जीव में उस तरह की स्वरूप की स्वरूप योग्यता का संपादन कर के उस प्रकार का अनुग्रह करते हैं। श्रुति में कहा है कि भगवान् जिसकी उन्नति करना चाहते हैं उससे अच्छे कार्य कराते है तथा जिसका अधःपातते कराना चाहते हैं उससे दोषयुक्त कार्य करवाते हैं। **यहां से इक्कीसवां अध्याय आरम्भ करते हैं।** भगवान् के भी वर से ही यदि सब होता तब फिर भगवान् की कामना उस प्रकार की होगी। इस कामना का पता कार्य से ही मिल जायेगा। इस बात को बताने के लिये कार्य को ही कहते हैं। तत्परस्य का अर्थ जो भक्तिमें परायण है। उसके लिये जो भगवान् के द्वारा दिया जाता है। वह ठीक ही है। इसको कहने के लिये हि शब्द दिया है।

आभास – इस निरूपण का उद्‌देश्य कहते हैं–

कारिका – **भोगाय धर्मस्त्रेधा हि यज्ञरक्षोपदेशनैः।।१४५।।**

मध्यमः सिद्ध एवास्ति तथाऽऽद्यस्यानुवर्णनम्।।१४५ १/२।।

अर्थ – भगवान् के द्वारा प्रदत्त भोग पृथु को मिल गया अब जब रक्षा के उपदेशों से धर्म तीन तरह का है। मध्यम धर्म तो उसके लिये सिद्ध ही था उसी प्रकार आद्य (यज्ञ) का निरूपण करते हैं।

प्रकाश – भगवान् के द्वारा प्राप्त भोग वह तो पृथु को मिल गया था। स्वधर्माध्याय का विचार करते हुए सर्वप्रथम नाम निर्देश पूर्वक धर्म के विभागों को बताते हैं। रक्षा का विशेष रूप से वर्णन नहीं किया उसमें कारण कहते हैं कि मध्यम धर्म तो उसके लिये सिद्ध नहीं था। यज्ञ तो पूर्व से ही सिद्ध था फिर उसका द्वितीय बार निरूपण क्यों किया ? उसका हेतु यह था कि उस तरह का यज्ञ यद्यपि पहले ही सिद्ध था उस आद्ययज्ञ के मध्य में पाषण्ड का प्रचार हो जाने से इस यंज्ञ के अभाव की आशंका हो जाती है उसके हटाने के लिये उसका अनुवर्तमान रूप से निरूपण किया गया है।

आभास – उस पृथु ने स्वप्रजा को बताया कि हे प्रजाजन! आप अपने राजा का भला करने हेतु किसी असूया के भगवान् में भक्ति करो तब मेरे ऊपर आपकी बडी कृपा होगी। इस श्लोक द्वारा ही जब उपदेश की पूर्ति हो गयी तो पुनः पुनः कथन का क्या उद्‌देश्य है इस पर बताते हैं –

कारिका – पाषण्डमतिनाशाय बोधनं बहुधोक्तिभिः।।१४६।।
सर्वसंमतिसिद्धयर्थं तेषां प्रत्युत्तरं मतम्।।१४६ १/२।।

अर्थ – प्रजाजनों की जो पाषण्ड मति हो गयी थी उसका नाश करने हेतु उनको बहुत बार समझाया। सब की संमति को सिद्ध करने वाला उनका उत्तर उसने श्रवण किया।

प्रकाश – पाषण्डो के संबंधों से जिनको मोह उत्पन्न हो गया था उन्हीं की पृथु के कथन में संमति नहीं थी इसलिये सर्व संमति की पूर्ति हेतु उसने पुनः पुनः उपदेश दिया। अथवा सामान्य जन ऋषि वचनों को ही प्रमाण मानते हैं? इस कारण पृथु के कथनों पर भी ऋषियों की संमति के बिना भरोसा नहीं करेंगे सभी लोगों की पृथु के कथन में संमति हो जाय इसके लिये ऋषियों ने राजा पृथु को प्रत्युत्तर दिया। क्योंकि ऋषियों की जब संमति होगी तब समस्त प्रजा पृथु की बात को मानेगी।

आभास – अब यहां से बाइसवें अध्याय का आरम्भ होता है यहां पर यह आशंका होती है कि भक्ति का उपदेश देने वाले नारदजी का साथ पृथु को क्यों नहीं हुआ? नारदजी के साथ ही प्रचेताओं को मोक्ष हुआ था इस पर बताते हैं–

कारिका – कामप्रकरणाज्ज्ञाने मार्गभक्ति प्रसिद्धये।।१४७।।
अनुदण्डान् ज्ञानसिद्धान् सनकादीन् ददर्श सः।।१४७ १/२।।

अर्थ – यह काम प्रकरण है, इस कारण ज्ञान में मार्ग भक्ति की प्रसिद्धि हेतु शान्त ज्ञान सिद्ध ऐसे सनकादि मुनियों को पृथु ने देखा।

प्रकाश – काम प्रकरण होने ज्ञान सिद्ध सनकादिकों को देखा इस प्रकार का यहां अन्वय जानना। उनका दर्शन ज्ञान हेतु था। मार्गरुप, इष्ट को प्राप्त कराने वाली साधन रूप भक्ति को मार्ग भक्ति बताते हैं। इस तरह की भक्ति की सिद्धि के लिये सनकादिकों का दर्शन हुआ। ज्ञान ही जिसका साधन है ऐसी भक्ति के बताने के कारण भूत विशेष को बताते हैं। सनकादिक ऋषि शांत थे ज्ञान सिद्ध थे। जब सनकादिक ने उपदेश दिया तो रहूगण की भांति उस पृथु को ज्ञान तथा भक्ति क्यों नहीं हुई। इस पर बताते हैं कि वे सनकादिक ज्ञान से ही सिद्ध थे, भक्ति से सिद्ध नहीं थे। भक्ति यदि सिद्ध होती तो पृथु भी वैसा ही हो जाता।

आभास – जो आत्माराम होते हैं उनकी जिस प्रकार पूजा की जाती है उसी भांति उन से कुशल प्रश्न भी करना चाहिये वह क्यों नहीं किया? इस पर बताते हैं–

कारिका - इयं रीतिर्ज्ञानमार्गे कृतिश्चैवं न चाऽन्यथा।।१४८।।
अतएव पुनस्तस्य पूर्ववत्सर्ववर्णनम्।
प्रसादख्यापकं ह्येतन्मार्गे हेतुपरम्परा।।१४९।।
मुमुक्षत्वान्न परमा कार्यार्थं तस्य चोद्गमः।।१४९ १/२।।

अर्थ – सर्व निवेदन जब किया जाता है उस समय जो प्राण दारा इत्यादि का जो कथन है वह ज्ञानमार्ग की रीति से है और कृति भी ज्ञान मार्गीय ही है अन्यथा नहीं है। इस कारण उसमें फिर सर्व समर्पण का निरूपण है। इस मार्ग में भगवत्प्रसाद से ही ग्रहण हो सकता है। पृथु अवतार कार्य हेतु ही हुआ था अतः मोक्ष की भी कामना थी।

प्रकाश – भक्तिमार्गीय सब अर्पण किया जाता है तब उसके आगे दारा, प्राणादि का अर्पण किस तरह किया जाता है? इस पर बताते हैं कि यह अर्पण लक्षण कृति भी ऐसी ही ज्ञानमार्गीय ही है। इस कारण आगे यह वर्णन है कि यदि भक्तिमार्गीय के अनुसार निवेदन किया जाय तब पुनः उसका उपयोग स्वयं के लिये नहीं कर सकते तभी तो उसका त्याग भी होगा तथा प्रकरणार्थ भी तभी संगत होगा। इस कारण सर्व निरूपण का दूसरा आशय कहते हैं। उपदेश के पीछे किया जाने वाला विषयभोग प्रतिबंधक नहीं होता है। ये दोनों ही बाते भगवत्प्रसाद के बिना असंभव है। इस कारण उसके निरूपण से इसका कथन है। अन्यथा उपदेशादि से ही यदि ज्ञानादि रूपकार्य की सिद्धि हो जायेगी। तब फिर भगवान् से ही काम की सिद्धि नहीं होगी।

इसका व्याख्यान अन्य तरह से भी है कर्मों का समर्पण ब्रह्म को किया गया है। उसकी अपेक्षा भक्ति के लिये कर्म करना ठीक है। आत्मा की स्थिति की अपेक्षा भगवत्कीर्तन ही उचित है क्योंकि उसमें अधिक रस होता है। अनासक्त रहने की अपेक्षा से तो सर्व निवेदन भगवान् में कर देना श्रेष्ठ है वह क्यों नहीं किया? इस पर बताते हैं कि निवेदन ज्ञानमार्गीय होने से ज्ञान मार्ग की रीति रूप ही आत्मस्थिति की है। इससे प्रकरार्थ की भी संगति हो जाती है। अतः उसका निरूपण ठीक है यह **'हि'** शब्द का तात्पर्य है। भोगों को भोगते हुए के लिये ही **'वेन्यस्त धुर्यो महताम्'** पृथु महापुरुषों के अग्रगण्य है आदि से बताया गया ज्ञान हेतु परंपरा भी प्रसादरूप को ही जताने वाली है। मार्ग का आशय है ज्ञानमार्ग **(अब यहां से तेबीसवां अध्याय आरंभ होता है)** भगवत्प्रसाद से युक्त ही साधन परंपरा में प्रेम भक्ति क्यों नहीं बताई इस पर बताते हैं – पृथु जब भगवत्काल का अवतार था तो उसको मोक्ष की कामना क्यों हुई इसका समाधान करते हैं कि कार्य हेतु उसका अवतार हुआ था पृथु भगवान् का अंश था उसका उद्गम पृथ्वी के दोहन के लिये धर्म के लिये तथा प्रजापालन के लिये हुआ था। उसी भांति लक्ष्मी का भी उसके पोषण के हेतु उसकी पत्नी में प्राकट्य हुआ था। इन सर्व समुच्चय के लिये ही **'च'** आया है इससे यह ज्ञात हुआ कि कार्य पूरा हो गया तब भगवान् का अंश भी तिरोहित हो गया। इस कारण मूल में कहा है कि जिसके लिये उत्पन्न हुआ था **'यदर्थमिहजज्ञिवान्'**

अतः उसके पीछे तो उसमें जीवत्व ही रहा इसलिये मोक्ष की कामना होना उचित ही था। अथवा स्तुति के समय पृथु ने बताया कि 'हे नाथ मैं तो मोक्ष भी नहीं चाहता इस प्रकार क्यों कहा? इस शंका को करके बताते हैं कि उसमें भगवान् का आवेश होने से तथा भगवान् का सान्निध्य होने से उसी काल में भक्ति रस का प्रादुर्भाव हो गया था। इस कारण ऐसा कहा। उस पृथु में तो पहले कहे गये कार्य के लिये ही यहां आवेश हुआ था। उस कार्य के जल्दी पूरा हो जाने से आवेश दूर हो गया। तब उसने मोक्ष की कामना की यह ठीक ही था। इस कारण मूल में कार्यार्थम् कार्य के लिये आवेश था। अथवा उक्त आशंका में भगवान् का आवेश तो धर्मादि के पालन के लिये ही था इसमें आवेश भक्ति मार्ग के प्रचार हेतु नहीं था इस कारण भगवद् आवेश होने पर भी मोक्ष की कामना करना ठीक ही था क्योंकि भगवान् की कामना बलवान् होती है इसीलिये **'कार्यार्थम्'** यह बताता है। अथवा **'कार्यर्त्थम्'** का आशय है ज्ञान हेतु वह प्रभु तथा उनकी पत्नी दोनों घर से प्रस्थान कर गये, क्यों कि त्याग ज्ञान का अंग है।

आभास – ज्ञान की अपेक्षा पुरुषोत्तम की भक्ति तो उत्कृष्ट है फिर वहां ज्ञान की अपेक्षा बतायी गयी है इससे रूपान्तर से अन्तर्यामी भी आदि का भजन होगा। इस शंका पर कहते हैं।

कारिका – **रूपं तदेव स रसो बहुकालं न सेवितः।।१५०।।**

अतः स्वतंत्रा सा नाऽभूत्कारणत्वेन चोद्गताः।।१५० १/२।।

अर्थ – उसने पुरुषोत्तम रूप का ही सेवन किया था वह रसरूप था किन्तु उस पुरुषोत्तम का ज्यादा समय तक सेवन नहीं किया था अतः वह भक्ति स्वतंत्र नहीं थी केवल कारण रूप से ही प्रकट हुई थी।

प्रकाश – यहां पर **'रूपम्'** का आशय है पुरुषोत्तम रूप इसी कारण तो **'आरिराधयिषुः कृष्णम्'** ऐसा मूल में बताया है तब फिर उसको ज्ञानादि की अपेक्षा किस कारण से हुई? क्योंकि उस प्रसिद्ध पुरुषोत्तम की सेवा ज्यादा समय तक नहीं की थी। इसलिये उस तरह के भजन के बिना रस का आविर्भाव नहीं होने से प्रधान भक्ति रस का भी सेवन नहीं किया। इस कारण उस भक्ति का ज्ञान के साधनरूप में आभास हुआ। इसलिये ज्ञानादि से निरपेक्ष रूप से फलरूप या फल प्रदान समर्थ नहीं हो सकती तब फिर भक्ति का उद्देश्य क्या हुआ? भक्ति के अभाव में मोक्ष नहीं होता है इस कारण मोक्ष के कारण रूप से भक्ति पैदा हो गयी थी। यहां पर यद्यपि भक्तिसाधन हो गयी थी किन्तु भक्ति की फलरूपता समाप्त नहीं हुई थी उसके समुच्चय के लिये **'च'** है।

आभास – भक्ति जब मुक्ति में जरूरी है तब फिर लाधव से भक्ति से मुक्ति हुई ऐसा क्यों नहीं कहते। इससे यह होगा कि **'तस्यानया'** आदि से जो ज्ञान योग बताया गया है वह निरर्थक हो जायगा। ऐसी शंका करके बताते हैं भक्ति का स्वभाव तो कल्प वृक्ष के समान है इसको यह जो समझता है कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है तब उसके लिये ज्ञान को पैदा करके ही भक्ति मुक्ति प्रदान करती है। यह सिद्धान्त का मूल उद्देश्य है इसे बताते हैं–

कारिका - **वैराग्यज्ञानमुत्पाद्य तदविद्यां निवार्य च।।१५१।।**

योगेन भङ्क्त्वा लिंगश्च सद्वैकुण्ठेऽनयत्पृथुम्।।१५१.५।।

अर्थ – भक्ति ने ज्ञान एवं वैराग्य को पैदा किया और उसकी अविद्या का भी निवारण किया इसके पश्चात् योग के द्वारा लिंग शरीर का भंग करके वह भक्ति उसे व्यापि वैकुण्ठ में ले गयी।

आभास – पृथु के लिये वैकुण्ठ का आवरण करने वाली माया का उद्घाटन क्यों किया उसका हेतु बताते हैं-

कारिका - **योगेनोद्धाटितस्तस्य तस्यास्तु क्रमतोऽभवत्।।१५२।।**

अनभिप्रेतरूपत्वात्फलमस्योच्यते बहु।

असंगतिनिवृत्यर्थं भक्तिश्चाऽप्यस्य वै फलम्।।१५३।।

अर्थ – पृथु की पत्नी ने पृथु के हेतु वैकुण्ठ को उद्घाटित कर दिया था किन्तु उसका उद्घाटन क्रम से हुआ क्यों कि भक्ति यहां अभिप्रेत नहीं थी अतः इसका बहुत फल बताया गया है। असंगति की निवृति हेतु भक्ति भी इसका फल है यह बताया है।

प्रकाश – पृथु की पत्नी पाति व्रत्यधर्मनिष्ठ थी इसलिये पृथु के पहले ही वह पति लोक में चली गई थी तथा वह निरन्तर स्वपति की भावना करती रही। इस कारण उसने पृथु के हेतु क्रम से वैकुण्ठ का उद्घाटन कर दिया था। यदि यह कहा जाय कि शास्त्र का फल तो भक्ति होना चाहिये दूसरे फल का बताना नहीं है क्योंकि यह प्रकरण उस भक्ति के लिये अभिप्रेत नहीं है। कहावत (एकन्याय) है कि 'कोई डूबता है तो पाताल में चला जाता है' **'मग्नश्चेत्पातालं विशेत्'** इस कारण भक्ति का फल तो सब कुछ हो सकता है। इसलिये ऐसा बताया गया है। अतएव इस प्रकरण की इस शास्त्र के साथ साम्यता नहीं होती है। ऐसी शंका करके बताया है कि भक्ति भी इसका फल नहीं है। इस कारण एक ही फल होने शास्त्र की साम्यता (संगति) हो जायेगी। चकार पूर्व का समुच्चय करने हेतु है फिर भी 'अपि' इसीलिये है कि यहां भक्ति को स्वतंत्र पुरुषार्थ रूप से नहीं बताया है। क्योंकि इसके लिये **'भवसिंधु पोत पादे'** यह मूल वाक्य उसको बताने वाला है। यहां पर फल का वर्णन कर दिया है। इसलिये प्रकरण पूरा हो गया है यह ज्ञात होता है।

आभास – यहां से आगे मोक्ष के कारण का विचार करते हैं। उसमें विदुर जी ने किसी प्रकार का प्रश्न नहीं किया है उसका हेतु बताते हैं-

कारिका - **अन्यार्थं कामकथनान्नात्र प्रश्नः पुरैव सः।**

अष्टभिर्मोक्षकथनं स द्वेधेति पुरोदितम्।।१५४।।

अर्थ – विदुरजी ने काम का प्रश्न किया था वह जब कह चुके तब अब मोक्ष को ही बतायेंगे इस कारण से प्रश्न नहीं किया और मोक्ष का प्रश्न पूर्व में ही कर चुके थे अब आठ अध्यायों द्वारा मोक्ष प्रकरण का वर्णन

करते हैं वह मोक्ष दो तरह का है यह पूर्व में बता चुके हैं।

प्रकाश – काम से इतर मोक्ष ही है तथा उस मोक्ष को बताने के लिये ही काम का प्रकरण कहा है। अब मोक्ष प्रकरण का निरूपण करने के लिये यह प्रक्रिया है उस मोक्ष प्रकरण का प्रश्न है **'केते प्रचेतसोनाम'** वे प्रचेता कौन है यह तो पूर्व में पूछ ही चुके हैं इसलिये पुनः प्रश्न नहीं किया है। अथवा विदुर जी को भक्ति मात्र की इच्छा थी तथा उसी के हेतु प्रश्न किया था, किन्तु मैत्रेय जी ने उसके सिवाय अधिकफल को बताया किन्तु मेरे लिये यह नहीं बताया है परन्तु जिनको इनकी इच्छा है उनके लिये यह प्रकरण बताया है मेरे प्रश्न का समाधान तो किया नहीं है इसलिये अपने आप यही कह देंगे अतः पुनः प्रश्न नहीं किया है। अब प्रकरणार्थ को बताने हेतु अध्यायों की संख्या बताते हैं। इस प्रकरण को आठ अध्यायों से कहेंगे। शास्त्रार्थ प्रकरण में **'विद्ययाऽविद्यानाशे'** विद्या के द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर यहां से आरंभ करके **'उभयं हरि सेवया'** ये दोनों ही हरि सेवा से होते हैं यहां पर पर्यन्त बताया है।

आभास – उसी को बताते हैं-

कारिक- **ब्रह्मत्वं कृष्णसायुज्यं क्रमादत्रोच्यते द्वयम्।**
सायुज्ये तु रसाधिक्यं भेदेनाऽनुभवात्सदा।।१५५।।

अर्थ – ब्रह्मत्व तथा कृष्ण सायुज्य यहां ये दोनों ही क्रम से बताये गये हैं सायुज्य में रस की अधिकता रहती है क्यों कि वहां अलग से रहकर उस रस का अनुभव किया जाता है।

प्रकाश – ब्रह्मभाव तथा सायुज्य वहां पर कैसे चाहे गये हैं उनका यहां पर वर्णन है। भगवान् ने बताया है कि इसके पीछे मुझे तत्व सहित समझ कर फिर मेरे में प्रविष्ट होता है **'ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदन्तरम्'** जब ब्रह्मत्वभाव को पा लेता है तो उसे भक्ति मिल जाती है तथा पुरुषोत्तम का बोध हो जाने पर उसका भगवान् में प्रवेश लक्षण सायुज्य कहा गया है। वह प्रवेश पृथक् रहकर ही होता है, क्योंकि जब पृथक् रहता है। तभी रसका अनुभव हो सकता है। यदि ब्रह्मत्व हो जाता है तो उसमें भगवान् के संग एकता हो जाती है तब रस का अनुभव नहीं होता है इसलिये प्रवेश तथा ब्रह्मत्व पृथक्-पृथक् बताये गये हैं।

आभास – इस प्रकार ब्रह्मभाव की गौणता को कहकर प्रवेश ही विशेष है तथा उसका वर्णन होने से इस ब्रह्मभाव लक्षण मोक्ष का निरूपण मध्य में किया है और आदि में तथा समाप्ति में उस प्रवेशाधिकारी भक्त होने से प्रचेता ही है इसलिये उनका वर्णन किया है उसी को यहां पर बताते हैं-

कारिका – **तस्याऽधिकारिणस्तेन संदेशकथयोक्तवान्।**
मध्ये तु प्रथमः प्रोक्तो महत्त्वात्पंच तस्य तु।।१५६।।

अर्थ – भक्ति के अधिकारी प्रचेता हैं इसलिये उनकी कथा को प्रथम तथा आखिरी में संदेशन्यास (संडासी

की भांति) बतायी गयी है बीच में प्रथम अधिकारी के लिये पांच अध्याय बताये हैं क्योंकि पहला अधिकारी ज्यादा है।

प्रकाश – सायुज्य का साधन ब्रह्मभाव भी है यह ज्ञात होता है। आगे प्रचेताओं के मोक्ष का वर्णन करेंगे उसके पूर्व उनकी भक्ति का वर्णन करके पिता का बीच में वर्णन है। इससे यह ज्ञात होता है कि भगवान् भक्तों को तो विशेष फल देते हैं तथा जो भक्तों से संबंधित होते हैं उनकी जो भक्तिमार्ग में परिनिष्ठता होती है। उसमें भक्त ही कारण होते हैं। इसलिये भक्तों के संबंधियों को भी गौण फल देते हैं। ब्रह्मत्व का अधिकारी पहले (उत्कृष्ट नहीं) जाना गया है। अब अध्याय का भेद बताते हैं। जो पहला अधिकारी है उनसे संबंध रखने वाले पांच अध्याय है। उसका कारण यह है कि प्रथम अधिकारी को ज्यादा बताना पड़ता है तथा भक्तको तो थोड़े में ही खुशी का फल का प्राप्त हो जाता है। इसलिये उसका वर्णन तीन अध्यायों में ही है क्यों कि प्रथम अधिकारी कर्मनिष्ठ होते हैं। इस कारण उनको ज्यादा प्रयत्न से ही फल प्राप्त करना पड़ता है। कार्य के महत्व के कारण से ही पांच अध्यायों से उनका वर्णन है।

आभास – यदि यह कहा जाय कि पहला अध्याय भी पहले अधिकारी का ही होना चाहिये प्रचेताओं के तप का वर्णन तो उनकी आज्ञा से वर्णन के लिये है, कारण कि पिता ने उनको आदेश दिया है **'पित्रादिष्टा'** इस वाक्य से यह मालुम पड़ता है। उपदेश का वर्णन तो **''यदुक्तंपथिदृष्टेन''** ऐसा करने पर विदुर ने जब प्रश्न पूछा तब उसके समाधान रूप में वह किया गया है। अन्यथा बिना ही प्रश्न के स्वरूप का वर्णन कर देते। इस कारण से प्रचेताओं की कथा का प्रासंगिक होने से उसे उस प्रकरण की कथा नहीं जानना चाहिये। इसलिये यह प्रथम अध्याय भी पहले अधिकारी का ही निरूपण है ऐसा यदि मान लें तो प्रथम अधिकारी के छः अध्याय होते हैं इस पर बताते हैं–

कारिका – **अन्योन्स्योपकारित्वबोधनार्थं तथा वचः।**
साधनं च प्रसादश्च फलं चेति त्रयं परे।।१५७।।

अर्थ – पहले अध्याय का कथन तो एक अन्य का उपकारी है इस बात को बताने के लिये है। इसलिये भक्तों के हेतु तीन अध्याय हैं उन तीनों में साधन, कृपा तथा फल इन तीनों का निरूपण है।

प्रकाश – यहां पर मुख्यरुप से तो उसी का वर्णन किया है तथा पिता ने जो उनको आदेश दिया था ऐसा जो कथन है तो जो करने वाला है तथा जो करने की आज्ञा देता है अथवा जो करने की अनुमति देता है उसको भी करने वाले के सदृश ही फल होता है। इस कारण पिता की आज्ञा से उन्होंने तप किया था। अतः पिता का अन्तःकरण पवित्र हो गया। यह उनके ऊपर उपकार हुआ। प्रचेताओं को भगवत्प्राप्ति पिता की प्रेरणा से तप करने के कारण हुई इसलिये पिता उनका उपकार करने वाला हुआ। इस तपस्या से उसके अंतकरण की शुद्धि हो गई। अतः इनका उपकार पिता के ऊपर हुआ तथा इनकी आज्ञा देने से इनका उपकार भी पिता द्वारा

हुआ। अन्यथा प्रचेताओं के पिता प्राचीन बर्हीं ने अचानक नारदजी से इस प्रकार किस तरह कहा कि 'आप मुझे निर्मलज्ञान का उपदेश दीजिये' और यह भी कहा कि ये घर तो 'कपट धर्म वाले हैं' उपदेश तो अति दुर्लभ है इस बात को बताने के लिये प्रश्न की जरूरत रहती है। जैसा कि इससे पहले स्कंध के प्रकरण में बताया 'सब से पूर्व तो वक्त सामान्य रूप से किसी की जिज्ञासा को मना कर देता है। तथा वक्ता जब यह देखता है कि इसकी जिज्ञासा है तब फिर कथा का प्रक्षेप केवल आरंभ करता है। तथा उसमें भी जब विशेष प्रश्न होता है तब कथा का वाचन करता है। इस भांति की रीति है। अब सायुज्य प्रकरण के अध्यायों का तात्पर्य बताते हैं - साधन अर्थात् उपदेश यह प्रथम अध्याय का अर्थ है च से साधन का ग्रहण किया है। जिस प्रकार पिता का आदेश तथा रूद्र का दर्शन सातवें अध्याय का आशय है प्रसाद (कृपा) तथा फल यह आठवें अध्याय का अर्थ है। च द्वारा उनकी कृति राज्यभोग आदि गौण प्रसाद का भी निरूपण है। द्वितीय च से इस प्रसंग के श्रवण करने वाले विदुर को भी भक्ति रूप फल की प्राप्ति हुई तथा उसका निर्गमन हुआ।

आभास- अब यहां से आगे चौबीसवें अध्याय का प्रारम्भ करते हैं इस प्रकार प्रकरणार्थ का वर्णन करके प्राचीन बर्हीं की आठ अध्यायों द्वारा मुक्ति कही गई है। ऐसा जो मत है वह उचित नहीं है पांच अध्यायों द्वारा ही उसके मोक्ष का वर्णन है उसमें कारण कहते हैं।

कारिका - विद्या तु पंचपर्वेति प्रथमे पंच सन्मताः।
यत्र सर्वविनिर्द्धारः सर्वसन्देहवारकः।।१५८।।

अर्थ - विद्या पंच पर्वा है अतः जिन लोगों ने पहले प्रकरण में पांच अध्याय बताये हैं इन पांच अध्यायों में सभी तरह के संशयों के दूर करने वाला सभी का निर्द्धार है।

प्रकाश - तु शब्द शंका को दूर करने के लिये है। इसमें ब्रह्मभाव वाच्य है ब्रह्मभाव के लिये तो अविद्या की निवृत्ति होना मात्र ही जरूरी है तथा अविद्या की निवृत्ति होती है विद्या के द्वारा तथा वह विद्या पांच पर्व वाली है। इसलिये उस विद्या का वर्णन इन पांच अध्यायों में बताया गया है। इस पहले प्रकरण में पांच अध्याय है। सन्मता बताने का तात्पर्य यह है कि जो इस प्रकरण के छः अध्याय बताये हैं वह मत बुद्धिमानों का नहीं है। इन पांच अध्यायों में मुख्यरूप से बोध का ही वर्णन है। एक बात यह भी है कि आत्मा के संग दिखाई देने वाले (देह) संघात पदार्थों के स्वरूप का निर्धार बिना संशय के ब्रह्म ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है। इस कारण उस ब्रह्म ज्ञान के लिये उतने (पांच) ही अध्यायों का वर्णन किया गया है इसलिये इस प्रकरण के पांच अध्याय है।

कारिका - द्वितीयस्तु त्रिभिः सिद्धः सर्वेषां तत्र चोत्सवः।
प्रथमो नारदेनैव फलं तेनाऽपि सिद्ध्यति।।१५९।।

अर्थ – द्वितीय प्रकरण तो तीन ही अध्यायों से सिद्ध हो जाता है इसलिये उसमें तीन ही अध्याय है तथा उन तीन अध्यायों से ही सभी इन्द्रियादि को आनन्द मिल जाता है। पहला जो ब्रह्मभाव रूप मोक्ष है वह नारद से होता है तथा फल भी उसी से सिद्ध होता है।

प्रकाश – दूसरे प्रकरण में जो कृष्ण सायुज्य है इसमें तीन ही अध्याय हैं अतः इस प्रकार की शंका नहीं करना कि यह पहला प्रकरण ब्रह्मभाव से हीन होगा इस आशंका को मिटाने हेतु ही तु शब्द को यहां पर रखा है। इस द्वितीय कृष्ण सायुज्य प्रकरण की तो ब्रह्मभाव में तो कौन सी वस्तु कैसी है इसका ही बोध होता है तथा आत्मा को ही सुख होता है सभी इन्द्रियों को आनन्द नहीं मिलता है तथा इस कृष्ण सायुज्य में तो सर्व इन्द्रियों को एवं सभी को विस्मृत करा देने वाला आत्मानंद मुख्यरूप से सिद्ध है साध्य नहीं है। ब्रह्मानंद तो गणितानंद है अतः वह पूर्णानंद नहीं है। यहां पर एक आशंका होती है कि भगवान् की कृपा बिना केवल नारदजी के उपदेश मात्र से ही प्राचीन बर्ही का मोक्ष किस प्रकार हो गया? **'फलमतः'** इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार तो उसका मोक्ष नहीं होना चाहिये? अतः प्रचेताओं की भांति इसके लिये भी मोक्ष के हेतु भगवान् का प्राकट्य बताना चाहिये। इसका समाधान करते हैं कि नारदजी का नाम ही इस बात को जानता है कि वे नार अर्थात् जीव भाव का यदि खण्डन करते हैं अर्थात् जीवभाव को दूर कर देते हैं यह जीव भाव को दूर करना भगवान् के बिना असंभव होता इस कारण इन नारदजी में भगवान् का ही आवेश है। अतः नारदजी के उपदेश के द्वारा ही प्राचीन बर्ही को ब्रह्मभाव रूप मोक्ष प्राप्त हो गया। इसमें अन्य युक्ति भी देते हैं। ब्रह्मभाव में ब्रह्मस्वरूप बाहर भले ही प्रकट नहीं हो परन्तु आत्मा के रूप में उसकी स्फूर्ति यदि आन्तरिक हो जाती है तो उसी से फल की सिद्धि हो जाती है अथवा तृतीय युक्ति यह भी है कि ज्ञान के उपदेश मात्र से मोक्ष नहीं होता, परन्तु भगवान् के सहित गुरू के उपदेश से भी मोक्ष रूप फलसिद्ध होता है।

आभास – प्रकरणार्थ का वर्णन कर पहले अध्याय पर विचार करते हैं–

कारिका – पृथोः पौत्रपुत्राणां मुक्ति वक्त तदन्तराः।
अमुक्तौ प्रतिबन्धः स्यादतो मुक्तिकथान्तराः।।१६०।।
प्रौत्रमुक्तिस्तु सन्दंशन्याये नैव भविष्यति ।।१६० १/२।।

अर्थ – पृथु प्रपौत्र तथा उनके पुत्रों की मुक्ति को बताने के लिये उसके मध्य में यदि किसी की मुक्तिनहीं होती है तो आगे की संतान की मुक्ति नहीं होती है। इस कारण से मध्य में मुक्तिकी कथा आयी है। पौत्र मुक्ति तो सदंश (सांडर्स) न्याय द्वारा ही हो जायेगी जब पुत्र की और प्रपौत्रों की मुक्ति हो गयी तो पौत्र की भी मुक्ति हो ही गयी।

प्रकाश – प्रचेताओं के साधन का वर्णन करने के मध्य में मुक्ति का वर्णन किस लिये किया? इस पर बताते हैं कि पृथु का प्रपौत्र था बर्हीं तथा उस बर्हीं के पुत्र प्रचेता उन प्रचेताओं की ही मुक्ति बताने में उस कथा के

मध्य में पौत्र की मुक्ति क्यों कही ? इस पर बताते हैं कि उसकी मुक्ति का बताना जरूरी है यदि उनके पूर्वजों में किसी की मुक्ति नहीं होती है तो पिता का दोष पुत्र में भी संक्रमण करता है तब इनकी मुक्ति में भी बाधा हो जायेगी। इस कारण मुक्ति के अधिकार का ही वर्णन किया है। यदि यह कहो कि पृथु के पौत्र को मुक्ति नहीं बताई है इसलिये उसके द्वारा इनकी मुक्ति में प्रतिबंध हो जायेगा। पौत्र की मुक्ति भले ही नहीं बतायी हो परन्तु वह तो बिना कहे ही सिद्ध है। इस कारण से पृथक् नहीं बतायी। इससे प्रचेताओं की आध्यात्मिक शुद्धि बताई है। इतने ग्रंथ से **'विजिताश्वः'** यहां से लेकर सात श्लोकों का आशय कहा है।

आभास – हविर्धानादि पांचों का आशय बताते हैं–

कारिका – **योगेन कर्मण चाऽपि शुद्धिः सर्वोत्तमा मता।।१६१।।**

कुलसौन्दर्ययोगे तु स्त्रीशुद्धिश्चोत्तमा मता।।१६१ १/२।।

अर्थ – योग से तथा कर्म से भी सर्वोत्तम शुद्धि मानी गई है। कुल तथा सौन्दर्य इन दोनों के कारण स्त्री की शुद्धि श्रेष्ठ मानी गई है।

प्रकाश – यहां पर आधिभौतिकी शुद्धि का वर्णन है। वह शुद्धि माता एवं पिता के शुद्ध होने पर होती है। उसमें पुरुष की शुद्धि तो योग एवं कर्म से ही हो गयी। वह शुद्धि सत्कुल में पैदा होने की अपेक्षा से श्रेष्ठ होती है। स्त्री की शुद्धि तो सत्कुल में पैदा होने से और अधिक सौन्दर्य से होती है। यहां पर तु शब्द का आशय यह है कि उसमें व्यभिचार आदि दोष नहीं होने चाहिये।

कारिका – **बीजयोनिविशुद्धत्वे शुद्धिःकार्ये विनिश्चिता।।१६२।।**

विवाहोऽपि ब्रह्मवाक्यादतो न विषये स्पृहा।।१६२ १/२।।

अर्थ – बीज एवं योनि दोनों जब शुद्ध (पवित्र) होंगे तो उसमें पैदा होने वाला कर्म (पुत्र) भी शुद्ध होगा। यह निश्चित है। इनका विवाह भी ब्रह्माजी के वचन से हुआ है इसलिये विषयों में इनकी लालसा भी नहीं है।

प्रकाश – जब बीज एवं योनि दोनों ही शुद्ध है तो उनके पुत्र में भी शुद्धि होती है किन्तु दोनों के शुद्ध होने पर भी यदि विषयों के राग से प्रवृत्ति होती है तथा उससे जो संतान पैदा होती है वह बीज के संस्कार के कारण उसमें राग की प्रवृत्ति होती है, किन्तु यहां तो जो विवाह हुआ है वह अनुराग के कारण नहीं हुआ है परन्तु ब्रह्माजी के वचन से हुआ है इस कारण उनमें विषयों के प्रति वैराग्य है।

आभास – इससे जो फल मिला उसको बताते हैं–

कारिका – **एतदृशात्समुत्पन्नाः पितुरादेशकारिणः।।१६३।।**

तपसासाधने तस्य न बन्धो भवतीति हि।

तत्रापि कृष्ण सेवायां कृतार्थत्वं हि सर्वथा।।१६४।।

अर्थ – इस प्रकार के जब निर्दोष माता-पिता से वे पैदा हुए थे इसीलिये सनकादि पिता के आज्ञाकारी हुए। तप के साधन से उनका संसार बंधन नहीं हुआ तथा उस तप में भी कृष्णसेवा में सर्व प्रकार से कृतार्थता हो गयी।

प्रकाश – शुद्ध होने के कारण ही उन्होंने सनकादि अपने पिताओं की आज्ञा का उलंघन नहीं किया। परन्तु उनकी आज्ञा का पालन किया अतः गुरु की आज्ञा पालन करना यह धर्म हो गया तथा उसमें भी पिता की आज्ञा से पालन रूप तप के साधन से प्रवृतिमार्ग के द्वारा होने वाला सृष्टि के करने में जो बंधन होता है वह भी नहीं होगा। इस कारण तप में प्रवृत हो गये। तप ही केवल नहीं किया परन्तु तप में भी हम पुरुषोत्तम का भजन करेंगे तथा उससे कृतार्थ होंगे इस प्रकार निश्चय किया।

कारिका – **इति तान् सर्वथा शुद्धान् विलोक्येशो हरि प्रियः।**
प्रोवाच सर्वसन्देहवारकं सर्व बोधकम् ।।१६५।।

अर्थ – इस भांति प्रचेताओं को सर्व प्रकार से शुद्ध देखकर भगवान् के प्रिय श्री रूद्र ने सर्व सन्देहवाहक तथा सर्व बोधक वचन कहे।

प्रकाश – प्रचेताओं की आधिदैविक शुद्धि संपन्न हो चुकी थी इस कारण सभी तरह से शुद्ध उनको समझकर उनसे कहा। रूद्र ईश है अतः उन्हें आन्तर ज्ञान है उसमें भी हरिप्रिय होने से हरिभक्ति का बोध नहीं था। तब फिर वे अकस्मात् कैसे बाहर आये? तथा ऐश्वर्य को जानने के लिये ही **'समुद्रमुपविस्तीर्णम्'** इस बीसवें श्लोक से छः श्लोकों तक में ईश पद से उनका आशय कहा तथा **'यूयं वेदिषदःपुत्रा'** इत्यादि रूद्र वचन के चार श्लोकों का आशय हरिप्रिय पद से बताया।

आभास – स्तोत्र के बीच में जो स्वरूप का वर्णन है किया गया है। उसका उद्देश्य बताते हैं।

कारिका – **हेतुपूर्वं स्तोत्रमाह शीघ्रं तुष्यति यद्धरिः।**
अयमेवोपदेशो हि विश्वासार्थं परम्परा।।१६६।।

अर्थ – भगवान् जल्दी प्रकट हों इस कारण से ही स्तुति की। परम्परा से विश्वास के लिये ही यह उपदेश था।

प्रकाश – भगवान् प्रकट हों इस हेतु स्तोत्र है। उस भगवान् का प्राकट्य तो प्रेम से ही होता है, प्रेम होता है अति सुन्दर स्वरूप के लगातार (निरंतर) चिंतन और कीर्तन से इस कारण इसी तरह की स्तुति की इसी को **'शीघ्रम्'** इस पद से स्पष्ट कहा है। ये भगवदीय थे इसलिये इन्हें उपदेश किया। **'अथ भागवता यूयम्'** इस श्लोक द्वारा तुम भगवान् के भक्त हो इस प्रकार का वर्णन करके उनको स्तोत्र का उपदेश उन्हें किया। जप करने से मंत्र का उपदेश पृथक् होगा। इस तरह की आशंका नहीं करना जप भी इसी का करना यह उपदेश दिया। **'इदं जपध्वम्'** इस कथन से जो संमति दी वह **'हि'** से बतायी है। उनके भरोसे के लिये ऐसा बताया था। रूद्र के वचन में भी भरोसा था यदि विश्वास नहीं होता तो परम्परा के कहने पर भी अविश्वास ही बना

रहता जिस कारण सर्वनाश हो जाता। परम्परा तो इस लिये बताई है कि इसकी फल सिद्धि का श्रवण करने पर उनकी भी इस स्तोत्र में श्रद्धा होगी।

आभास – तब फिर इसके फल में देरी क्यों हुई? इस पर बताते हैं–

कारिका – अनुद्वेगपरीक्षार्थं विलम्बो हरिणाकृतः।
तत्पुरैव विनिश्चित्य जले तप्तुं विनिश्चयः।।१६७।।

अर्थ – भगवान् ने उनको फल देने में देरी इस कारण की थी कि ये तप से घबराते तो नहीं है? इस परीक्षा हेतु किया था। उन प्रचेताओं ने तो पूर्व में ही निश्चय कर लिया। इस कारण तो वे जल के भीतर तप कर रहे थे।

प्रकाश – भगवान् ने विचार किया कि भक्तिरस ऐसा होता है कि उसके प्राप्त होने पर किसी की स्मृति नहीं होती है। उसके परीक्षार्थ ही तप से होने वाला दुःख और काल के विलम्ब में होने वाला उद्वेग इन्हें होता है या नहीं किन्तु वे तो बहुत ही अधिक भक्ति रस के रसिक थे उसकी पहचान यह थी कि जिस जल में कोई प्रविष्ट नहीं हो सकता था उस अगाध जल में जहां जल चर भी नहीं रहते थे ऐसे स्थान में ही बिना बाधा के भजन होगा ऐसा सोच पूर्व में ही कर चुके थे। इस कारण से वे तो भक्ति रस के रसिक थे उन्हें उद्वेग तथा क्लेश कोई भी डिगा नहीं सका।

आभास – उनका भजन तो स्वतंत्र पुरुषार्थ रूप से ही मालुम हुआ, क्योंकि पृथ्वी पर भजन करने पर प्रलय में भूमि का नाश हो जायेगा तो भजन में बाधा उपस्थित हो जायेगी। वह विध्न नहीं हो ऐसा सोचकर के ही उन्होंने गहरे (अगाध) पानी में प्रविष्ट होकर के भजन किया इसको बताते हैं–

कारिका – प्रलयेपि न भंगार्थं स्तोत्रमुख्यत्वसिद्धये।
अध्यायपूरणं पूर्वं कृतं सम्बन्धसिद्धये।।१६८।।
अग्रे कथा प्रकथनं तपः सिद्धौ कथा परे।।१६८ १/२।।

अर्थ – प्रलय में भी हमारे भजन का भंग नहीं हो इस कारण उन्होंने जल में ही भजन किया। उस भजन में स्तोत्र ही मुख्यत्व सिद्धि के लिये था। तप के वर्णन पूर्व ही अध्याय की पूर्ति कर दी गयी है। पूर्व में तो तप का वर्णन किया है, वह तो संबंध सिद्धि के लिये है। तप की सिद्धि के पश्चात् जो बर्हिषद् की कथा बताई गयी है वह संबंध सिद्धि के लिये ही है।

प्रकाश – यहां पर शंका उत्पन्न होती है कि इस अध्याय में साधन का वर्णन करना चाहिये वह साधन है स्तोत्र तपोरूप, तब फिर तप को नहीं बताकर केवल स्तोत्र से ही अध्याय की पूर्ति कर दी गयी है इसका आशय क्या है? इसका समाधान करते हैं कि इनका साधन मुख्यरूप से स्तोत्र ही है तप नहीं इसे बताने के लिये तप का वर्णन करने से पूर्व ही अध्याय को पूरा कर दिया है। जब प्रधान साधन स्तोत्र ही है तब फिर

आदि में तप का वर्णन नहीं करना चाहिये। उस पर बताते हैं कि यह तप तो बर्हिषद् के चित्त को भी शुद्ध करने वाला था। इसलिये संबंध दिखाने के लिये उस प्रकरण में तप को बताया गया है। यदि यह कहें कि प्रचेताओं के गमन पीछे ही नारदजी आये थे इसलिये तप तो पश्चात् किया था तब फिर तप को कारण किस प्रकार बताते हो? इस पर कहते हैं कि यह तप सिद्ध हो गया था। तब नारदजी ने बर्हिषद् की कथा बतायी थी। यदि यह कहो कि इसमें प्रमाण क्या है? इसमें अन्यथानुपपत्ति ही प्रमाण है। अन्यथानुपपत्ति उसे कहते हैं कि उसके बिना वह नहीं हो सके जैसे बर्हिषद् को वैराग्य हो गया वह बताया। वैराग्य चित्तशुद्धि के बिना नहीं होता है तथा चित्त शुद्धि तप के अभाव में नहीं हो सकता है। इसलिये तप ही उसमें कारण हुआ। यदि यह कहा जाय कि उसका कर्म ही उसके चित्त को शुद्ध करने वाला बन गया किन्तु इस तरह नहीं कह सकते वह कर्म तो सकाम था सकाम कर्म चित्त को पवित्र नहीं करता है। उसके कर्म की सकामता तो नारद के वाक्य से जानी जाती है।

आभास – इसके पश्चात् पहले के प्रकरण के अर्थ विचार की प्रतिज्ञा करते हैं–

कारिका – **सर्ववस्तुविवेकस्तु जाग्रत्स्वप्न विभेदनः।।१६९।।**

विनश्यत्ता विनाशश्च सार्थकत्वादिरूपवान्।

सर्वसंदेहराहित्यं सफलं पंचभिः क्रमात्।।१७०।।

अर्थ – जाग्रत तथा स्वप्न इस विभाग से सभी वस्तु का विवेक है विनाश की सामग्री तथा विनाश ये सार्थक स्वरूप वाले हैं। सर्व संदेहों से रहित होना ही सफल होना है इस भांति इन पांचों का निरूपण क्रमशः पांच अध्यायों में किया है।

प्रकाश – अध्यायों के अर्थ को बताते हैं–जाग्रत अवस्था का वर्णन पूर्व अध्याय का अर्थ है। स्वप्नावस्था द्वितीय अध्याय का अर्थ है। विनाश के कारण रूप सामग्री का समीप में होना तृतीय अध्याय का अर्थ है। विनाश चतुर्थ अध्याय का अर्थ है। चकार से संसार नाश भी अर्थ है। क्योंकि यहां सत्संग भक्ति तथा ज्ञान का एक साथ वर्णन है। उसी को बताते हैं कि दुष्ट पूर्व देह का नाश भी तभी सार्थक है यदि आगे सत्संग हो अन्यथा तो उसका नाश भी अनाश जैसा ही है। यहां तो सार्थक नाश का ही निरूपण है आदि शब्द से भक्ति आदि ग्रहण करना तथा सभी संदेह रहित होना पंचम अध्याय का अर्थ है।

आभास – जीव के लिये दो कोटि है संसार और मुक्तिमार्ग। इनके स्वरूप का वर्णन करना चाहिये। वह एक समय में भी होते हैं। यहां उसका पृथक् वर्णन क्यों किया गया इस पर बताते हैं–

कारिका – **संसारे मुक्तिमार्गे च जीवो द्वेधा हि गच्छति।**

तत्सामग्री प्रकथन मुभयो रूच्यते पृथक्।।१७१।।

अर्थ – जीव दो तरह के मार्गों से गमन करता है एक तो संसार में तथा द्वितीय मुक्तिमार्ग से। उन दोनों मार्गों में जाने की दोनों तरह की पृथक्-पृथक् सामग्री बतायी जाती है।

प्रकाश – जीव की संसार में जिस तरह से गति होती है उसी तरह से मोक्षमार्ग में भी गति होती है। इस कारण संसार तथा मुक्तिमार्ग दोनों की सामग्रियों का यहां पृथक् से कथन है। च से पुरुष रूप से तथा स्त्री रूप से भी जो जीव हैं उनके मार्गों की गति है इनको बताने के लिये पुरुष तथा स्त्रियों हेतु मार्ग का कथन है। इसमें स्त्री देह को प्राप्त जीव के साधन का वर्णन होने से वैसे ही जीव की मुक्ति होती है इस आशंका का समाधान हो गया। इसका आशय तो इतना ही है कि पूर्व वासना के अनुरूप उसको देह प्राप्त होता है। इससे यह ज्ञान होता है कि सत्संग आदि साधन यदि स्त्री को मिल जाये तो उसकी भी मुक्ति हो जाती है। भगवान् ने **'माहिपार्थ'** इस श्लोक में स्त्री पापयोनि आदि सभी की मुक्ति बतायी है।

आभास – तब फिर स्पष्ट रूप से क्यों नहीं कहा उस पर बताते हैं–

कारिका – **अपरोक्ष कथायां हि कौतुकाभावतः पुमान्।**
नाऽऽद्रियेत नवा बुद्धिरध्यात्मे प्रविशेद् द्रुतम्।।१७२।।

अर्थ – स्पष्ट रूप से बता देते तो उसमें पुरुष का कौतुक चमत्कार नहीं होता तथा उस का आदर भी नहीं करते जिससे अध्यात्म में शीघ्र बुद्धि का प्रवेश नहीं होता।

प्रकाश – जन्मादिके रूप में यदि वर्णन कर देते तो उसमें किसी तरह का चमत्कार नहीं होता तथा ऐसा ही जानते कि यह तो मनुष्य देह की केवल कथा है। इस प्रकार की मति से उस कथन का कोई संमान नहीं होता जिससे ज्ञानमार्ग में बुद्धि का प्रवेश नहीं होता। परोक्ष रूप से जब बताया जायगा तो उसमें चमत्कार होने से ज्ञानमार्ग में बुद्धि का प्रवेश हो जायेगा।

आभास – अब आगे पच्चीसवां अध्याय आरम्भ होता है यदि कहें कि जिसका कोई फल नहीं है ऐसा जानते हुए भी उस विषय का प्रश्न क्यों किया इस पर बताते हैं–

कारिका – **प्रश्नः शुद्धिपरीक्षार्थमन्यथा कथनं वृथा।**
गृहादि सहितो देहः पुरं मध्यं तथोभयोः।।१७३।।

अर्थ – शुद्धि की परीक्षा के लिये ही प्रश्न है यदि इस प्रकार नहीं होता तो कथन निरर्थक था। यहां पर आदि के सहित देह ही पुर है तथा उन्हीं में स्थित अहन्ता तथा ममता यह संबंध है।

प्रकाश – शुद्धि का बताना जरूरी है यदि उसे नहीं बताते तो शुद्धि का अभाव हो जाता। यहां पर आशंका होती है कि नवद्वार और प्रकार (कोट) आदि तो मनुष्य देह से अतिरिक्त देहों में भी समान ही है तो उनमें अभिरूचि क्यों नहीं है तथा नरदेह में ही अभिरूचि क्यों है उसका समाधान यह है कि जीव को सर्वप्रकार

के भोगों को भोगने की कामना होती है वे सभी भोग दूसरे शरीर में प्राप्त नहीं हो सकते हैं उनके गृहादि भी नहीं होते हैं अतः नरदेह में ही वे सभी भोग तथा उन भोगों का सर्वप्रकार का साहित्य मनुष्यदेह में ही मिल सकते हैं। इसलिये सभी जीवों को मनुष्य शरीर प्राप्त करने की ही कामना रहती है। दूसरे देह की प्राप्ति की कामना नहीं रहती है। यहां मनुष्य शरीर का निरूपण किया गया है। अतः गृह, धनादि के सहित शरीर ही यहां पर है इस कारण बताया है। 'उस पुरजंन को अनेक प्रकार के भोगों की लालसा थी' उन्हें भोगने के लिये उसने संसार के जितने भी नगर देखे वे उसे अच्छे नहीं लगे' **'कामान् कामयमानोऽसौतस्य तस्योपपत्तये'** इसी की व्याख्या **'यदा जिघृक्षन् पुरुषः कात्स्न्यैंनप्रकृतेर्गुणान्'** से की है। यदि विषयों में परिनिष्ठ बुद्धि का संबंध ही शरीर से संबंध माना गया है। तब फिर **'पूर्यास्तु बाह्योपवने'** इससे विषयों को नगरो से बाहर बताना ठीक नहीं रहेगा। इस पर बताते है कि जो जीव तथा पुर के वर्णन में इन दोनों के बीच में जो पुरी के बाहर उपवन है आदि वह भी पुर के भीतर ही है। अथवा जीव तथा शरीर इनके बीच में स्थित जो मैं और मेरा इस तरह की बुद्धि रूप संबंध वह भी पहले की भांति ही जानना। यहां पर जीव को संसार होता है। यह बताना है इसलिये वह संसार मैं और मेरा इन्हीं के द्वारा होता है। मैं तथा मेरा ये ही अविद्या के कार्यरूप है। देहआदिक तो प्रपंचन (जगत्) के भीतर हैं इसलिये वह तो भगवत्कार्य रूप है संसार तो अहन्ता तथा ममता रूप है। देह तथा जीव में **'मैं'** और 'मेरा' इस संबंध के अलावा और किसी प्रकार का वर्णन नहीं हो सकता अतः मैं, तथा मेरा यह बुद्धिरूप के लिये अविद्या के कार्यरूप है। इस कारण यह संबंधियों से पृथक् है। अतः पुर की विलक्षणता के कारण इन्हें बाहर कहा है। मैं तथा मेरा यह संबंध ही ज्ञान से नाश किया जाता है। यदि यह कहें कि यह मैं तथा मेरा तो जब पुर (देह) के देखा सभी तो बताया गया है। इस कारण ये मैं और मेरा संबंध देह तथा जीव के भीतर ही तो हुआ। अतः इसके व्याख्यान में नवद्वार, दो हाथ, दो पैर ऐसा बताकर उसी को उसने उत्तम माना ऐसा बताया है। इसमें देह ही को श्रेष्ठमाना अहन्ता तथा और का कहां निरूपण है? सब तरह के सुखभोगों में उपयोगी तो देह ही है तथा इसी का पुरंजन (जीव) ने आदर किया। यदि शरीर को नहीं देखता तो किस तरह आदर करता। अथवा बीच का अर्थ यह जानना की जीवात्मा तथा अन्तर्यामी इन दोनों के मध्य में अन्तराय रूप विषय परिनिष्ठित मति के संग यह पुर (देह) है। आसुरी संपत्ति बंधन करने वाली होती है इस भगवान् के वचन से आसुरी संपति को ही बंधन करने वाली बतायी है।

आभास – जन्म लेना ही पुर प्रवेश है वह पुर प्रवेश (जन्म) दो रूप का है। यहां पर किस तरह का जन्म बताया गया है? इस शंका को दूर करने के हेतु दोनों ही तरह के जन्म का अनुवाद कर फिर उसका निश्चित यहां बताया है।

कारिका – जन्मादि द्विविधं लोके पंचाग्निप्रक्रमेण हि।

एकः स नाऽत्र वक्तव्यः पूर्व दोषस्य संभवात्।।१७४।।

अर्थ – लोक में जन्मादि पंचाग्निविद्या के क्रम से दो तरह का है। एक जन्म का तो यहां बताया ही है किन्तु सब तरह के दुःखों को देने वाले संसार की निवृत्ति किस जन्म से होती है उसका यहां पर वर्णन है।

प्रकाश – एक जन्म तो वह है जो वेदान्त विज्ञान के लिये पंचाग्नि विद्या से साधित होता है द्वितीय जन्म वह है जिसमें जन्मों तथा मरो यह तीसरा मार्गीय जन्म है। इनमें पंचाग्नि विद्या से साधित जन्म का यहां निरूपण नहीं है। उसका हेतु यह है कि पूर्व प्रज्ञा से साधित लौकिक दोष की दृढासक्ति से उसका जन्म संभव होता है। अर्थात् वह वैदिक जन्म दोष रहित है। अन्य के निरूपण में भी यही हेतु है इसलिये यहां अन्य जन्म का ही वर्णन है क्योंकि वह दोष साध्य होता है।

आभास – पहले कहे गये दोष का ही प्रथम विवरण करते हैं–

कारिका – **जायस्वेति द्वितीयस्तु पूर्वं जीवेच्छया तथा।**
ईश्वरत्वादनासक्तर्हरिस्तत्कामतः कृती।।१७५।।

अर्थ – **'जायस्व म्रियस्व'** जन्मो तथा मरो इस प्रकार का संसार प्रथम जीव की कामनानुसार होता है। ईश्वर तो अन्तर्यामी है तथा अनासक्त है इसलिये वह तो भगवान् ही है वह तो केवल प्रेरणा देने वाला होने से ही कृतिमान् है दूसरी कोई कृति नहीं है।

प्रकाश – कामनाओं की इच्छा करने वाला यह जीव है **'कामान् कामयमानोऽसौ'** इस प्रकार जीव में विषय भोगों की कामना का वर्णन होने से और उसका ज्ञान अज्ञान से ढक (आवृत्त) गया था। इस वाक्य से ज्ञान का विरोधी होने से वह दोषरूप है। इस कारण इस तरह का जन्म यहां बताया गया है। यदि यों कहें कि जब जीव तथा अन्तर्यामी का प्रवेश एवं स्थिति संग में ही है तथा जीव बिना अन्तर्यामी के प्रेरणा के कुछ भी करने में सामर्थ्य नहीं है तब फिर अन्तर्यामी को जन्मादि रूप संसार क्यों नहीं बताया गया। इस पर बताते हैं कि ईश्वर अन्तर्यामी है। जीव के संग अन्तर्यामी रहता है। किन्तु वह अन्तर्यामी जीव की भांति बुद्धि के पराधीन है परन्तु स्वतंत्र है। जन्म उसी का होता है जो काल तथा कर्म के अधीन रहता है। अन्तर्यामी ईश्वर है वह किसी के आधीन नहीं है। इस कारण उसका जन्म नहीं होता है। अन्तर्यामी में माया एवं मोह का अभाव होने से उसमें जीवभाव नहीं है। अन्तर्यामी के प्रयोजक कर्ता होने पर भी महाराज की भांति उसके लिये कर्म बंधक नहीं होते है। यदि आसक्ति करता है तब बंधन होता है किन्तु अन्तर्यामी आसक्ति से नहीं कराता है। अतः उसको कर्म बंधन नहीं मिलता है। श्रुति में बताया है **'अनश्नत्रन्यो अभिचाकशीति'** अन्तर्यामी कर्मों का भोग नहीं करता है तथा प्रकाशमान रहता है जीव तो दुःखी होता है तथा अन्तर्यामी तो उसके भी दुःखों को ज्ञान से मिटा देता हैं। भगवान् ने कामना की कि मैं उच्च–नीच भाव से प्रकट हो जाऊं इस इच्छा से अन्तर्यामी इच्छा वाला भगवान् ही है इस कारण वह संसारी नहीं हो सकता है। अथवा उस जीव को इच्छा के अनुसार प्रेरणा करने के कारण भगवान् मात्र प्रेरणा देने वाले हैं। इतनी ही कृति भगवान् में है इतर कोई

कृति भगवान् में नहीं है इसका अभिप्राय यह है कि शरीर मिलने के पीछे ही कर्म किया जाता है तथा कर्म करने पर बंधन होता है। यहां पर तो शरीर मिलता ही नहीं है उसके पूर्व ही जीव में इच्छा का वर्णन है तथा वह बिना कर्म अन्तर्यामी के प्रेरणा के नहीं होता है। इसलिये देह मिलने के पूर्व भी जीव के हेतु प्रेरक अन्तर्यामी ही था किन्तु जैसे पूर्व अन्तर्यामी को बंधन नहीं हुआ उसी भांति देह मिलने के पीछे भी अन्तर्यामी को बंधन नहीं होगा। अन्तर्यामी की आसक्ति के बिना कारण इच्छा का अभाव है जो आसक्त होता है वही इच्छा करता है। ईश्वर अन्तर्यामी है वह कर्मो के अधीन नहीं है यदि कर्मों के अधीन होता तो ईश्वर किस भांति होता।

आभास – देह के मिलने के पहले बुद्धि आदि के वर्णन का आशय डेढ कारिका से कहते हैं–

कारिका – **लिंगेन सहितो जीवः स्थूलदेहे सुखी भवेत्।**
अतो गर्भप्रवेशाद्धि पूर्वं कृष्णविनिर्मिते।।१७६।।
बुद्धिप्राणेन्द्रियगणे तदध्यासोऽनुवर्ण्यते।।१७६ १/२।।

अर्थ – लिंग शरीर के सहित जीव स्थूल देह में सुखी हो इसके लिये गर्भ में प्रविष्ठ करे इसके पहले ही कृष्ण के द्वारा निमित्त बुद्धि प्राण तथा इन्द्रियगण में उनके अध्यास का वर्णन है।

प्रकाश – लिंग का अर्थ शरीर है। अध्यास तो अविद्या का कार्य है इस कारण बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियगण में अविद्यारूपता हो जायेगी इस आशंका को दूर करने हेतु कृष्ण विनिर्मित ऐसा विशेषण दिया है अर्थात् वे अविद्या निमित्त नहीं है। उक्त ग्रंथ में **'इति तौ दंपत्ति तत्रसमुद्य समयं मिथः'** यहां तक का आशय बताया है।

आभास – अब **'तां प्रविश्य पुरी'** इत्यादि ग्रंथ का आशय बताते हुए बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियों का स्वरूप कहते हैं।

कारिका- **देहात्ममतिरेषा हि तथा स्थूलेन्द्रियादि च।।१७७।।**
पुंस्त्वं स्वतन्त्रता तस्य पारतन्त्र्यं तथेतरत्।।१७७ १/२।।

अर्थ – यह आत्मादेह में है इसी भांति स्थूल इन्द्रिय आदि में आत्म बुद्धि होना अध्यास बताया जाता है। पुरुष में पुंस्त्वका और स्वतंत्रता निरूपण एवं स्त्री में परतंत्र का निरूपण भी अध्यास ही है।

प्रकाश – देह को आत्मा जानना देहाध्यास है। देहाध्यास पंच पर्व अविद्यारुप होने से उसमें अध्यास होना ठीक ही है। **'सप्तोपरि'** इत्यादि से जिन स्थूल इन्द्रियों का वर्णन है वह भी इन्द्रियाध्यास रूप ही है। इसी कथन को स्पष्ट करने के लिये तथा यह पद दिया है। यदि यह कहो कि देह में ही स्त्रीत्वादि धर्म होते हैं किन्तु यहां पुंस्त्वादि तो देह प्राप्ति से पूर्व ही जीव में पुंस्त्व को बताया है ऐसा कहना तो युक्ति संगत नहीं है है ऐसी शंका करके उसके स्वरूप को कहते हैं। श्रुति तथा भागवतादि के अधीन नहीं रहकर देहादि में रमण करता है उसके लिये पुरुष शब्द का प्रयोग है। जो श्रुति भागवत आदि के अधीन रहकर कर्म करते हैं उन्हें स्त्री बताया गया है। अतः उनमें आगे जाकर भक्ति की उत्पत्ति बतायेंगे।

कारिका – **तस्याः स्त्रीत्वं तु मायात्वाद्बहिस्तद्धर्म सिद्धये।१७८।।**

वाक्योक्ति : स्वेच्छता सिद्धयै देवत्वाल्लोकवत्तथा।।१७८ १/२।।

अर्थ – बुद्धि को स्त्री बताया है क्यों कि वह माया रूप है माया रूप होने से उसके द्वारा ब्राह्य सब कार्य सिद्ध होते हैं अतः ऐसा बताया गया है तथा जीव की स्वेच्छता सिद्धि के एवं उसमें देवत्व होने के कारण लोक की तरह से वाक्यादि का कहना उसके लिये बताया है।

प्रकाश – तस्याः का अर्थ बुद्धि का, इस बुद्धि का स्त्रीत्व पूर्ववत् नहीं है। परन्तु जीव इस बुद्धि के अधीन है इस तरह के विभाग को दिखाने के लिये ही तु शब्द का उपयोग किया है। इस भेद में माया ही कारण है। यह माया देहात्मभावरूप है इस कारण अविद्यारूप हुई तथा अविद्या होती है मोहन करने वाली इसी कारण इसमें भी स्त्री रूपता है। तो इससे क्या होगा इस पर बताते हैं कि जो मोहित हो जाता है वह मोहित करने वाले के पीछे पीछे घूमता है। अविद्या मायारूप है इसलिये इसमें मोहकता जब सिद्ध हो गयी तो मोहन है अन्तर धर्म इसलिये इन धर्मों की बाहर भी सिद्धि हो उस हेतु वैसा बताया है। इसका वर्णन वह जब वह पीती तब भी पीता **'क्वचित्पिबन्त्याम्'** इत्यादि से वर्णन किया है जीव वाक्यों का आशय कहते हुए उसका उद्देश्य बताते हैं। जीव जिस तरह करना चाहता है वैसा ही वह (बुद्धि) भी करे तब तो पुरा में उसके संगभोग में उस जीव की स्वतंत्रता हो सकती है। यदि निःशंक भोग नहीं होता है तो इच्छानुसार प्रवृत्ति नहीं होती इसलिये निःशंक भोग की जिस प्रकार सिद्धि हो उसके लिये जीव के वाक्यों को बताया है। जब तक तालु ओष्ठादि पैदा नहीं हो तब तक वह जीव बोल कैसे सकता है? इस पर बताते हैं कि वह जीव देव रूप है। इसलिये आधिदैविक रूप होने से उसमें कारणरूप से तालु–ओष्ठादि सभी है। इस कारण वह वाक्योच्चारण कर सकता है। अतः श्रुति में बताया है **'चक्षुरूद्गायत'** तृतीय स्कंध में भी तत्वों की स्तुति की गई है। यदि जीव देवता है तो वह देह के रूप को भी जानता है फिर उसमें उसने 'तू कौन है' इस प्रकार का कथन क्यों किया? जानते हुए भी उस का प्रश्न तो लौकिक रूप से था। जिस भांति कोई कामुक किसी पहले की कामिनी को देखकर तथा उसके साथ दूसरी स्त्रियों को भी देखकर उस कामिनी को अपनी बनाने हेतु समझते हुए भी रस के लिये पूछता है उसी भांति उससे प्रश्न था।

आभास – आगे **'त्वंहि'** इत्यादि विकल्प किस कारण से दिये गये हैं ऐसी शंका करके उसका आशय बताते हैं–

कारिका – **लीलाविग्रह संबन्धे ब्रह्मादीनां मतिर्न सा।।१७९।।**

अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव न संशयः।

निराकृतिरतस्तासां पार्थिवत्वमतित्वतः।।१८०।।

अर्थ – लीला हेतु देह का संबंध होने पर भी ब्रह्मादिकों की देहात्म बुद्धि नहीं होती है। देहात्म होने पर तो वह अयोग्य की कामना करता है जिससे उसका पतन आवश्यक रूप से हो जाता है। पार्थिवत्व मति से उन

सब का निराकरण किया है।

प्रकाश – लीला हेतु शरीर का संबंध होने पर भी उनकी देहात्म बुद्धि नहीं है इस बात को कहने के लिये उनसे संबंध रखने वालों का वर्णन किया है। ये तो देहात्ममति रूपा हैं इस कारण इनका निराकरण है तथा निराकरण में अन्य भी तात्पर्य है। यदि गुरुपत्न्यादि की इच्छा जो योग्य नहीं है यदि इस प्रकार की इच्छा करता है तो उससे पतन हो जाता है। **'नासांवरोरू'** इससे ही आदि तुम नहीं हो। उसमें हेतु बताते हैं। पृथ्वी के विकार रूप से जो आत्मा में बुद्धि होती है उसको देहात्ममति बताते हैं। इसी को मूल में **'भुविस्पृगि'** पद से कहा है।

आभास – आशंका करते हैं कि स्थूल देह की प्राप्ति हेतु तो लिंग शरीर है। उस लिंग शरीर का ही यह अध्यास बताया है। यदि इस प्रकार से है तब फिर ब्रह्मादि के भी स्थूल देह होते हैं तो उसके कारण से बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियगणों का अध्यास उनके लिये भी करना चाहिये। वे भी देहात्म बुद्धि वाले ही होंगे, तब फिर ब्रह्मा आदि में देहात्ममति क्यों नहीं बताई जाती? ऐसी शंका करके उनके देहादि का स्वरूप कहते हैं–

कारिका – ज्ञानयोगमयास्तेषामिच्छामात्र प्रकाशिनः।

मायात्वसिद्ध्यै शंका तु प्रार्थनाऽन्यस्य संभवात्।।१८१।।

अर्थ – उन ब्रह्मादि के बुद्धि–प्राण इन्द्रियगण तो ज्ञान योगमय होते हैं और ये बुद्धि आदि सभी भगवान् की कामना मात्र से ही प्रकाशित होते हैं। पुरजंन के लिये तो वे सभी माया से युक्तथे। इस कारण उसने शंका की तू किसी दूसरे की हैं अतः प्रार्थना की।

प्रकाश – वे ब्रह्मादि तो योगी हैं ज्ञान से पूर्ण हैं। इस कारण उनके बुद्धि चुक्षु आदि सभी ज्ञानयुक्त हैं तथा क्रिया प्रधान प्राण–वाणी आदि योगमय है। उनके ज्ञान युक्त तथा योगयुक्त होने से भगवान् की कामना जिस समय भगवान् की इच्छा होती है इन जीवों से मैं इन कार्यों को करूंगा या उन जीवों की यह कामना होती है कि हम इन कार्यों को करें तब उनमे ज्ञान एवं योग दोनों ही रहते हैं इस कारण उन्हीं ज्ञान एवं योग से पूर्व ही देहइन्द्रियादि का संपादन हो जाता है तथा वे प्रकाश युक्त होते हैं। उनके ज्ञानरूप होने से उनकी उत्पत्ति अहंकार से नहीं हुई है अतः केवल इच्छा के अधीन है माया के अधीन नहीं है अतः माया की कार्यरूपा अविद्या के पांच पर्व जो देहाध्यास आदि हैं उनका उनके देहादि में अभाव है। इनका यह भाव है। यदि यह कहा जाय कि पुरंजन की देह भी इसी तरह की है ऐसा नहीं कह सकते हैं उसकी देह के संबंध में 'त्वं' शंका ही उसमें मायात्व को बताती है। यदि उसमें मायात्व नहीं होता तो एक ही निश्चय कर लेता आशंका क्यों की। कारण कि देह तो समस्त समान ही होती है और फिर ऐसा नहीं करता कि तू तो उनमें से एक है **'तासां वरोर्वन्यतमा'** इस कारण वह मोहक है इसलिये उसका पूर्व वह रूप नहीं था परन्तु उसने अपने में उत्तमता को प्रसिद्ध करते हुए उत्तमता का रूप उत्पन्न किया इस कारण वह माया ही थी। इसलिये यह किसी और

को मोहित करके उसके संग रमण नहीं करे इस शंका से पुरंजन ने उसकी प्रार्थना की।

कारिका - **तत्सन्निध्ये स्वतः स्थातुमशक्त स्तादृशं जगौ।**

देवतात्वेन वाक् तस्या जीवसन्निधितोऽपि च।।१८२।।

अर्थ - पुरंजन उस को संमुख देखकर उसके बिना एक क्षण भी पृथक् नहीं रह सकता था। इस कारण उसने कहा कि तेने मेरे में कामदेव को पैदाकर दिया है इसलिये अब मैं तेरे बिना नहीं रह सकता। बुद्धि यद्यपि जड है किन्तु उस जीव के (देवता के) सान्निध्य में उसने इस तरह वाक्य कहे।

प्रकाश - वह इस समय यद्यपि कुछ भी नहीं कर रही है किन्तु उसकी सन्निधिमात्र से वह इसके बिना एक क्षण भी नहीं रह रूक सकता इस कारण से उसने कहा कि तेने मेरे इस काम देव को उत्पन्न कर दिया है 'अथवा यह समझें कि देह आत्मा तथा बुद्धि के समीप होने पर देह बिना रहने में समर्थ नहीं हुआ। जीव के वाक्यों से उसके मोहक होने से उसमें मायापन ही सिद्ध होता है। अब बुद्धि के कथन का चिंतन करते हुए उस बुद्धि के कथन में युक्ति बताते हैं। यद्यपि यह आशंका हो सकती है कि जीव तो चेतन है इस कारण उसमें तो देव तापन का होना ठीक है। किन्तु बुद्धि जो जड है वह किस तरह बोल सकती है? बुद्धि में यदि आधिदैविकता के कारण से चेतनता जान भी लें किन्तु आधिभौतिकी की बुद्धि तो जड ही है तथा यहां वचन तो उसी के हैं यह किस प्रकार संभव हो सकता है। इस पर बताते हैं कि यद्यपि यहा आधिभौतिकी बुद्धि के ही वाक्य हैं किन्तु जीव के सान्निध्य से उसके जड होते हुए भी उसके वाक्य हो सकते हैं। **'च'** के कहने से उसमें प्राण इन्द्रिय इनका भी सान्निध्य है। यहां पर तू किसकी है इस प्रश्न के उत्तर में हम नहीं जानते हैं इस प्रकार के उत्तर से अपना एवं अन्य का भी ज्ञान भी उस बुद्धि ने कहा है।

आभास - जब इस तरह यह उत्तर दिया कि मुझे न अपनी न दूसरे की जानकारी है तब फिर इससे तो बुद्धि आदि के कर्ता भगवान् हुए माया नहीं हुई इस पर बताते हैं-

कारिका - **अनेनैव मताः सर्वे विरूद्धा विनिवारिताः।**

मूलज्ञाने स्वनाशः स्यात्स्वरूपे त्वस्ति रूपतः।।१८३।।

अर्थ - कहे गये उत्तर से ही जो माया आदि के मत थे उनका खंडन हो गया। यदि मूल (भगवान्) का ज्ञान हो जाय तब तो अपना नाश ही हो जाय।

प्रकाश - मायावादादि विरूद्ध मत जो हैं सभी इसके द्वारा निरस्त हो जाते हैं। यदि कहें कि 'हम नहीं जानते हैं ऐसा कहना तो भाव रूप से जो अज्ञान है उसकी कारणता को लेकर उस बुद्धि ने बताया है यह कथन भी ठीक नहीं है यदि यह कहना जीव निष्ठ नहीं होता तो श्रेष्ठ पुरुष का प्रयोग भी नहीं हो सकता। यदि यह बताते हो कि **'विदामः'** जो बहुवचन है इससे जीव को भी अपने भीतर मिलाकर वह बुद्धि कह रही है अतः ऐसा प्रयोग है। यह भी नहीं बता सकते ऐसा तो वह बुद्धि तक बता सकती है जब कि वह तत्व को जानने वाली

हो किन्तु जड होने से उसे तत्व का बोध भी नहीं है। यदि तत्व ज्ञान होता तो उस बुद्धि की ही स्थिति नहीं रहती। ज्ञान जीव में ही संभव है इसको मन में रखकर यह बताया है कि यदि मूल (भगवान्) का बोध हो जाय तो अविद्या का नाश हो जायेगा। अविद्या की समाप्ति होने पर देहात्म बुद्धि रूप अविद्या के स्वरूप का ही नाश हो जायेगा। यदि यह कहते हो कि बुद्धि माया के स्वरूप को नहीं समझती है। इस कारण से इसने यह कहा कि हम नहीं जानते है और जीवादि का बनाने वाला कौन है इसको भी वह नहीं जानती थी इसलिये भी ऐसा बताया है क्योंकि अपनी अविद्या की अपने में कारणता की असंभावना से तथा उसमें जीव की अविद्या को ही तुम कारणरूप से मानते हो, इस कारण ऐसा कहा। जीव जब अनादि अविद्या से कल्पित है तो उसके स्वरूप की समझ उसमें नहीं होने से **'परस्यापि'** इससे उसको बताया गया है। यदि इस तरह बताते हो तो उस पर हम बताते हैं कि जीव का जीवपन अनादि से है तो जीव अविद्या कल्पित है। इसमें प्रमाण क्या है। यदि यह कहो कि विद्या से उस अविद्या का नाश होता है यही प्रमाण है। ऐसा नहीं कह सकते हैं। विद्या से तो अविद्या के कार्यरूप संसार का नाश होता है न कि भगवत्कार्य प्रपंच का नाश होता है। इस का खंडन पूर्व में ही किया जा चुका है। तुम्हारे सिद्धान्तानुसार तो मोक्ष का तात्पर्य होगा स्वरूप नाश (जीव का ही नाश) तथा पुनः मोक्ष को ही पुरुषार्थ कहते हो तो जीव का नाश को पुरुषार्थ बताने वाले तुमको लाज का भी अनुभव नहीं होता है। यदि ऐसा कहते हो कि जीवभाव के रहने से युक्त को फिर संसारित्व हो जायेगा। इस प्रकार का कथन उचित नहीं है। जीवात्म में कारण तो अविद्या है तथा अविद्या का जब नाश हो गया तब तो जीव को लगातार भगवत् संग हो जायेगा फिर तो **'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'** इस भगवद् वचन से फिर संसारित्व किस प्रकार हो सकेगा। इस कारण उसे अपने स्वरूप संबंधित परम बोध है। अपने स्वरूप को भी देखती है। किन्तु उसका वह ज्ञान वास्तविक नहीं है। इसका व्यावर्तक तु शब्द है। यह बात **'इहाद्यसन्त मात्मानम्'** से कही गयी है।

आभास – जिसकी प्रार्थना की गई हो उसी का अभिनंदन करना उचित होता है। अप्रार्थित का अभिनंदन तो उचित नहीं है। उसने तो पुरी में प्रविष्ट होने मात्र की ही प्रार्थना की थी। सौ वर्ष तक रहने की प्रार्थना नहीं की थी। अतः इस तरह का अभिनंदन करना ठीक नहीं है। इस शंका पर उसके उद्देश्य को कहते हैं–

कारिका – **अविरक्तिर्वर्षशतमदभ्रवचनान्मतम्।**

अतोऽभिनंदनं त्वन्यनिवृत्तिश्च निरूप्यते।।१८४।।

अर्थ – अदभ्र (बहुत) वचन से सौ वर्ष तक भी सुख भोगों से वैराग्य नहीं हुआ। इस कारण 'तुम अच्छे आये' इस कथन से अभिनंदन किया तथा दूसरे की निवृत्ति का भी वर्णन किया।

प्रकाश – सौ वर्षो तक काम भोग भोगे **'कामभोगान् शतं समाः'** इस वचन से सौ वर्षो के मध्य कभी उसको वैराग्य नहीं हुआ। यदि यह कहो कि जिसकी प्रार्थना की गई है उसी का अभिनंदन किया उस पर बताते

हैं कि अनेक प्रकार के वचनों द्वारा उसकी प्रार्थना की गयी। इस कथन से भी सौ वर्ष का समय ही लिया जाता है। अतः जब तक उस पुरी में स्थिति रही उसके मध्य में भी यदि विषयों में वैराग्य हो जाता तो क्रम से देहात्म बुद्धि का छोड़ना जो जाता तब फिर इस (बुद्धि) के संग पुरी (देह) में प्रविष्ट होना छल (कपट) बताया जाता। बीच में त्याग नहीं करने के कारण तो अभद्रता है। पुर (देह) में स्थिति तो सौ वर्ष तक ही थी। इस कारण 'तुम अच्छे आ गये' इस प्रकार से अभिनंदन किया। दूसरे की शंका से ही प्रार्थना की 'तुम्हारे सिवा अन्य के साथ कैसे रमण कर सकता हूँ' इत्यादि से अन्य की निवृत्ति का भी मूल में निरूपण है।

आभास – अब अंतिम श्लोक का आशय बताते हैं–

कारिका – **क्रियापरत्वे सिद्धिः स्यादिति बाह्वोर्हि वर्णनम्।**
रोदने गीतिरेवाऽत्र गानं निद्रा च वर्णिते।।१८५।।

अर्थ – क्रिया करने में बाहुमुख्य है इसलिये क्रिया परत्व में बाहुओं का वर्णन है। रोदन का अभिप्राय है गाना यहां पर गान तथा निद्रा दोनों का निरूपण है।

प्रकाश – देहात्म बुद्धि के विपरीत (उल्टा) ज्ञान होता है। ज्ञान देहात्म बुद्धि के अनुकूल यदि हो जाय तो उसकी सिद्धि नहीं होती है। इस कारण क्रिया परत्व सिद्धि हेतु क्रियाशक्ति में मुख्य भुजाओं का ही निरूपण किया गया है। **'उपगीयमानः'** इस श्लोक के तात्पर्य का वर्णन करते हुए इसमें गान के स्वरूप को बताते हैं। इसमें बाल्य संबंधी जाग्रदवस्था तथा निद्रा का वर्णन है। वहां पर रोदन के संबंध में यहां परोक्षवाद में गान ही अभिप्रेत है। इस लोक में जब पैदा होता है तब रूदन करता है वह जब रूदन करता है तो उस समय खुशी होने से गान करते हैं इस कारण वह रूदन भी गान के रूप में निरूपित है। **'ह्लदिनी माविशत्'** इसके द्वारा निद्रा का वर्णन है।

आभास – महिषी यद्यदीहेत यहां से आरम्भ करके पूर्ण होने तक का आशय बताते हैं

कारिका – **बुद्धेः सर्वत्र मुख्यत्वात्तत्त्वेनाऽन्यस्य संकथा।**
बाल्ये जागरणं सुप्तिर्न स्वप्न इति बोधितम्।।१८६।।

अर्थ – सर्वत्र बुद्धि की ही प्रधानता है उसी बुद्धि का अनुवर्तन करने वाले जीव की कथा है उसका जो बचपन (नासमझी) है उससे उसको सावधान किया है।

प्रकाश – सभी कार्यों में बुद्धि की ही मुख्यता है जीव तो बुद्धि का अनुवर्तन करने वाला है। इसका निरूपण **'सप्तोपरिकृतोद्धारः'** यहां से लेकर **'यातिजायात्म जोद्भवम्'** यहां तक श्लोकों से योग साधनस्थों का वर्णन होने से तथा भोग सभी बुद्धि के अधीन है। इस प्रकार के वर्णन से बुद्धि के अधीन जो जीव हैं उसी का वर्णन भली तरह से हैं। दोनों की अवस्थाओं के बर्णन से ही अध्याय को पूरा किया गया है। उसका आशय

अध्याय के पूरे होने तक बताते हैं कि पहले की वासना से उसमें स्वप्न की संभावना होने पर भी निश्चय में किसी तरह का प्रमाण नहीं है। इस कारण से ऐसा बताया है।

आभास – अब यहां से छब्बीसवां अध्याय प्रारंभ होता है इसमें स्वप्नावस्था के वर्णन हेतु बताते हैं–

कारिका – **किंचित्प्रौढे तदप्याह रूपं चाऽस्यापि वर्ण्यते।**

बालत्वात्स्थिरता नास्तीत्यत एवं कथा ततः।।१८७।।

अर्थ – कुछ प्रौढता होने पर स्वप्न का अनुभव होता है। इसी कारण उसके रूप का निरूपण किया जाता है। बालत्व होने से स्थिरता का अभाव होता है अतः इसका इस प्रकार से वर्णन है।

प्रकाश – जब कुछ प्रौढता होती है तब स्वप्न का अनुभव होता है इसलिये उस प्रौढ स्वप्न को कहते हैं। **'स एकदा महेष्वासः'** इन तीन श्लोकों से उस काल के सपरिकर जीव के स्वरूप का निरूपण करते हैं **'चचार मृगयां'** इन सात श्लोकों से स्वप्न के स्वरूप को दिखाया है। यदि यह कहें कि स्वप्न का वर्णन तो गन्धर्व नगर के सदृश होता है। इसलिये उसमें प्रवेश से पैदा होने वाले सुख का जो अभिमान है उससे संतुष्ट होने के कारण भवाटवी की तरह उस जीव के स्वरूप का वर्णन क्यों नहीं किया तथा क्यों शिकार के रूप में दुःख के रूप में उसका वर्णन किया। इस भांति की शंका करके उसमें कारण दिखाते हैं कि यहां बालक की भांति कुछ प्रौढता को प्राप्त हुए की अवस्था को दिखाते हैं उस प्रौढ अवस्था में स्थिरता रहती है तथा मृगया (शिकार) में भी वैसी ही स्थिरता नहीं रहती है। इस कारण इस रूप की कथा बतायी गयी है। अथवा १८६वीं कारिका में जो **'न स्वप्न इति बोधितम्'** जो बताया गया उससे क्या वह अवस्था ही नहीं है। इस शंका पर कहते हैं कि आगे के अध्याय में कुछ प्रौढ में स्वप्न को भी बताते हैं। **'सप्तोपरि कृतद्वार'** आदि से पुर के स्वरूप का भी निरूपण है। च से उसके कार्यो का भी वर्णन है। यह जब पहले कह दिया गया है कि उसकी महिषी (पटरानी) जैसा चाहती थी वह उसका ही अनुवर्तन करता था। तब फिर उसके जल पीने पर वह भी जल पान करता था। ऐसा बताने का उद्देश्य क्या है इस पर कहते हैं कि वह बाल ही तो था अर्थात् ना समझ था।

आभास – दश श्लोकों द्वारा स्वप्न का कथन करने के पीछे उसी अध्याय में अग्रिम प्रकरणों का भेद कहते हैं।

कारिका – **आक्रोशश्चाऽनुसंधानं चिन्तनं चाऽपि वर्ण्यते।**

प्रौढस्यतु कथा प्रोक्ता दृढासक्तरनन्तरम्।।१८८।।

अर्थ – आक्रोश और अनुसंधान तथा चिंतन का निरूपण किया गया है। दृढ आसक्ति के पीछे प्रौढ की कथा बतायी गयी है।

प्रकाश – **'ततः क्षुतृट्परिश्रान्तः'** यहां से शुरू करके छः श्लोकों में आक्रोश का कथन है। च से स्त्रियों

का उत्तर भी उसमें संम्मिलित है। तदन्तर तीनों श्लोकों से अनुसंधान का निरूपण है। उसके पश्चात् छः श्लोकों से चिन्तन का कथन है। च समुच्चय अर्थ में ही संसारी होने से बर्हिमुख होने के पश्चात् भी चिंतन में अन्तर्मुख होने से ब्राह्मण कुल से अन्य एवं मुररिपु भगवान् के दास से इतर में यह है। यह अपि शब्द का आशय है। यहां पर अध्याय का उपसंहार करके सत्ताइसवें अध्याय के आशय का विचार करते हुए उसमें **'विनश्यत्ता'** अध्याय का अर्थ किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि उसमें तो पुत्रादि का भी वर्णन किया गया है। इस शंका में युक्ति देते हैं विनश्यत्ता (विनाशपन) तब होती है जब विनाश के कारणों की सामग्री का सान्निध्य हो और जरा तथा ज्वर आदि का संबंध हो तब वह विनश्यता (विनाश) होती है। यह विनश्यता देहादि संबंधी की दृढासक्ति के पश्चात् होने वाली जो देहात्म बुद्धि है उनके द्वारा किये गये उस भांति के इन्द्रिय परिणाम बुद्धि वृत्ति विषय भोगों से संपादन किये जाते हैं। यदि वह भोगासक्तनहीं हो तथा योग का अनुपालन करता है तो उसे जरादि का संबंध ही नहीं होगा इस कारण पुत्रादि संपत्ति का वर्णन ही विनश्यता का कथन है।

कारिका - देहात्मबुद्धया यत्सिद्धयेत्तद्धि तस्य प्रपंच्यते।
प्रौढस्य राजसत्वाद्धि महिषी साऽपि तादृथी।।१८९।।

अर्थ - देह में आत्म बुद्धि होने से जो सिद्ध होता है उसी का यहां पर विस्तार से निरूपण है। प्रौढ राजस होता है। इस कारण वह महिषी भी राजसी ही थी।

प्रकाश - इस कारण यहां देहात्म बुद्धि की ही यहां मुख्यता है अतः इस प्रथम श्लोक में उस देहात्म बुद्धि के स्वातंत्र्य का वर्णन है जब तक देहात्म बुद्धि नहीं होती तब तक आगे बतायी जाने वाली कोई बात नहीं हो सकती । इस कारण उस देह में आत्मा बुद्धि को कारण कहा गया है। देहात्म बुद्धि यद्यपि तामसी है किन्तु **'इत्थं पुरं ज़नम्'** इससे उसे देहात्म बुद्धि को राजसी रूप से निरूपित की है। महिषी (पटरानी) उसे बताया गया है। इस कारण उसका राजा के अनुसारी होना ठीक ही है। विषय भोग में रजोगुण की ही प्रयोजकता होती है इस कारण यह महिषी (देहात्म बुद्धि) है उन भोगों के अनुकूल हो गयी यह उसका सार है।

आभास - इन्द्रियों के परिणामों का पुत्रादि रूप से कथन करने का आशय कहते हैं-

कारिका - बहिर्यावान् हि संसारो यस्यान्तः करणेऽपि सः।
अतः पुत्रादिसम्पत्तिरविशेषण वर्ण्यते।।१९०।।

अर्थ - बहिः जितना संसार है उतना ही उसके अन्तः करण में भी होता है इसी के लिये पुत्रादि संपत्ति का अविशेष रूप से निरूपण किया है।

प्रकाश - जिस पुरुष के जितना संसार बाहर है उतना ही संसार उसके अन्तः करण में भी है। यदि अन्तःकरण में संसार नहीं होता तो बाहर भी नहीं हो सकता इसी बात को कहते हुए बाहरी जो पुत्रादि संपत्ति है उसको अविशेष रूप से अन्दर भी बताया गया है। अथवा जीवों के हेतु जितने इन्द्रियों के परिणाम है उतनी ही

बुद्धिवृत्ति आदि होना ही चाहिये इस प्रकार का कोई नियम नहीं है। कुछ लोगों का तो मध्य में मरण हो सकता है तथा यह भी नहीं बता सकते कि सौ वर्ष पर्यन्त जीने वालों के लिये ही यह कहा है। कारण कि साधारण्य का व्याघात होने किस प्रकार ग्यारह सौ पुत्रों का होना कहा गया है। इसके लिये बताया है कि अन्तःकरण में जितना संसार होता है वह उतना ही संसार बाहर भी होता है क्योंकि संसार का तो सभी स्थान पर आवेश होता है। इसीलिये सर्वजीवों हेतु उस देहात्मबुद्धि का अविशेष रूप से कथन है।

आभास – योग में बाहर सब साधारण्य की असंभावना से **'ईजे चक्रतुभिः'** इसका आशय बताते हैं।

कारिका– **स्वल्पेऽपि हि मनोराज्यं यथा तत्त्वत्र वर्ण्यते।**

नित्यातिरिक्त दोषः स्याद्वधेनेति विनिश्चितम्।।१९१।।

अर्थ – थोडे फल के लिये जो मनोरथ किया जाता है तथा वह भी अन्यों के उपद्रव रूप से उसका यहां पर वर्णन है। नित्य जो अग्नि होत्रादि पांच हैं उनके सिवाय में जो वध किया जाता है उसमें निश्चित रूप से दोष है।

प्रकाश – थोडा तो जिसका फल होता है तथा उस फल हेतु जो इसका मनोरथ बताया गया है वह भी जिस प्रकार अन्यों के लिये उपद्रव स्वरूप है उसका कथन है। तु शब्द बाहर भी यज्ञ पक्ष को मना करता है। प्राचीन बर्ही ने तो वैध हिंसा की थी तथा इसने तो उसकी उल्टी हिंसा की है तब फिर **'यथाभवान्'** इस प्रकार से उसका दृष्टान्त कहना तो अनुचित हिंसा है। इस पर बताते हैं कि नित्य जो अग्नि होत्रादि पांच है उनमें अतिरिक्त में जो हिंसा है वह दोष रूप है तथा इसी प्रकार नित्य उपयोगी पशुकामना से किया गया जो कर्म है उसके सिवाय में दोष होता है यह भी जानना। अन्यथा विधि का विरोध होगा। इस सभी का वर्णन सर्व निर्णय प्रकरण में किया है। इसी बात को लेकर मूल में विनिश्चितम् लिखा है तथा यहां **'नानाकामः'** इस कथन से उसके उस तरह के नहीं होने से कर्म को दोष जनक कहा गया है। अतः दृष्टान्त ठीक ही है। नारदजी ने कहा कि हे राजन् हे प्रजापति तुमने जिन पशुओं को निर्दयता पूर्वक मारा है वे पशु आकाश में तुमसे बदला लेने के लिये तैयार हैं। इस प्रकार संतप्त पशुओं का दर्शन भी संगत होता है। अन्यथा उनकी सद्गति कहना विपरीत हो जाता है।

आभास – अब इसके पश्चात् **'आससाद सवैकालः'** आदि का विचार करते हैं उसमें दिन तथा रात्रि की गंधर्व रूप से निरूपण करके उनके साथ प्राण के युद्ध का अभिप्राय बताते हैं

कारिका – **कालस्य नाशकत्वं हि सर्वथैव सदापि हि।**

नित्यप्रलयरूपेण सन्ततिर्न निवार्यते।।१९२।।

अर्थ – काल सब भांति नाश करने वाला है तथा सदा ही नाश करता है। नित्य प्रलय रूप से जो उसकी परंपरा है उसका निवारण नहीं हो सकता है।

प्रकाश – यद्यपि काल दिन रात्रि रूप है तथापि वह मारने वाला ही है सदपि का आशय है बाल्यआदि अवस्था अवस्था में भी वह लय को दूर किया जा सकता है किन्तु चार तरह के प्रलयों में नित्य प्रलय रूप से जो परम्परा (सन्तति) है उसका निवारण नहीं किया जा सकता है। **'परिवृत्य विलुम्पन्ति सर्वकाम विनिर्मिताम्'** गन्धर्वियों (रात्रियां) क्रम से चक्कर लगाकर भोग विलास से पूर्ण हुई नगरी को लूटती रहती है। यहां तक के ग्रंथ से उस नाशकता को कहा है।

आभास – अब आगे के श्लोक का आशय बताते हैं–

कारिका – **तत्र प्राणस्य हेतुत्वमिन्द्रियाणां बलं ततः।**
इन्द्रियाशक्तितो ज्ञातः स्थूलप्राणपरिक्षयः।।१९३।।

अर्थ – सब तरह से जब नाश होने लगा तब प्राण उसके निवारण में कारण बना और इन्द्रियों को बल भी प्राण ने दिया। इन्द्रियों में जब शक्ति नहीं रह गयी तो उससे स्थूल प्राण के क्षय का अनुमान हो गया।

प्रकाश – सर्व प्रकार से जो नाश है उसको दूर करने में काल ही कारण है। प्राण की स्थिति से ही देह की स्थिति होती है। इन्द्रिय बल भी प्राण से ही प्राप्त होता है। चिंता का कारण जो प्राणक्षय है उसका बोध उसको किस तरह से हो गया। उस पर बताते हैं कि – इन्द्रियों के द्वारा जब बडे–बडे कार्य करने की सामर्थ्य नहीं रहीं तब जाना कि स्थूल प्राण का परिक्षय हो गया है। या उस भांति के कार्यों के करने की शक्ति ही प्राणों की स्थूलता है। सूक्ष्म प्राण तो केवल जीवन का संपादन करता है इस कारण कामों के करने की अशक्ति रूप काम के कारण (स्थूल प्राण) का क्षय हो गया है यह अनुमान हुआ।

आभास – यहां पर शंका उत्पन्न हो सकती है कि प्राण इन्द्रियां आदि स्वरूप से तो विद्यमान ही है तो उनसे भोग भी हो जायेगा फिर चिंता किस बात की उस पर बताते हैं–

कारिका – **पुत्रादि विषयांः सर्वे कालेन द्विविधा कृताः।**
नाशोपयोगराहित्यभेदेनाऽऽस परं स्वतः।।१९४।।

अर्थ – पुत्रादि सर्व विषयों को काल ने दो प्रकार के कर दिये। किन्हीं को तो नष्ट कर दिया तथा किन्हीं को काम में आने योग्य नहीं रखा इस भांति उनका नाश स्वतः ही हो गया।

प्रकाश – इन्द्रिय परिणाम तथा बुद्धि वृत्ति जो स्त्री आदि विषय हैं उनमें द्विविधता यही हुई कि किन्हीं को तो नष्ट कर दिया तथा कई रहे तो भी काम में आने योग्य ही नहीं रहे। काल यद्यपि सर्वदा विशिष्ट है। इसमे काल जिस समय कोई नाश के उपयोगिता की क्रिया नहीं करता है। उस समय दूसरी इन्द्रियां आदि की वृद्धि देखी जाती है। तथापि उतने समय के व्यतीत हो जाने पर सब वृद्धि ह्रास तब हो जाता है। इस कारण उसे कालकृत बताया जाता है। वास्तव में तो इंन्द्रियादि अपने आप ऐसी हो जाती है। यदि इंद्रियां स्वतः ही हो

जाती है तो पूर्व में ऐसी क्यों नहीं होती। इस कारण से नहीं होती कि स्वसंबंधी उतना ही समय उसमें निमित्त है यदि काल निमित्त है तो फिर अपने आप क्यों कहते हो इसका उत्तर यह है कि काल तो एक ही है परन्तु किसी के लिये तो वह सौ वर्ष तक है तथा किसी के लिये सोलह वर्ष तक ही दिखाई पड़ता है। इस कारण उसका अवच्छेदक कोई कोई अवश्य होना चाहिये। उसका अवच्छेक उस काल संबंध का निरूपक वह पदार्थ ही है। काल के सदृश होने पर भी किसी की इन्द्रियों की शक्ति नष्ट नहीं होती है। इसमें कारण तो ईश्वर इच्छा अथवा भाग्य (प्रारब्ध) को ही नियामक जानना चाहिये। अथवा **'स एव पुर्या'** इस श्लोक में कहे गये भोग का अज्ञान ही उसमें कारण जानना। ये दोनों अपने आप ही होते हैं या प्रारब्ध से होते हैं। इन्द्रियों के सामर्थ्य से नहीं।

आभास – अब इन्द्रियों की शक्ति का नाश दिखाकर शरीर के सामर्थ्य के नाश का कारण कहते हैं–

कारिका – **स्वस्याप्यशक्तिकरणे कारणं तु जरैव हि।**
अप्रतीकरणं तस्या वक्तुमाह कथा तथा ।।१९५।।

अर्थ – देह को अशक्त बनाने में जरा ही कारण है तथा उस जरा का प्रतीकार (उपाय) कोई नहीं कर सकता है अतः उसकी कथा कहते हैं।

आभास – उसमें 'कालस्य दुहिता' इत्यादि चार श्लोकों का आशय बताते हैं–

कारिका – **अनुग्रहादि कर्तृत्वाद देवता मृत्युबोधिका।**
विनयश्यत्तैवमेषैव नाशोऽतः परमुच्यते।।१९६।।

अर्थ – जरा (काल कन्या) पुरु के ऊपर करने से तथा नारद का निग्रह करने से वह देवता थी तथा वह जरा मृत्यु को ज्ञान कराने वाली है। विनश्यता ही इस अध्याय का आशय है तथा इसके आगे नाश बताया जा रहा है।

प्रकाश – उस काल की जरा (लड़की) ने पुरु के ऊपर अनुग्रह किया था आदि शब्द से निग्रह भी नारद का किया था। अतः वह काल कन्या देवता थी तथा उसका काम है मृत्यु का ज्ञान कराना शरीर में जब जरा का प्रवेश हो जाता है तभी यह मालुम हो जाता है कि अब मृत्यु उपस्थित हो गयी है। काल के द्वारा जीव शक्ति का क्षीण हो जाना ही विनश्यता है। यह ही इस अध्याय का आशय है। वह अध्यायार्थ भी **'एवं कृपणया बुद्धया'** यहां तक है। कुछ ने अध्यायार्थ **'अव्यक्तो भीमसैनिकः'** यहां तक माना है वह उचित नहीं है इसी बात को कारिका में **'एषैव'** से बताया गया है। यहां जीव शक्ति के अभिभाव का निरूभव का वर्णन मुख्य प्रयोजन रूप से नहीं है परन्तु नाश के कारण रूप से है। इस कारण वह इस बात को भी बतायेगा। इसलिये उसकी अपेक्षा से इन्द्रियादि शक्तियों के नाश में भी वह विनश्यता अनुगत रहती है। अतः विनश्यता ही अध्याय का तात्पर्य है। इसी को कहने के लिय 'एवमेव कहा है। ठीक है आप जैसा बताते हैं वैसा ही सही अर्थात् विनश्यता है तथा उस विनश्यता तक ही अध्याय की पूर्णता मान लें इस पर बताते हैं कि यहां तो

विनश्यता का वर्णन है **'अव्यक्तो भीम सैनिकः'** यहां तक के निरूपित अर्थ वाली है अतः अध्यायार्थ वहां तक ही मानना। अब अट्ठावीसवें अध्यायार्थ का वर्णन करते हैं कि इसके नाश का वर्णन है।

आभास – ''सैनिका भयानाम्योये'' इत्यादि पांच श्लोकों का आशय बताते हुए उनमें प्रज्वर आदि स्वयं स्वतंत्र रूप से नाशक होंगे ऐसा संदेह नहीं हो इसके लिये बताते हैं–

कारिका – ज्वररोगादिसंयुक्ता सर्वनाशकारी तु सा।
अधिकारि शरीरं नाशयत्वैव दोषतः।।१९७।।

अर्थ – वह काल कन्या (जरा) ज्वर रोगादि से युक्तहोकर सभी का नाश करने वाली हुई। वह जरा अधिकारी इस शरीर को दोष द्वारा नाश करती ही है।

प्रकाश – 'याहि मे पृतना युक्ता' इस वाक्य में भय के संग में अन्यों का सहभाव ही था। वास्तव में विनाश करने वाली तो वह काल कन्या (जरा) ही थी। कालकन्या ही प्रधान थी तो वे तो अनुपयोगी होंगे इस पर बताते हैं कि उनका सहभाव था। देह शक्ति और बुद्धि आदि का नाश करने वाली होने पर भी सर्वांश से विनाश तो वह जरा जब त्वरादि से युक्त होगी तथा उनकी भी उसे सहायता हो तब करेगी इस कारण इनकी सहायता की भी जरूरत है ये अनुयोगी नहीं है। तु शब्द से हरिभक्त के देह के बिना दूसरे देह के लिये ही ऐसा जानना। यहां पर आशंका हो सकती है कि जरा से शरीर का नाश तो हुआ नहीं तब इसे नाश करने वाली किस तरह माना जाय? क्योंकि ऐसा न्याय है जिसके पश्चात् जो होता है उसमें कारण वह ही माना जाता है **'तदुदितः सहियो यदनन्तरः'** इस न्याय की रीति से तो भय ही नाश का कारण होता है। इस आशंका का उत्तर देने हेतु' उनने केवल पुरी को पीडित किया **'प्रादर्शयन् सकलां पुरीम्'** इस भांति सामान्य रूप से निरूपण करके 'कालकन्या के आलिंगन के द्वारा उसकी श्री नष्ट हो गयी' **'कन्योप गूढो नष्ट श्री'** इस विशेष वर्णन का तात्पर्य यह है कि कर्मादि के करने का अधिकारी रूप जो शरीर जो कि कर्म करने में समर्थ है उसकी श्री को उस कालकन्या ने नाशकर दिया ऐसा करना ही तो नाश करना है अतः वह जरा (कालकन्या) ही नष्ट करने वाली हुई।

आभास – जिस समय चिंता होती है उस समय पहले की बुद्धि की वृत्ति तथा आदि का संभव नहीं रहता तो फिर 'अपने लड़के लड़कियो और पौत्र' आदि की चिंता कैसे करने लगा इस पर बताते है–

कारिका – अन्तःस्थ एव विषयः सूक्ष्मरूपेण यः स्थितः।
देहत्यागे सर्वनाशो देहमत्या भविष्यति।।१९८।।

अर्थ – सूक्ष्मरूप से जो स्थित विषय है वह अन्तः स्थित रहता है। अतएव देहत्याग के समय देहमति से ही सर्वनाश होगा।

प्रकाश – जिनकी चिंता होती है ऐसे पुत्रादि ही यहां विषय बताये गये हैं। वे विषय सूक्ष्म रूप से अर्थात् वासना रूप से रहते हैं। सभी की बुद्धि वृत्ति आदि का नाश होगा उसमें कारण तो देहात्म भाव ही है, कारण कि शरीर को ही आत्मा रूप से जाना जाता है, इस कारण जिस समय शरीर का त्याग किया उस समय उसने अपना सर्वनाश जाना इसलिये चिंता की।

आभास – पूर्व में इसका वर्णन नहीं किया तथा अब इसका वर्णन किया है उसमें कारण कहते है–

कारिका – तद् हेतुः कष्ठरोधादि तस्मिन् जातेऽन्वतप्यत।
न स्मृतिः कृष्णदेवस्य मरणेपीति तत्कथा।।१९९।।
जीवे गते तु सर्वेषां गतिस्तस्य बलाद्यमात्।
नित्योऽपि विधिहीनश्चेन्नर कायैव नाऽन्यथा।।२००।।

अर्थ – जब उसका कंठ रोध हो गया तब उसे अनुताप हुआ। किन्तु उसको मृत्यु के समय भी भगवान् का स्मरण नहीं हुआ परन्तु पुत्र, पौत्रदि की चिंता हुई। इस कारण उस भय की अथवा चिंता कथा यहां बताई है। जीव के गमन पर प्राणादिक सभी की गति तो हठात्यम के अधीन हो गयी। यज्ञ यद्यपि नित्य है किन्तु विधि रहित होने से उस यज्ञ के कर्ता की गति नरक में होती है।

प्रकाश – आदि शब्द का तात्पर्य है कि रिक्त कंठ ही नहीं रूकता परन्तु उसका कार्य भी होता है। लोकान्तर में गमन करने पर यह इसीलिये बताया है कि उस समय भी भगवान् कृष्ण को स्मरण नहीं करता। इस कारण उस चिंता का यहां पर वर्णन है अथवा उसी समय भय उपस्थित होने का कथन है। जीव के चले जाने पर भी यदि जीवादि की गति यम के अधीन हो जाती है। यद्यपि जीव ब्रह्म का अंश है। उसकी गति इस तरह नहीं होनी चाहिये। किन्तु यम के अपने अधिकार के बल से उनकी जाति को अपने अधीन कर लेता है। जब नित्य है अतः उसे करना ही चाहिये ये तब फिर यज्ञ में मारे गये वे पशु उसको कुल्हाडी से क्यों छेदते (काटना) हैं इस पर बताते हैं कि यज्ञ भले ही नित्य हो किन्तु विधिहीन होने से यज्ञ करने वाले की गति नरक में होती है।

आभास – अब **'अनन्तपारेतमसि'** का आशय बताते हैं–

कारिका – कुटुम्बपोषणफलमनुभूय चिरं पुनः।
देहात्ममति दाढर्येन प्राकृतोऽभूदितीर्यतेः।।२०१।।

अर्थ – चिरकाल तक कुटुम्ब के पोषण के फल का अनुभव करके फिर शरीर में आत्म बुद्धि की दृढता के कारण वह प्राकृत हो गया यह बताया गया है।

प्रकाश – **'तामेवमनसाध्यानम्'** इसके द्वारा देहात्मभक्ति की दृढता को कहा गया है। जिस प्रकार की भावना करता हुआ देह छोड़ता है। वह उसी भावना के अनुसार फिर उसी तरह उसका जन्म स्त्री रूप में हुआ

यह बताया गया है।

आभास – संसार मार्ग के वर्णन का उपसंहार करते हुए पुनः जन्मान्तर के भीतर तथा बाहर कथा नहीं बतायी इसका कारण कहते हैं–

कारिका – पुरंजनकथा पूर्वसिद्धैवैति न सोच्यते।
बहिः कथाऽपि येनाऽयं मुच्यते स निगद्यते।।२०२।।

अर्थ – पुरंजन की कथा तो पहले से सिद्ध ही है। इसलिये वह नहीं बतायी गयी है। अब ब्राह्म कथा भी जिससे यह मुक्त होता है वह बतायी जा रही है।

कारिका – ब्राह्यानामान्तरत्वेन न विशेषोऽस्ति कश्चन।
तदा स्त्रीत्वेन जातस्य यदासीत्स्पष्टमेव तत्।।२०३।।
तथा परोक्षता नाऽर्थे शब्दमात्रे भविष्यति।।२०३ १/२।।
(अथापि ह्यविवेकेन)

अर्थ – बाह्यों की अन्तर से किसी प्रकार की विशेषता नहीं है इस कारण उस पुरंजन ने जो आखिरी में अपने मन में स्त्री की भावना की थी अतः वह अगले जन्म में स्त्री हो गया यह स्पष्ट ही है। अर्थ में परोक्षता नहीं होती है। शब्द मात्र में ही परोक्षता होगी फिर भी अविवेक से।

प्रकाश – यहां पर यह आशंका पैदा होती है कि संसार मार्ग में मुक्तिमार्ग में अन्तर कृत ही मुख्य है तथा कोई विशेष नहीं है। अर्थात् मुक्ति मार्ग में भी संसार मार्ग जैसा ही है। किन्तु वह अन्तर्मुखता से किया जाने के कारण उसको आन्तर बताते हैं। बर्हिमुखता से किया जाने के कारण उस संसार की बाह्यता है। यह कथन अति देश (उसके सदृश बताने) से ही जानी जा सकती है। अतः मुख्य का वर्णन निरर्थक है। जिस तरह देह को आत्मा मानने की बुद्धि के साथ से इन्द्रियाध्यास होगा और उनसे उनकी वृत्तियों के परिणाम आदि को पुत्रादि संतति के रूप से बताया है यह जिस प्रकार से है उसी प्रकार से यदि भगवान् मेरी आत्मा हैं इस प्रकार की मति का साथ होगा तथा उसमें यदि स्नेह हो गया तथा पुनः उसके उपदेश देने वाले का भी साथ हो गया तो हरि सेवा में रूचि पैदा हो जायगी तथा उस रूचि से सुनना, कीर्तनादि संताने 'परंपरा' पैदा हो जायगी। जिस प्रकार प्रज्वरादि भीतर तथा बाहर ताप देने वाले है उसी भांति उसके ताप को दूर करने वाला भीतर का तथा बाहर का त्याग है। जिस प्रकार गंधर्वों से आयु का नाश होता है उसी भांति भगवान् की भक्ति से आयु क्षीण नहीं होने वाली हो जाती है। बताया भी है कि भगवान् के बिना जो एक क्षण भी व्यतीत होता है वह ही नाश होता है। भगवान् के हेतु जो क्षण व्यतीत होता है वह तो समय अक्षय होता है। **'तस्यर्थे यत्क्षणो नीतः'** जिस प्रकार जरा से इंद्रियों में विकलता पैदा होती है उसी भांति योग से उस जरा के ऊपर विजय मिलती

है। जिस भांति प्राकृत बुद्धि से प्राकृतता आती है उसी प्रकार यदि ब्रह्मभावना की जायेगी तो ब्रह्मभाव हो जायेगा। यदि मुख्यरूप से वर्णन इष्ट हो तो जैसे आन्तरों का ब्राह्मत्व रूप से भांति होने से स्त्रीरूप से जब वह हुआ तो सभी बात स्पष्ट हो गयी अब वर्णन करना निरर्थक है तथा बात यह भी है कि प्रथम आन्तर पदार्थों का बाहरी रूप से निरूपण किया तथा प्रकृत में सत्संग आदि बाहरी पदार्थों का ब्राह्मरूप से वर्णन होने से अर्थ में परोक्षता कहां पर रही? केवल परोक्षता शब्द मात्र में ही रहती है इससे तो उपक्रम का विरोध हुआ ऐसी शंका होने पर यहां भीतर के पदार्थों का बाहरी रूप से निरूपण क्यों किया इसकी शंका का उत्तर डेढ कारिका से बताते हैं। यद्यपि भीतरी पदार्थों का बाह्यरूप से निरूपण किया किन्तु प्राचीन बर्हीं में ऐसा सामर्थ्य नहीं था कि वह इस को जान सके इसलिये उसके लिये परोक्षता ही को अंगीकार करके उसका वर्णन किया है। यह विवेचन कर्म परक है। इस कारण उसके अविवेक का अभाव ही ठीक है इसे 'हि' शब्द के कहा है। अथवा आशंका को इस भांति जानिये कि बुद्धि का बाह्य स्त्री आदि के रूप में पूर्व निरूपण किया इसलिये उसमें प्रथम परोक्षता रही तथा अब प्राकृत में तो सत्संग सुनना आदि बाहरी पदार्थ का ही बाह्मरूप में वर्णन करने में कथा की परोक्षता किस प्रकार रही इस पर बताते हैं कि यहां तो भगवद् धर्म के संबंध से मुक्ति को बताना है। वह मुक्ति दो तरह की है। उसमें बाह्य भी आन्तर ही है ऐसा जानना चाहिये। इसके साथ से मैं कृतार्थ हो जाऊंगा। इस तरह की बुद्धि से जब साथ करता है तब वह साथ उसके लिये साधना बनता है। यदि इस तरह नहीं होता तो भक्ति से द्रोह करने के लिये किया गया सत्संग भी मुक्ति का हेतु नहीं बनेगा। तो क्या ऐसा साथ नरक का साधन बनेगा? बाहरी रूप से प्रतीयमान होने वाले सत्संग भी आन्तर हो जायेगें तो उनका बाह्मत्व से वर्णन करने से पहले वर्णन से कोई विशेषता नहीं होगी। जिसमें स्त्रीत्व हो गया है। उसकी मुक्ति का वर्णन दूसरे शास्त्र से विपरीत है उसका भी समाधान हो जाता है। यहां पर देह धर्म का स्त्रीत्व आदि से निरूपण नहीं है परन्तु आत्मधर्म का स्त्रीत्व से कथन है। पुरुष में स्वतंत्रता होती है तथा स्त्री में परतंत्रता होती है **"पुंस्त्वं स्वतन्त्रता तस्यपारतन्त्रयं तथेतरत्"** यह प्रथम ही बताया जा चुका है। इसलिये उक्त रूप से बताये गये बाह्य पुंस्त्व आदि का स्त्रीत्व रूप से हो जाने में कोई मुख्यता नहीं है तब फिर तंत्रता का भिन्न से कथन क्यों नहीं किया? इस पर बताते हैं कि आगे बतायी जाने वाली रीति के अनुसार भगवान् अथवा भगवदीय का अधीन रूप से किया गया निरूपण ही उसका कथन है। अतः पृथक् से उसके निर्णय की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार के आशंका तथा उत्तर से इस प्रकरण की सब तरह से परोक्षता को प्रमाणित किया है। जिस पक्ष में बाह्य पदार्थों का भी बाह्यरूप में कथन है उस पक्ष में बाह्यता ही है। इस कारण सत्संगादि जो बाह्यरूप में निरूपण है उस पक्ष में बाह्यता ही है अतः सत्संगादि जो अर्थ है उनमें परोक्षता नहीं है परन्तु **'उपयेमेमलयध्वजः'** आदि शब्दों से वर्णन होने से केवल परोक्षता शब्द मात्र में ही है।

आभास – इस प्रकार प्रकरण परोक्षता को बताकर उसके जन्म का विचार करते हैं यद्यपि उक्तरीति से पुरुषत्व आदि में किसी प्रकार विशेष नहीं है तथापि **'बभूव प्रमदोत्तमा'** वह उत्तम स्त्री हो गयी। इस भांति प्राकृत

भाव को बताकर बीच में दूसरे जन्म को नहीं कहकर आगे का वृतान्त बताया गया है। अतः उस भाव को प्राप्त हुए की ही वह कथा है ऐसा निश्चय होता है। वह किस तरह संगत होता है ऐसी शंका करके उसके जन्म का स्वरूप कहते हैं–

कारिका – **अथाऽपि ह्यविवेकेन दैवाद्देवालयादिषु।।२०४।।**

दासेषु जन्म तस्याऽभूत्कृष्णकार्येषु संगतिः।।२०४ १/२।।

अर्थ – इसके पश्चात् अविवेक के कारण भाग्य से देवालयादि में दासों में उसका जन्म हुआ तथा कृष्ण के कार्यों में उसकी संगति हुई।

प्रकाश – अथ शब्द क्रम में बदलने के अर्थ में है। यद्यपि प्राकृतदशा में ऐसा होना संभव नहीं है। तब बताया गया है कि यह **'अपि'** शब्द का अर्थ है। उसमें युक्ति बताते हैं वह जन्म भगवद् इच्छा से ही हुआ। यदि प्राकृत अवस्था में ही भगवान् की कृपा नहीं होगी तथा अप्राकृत अवस्था में ही होगी तब फिर भगवत् कृपा कभी होगी ही नहीं क्योंकि जब भगवत्कृपा होगी तब वह अप्राकृत बनेगा तथा प्राकृत में भगवत्कृपा होती नहीं है इस भांति यहां अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है। इसलिये भगवत्कृपा का होना ही प्रथम ठीक है। यह **'हि'** शब्द का अर्थ है। अविवेक से यह भगवत्कर्म अलौकिक हो गया इस कारण विवेक की रहित दशा से कृष्णकार्य में संगति हो गयी यह संबंध इस प्रकार से है। अविवेक से उपलक्षित उसका जन्म भगवान् के दासों में हो गया तथा वह जन्म भी दक्षिण देश में हुआ क्योंकि अन्य स्थान पर उस तरह की पूजा का अभाव है। जब भगवान् के दासों में जन्म हुआ तो उसकी संगति भी कृष्ण के कार्यों में ही हुई।

आभास – **'तस्या' संजनयांचक्रे'** इसका आशय बताते हैं–

कारिका – **कार्यासक्तय तस्याऽभूत्प्रेमाश्रुत्यादिसप्तकम्।।२०५।।**

निरन्तरं कृतानां हि सप्तानां कोटिशो भवः।।२०५ १/२।।

अर्थ – कार्यासक्त होने पर भी उसका प्रेम श्रवण से लेकर दास्य पर्यन्त की सात भक्ति में हो गया। इस सातों की निरन्तर करोड़ों आवृत्ति होनी चाहिये।

प्रकाश – श्रवणादि सात तरह की भक्ति में प्रेम प्रमेय बल से ही होता है। प्रत्येक का निरन्तर आवृति होनी चाहिये। एक बार करने से बहुत तरह की नहीं हो सकती अतः बहुत बार करने पर भी वह ठीक होता है। यह अर्थ 'हि' शब्द से कहा है। इसका आशय यह है कि करोड़ों बार आवृत्ति किये गये श्रवण, स्मरणादि ही पुरुषार्थ के साधक हैं। एक बार करने से नहीं।

आभास – अग्रिमकर अर्थ बताते हैं–

कारिका - **कार्यं चिन्तयतस्तस्य दृढः प्रेमा मनस्यभूत्।।२०६।।**
येन वैराग्यसत्संगौ यतः प्रेम्णाभजद्धरिम्।।२०६ १/२।।

अर्थ – इस प्रकार कृष्ण के कार्यों का चिंतन करने से उसके मन में दृढ प्रेम हो गया। दृष्ट प्रेम के कारण से उसने प्रेम से भगवान् की सेवा की।

प्रकाश – प्रथम तो अपने अधिकार के वंश से भगवान् का कार्य मात्र जैसे तैसे किसी प्रकार कार्य करना चाहिये। इस बुद्धि से किया। कोई पुत्रादि यदि भगवान् के कार्य का संपादन कर देते तो वह चुपचाप भी रहता था। किन्तु उसके पीछे लगातार भगवान् हेतु कार्य चिंतन से उसके मन में प्रेम हो गया तथा वह प्रेम भी दृढ हो गया जिससे कोई किसी तरह से बदल नहीं सकता अन्य कोई करने वाला होता तो खुद सेवा किये बिना नहीं रह सकता। इस भांति का प्रेम हो गया। यदि वह जानता कि वे लोग मेरी सेवा में रूकावट करते हैं तो स्वाभाविक रूप से दूसरों से वैराग्य हो गया फिर उसको किसी से मिलना होता तो भक्तों का ही साथ करता था। सत्संग में भी भगवान् की कथा के सुनने से भगवान् के माहात्म्य का जब बोध हुआ तब सबसे ज्यादा मजबूत प्रेम हो गया तथा इस तरह के प्रेम से भगवान् की सेवा करने लगा। इससे उसके प्राण–इन्द्रिय तथा अन्तःकरण के अध्याय सभी निवृत्त हो गये, क्योंकि भगवान् उसको प्राणों से भी ज्यादा प्रिय थे। इंद्रियां तो प्राण के लिये ही होती हैं इसलिये इन्द्रियों से भी तथा प्राणों से भी अधिक भगवान् से प्रेम करने लगा।

आभास – चार तरह के अन्तःकरण में केवल अहंकार ही शेष रहता है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ इस तरह का अभिमान अहंकार बताया जाता है। उसे उसकी निवृत्ति का उपाय कहते हैं। **'विभज्य तनयेभ्यःक्ष्मा'** इस पृथ्वी को अपने पुत्रों को बांट दिया इसका वर्णन करते हैं–

कारिका - **अहंकार प्रवृत्तस्य क्लेशः सर्वोपि वर्ण्यते।।२०७।।**
ततो ज्ञाने समुत्पन्ने नष्टेहंकरणे पुनः।
चिन्ता कृष्णस्य सेवार्थमभूद्येनातिदुःखिता।।२०८।।

अर्थ – अहंकार से जो प्रवृत्त होता है उसे क्लेश होता है। इस कारण सर्व क्लेश का निरूपण है। इसके पीछे ज्ञान के पैदा होने पर जब अहंकार का नाश हो गया तब कृष्ण सेवा के हेतु चिन्ता हुई जिससे उसको अतिक्लेश हुआ।

प्रकाश – भगवदधीनता से ही यदि स्थिति होती है तो उसी से सर्वसिद्ध होता है। यदि मैं अपने साधित साधनों से सर्व सिद्ध करूंगा इस तरह की प्रमाण परता से जो साधनों में प्रवृत्त होता है उसके आधिभौतिक दुःख का वर्णन है। यहां पर अहंकार का कार्यरूप जो कृष्ण कार्य है तद्ररूप यहां बताया गया है। इस कारण कुला चल तथा मदिरेक्षणा पद में मूल में कार्य तथा कारण का ऐक्य होने से वह भी यहां अहंकार रूप से बताया गया है। पुत्रत्याग का भी यहां परविवेचन है। इस कारण पहले की तरह श्रवणादिक नहीं है अतः उचित ही बताया है। जो अहंकार से प्रवृत्त होता है उसे दुःख होता है। उसके पीछे सात्विक अन्तःकरण में कुछ समय के पीछे

ब्रह्मादि के द्वारा भी जिनको प्राप्त करना मुश्किल है कहां तो वे भगवान् तथा कहां ये अतिनीच, इस प्रकार के माहात्म्य का अनुभव होने पर दैन्य का आविर्भाव हो गया तब मैं सब कुछ कर लूंगी इस तरह का अहंकार जब समाप्त हो गया है। तब उसे चिंता हुई कि मेरे से भगवान् की सेवा किस प्रकार होगी? प्रथम तो खुद में सेवा करने की योग्यता नहीं होने की चिंता हुई तथा उसके पश्चात् भगवान् का मिलना बहुत कठिन है इस तरह का ज्ञान होने पर यह चुप हो गयी तब इससे तो यह सेवा मार्ग ही समाप्त जो जायेगा। तब सभी पुरुषार्थों का उच्छेद हो जायेगा। इस बात की अधिक चिंता हुई इसके लिये पुनः पद दिया गया है। इस कारण वह अति दुःखित हुई यह बात **'यदानो पालभे तांघ्रौ'** से वर्णन किया है।

आभास – अहंकार के नाश हो जाने पर 'पति परम धर्मज्ञम्' इत्यादि से फिर कृष्ण के कार्य का कहना असंगत हुआ ऐसी शंका कर के उसमें युक्ति बताते हैं–

कारिका – **अहंकारस्य लेशेन पुनः सेवापरो ह्यभूत।**
ततस्तस्याप्यभावे तु मोहे साक्षाद्धरिर्बभौ।।२०९।।

अर्थ – जब अहंकार थोडा लेशमात्र भी रहा तो फिर सेवा में तत्पर हुआ तथा भगवान् की प्राप्ति नहीं हुई तो वह अहंकार का लेश भी समाप्त हो गया। इस तरह का मोह होने पर अन्तर्यामी हरि खुद ही प्रकट हो गये।

प्रकाश – प्रथम उसे यह था कि मेरी दीनता से ही भगवान् प्रसन्न (संतुष्ट) हो जायेंगे ऐसा अहंकार का लेश था, जिस कारण वह सेवा में तत्पर हुआ तब भी भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तब उसमें जो अहंकार का लेश था वह भी नष्ट हो गया। तब उसने जाना कि सर्व भगवान् के अधीन है तथा भगवान् है अति दुराराध्य, अतः सब अशक्य है कि इस तरह का स्वरूप ज्ञान जब हुआ तो अब तो मेरा नाश ही है। इस प्रकार की जब उसकी भावना हुई, हरि तो अर्न्यामी है, इस कारण स्वयं ही हरि शोभित हो गये। पति देह तो उसका लेश मात्र था। चिंता अथवा आदीपन का अभाव हो गया।

आभास – आविर्भूत होकर जो हरि ने काम किया उसको बताते हैं–

कारिका – **आद्यं पूर्वं तु तेनैव नाशितं येन सोऽभवत्।**
अत एव हि संपन्नं विविक्तं हि गोप्यतः।।२१०।।
मूढत्वमेव कार्याय न कर्म जडतेति हि।

अर्थ – जब हरि प्रकट हो गये तब अविद्या का जो प्रथम पर्व स्वरूपा ज्ञान है उसे समाप्त कर दिया। जिस कारण भगवान् उन उन पदार्थ रूपों में हो गये। तब व्याख्यान कर दिया तो सर्वज्ञान हो गया। जब तक गोप्य था। तब तक उसका ज्ञान नहीं हुआ। कार्य के लिये मूढता थी कर्म जडता नहीं थी।

प्रकाश – स्वरूप ज्ञान अविद्या का प्रथम पर्व है तेनैव का आशय है हरि ही अविद्या के नाश का फल कहते हैं व हरि ही उन उन पदार्थों के रूप में हो गये। एव का आशय है कि के अतिरिक्त उस अविद्या को कोई नष्ट नहीं कर सकता था। शंका होती है कि **'पंचेन्द्रियार्थ आरामाः'** इत्यादि के व्याख्यान का उद्‌देश्य है? क्यों कि जो अधिकारी होगा उसको जब अन्तर्यामी का साक्षात्कार हो जायेगा तो अपने आप ही उसके ज्ञान का संभव हो जायेगा। उस पर बताते हैं कि व्याख्यान किया उस कारण से ही तो बोध हुआ। उसमें युक्ति बताते हैं– जिस वाक्य का आशय गोप्य (अस्पष्ट) होता है उस वाक्य से एकान्त रूप से जो सूक्ष्मज्ञान है वह सिद्ध नहीं होता है। अस्पष्ट वाक्य से सभी वस्तु का याथात्म्य बोध होने से ऐसा बताया है। यह हि शब्द का आशय है। बोधन के हेतु ही आविर्भाव हुआ है। किन्तु आविर्भाव मात्र से सर्वसंमति नहीं हो सकती है। प्रमेय बल तो पुरुषोत्तम में ही है किन्तु वह प्रमेय बल भी प्रकट करे तब होता है। इस कारण मुचुकुन्द की कथा वैसी ही है। इसके अन्तर्यामी रूप होने से वैसा होना ठीक ही है। इसके लिये प्रथम हि शब्द है। यदि कहो कि जिस भांति उसके व्याख्यान से उसका ज्ञान हो गया उसी तरह बर्हिषद् को भी उसके सुनने से बोध क्यों नहीं हुआ? इस पर बताते हैं कि वह तो सभी तरह की इतिकर्तव्यता से मूढ था। इस कारण इतने कथन मात्र से ही ग्रहण किया। यह तो कर्म ही करना चाहिये और कुछ नहीं। इस तरह के निश्चय से जड की भांति हो गया था। इसलिये ज्ञान तो कर्म के विरूद्ध होने से वह नहीं हो सका। जो जड होता है उसमें बोध का अभाव होता है। यह हि शब्द का आशय है।

आभास – स्वरूप ज्ञान की निवृत्ति के पीछे परममुक्ति मिल जाती है इस संदेह को मिटाने के लिये उसकी मुक्ति का वर्णन करते हुए उपसंहार करते हैं–

कारिका – **एवं कृष्णकृपातोऽयं जीवन्मुक्तो बभूव ह।।२११।।**

कथामात्रत्वविज्ञानविनिवृत्यै तथोक्तवान्।।२११ १/२।।

अर्थ – इस भांति कृष्ण की कृपा से ही जीवन्मुक्त हो गया। नारद जी ने बर्हिमान् को परोक्ष से तो इसलिये कहा कि उसे बोध के लिये आकांक्षा ही नहीं रहती इस कारण उसकी विज्ञान की निवृत्ति के हेतु उस प्रकार से बताया।

प्रकाश – भगवान् यदि बहुत कृपा कर दें तब उसी समय उसे भक्ति भी देकर खुद प्रकट होकर परम मुक्ति को दे देते हैं। किन्तु उसके ऊपर इसी तरह की कृपा की थी इस कारण इसी तरह से हुआ। यहां पर यदि आशंका हो कि नारदजी ने **'बर्हिष्मन्नेतदध्यात्मम्'** यह श्लोक किस लिये बताया। इस पर बताते हैं कि यदि कथा भक्ति से ही ज्ञान हो जाता तब फिर उसे आकांक्षा के बिना समस्त कथन निरर्थक हो जाता। इस

कारण यह मेरे समझ में नहीं आया है। ऐसी आकांक्षा को पैदा करने के लिये ही इस अध्यात्म विषय को परोक्ष रूप से बताया है।

आभास – अब उन्तीसवां अध्याय का आरम्भ होता है। आगे के अध्याय का विचार करते हुए स्वल्प व्याख्या करके आगे जिसका व्याख्यान नहीं किया था उसमें परोक्षता नहीं होगी इस शंका को दूर करने के लिये जो स्वल्प व्याख्यान किया था। उसका आशय कहने के लिये अनुवाद करते है।

कारिका – **प्राणेन्द्रियादिपर्यन्तं कथंचिद्विवृतिः कृता।।२१२।।**

अग्रे कथां परित्यज्य सर्वमाह स्वयं स्फुटम्।।२१२ १/२।।

अर्थ – प्राण इन्द्रियादि पर्यन्त किसी प्रकार व्याख्या (निवृत्ति) की आगे परोक्ष कथा का बताना छोड़कर खुद सब स्पष्ट करते हैं।

आभास – यहां पर आशय बताते हैं–

कारिका – **कथंश्चिद्बोधनं कार्यं न व्याख्यानं स्वतः फलम्।।२१३।।**

अल्पं च तावता नैव ज्ञानं स्यादिति विस्तृतिः।।२१३ १/२।।

अर्थ – किसी भांति बोधन करना चाहिये अपने आप जिसका फल हो ऐसा व्याख्यान नहीं करना चाहिये। कम बताने से उतना ज्ञान हो सकता इस कारण विस्तार किया है।

प्रकाश – उस तरह बताने का अन्य कारण भी बताते हैं स्वल्प कथन से उतना ब्रोध नहीं होता है क्योंकि यह उत्तमाधिकारी नहीं कर्मजड था इसलिये थोडे बताने से इसको को ज्ञान नहीं हुआ। इस कारण परोक्ष कथा में बताये गये अर्थ रूप से ज्यादा अर्थ **'क्वचित्पुमान्'** इत्यादि में बताया।

आभास – स्वतंत्र उक्ति में श्लोकों का भेद करते हैं–

कारिका – **एकेन पूर्वमखिलं दोषो हेतुस्तथा कृतिः।।२१४।।**

फलं च द्विविधं हीनसाम्यं दार्ष्टान्तिकं तथा।।२१४ १/२।।

अर्थ – 'एवं कृपणया बुद्धया' इस एक श्लोक से पूर्व के सभी दोषा, कारण कृति तथा दो तरह के फल हीन साम्यता और दार्ष्टान्तिक को बताया।

प्रकाश – इस भांति अनेक तरह से एवं कृपणाया बुद्धया यहां तक एक श्लोक से उसके पहले के जन्म के वृत्तान्त का निरूपण किया। इसके पीछे **'प्राणेन्द्रिय'** इस एक श्लोक द्वारा दोष का निरूपण किया। उसके

पश्चात् **'यदात्मानम्'** इस एक श्लोक से प्राणादि धर्मों के अध्यास में हेतुभूत रूपरूपाज्ञान का वर्णन है फिर इसके पीछे एक से कृति का वर्णन किया। दो श्लोकों द्वारा दो तरह के फल को बताया **'क्षुत्परीतः'** इस एक द्वारा हीन साम्य का वर्णन किया। इसके पश्चात् एक से दार्ष्ट्रान्तिक को बताया।

कारिका - दुःखसन्ततिरामुक्ते रन्यथा सिद्धिसंकथा।।२१५।।
हेतुनिर्धारणं चैव निस्तारोपायवर्णनम्।।२१५ १/२।।

अर्थ - इसके पश्चात् एक से मुक्तिपर्यन्त जो दुःख की परंपरा है उसका वर्णन किया तथा इसके पीछे दूसरा कोई दुःख के प्रतिकार का उपाय नहीं है यह बताया है। तदनन्तर हेतु का निर्धारण तथा निस्तार के उपाय का निरूपण है।

प्रकाश - इसके पीछे एक से मुक्ति पर्यन्त दुःखों की परंपरा का वर्णन किया है फिर एक से इतर जो दुःख प्रतीकार के उपाय है वे उपाय नहीं है इसकी कथा है। दृष्टान्त द्वारा जानना यह उपसर्ग का तात्पर्य है। इसके पश्चात् दुःख के कारणों का निर्धारण दो श्लोकों से किया है। एक से निस्तार के उपाय का वर्णन है।

कारिका - पंचमिः साधनं तस्य चतुर्भिः सर्वबाधनम् ।।२१६।।
मुख्योपपत्तिः प्रकृते सिद्धत्यागोपदेशनम्।।२१६ १/२।।

अर्थ - तदन्तर पांच श्लोकों द्वारा साधन का वर्णन किया है तथा चार श्लोकों से सभी साधनों का बाध कहा है। प्रकृत में मुख्य युक्ति कही गई है तथा सिद्ध त्याग का उपदेश दिया।

प्रकाश - पांच श्लोकों द्वारा निस्तारोपाय रूपा भक्ति के साधनों का विवेचन किया उसके पीछे चार श्लोकों से भक्ति से सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है इस बाध का कथन किया है। तद् पश्चात् भक्तिमार्ग में भगवान् का अनुग्रह ही विशेष है यह युक्ति दी है। एक श्लोक द्वारा कर्म के त्याग का उपदेश दिया है।

कारिका - तत्र हेतुभ्रमः श्रोतुः सार्द्धाभ्यां सर्वनिर्णयः।।२१७।।
शीघ्रनिर्गमनार्थाय दृष्टान्तेन तथा वचः।।२१७ १/२।।

अर्थ - इसके पश्चात् श्रोता बर्हिषद् को हेतु में भ्रम हुआ तब ढाई श्लोकों द्वारा सर्वनिर्णय किया। जल्दी निर्गमन हेतु दृष्टान्त के संग उस प्रकार का निरूपण किया।

प्रकाश - इसके पश्चात् दो श्लोकों से बर्हिषद् को कर्म ही पुरुषार्थ रूप है इस तरह के संदेह बोध का कथन है। उसके बाद **'तत्कर्म'** इन ढाई श्लोकों से सभी का निर्णय है। पुत्रागमन की अवधि की स्थिति की निवृत्ति हेतु हरिण के दृष्टान्त को बताकर दो श्लोकों से त्याग को बताया गया है।

आभास – बर्हिषद् की आशंका के बीज को बताते हैं–

कारिका – आत्मनोऽकर्तृताज्ञानाच्छंकासूक्ष्मो ह्यशक्तिमान्।।२१८।।

स्थूल एव ततः कर्ता तद्भावे कृतं न च।।२१८ १/२।।

अर्थ – कर्ता आत्मा नहीं है इस ज्ञान से तथा लिंग शरीर शक्तिमान् नहीं है इसलिये स्थूल शरीर ही कर्ता है स्थूल देह के अभाव में कोई भी कार्य नहीं होता है।

प्रकाश – जहां पर कर्तृत्व का समानाधिकरण्य अथवा कर्तृ समान कालीनता होती है। वहां भी भोग होता है यह सभी तो दूसरे जन्म थे। इसलिये भोग हेतु कर्म करना तो तब हो सकता है जब उस काल की आत्माकर्ता हो किन्तु ऐसा तो है नहीं तब फिर उस तरह के फल के हेतु कर्म करना कैसे संगत हो सकता है। इस तरह की राजा को आशंका हुई थी तथा आशंका स्वरूप भी इस भांति था कि सूक्ष्म (लिंग) शरीर को ही कर्ता बताना पडेगा किन्तु वह तो संभव नहीं है। वह लिंगदेह तो कर्म करने में असमर्थ है इसलिये स्थूल देह कर्ता हो सकता है। वह स्थूल शरीर तो पूर्व जन्म में था इस समय तो उस भोग के फल भोग के कर्म का करने वाला पूर्व देह है नहीं तो भोग किसमें होगा। एक बात यह भी है कि कर्म कर्त्ता में ही पैदा होते हैं तो इस तरह के शरीर का अभाव होने से कर्म ही पैदा नहीं होंगे। क्योंकि जिस आधार पर कर्म की उत्पत्ति होती है वह शरीर ही अब नहीं है।

आभास – अब इसको संक्षेप में बताते हैं–

कारिका – कर्तुः फलेऽस्य संदेहो लिंगे कर्तृत्वनिश्चयः।।२१९।।

स्थूलस्य पोषकत्वं हि येन केनाऽपि तद्भवेत्।।२१९ १/२।।

अर्थ – कर्ता के फल में जब संदेह हुआ तो लिंग शरीर में ही कर्तापन की निश्चय किया स्थूल शरीर को तो उसका पोषक जाना तथा पोषण तो जिस किसी से भी हो सकता हैं

प्रकाश – आधार तथा करण के अभाव से कर्म कर्ता को किस तरह फल प्राप्त होगा ऐसा राजा को संदेह हुआ इस प्रकार के प्रश्न को बताकर अब उसका समाधान करते हैं कि स्थूल देह में जो करने का सामर्थ्य दिखाई पडता है। वह सूक्ष्म शरीर का ही है। ऐसा समझना चाहिये। यदि इस प्रकार नहीं मानोगे तो मृत स्थूल शरीर की भी कर्म करने में शक्ति माननी पडेगी। अतः अन्वय तथा व्यतिरेक के द्वारा सूक्ष्म देह में ही कर्तापन है तथा अब जो यह कहा कि स्थूल शरीर के अभाव में भोग कैसे होगा? उसका उत्तर है कि स्थूल शरीर के बिना भी सूक्ष्म देह से भोग संपन्न हो जायेगा। जैसे भेरी नोपत के बजाने का डंडा केवल उसी भेरी में ध्वनि

है उसके सामर्थ्य का पोषण करता है। उस डंडे में ध्वनि नहीं है उसी भांति यह स्थूल देह इस सूक्ष्म शरीर का पोषण मात्र करता है। अतः भोग उस सूक्ष्म शरीर से ही हो जायेगा। यदि यह कहें कि स्थूल देह ने पूर्व जन्म के सूक्ष्म शरीर का कर्म के द्वारा पोषण किया था तब फिर इस जन्म में देह पोषण किस प्रकार से होगा। इस पर बताते हैं। कि उसी शरीर से पोषण हो ऐसा कोई विधान नहीं हैं शरीर से पोषण होता है केवल इतना ही नियम है। अतः किसी भी शरीर से उसका पोषण हो सकता है।

आभास - अब उपसंहार करते हैं-

कारिका - **अतो लिंगस्य कर्तृत्वात्तत्सत्त्वेन न दूषणम्।।२२०।।**

आत्मनश्चापि कर्त्तृत्वं ज्ञानाभावे तु लिंगिन्नः।।२२० १/२।।

अर्थ - जब कर्ता लिंग शरीर है तो वह अभी भी है अतः किसी तरह का दोष नहीं है। ज्ञान जब तक नहीं होता तब तक लिंग विशिष्ट आत्मा में ही कर्तृत्व होता है।

प्रकाश - लिंग शरीर जब विद्यमान है तब फिर कर्ता के बिना भोग किसका होगा। यह दूषण नहीं हो सकता। यह बात सांख्य मत के अनुसार बतायी गई है। वास्तव में तो आत्मा ही कर्ता है क्योंकि चेतन तो आत्मा ही है। शरीर तो जड है अतः उसे कर्ता नहीं बता सकते तथा ऐसा भी नहीं कह सकते हैं आत्मा जिसमें निवास करता है। ऐसा लिंग शरीर कर्ता है वह लिंग शरीर तो केवल प्रयोजक मात्र है यदि आपके कथनानुसार लिंग शरीर को कर्ता समझ लें तो जैसे कारू (शिल्पी सुथार) का वसूला जो उसके कार्य में सहायक है वह कर्ता कहा जायेगा। कारू शिल्पी को कर्ता नहीं कहा जायेगा। प्रयोजकता तो उसमें अन्यथा सिद्धि से होती है। अन्वय व्यतिरेकानुविधा भी आत्मा का ही लिंग शरीर के अधिष्ठान से कर्म करने के सिवाय और कोई कार्य नहीं होने से उसमें प्रयोजकता है इस आशय से बताया है कि **'आत्मनश्चापिकर्तृत्वम्'** कर्तापन आत्मा में है। जो असंसारी आत्मा है और उसमें भी जो गुणातीत शुकदेवादि हैं उनकी आत्मा तो कर्तृत्व श्रवण आदि में मानना ही चाहिये। लिंग शरीर तो गुणात्मक है। जो सूक्ष्म शरीर में कर्तृत्व मानते हैं उनको भी आत्मा से संबंध सूक्ष्म शरीर को कर्ता मानना पडेगा तथा संबंध होगा अध्यास से तो वह अविद्यारूप ही होगा। यदि यह कहो कि उनकी तो अविद्या निवृत हो गयी है तो फिर लिंग शरीर में कर्तापन नहीं बता सकते। जो संसारी है उनको तो लिंग शरीर विशिष्ट आत्मा में ही कर्तापन का ज्ञान होता है। इसलिये विशेषण रूप से लिंग शरीर में भी कर्तापन है। इस आशय से दो उपसर्ग बताये हैं। इसका विवरण करते हैं। जब तक प्रथम ज्ञान नहीं होता है तब तक लिंग विशिष्ट आत्मा में ही कर्तापन होता है।

आभास - पहले जो लिंग शरीर को कर्ता बताया था उसका विवरण बताते हैं-

कारिका – लिंगस्य करणत्वं च तत्पूर्वं साध्यते स्फुटम्।

स्वप्नेन साधनं चैव फलितं चाऽऽह वै त्रिभिः।।२२१ १/२।।

अर्थ – लिंग शरीर तो सुधार हेतु वसूले की भांति केवल करण कार्य के सिद्ध करने में सहायक मात्र है इसको पहले स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है। इसको स्वप्न के दृष्टान्त से सिद्ध किया है। उसका फलित तीनों श्लोकों से कहते है।

प्रकाश – लिंग शरीर की कारणता तो सुथार के वसूले की तरह है। इन तीनों का सिद्धान्त में वर्णन करते हैं। उसमें लिंग शरीर की करणता तीन श्लोकों से बताते है। **'येनैवारभते कर्म'** इस एक श्लोक से उस लिंग शरीर की कारणता सिद्ध की तथा **'शयानमिम'** इस एक श्लोक से स्वप्न दृष्टान्त से उसको प्रमाणित किया है। तथा फिर **'ममैवेते'** इस एक श्लोक से उसका फलित बताया है।

कारिका – कर्माभावस्तददृष्टया निश्चेतुं हि शक्यते।।२२२।।

पूर्वकर्म यथेदानीं लक्ष्यतेऽस्तीति कार्यतः।

तथाऽग्रेपीति भावेन कर्माध्यासौ निरूपितौ।।२२३।।

अर्थ – कर्म के अभाव में कभी फल प्राप्ति नहीं होती है। इसका निश्चय करना शक्य नहीं है इस समय जो फल मिल रहा है। जिस प्रकार पहले के जन्म के ही कर्म का फल है ऐसा लक्षित होता है। उसी भांति इस जन्म के कर्मो का भी फल होगा इससे कर्म तथा अध्याय का वर्णन किया है।

प्रकाश – जब जन्म होता है उस समय कर्माभाव रहता है तब फिर उसको किसी तरह का फल नहीं मिलना चाहिये। इस प्रकार की शंका को दूर करने के लिये कर्म का विवेचन करते हुए उस कर्म के आश्रय रूप आत्मा मे कर्तापन का वर्णन करते हैं। कारण कि कर्माधार कर्म करने वाला कर्ता होता है। कर्म अध्यास बिना नहीं होता है। अतः अध्यास का वर्णन करते हैं। यदि यह कहो कि वहां पर तो किसी प्रकार का कर्म तो दिखायी नहीं देता है अतः कर्म है ही नहीं इस तरह नहीं कह सकते किसी वस्तु के होने पर भी यदि उसमें दिखने की योग्यता नहीं हो तो वह नहीं दिखाई पड़ती है। तब जब वह दिखाई ही नहीं पड़ती है इसमें क्या प्रमाण है। इस शंका को दूर करने के लिये नारदजी ने विचित्र चित्त वृत्ति लक्षण कार्यालिंग को ही पहले के जन्म के कर्म को प्रमाण कहा गया है। यदि कहो यहां पर प्रश्न तो यह किया था कि जिस जन्म में उसको फल मिल रहा है उस जन्म में तो कोई कर्म किये नहीं तथा समाधान में बताते हैं कि पूर्व जन्म के कर्म ही इस जन्म के फल से साधन है। यह समाधान तो उचित नहीं है ऐसी शंका करके उस समाधान का उद्देश्य कहते हैं। जिस प्रकार

पहले के जन्म के कर्म इस जन्म में दिखाई (लक्षित) पडते हैं इस कार्य के देखने से वे कर्म हैं ऐसा निश्चय होता है। तुमने जो शंका की थी उससे तो यह बात सिद्ध होती थी कि कर्म मात्र का ही अभाव है किन्तु यह बात नहीं है इस समय के कर्म को किसी भी कार्य के अभाव के कारण उसका साधन नहीं किया जा सकता है। किन्तु इस काल के अनुभूयमान फल के हेतु से पहले के जन्म के कर्मों द्वारा साधित होने पर उसी दृष्टान्त से इस जन्म में जो कर्म किये जाते हैं वे भी आगे की देह पर्यन्त हैं ऐसा जानना चाहिये। इस अभिप्राय से कर्म तथा अध्याय का वर्णन किया। अध्यास के वर्णन का उद्‌देश्य तो बहुत जल्दी बतायेंगे।

आभास - श्लोकों का भेद करते हैं-

कारिका - **सप्तभिदर्शभिश्चैव चिन्तानुमितियुक्तिभिः।**

मनसाऽनुभवाच्चापि कर्माऽस्तित्वं विनिश्चितम्।।२२४।।

अर्थ - चिन्तानुमिति तथा युक्तियों द्वारा सात श्लोकों से कर्म का एवं दस श्लोकों से अध्याय का वर्णन किया है। मन से तथा अनुभव से भी कर्म के अस्तित्व का निश्चय होता है।

प्रकाश - **'यथानुमीयते चित्तमुभयैरिन्द्रियहितैः'** इत्यादि सात श्लोकों से कर्म का वर्णन है। इसके पश्चात् दस श्लाकों के द्वारा अध्यास का कथन है। कर्म प्रकरण में बताये गयें अर्थानुमान से स्पष्ट करते हैं **'लौकिक कारणा संभवेसति भवन्त्यो विचित्रा निचत वृत्तयो विचित्र कारण जन्या विचित्र कार्मत्वात् चित्र तंतु पटवत्'** इस अनुमान से उस तरह के कर्म की सिद्धि होती है। अब इसमें युक्ति भी देते है- कदाचित् जिनकी उपलब्धि होती है तभी वे मन के द्वारा प्राप्त करने के योग्य होते हैं। प्रत्यक्ष (साक्षात्) जो अर्थ उपस्थित नहीं है तथा जो कभी प्राप्त हुए ही नहीं है तो वे इस समय भी मन के द्वारा प्राप्त नहीं हो सकते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकला कि पहले जन्म में जिन अर्थों का अनुभव किया है उनको उपस्थित करने वाला दूसरा तब कोई नहीं है तो उनको उपस्थित करने वाला कर्म ही हो सकता है। इस युक्ति द्वारा कर्म की सिद्धि होती है। इस भांति सात श्लोकों से एक श्लोक में अनुमान' दो श्लोकों में युक्ति तथा एक श्लोक में मन का हि वर्णन तथा तीन श्लोकों में अनुभव का कथन है।

आभास - यहां पर शंका करते हैं कि पूछी गई बात का उत्तर तो इतने से ही हो जाता है फिर अध्यास का वर्णन तो निरर्थक है इस पर बताते हैं-

कारिका - **करणाध्यास राहित्ये सर्वमेवाऽन्यथा भवेत्।**

तन्निवृत्तिः कृष्णसाध्या तेन सेव्यः स एव हि।।२२५।।

अर्थ – इन्द्रियाध्यास के बिना सब अन्यथा हो जाता है। किन्तु उस अध्यास की निवृति तो कृष्ण के द्वारा ही हो सकती है। इसलिये कृष्ण की ही सेवा करनी चाहिये।

प्रकाश – अध्यास के वर्णन बिना आत्मा में कर्तापन की तथा इन्द्रियों में करणत्व का वर्णन नहीं किया जा सकता हैं यदि शिल्पी के हाथ नहीं हो तो वह लकड़ी के काटने में साधन भूत वसूले को किस तरह पकडेगा? यदि ऐसा कहो कि चेतन के संयोग मात्र से जड पदार्थ में व्यापार की संभावना हो जायेगी। किन्तु ऐसा लोक में देखा नहीं गया है। लिंग (करण) तथा आत्मा के संबंध के अभाव में उसके द्वारा किये गये पुण्य तथा पापों के आत्मा का संबंध नहीं होने प्रवृत्तिमार्ग तथा निवृतिमार्ग निरर्थक हो जायेंगे। इसलिये अध्यास निरूपण से उसके संबंधियों का वर्णन होने पर सब उचित हो जायेगा। इस कारण अध्यास का वर्णन किया है।अन्यथा दिया गया उत्तर भी कर्माभाव में अन्तर नहीं सा हो जायेगा। इसलिये आखिरी में अध्यास अविद्यारूप है तथा उसको दूर करने वाले भगवान् ही हैं। इस कारण उनका भजन कहा गया है। जो मेरी ही शरण में आते हैं वे मेरी माया को तिर (पार) जाते हैं। **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'** इत्यादि युक्ति हि शब्द से बतायी गयी है।

आभास – पुत्र मुक्ति प्रकरण में पिता की मुक्ति कथन का उपयोग कहां होगा। इस पर बताते हैं–

कारिका– **मुक्ते पितरि पुत्राणां न बंधस्तत्कृतो भवेत्।**
प्रोवाचाऽतस्तु पुत्राणामैहिकामुष्मिकं फलम्।।२२६।।

अर्थ – पिता के मुक्त हो जाने पर पुत्र की मुक्ति में कोई प्रतिबंध नहीं होता है। अतः पुत्रों के लिये ऐहिक तथा पारलौकिक फल बताया है।

प्रकाश – यदि पिता मुक्ति नहीं हो तो पुत्र की मुक्ति में रूकावट हो जाती है। अतः पिता की मुक्ति बतायी गई है। ब्रह्मत्व लक्षण मुक्ति को बताकर अब कृष्ण की सायुज्य रूपा जो फलरूपा है उसे बताते हैं। तु शब्द से यह कहा है कि इसमें पिता की कथा का संबंध नहीं है। यहां पर एक अध्याय से ऐहिक फल तथा द्वितीय अध्याय से पार लौकिक फल बताया है। इस कारण इसी से संबंध है।

आभास – यहां पर आशंका होती है कि प्रथम तो स्तुति करना ठीक था वह नहीं करके भगवान् के वचन ही प्रथम क्यों बता दिये इस पर कहते हैं–

कारिका – **परमानन्द सम्प्राप्तिः पौरुषं यशसा सुखम्।**
कृष्णेनैव तु संसिद्धमधिकारे स्तुतिर्मता।।२२७।।

अर्थ – परमानंद की संप्राप्ति, पौरूष तथा यश से सुख ये सभी कृष्ण से ही सिद्ध हुए स्तुति तो अधिकार

होने पर वर्णन की गयी।

प्रकाश – इन प्रचेताओं को यह सब भगवान् द्वारा प्रदत्त है इससे सिद्ध हुआ। यह **'अनुग्रहान्मम'** इस वचन द्वारा बतायी गई है। उनको अपनी तपस्या से यह सिद्धि नहीं मिली इसको कहने हेतु प्रथम भगवान् के वचनों से उसका दान कहा। परमानंद की प्राप्ति तो उनके दर्शन ही है। तथा कृष्ण में सायुज्य। इस कारण पिता से भी इनकी महानता बतायी। पिता को तो दर्शन नहीं मिले थे। इस कारण आनंद की ही प्राप्ति हुई, पूर्णानंद की प्राप्ति नहीं हुई। वृक्षों का दाह करना आदि जो सामर्थ्य तथा पौरूष है। तब फिर स्तुति का उपयोग कहां होगा? इस पर बताते हैं कि भगवान् का स्वरूप ही फल है वह जिस तरह सिद्ध होता है उस प्रकार के अधिकार के निमित्त स्तुति है। अन्य दूसरे मार्ग में स्तुति करने से प्रसन्न हुए भगवान् से फल प्राप्त होता है। भक्तिमार्ग में तो भगवान् अपने आप भक्तों के लिये सभी संपादन कर देते हैं। तब भक्त यह समझ लेता है कि भगवान् ने 'यह मेरा है' इस भांति मुझे अंगीकार कर लिया है। तब स्तुति आदि में अपना अधिकार जानता है। तब स्तुति करता है। अथवा ऐसा जानिये कि भक्त को यह जानकारी हो जाती है कि भगवान् ने मुझे सब तरह से अंगीकार कर लिया है तब वह भक्त आनंद से परिपूर्ण हो जाता है तथा जब वह आनंद बाहर सभी इन्द्रियों से प्रकट हो जाता है। उस समय में वह आनंद वाणी से निकलता हुआ स्तुति रूप हो जाता है। अतः आनन्द में ही अधिकार रूपता है। इस कारण प्रभु के वचनों से जब प्रथम सिद्ध हो जाता है। उसके पश्चात् स्तुति होती है। इस तरह भक्तिमार्ग में माना गया है। इस कारण से स्तुति का निरूपण पश्चात् है।

कारिका – शास्त्रार्थसिद्धये यांचावशतश्चाऽपि नारदः।
शोचन्मध्ये त्वभजनाद्भजनं प्राह सर्वथा।।२२८।।

अर्थ – नारदजी ने शास्त्रार्थ की सिद्धि हेतु प्रार्थना के कारण तथा भजन के अभाव में बीच में शोक करते हुए के लिये भजन का उपदेश दिया।

प्रकाश – आचार्य के द्वारा ही पुरुषों को ज्ञान होता है। **'आचार्यवान् पुरुषोवेद'** इस शास्त्र के अर्थ की सिद्धि हेतु नारदजी ने उपदेश किया। यद्यपि उन प्रचेताओं को शिवजी ने भी उपदेश किया था तथापि वह उपदेश तो भगवान् के प्राकट्य से पूरा हो गया तथा वह उपदेश तो सृष्टि में उपयोगी भी होने से बताया था इसलिये वह उपदेश मोक्षोपयोगी नहीं था इसका अनुसंधान करके ऐसा बताया है तथापि अपरितोष से दूसरे पक्ष से उसका समाधान करते हैं। जो आदेश अधोक्षज भगवान् ने शिव को दिया था **'यदादिष्टं भगवता शिवेनाधोक्षज न च'** इस कथन से उन शिव के बताये हुए वचनों के स्मारक रूप में ही नारदजी के वाक्यों का उपयोग है।शिवजी के वाक्यों को वे विस्मृत क्यों कर गये उसमें कारण तो भजन का अभाव ही था। कारण

कि घर में भजन नहीं हो सकता था इसलिये नारदजी ने उसको याद कराया इसी से सभी हो जायेगा।

आभास – इस प्रकार समस्त प्रकरण का वर्णन करके फिर इसके श्रवण के पीछे उनके चले जाने में कारण कहते हैं–

कारिका – **हरिः सर्वात्मना सेव्यो ज्ञात्वा माहात्म्यमादरात्।**
इत्यर्थः सकले स्कन्धे तथांशेऽल्पेपि निश्चितः।।२२९।।

अर्थ – माहात्म्य का बोध करके सर्वात्मभाव से आदर के संग हरि की सेवा करनी चाहिये। यह अर्थ सारे स्कंधों में है तथा स्कंध के अवान्तर प्रकरण में भी यही अर्थ है यह निश्चित है।

कारिका – **अतोऽत्र विदुरस्तुष्टो भजनार्थं विनिर्गतः।**
अपकार्युपकारस्य कारणान्निर्मलो मतः।।२३०।।

अर्थ – विदुरजी प्रसन्न होकर भजन के लिये निकल गये। अपने लिये अपकार करने वाले धृतराष्ट का भी उपकार करने से विदुर जी को निर्मल माना गया।

प्रकाश – भजन से ही सभी तरह की सिद्धि प्राप्त होती है। इसके सिवाय और कोई साधननहीं है ऐसा समझकर भजने के लिये निकल गये। यदि यह कहो कि भगवान् के चरण से भी उच्च रूप से गुरु चरण का धारण करना उचित नहीं है इस शंका पर बताते हैं कि इस तरह के शास्त्रार्थ के कथंन से प्रसन्न होकर उन्होंने ऐसा किया। भगवान् के भजन में दोष ही बाधा डालता है। उनका भजन तो संपन्न हो गया इस बात को कहने के लिये सर्व दोषों की निवृत्ति की पहचान बताते हैं कि धृतराष्ट्र जो विदुर जी का अपकार वाला था उसका भी उन्होंने उपकार किया यही उनकी निर्दोषता का निदेशक था।

।।समाप्तम् चतुर्थस्कन्धः।।

श्री वल्लभाचार्य का ब्रह्मवाद

१. जगत् सत्य है और ब्रह्म स्वरूप है। जीव के द्वारा अहंता ममता कल्पित संसार मिथ्या है। यह जगत् विशेषत: दो प्रकार का है।

२. स्वप्नमूर्ति आदि भगवद्विग्रहों में लौकिकता दीखना, गन्धर्वनगर, शुक्तिरजत आदि असत्य प्रपंच है। सत्य प्रपंच में नश्वरता आदि दीखना भी मायिक है।

३. पंचमहाभूत और उनसे बने हुए पदार्थ, वेद, स्वर्ग, मोक्ष आदि प्रपंच सत्य हैं और ब्रह्मात्मक है।

४. जीव ब्रह्म का ही अंश है।

५. जगत् का कर्ता अक्षर ब्रह्म है वह अक्षर ब्रह्ममाया अथवा अविद्या से रहित है और उसमें विरूद्ध, अविरूद्ध सर्वशक्ति और धर्म रहते है। अधिकारानुसार उस ब्रह्म की अनेक स्फूर्ति होती है।

६. श्री कृष्ण ही परात्पर निर्दोष आनन्द मायाकार और अप्राकृत सर्वगुण युक्त वस्तु है।

७. श्री कृष्ण का साक्षात्कार उनकी सामुज्य प्राप्ति मिलनी, उनकी सेवा प्राप्ति और सेवा का अधिकार यही परम पुरूषार्थ किंवा चतुर्थ पुरूषार्थ (मोक्ष) है।

८. भगवान् के अनुग्रह से भी भक्ति किंवा अन्य फलों की प्राप्ति हो सकती है।

९. मोक्ष का किंवा आनन्द प्राप्ति का एक मात्र उपाय भगवान् श्री कृष्ण की भक्ति करना ही है।

१०. श्री कृष्ण की भक्ति करना ही जीव का मुख्य और निष्काम कर्तव्य है। यही जीव का धर्म है।

११. जितना और जब तक देहाध्यास बना रहे उतना और तब तक ही वर्णाश्रमादि धर्म अपने मानकर कर्तव्य है। अनन्तर तो एक मात्र भक्ति ही जीव का धर्म है। ज्ञानी को भी लोक संग्रह के लिये स्वाश्रमोक्त धर्म कर्तव्य रहते हैं।

-: ब्रह्मवाद के सूत्र :-

(१) "ब्रह्म सर्वज्ञ है"

(२) "जीव अल्पज्ञ, अणु और ईश्वर का ही अंश है"

(३) "ब्रह्म अपरिमेय और अज्ञेय है, दुर्गम्य भी है
किन्तु अनुग्रहैक गम्य भी वही है"

(४) "ब्रह्म सर्व धर्मों का केन्द्र है"

(५) "ब्रह्म सर्व सामर्थ्य सम्पन्न ईश्वर है और वही
परम तत्व भगवान् श्री कृष्ण ही है"

(६) "ब्रह्म सर्व विरूद्ध धर्मों का आश्रय है"

(७) "ब्रह्म निर्दुष्ट है"

(८) "ब्रह्म सर्व सद्गुण संयुक्त है"

" कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोष वर्जितम्"

महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य